विषय

## अध्याय १९

### विदेशियों के आक्रमण :



## अध्याय २०

### मौर्य साम्राज्य :



## अध्याय २१

### अशोक वर्धन :



## अध्याय २२

विषय

## अध्याय २९

कपिला-चार्य शास्त्री

# अध्याय १

# प्राचीन भारत

## भूगोल तथा इतिहास का सम्बन्ध

रिचर्ड हैकलुट (Richard hakluht) ने इतिहास तथा भूगोल के सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है कि "भूगोल तथा काल-क्रम सूर्य तथा चन्द्र हैं, ये इतिहास के दक्षिण तथा वाम नेत्र हैं।" भूगोल वह सामाजिक शास्त्र है जिसमें हम भूमि, जल, ताप, वायु आदि का अध्ययन करते हैं। हमारे धर्माचार्यों ने लिखा है कि 'क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा; पंच रचित यह अधम शरीरा' अर्थात् हमारा शरीर उन्हीं तत्वों से मिल कर बना है जिनका अध्ययन हम भूगोल में करते हैं। हमारे धर्माचार्यों ने यह भी बतलाया है कि इन तत्वों का प्रभाव हमारे कर्मों पर पड़ता है। इसमें तो सन्देह नहीं कि मनुष्य की भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव उसके खान-पान, उसकी वेश भूषा तथा उसके विचारों पर पड़ता है। वस्तुतः क्षेत्र में इतिहास मनुष्य के विचारों तथा कर्मों की कहानी है, इतिहास भूतकाल का दर्पण है। वह मनुष्य की परिस्थितियों, उसके संघर्ष तथा उसकी सफलता अथवा असफलता का चित्र हमारे समक्ष उपस्थित करता है। अब हमें देखना है कि मनुष्य की भौगोलिक परिस्थितियों का उसके जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है और भारत की भौगोलिक परिस्थितियों ने उसके इतिहास को कहाँ तक प्रभावित किया है।

**भूमि**—मानव जाति के इतिहास की प्रारम्भिक अवस्था में भूमि का उसके विचारों, व्यवसायों तथा जातियों के पर्यटन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। कालान्तर में मनुष्य अपनी बुद्धि तथा अपने श्रम के बल से इसमें परिवर्तन अथवा सम्वर्धन कर लेता है। परन्तु यह परिवर्तन अथवा सम्वर्धन भी एक सीमा के भीतर ही हो सकता है। जब कोई जाति किसी निश्चित स्थान पर निवास करने लगती है और उस स्थान में उसे प्रेम हो जाता है तब वह सभ्यता के मार्ग में अग्रसर हो जाती है। पर्यटन करती हुई जातियों का जीवन एक स्थान पर स्थायी नहीं रहता। अतएव उन्हें सदैव उदरपूर्ति की चिन्ता लगी रहती है और साहित्य तथा कला के लिये उन्हें अवकाश नहीं मिलता। परिणाम यह होता है कि ये जातियाँ सदैव शारीरिक परिश्रम में निरत रहती हैं और इनका मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। परन्तु जब मनुष्य स्थायी रूप से किसी निश्चित स्थान में निवास करने लगता है और अपने परिश्रम द्वारा भूमि से उत्पत्ति करने लगता है तब उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों में वृद्धि हो जाती है और उसे अपने मानसिक विकास के लिये अवकाश प्राप्त होने लगता है। जब उसके भोजन, वस्त्र, गृह, तथा औषधि की व्यवस्था सुगमता से हो जाती है और उसे अवकाश प्राप्त होने लगता है तब वह कला, साहित्य तथा मानसिक विकास की ओर ध्यान देता है। जिस भूमि से उन्हें यह सब सुविधाएं प्राप्त होती हैं उसके प्रति उनका प्रेम तथा उनकी श्रद्धा बढ़ने लगती है, और उसकी रक्षा में वे अपना तन, मन, धन सब कुछ न्यौछावर करने को उद्यत हो जाते हैं। वह उनकी जन्मभूमि हो जाती है और वह उन्हें स्वर्ग से भी अधिक प्रिय हो जाता है। इसी से हमारे आचार्य ने कहा है कि 'जननी जन्म-भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' अर्थात् माता तथा जन्म-भूमि स्वर्ग से भी बढ़कर है। जब भूमि भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है,
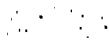
**मैदान**—इनकी भूमि प्रायः उर्वरा होती है। ऐसे स्थानों में कृषि की सुविधा होती है और भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति थोड़े ही परिश्रम में हो जाती है। अतएव इस भाग के लोगों को पर्याप्त अवकाश प्राप्त हो जाता है। इससे साहित्य तथा कला से इनका विशेष अनुराग हो जाता है और ये शान्ति प्रिय हो जाते हैं। युद्ध से इन्हें घृणा हो जाती है और अपने वैरियों का सामना करने में ये असमर्थ हो जाते हैं।

**मरुभूमि**—मरुभूमि का भी मनुष्य के जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। मरुभूमि के लोग वीर, साहसी तथा स्वतन्त्रता-प्रेमी होते हैं और युद्ध में उनकी विशेष अभिरुचि होती है परन्तु मैदानों के लोग प्रायः विलासी तथा शान्ति-प्रिय होते हैं।

**समुद्र से दूरी**—इसका भी प्रभाव मनुष्य के जीवन पर बहुत बड़ा पड़ता है। समुद्र से घिरा हुआ देश कुछ अंश में वैरियों के आक्रमण से सुरक्षित रहता है। वहाँ के लोग चतुर नाविक बन जाते हैं और विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। ऐसे देश विदेशों में उपनिवेश भी स्थापित करने का प्रयत्न करने लगते हैं और साम्राज्य-वादी बन जाते हैं। सामरीय युद्ध में ये बड़े सिद्धहस्त हो जाते हैं और समुद्र पर अपना आधिपत्य स्थापित कर अपनी व्यवसायिक तथा राजनैतिक सत्ता की अभिवृद्धि करते हैं। समुद्र से उन्हें प्रेम हो जाता है और यह भावना उनके साहित्य में भी परिलक्षित होती है।

**निष्कर्ष**—इस प्रकार प्राकृतिक विभिन्नता के कारण भिन्न भिन्न प्रदेशों अथवा स्थानों के लोगों के जीवन में विभिन्नता आ जाती है। उनके रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा तथा आचार-व्यवहार एवं विचार-धारा तथा जीवन के दृष्टिकोण में भिन्नता आ जाती है। इसी से इनका इतिहास भी भिन्न होता है। न केवल अपने ही देश की भौगोलिक परिस्थितियाँ इतिहास को प्रभावित करती हैं वरन् निकटस्थ प्रदेशों की भौगोलिक परिस्थितियाँ भी उसे प्रभावित करती हैं। यदि निकटस्थ प्रदेश उपजाऊ तथा धन धान्य पूर्ण है तो उससे व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ेगा और वे एक दूसरे को अपनी संस्कृति तथा सभ्यता से प्रभावित करेंगे और शान्ति पूर्वक जीवन व्यतीत करेंगे परन्तु यदि उनमें से एक धनी हुआ और दूसरा दरिद्र तो दरिद्र देश की दृष्टि सदैव समृद्धशाली देश पर लगी रहेगी और दोनों देशों में सदैव युद्ध तथा संघर्ष की सम्भावना बनी रहेगी। धन-धान्य पूर्ण देश किसी भी समय रणस्थल बन सकता है। अब इन्हीं बातों का ध्यान रखकर हम इस बात का विचार करेंगे कि भारत की भौगोलिक परिस्थितियों का उसके इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा है।

**भारत की पृथकता**—भारतवर्ष एक अलग भौगोलिक इकाई है। उत्तर की ओर गगनचुम्बी पर्वत-मालायें तथा दक्षिण की ओर विस्तृत समुद्र इसे अन्य देशों से अलग करते हैं। अतएव जब आवागमन के साधनों में इतनी अभिवृद्धि नहीं हुई थी तब भारत [illegible]

[illegible]

[illegible] ऐसा प्रतीत होता था कि शताब्दियों से हमारे महर्षियों के आध्यात्मिक एवम् मानसिक गुण-जल धार सिञ्चित संस्कृति पादप का मूलोच्छेद हो जायगा। परन्तु विशाल वट-वृक्ष की भाँति यह बर्बरता का सामना करती रही और विरोधियों के विफल प्रयत्न पर मन्द हास करती रही।

प्राकृतिक सीमाओं से परिवेष्टित होने के कारण देश भक्ति तथा देश-प्रेम की

सदैव प्रबल रही हैं और देश की मौलिक एकता की भावना सदैव जागृत रही है

[illegible]

स्थापत्य है।

**महान् देश**—भारतवर्ष एक महान् देश है। इसका क्षेत्रफल रूस को छो
सम्पूर्ण यूरोप के बराबर है। देश की इस विशालता का उसके इतिहास पर बहु
प्रभाव पड़ा है। विशाल होने के कारण इसमें शीत, उष्ण तथा शीतोष्ण सभी प्र
जलवायु पाई जाती है। जलवायु की विभिन्नता के कारण देश की वनस्पति में भी
विभिन्नता है। फलत देश में भिन्न-भिन्न भागों के लोगों की वेश-भूषा, उनके
विचार तथा रहन-सहन में बड़ा अन्तर हो गया है। इससे हमारी राष्ट्रीय समस्या

[illegible]

जिनकी प्राकृतिक सीमायें न थी। अतएव इनमें परस्पर स घर्ष की सम्भावना सदै
रहती थी। इतने विशाल देश में शासन का केन्द्रीयकरण सम्भव न था।
स गठन का सदैव अभाव रहता था। राज्यों की सीमायें प्रायः बदलत रहती थीं। इस
परस्पर के कलह तथा स घर्ष से प्रबल विदेशियों ने पूरा लाभ उठाया। आन्तरिक कलह
तथा कुव्यवस्था के समय उन्होंने देश पर आक्रमण कर दिया। एकता में बल होता है और
विभिन्नता में पतन। ऐक्य के अभाव के कारण देशी नरेश अपने विपक्षियों के समक्ष नत-
मस्तक हो गये और अपनी राजनैतिक स्वतन्त्रता को खो बैठे। विदेशियों ने विशाल
साम्राज्यों की स्थापना की, परन्तु भारत की निर्बलकारिणी जलवायु तथा अपनी विला-
सिता एवम् आन्तरिक कलह के कारण यह विशाल साम्राज्य भी ध्वस्त हो गये। इस
प्रकार ब्रिटिश काल के थोड़े से समय को छोड़ कर भारतीय इतिहास में कोई ऐसा युग
था जब भारत में महान् राजनैतिक उथल-पुथल न हुई हो। परन्तु भारत के एक
भौगोलिक इकाई होने के कारण राजनैतिक तथा राष्ट्रीय एकता की भावना का कभी
विनाश न हुआ। देश की विशालता का एक और प्रभाव पड़ा है। महत्वाकांक्षी सम्राटों
की साम्राज्य स्थापित करने की पिपासा को शान्त करने के लिये भारत की विशाल भूमि
पर्याप्त थी। यही कारण था कि चन्द्रगुप्त मौर्य तथा समुद्रगुप्त जैसे अत्यन्त महत्वाकांक्षी
साम्राज्यवादी सम्राटों ने भी भारत की सीमाओं के बाहर अपनी सेनाओं के भेजने
कभी योजना न की। केवल चोल राजाओं ने ऐसा दुस्साहस किया था परन्तु बाद में
[illegible]ति बदल देनी पड़ी।

[illegible] के उत्तर में गगनचुम्बी हिमालय की श्रेणियाँ हैं। इन श्रेणियों
तथा प्रशाखायें उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर पूर्व में भी फैली हैं। इन पर्वत
[illegible]रत को एक दुर्ग बना दिया है। उत्तर की ओर इस पर्वत में बहुत कम मार्ग
बड़े ही दुर्गम हैं। अतएव इन पर्वतीय मार्गों से सेनायें भेजना अत्यन्त
[illegible] तथा अध्यवसायी पर्वतीय प्रदेशों के लोग इन मार्गों से
[illegible]। उत्तर हिमालय में तीन पर्वतीय मार्ग हैं। एक दार्जिलिंग से ल्हासा
[illegible] तिब्बत को और तीसरा काराकोरम जो चीनी तुर्किस्तान में यारकन्द

क जाता है। इन पर्वतीय मार्गों के कारण भारत का व्यापारिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध प्राचीन काल से ही चीन तथा तिब्बत के साथ चला आ रहा है। चूंकि चीन की सभ्यता बड़ी प्राचीन है और देश धन धान्य पूर्ण था अतएव वहाँ के निवासी शान्तिप्रिय तथा कला और साहित्य के अनुरागी थे। यही कारण है कि चीन तथा तिब्बत का भारत से संघर्ष नहीं हुआ। वरन् संस्कृति तथा सभ्यता का आदान प्रदान होता रहा। इन प्रदेशों से अनेक जिज्ञासु भारतवर्ष में आये और धार्मिक दीक्षा लेकर अपने देश को लौट गये। इन देशों से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध भी पुरातन काल से चला आ रहा है। हिमालय पर्वत ने न केवल बाह्य आक्रमणों से भारत को सुरक्षित रक्खा है वरन् अन्य प्रकार से भी इसकी सेवायें की हैं। उत्तर की शीतल वायु से सुरक्षित कर तथा मानसून हवाओं को रोक कर इसने उत्तर के मैदानों को अत्यन्त उर्वर बना दिया है। इस तुषाराच्छादित पर्वत से निकलने वाली नदियाँ उत्तरी मैदानों को सिंचित करती हैं और उन्हें उर्वर बनाती हैं। अनेक प्रकार की औषधियाँ इस पर्वतीय प्रदेश में पाई जाती हैं। काष्ठ की प्राप्ति का अक्षुण्ण साधन यह पर्वत सदैव से रहा है। प्राचीन काल में ऋषियों तथा मुनियों के आश्रम यहीं पर थे और आज-कल भी ग्रीष्म ऋतु के ताप से उत्तप्त व्यक्ति इसकी शरण में जाकर शान्ति तथा सुख प्राप्त करते हैं।

**उत्तर-पश्चिम**—भारत के उत्तर-पश्चिम की पर्वतीय शाखा हिन्दू-कुश पर्वत के नाम से प्रसिद्ध है। यह पर्वत माला अफगानिस्तान तथा बलूचिस्तान को भारत से अलग करती है। परन्तु यह भौगोलिक सीमा सदैव ऐतिहासिक सीमा की अनुवर्ती नहीं होती। भौगोलिक दृष्टिकोण से अफगानिस्तान तथा बलूचिस्तान भारत से अलग हैं और ईरान के पठार के अङ्ग हैं परन्तु ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ये प्राचीन काल से ही भारत के अङ्ग रहे हैं। मौर्य कालीन सम्राटों ने इन प्रदेशों के कुछ भागों पर शासन किया था। कुषाण,

[illegible]

था। मुगल काल में तो अफगानिस्तान मुगल साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया था। अहमदशाह अब्दाली तथा उसके उत्तराधिकारियों के शासन काल में पंजाब, सिन्ध तथा काश्मीर अफगानिस्तान की राजनैतिक आधीनता में आ गये थे। भारत के स्वतन्त्र होने के पहले तक बलूचिस्तान के कुछ भाग पर बृटिश सरकार का नियन्त्रण था परन्तु अब बलूचिस्तान पाकिस्तान का एक अंग बन गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तर-पश्चिम में भारत की ऐतिहासिक सीमा उसकी भौगोलिक सीमा की अनुवर्ती नहीं है।

ईरान के पठार का भारतीय इतिहास में बहुत बड़ा महत्व है। प्राचीन काल में सिकन्दर महान्, मुहम्मद बिन कासिम आदि आक्रमणकारी इसी पठार को पार कर भारत में आये थे। बृटिश सरकार की दृष्टि में राजनैतिक दृष्टिकोण से इस पठार का बहुत बड़ा महत्व था और उनके विचार में भारत की सुरक्षा के लिये हिन्द-महासागर, फारस की खाड़ी तथा ईरान के पठार पर अपना प्रभाव स्थापित करना नितान्त आवश्यक था। इसी से बृटिश सरकार ने फारस तथा अफगानिस्तान के साथ सदैव कूटनीतिक सम्बन्ध रखने का प्रयत्न किया था। परन्तु भारत के विभाजन के उपरांत अब इनका महत्व कुछ कम हो गया है क्योंकि अब भारत की सीमा पर पाकिस्तान डोमिनियन की स्थापना हो गई है। अतएव भारत की रक्षा पाकिस्तान के सम्बन्ध पर निर्भर है। इन दोनों राज्यों में सद्भावना स्थापित करना नितान्त आवश्यक है।

भारत के उत्तर-पश्चिम में कई पर्वतीय मार्ग हैं जो अधिक दुर्गम नहीं हैं और जिनके द्वारा सेनायें प्रवेश कर सकती हैं। बलूचिस्तान के दक्षिणी किनारे पर मेकरान का पर्वतीय

मार्ग है। सिकन्दर महान् ने इसी मार्ग से अपनी सेना के एक अंग को भारत भेज
सातवीं तथा आठवीं शताब्दियों में अरब के आक्रमणकारियों ने इसी मार्ग से भा
प्रवेश किया था। काबुल से पेशावर जाने के लिये एक दूसरा पर्वतीय मार्ग है जो खै
नाम से प्रसिद्ध है। इस पर्वतीय मार्ग का भारतीय इतिहास में बहुत बड़ा महत्व
भारत के मैदानों की संपत्ति का यह स्वर्ण द्वार कहा गया है। अत्यंत प्राचीन काल से म
पर आक्रमण करने वाले आर्य, यूनानी, हूण, सिथियन, तुर्क तथा मंगोल सभी लोगों
इसी मार्ग से भारत में प्रवेश किया था। अफगानों के प्रदेश को अपने अधिकार में र
वाला कोई भी आक्रमणकारी बड़ी सरलता से पंजाब में प्रवेश कर सकता था और य
उसमें राजनैतिक योग्यता होती तो वह एक स्थायी राज्य स्थापित कर सकता था। यद्य
अन्य पर्वतीय मार्गों से भी भारत पर आक्रमण हुये परन्तु भारत के भाग्य पर जितन
बड़ा प्रभाव खैबर के मार्ग से होने वाले आक्रमणों का पड़ा उतना अन्य मार्गों से हो
वाले आक्रमणों का नहीं। क्वेटा के दक्षिण-पूर्व में बोलन का पर्वतीय मार्ग स्थित है।
मार्ग का व्यापारिक तथा सैनिक दृष्टि-कोण से खैबर की भांति बहुत बड़ा महत्व
आक्रमणकारी इस मार्ग से भी सुगमता से भारत में प्रवेश कर सकते हैं। खैबर के द
में कुर्रम नामक पर्वतीय मार्ग है। वर्ष के कई मास तक यह मार्ग तुषाराच्छादित रह
है। एक और उल्लेखनीय गोमल का पर्वतीय मार्ग है जो गोमल नदी के किनारे कि
अफगानिस्तान को चला गया है और गजनी को डेरा इस्माइल खान से मिलाता है
इन पर्वतीय मार्गों का भारतीय इतिहास में बहुत बड़ा महत्व है। आर्यों से लेक
अहमदशाह अब्दाली तक जितने आक्रमण हुये हैं वे सब इन्हीं मार्गों से हुये हैं। अफगा
निस्तान पर अपना प्रभाव स्थापित करने के लिये बृटिश सेनाओं ने भी इन्हीं मार्गों से
अफगानिस्तान में प्रवेश किया था। मध्य-एशिया, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान तथा
अन्य देश जो उत्तर-पश्चिम की ओर स्थित हैं पर्वतीय तथा अनुपजाऊ हैं। अतएव अपनी
भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उन्हें प्रकृति से घोर संघर्ष करना पड़ता है। इन
देशों की जलवायु भी अनुकूल तथा स्वास्थ्य वर्धक है। अतएव यहाँ के लोग वीर, साहसी,
बलवान् तथा युद्ध प्रिय होते हैं। भारत की अपार सम्पत्ति से यहाँ के ...
आकर्षित हुये हैं और ...

सैनिक तथा राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं के लिए विष-तुल्य है। इससे संगठन का कार्य बिगड़ जाता है और उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

**उत्तर पूर्व**—उत्तर-पूर्व की ओर हिमालय की शाखायें आसाम तथा बंगाल को ब्रह्मा से अलग करती है। यह मार्ग घने वनों तथा पर्वत श्रेणियों से घिरा है। इसे पार करके जाना बड़ा ही दुष्कर कार्य है। इसमें बहुत कम मार्ग है और रेलवे लाइनों का निर्माण नहीं हो पाया है। भारत तथा ब्रह्मा के बीच कोई निश्चित स्थल मार्ग नहीं है। अतएव केवल सामुद्रिक मार्ग से ही आवागमन की सुविधा है। ब्रह्मा का भारत के साथ बहुत प्राचीन सम्बन्ध है। [illegible]

का एक प्रान्त बना दिया। परन्तु १९३७ में ब्रह्मा फिर भारत से अलग कर दिया गया और अब वह एक स्वतन्त्र राष्ट्र बन गया है। भारत तथा ब्रह्मा के बीच का मार्ग इतना दुर्गम है कि इस मार्ग से सेनाओं का प्रवेश करना अत्यन्त कठिन है। यही कारण है कि उत्तर पूर्व की ओर से भारत पर आक्रमण नहीं हुये। केवल १९४२ में जापानियों ने इस ओर से भारत में प्रवेश करने का प्रयत्न किया था परन्तु इन्हें अपने उद्देश्य में सफलता न प्राप्त हुई। इस ओर से आक्रमण न होने का एक और कारण प्रतीत होता है। इस ओर ब्रह्मा तथा चीन भारत के पड़ोसी हैं। चीन प्राचीन काल से ही सभ्य तथा समृद्धिशाली देश रहा है। वहाँ के लोगों में धर्म विजय की आकांक्षा अधिक थी। भौतिकता से मानसिक विकास को वे बढ़ कर समझते थे। अतएव वे बड़े ही शांति प्रिय होते थे। इसी प्रकार ब्रह्मा भी सदैव धन-धान्य पूर्ण रहा है। इसी से उसका नाम स्वर्ण भूमि रक्खा गया था। फलतः यहाँ के निवासी भी भारत के साथ विचार विनिमय करते रहे और भारतीय संस्कृति के मधुर फल का आस्वादन करते रहे।

**आर्यावर्त**—शेष भारत तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है अर्थात् आर्यावर्त, दक्षिणापथ तथा द्रविड़-देश। उत्तर में गंगा, सिन्ध तथा ब्रह्मपुत्र का समतल मैदान है। यह सब नदियां हिमालय पर्वत से निकलती हैं। अतएव यह सदैव जल से परिपूर्ण रहता है। यह नदियाँ सिंचाई के कार्य में बड़ी सहायक सिद्ध होती हैं। इन नदियों की लाई हुई मिट्टी के कारण यह मैदान बड़ा उपजाऊ हो गया है। इन नदियों का प्रवाह बहुत तीव्र नहीं है। अतएव इनके द्वारा व्यापार बड़ी सुगमता से हो सकता है। प्राचीन काल में जब देश जंगलों से भरा था तब आवागमन के विचार से नदियों का बहुत बड़ा महत्व था। यही कारण है कि उत्तरी भारत के सभी बड़े-बड़े नगर नदियों के किनारे बसे हैं। दिल्ली, जो महान् सम्राटों की राजधानी थी, आगरा जिससे मुगल सम्राटों को विशेष प्रेम था, यमुना के तट पर बसे हैं। प्रयाग जो तीर्थों का राजा माना जाता है गंगा तथा यमुना के संगम पर बसा है। हरद्वार जो एक पवित्र तीर्थ-स्थान है, कानपुर जो उत्तरी भारत का सबसे अधिक व्यवसायिक नगर है, काशी जो भारत का सब से अधिक पवित्र तीर्थ-स्थान माना जाता है; पाटलिपुत्र जो प्राचीन काल में महान् हिन्दू सम्राटों की राजधानी थी, सभी गंगा के तट पर स्थित हैं। सारनाथ जो बौद्धों का अत्यन्त पवित्र तीर्थ-स्थान है काशी से केवल तीन मील दूर है। लखनऊ जो संयुक्त-प्रान्त की राजधानी है गंगा

की सहायक नदी गोमती के किनारे पर बसा है। पटना से केवल सात मील दूर गया स्थित है जो हिन्दुओं तथा बौद्धों दोनों के लिये समान रूप से पवित्र है। देश का सबसे बड़ा नगर है और जो १९१२ तक ब्रिटिश सरकार की राजधानी रहा नदी के किनारे पर बसा है जो गङ्गा की एक शाखा है। सिन्धु तथा उसकी सहायक न[दियों] ने पञ्जाब देश को बड़ा उपजाऊ बना दिया है। इस प्रकार नदियों का उत्तरी भा[रत] समृद्धिशाली तथा व्यवसायी बनाने में बड़ा योग रहा है। हिमालय पर्वत की [ऊँची] शिखरों ने भी इस कार्य में बड़ी सहायता पहुँचाई है। यह शिखरें मानसून हवाओं [को] अवरुद्ध कर देती हैं जिससे उत्तरी भारत में घोर वृष्टि होती है और यह अत्यन्त उर[्वर हो] गया है। उत्तर भारत की नदियों के महत्व पर प्रकाश डालते हुये स्मिथ साहब ने लि[खा] है कि फ्रांसीसियों पर विजय प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक था कि वे गंगा के अञ्च[ल] तथा बंगाल पर अपना अधिकार स्थापित करें। पञ्जाब पर विजय प्राप्त करने के [लिये] अंग्रेज़ों को सिन्ध नदी पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना पड़ा था। उत्तर के मैदान [का] भारतीय इतिहास में बहुत बड़ा महत्व है। भारत का सबसे अधिक धनी भाग होने [के] कारण विदेशियों के आक्रमण इसी भाग में हुआ करते थे। यूरोप निवासियों के आग[मन] के पूर्व उत्तर पश्चिम के पर्वतीय मार्गों से जितने आक्रमण हुये थे वे सब इसी मैदान [में] हुये थे। आर्य, यूनानी, शक, हूण, तुर्क, मंगोल आदि जातियों के आक्रमण इसी मैदान [में] हुये थे। महान् राजनैतिक क्रांतियां इसी मैदान में हुईं। बड़े-बड़े राज्यों का उत्थान तथ[ा] पतन यहीं हुआ। बौद्ध, जैन ब्राह्मण आदि बड़े-बड़े धर्मों का जन्म तथा प्रचार यहीं से आरम्भ हुआ। साहित्य, दर्शन, काव्य, कला आदि का उत्कर्ष इसी प्रदेश में हुआ। और महान् संग्राम जिनका भारत के भाग्य पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा इसी मैदान के अन्तर्ग[त] [illegible] इन सब का कारण यही था कि यह भारत के सबसे अधिक [illegible] । साहसी [illegible] के लोग [illegible] । है फिर [illegible] तएव वे [illegible] यें करते [illegible] करते थे अपने वैरियों से भी संघर्ष करना सीख गये हैं। यहाँ पर जो लोग सबसे अधिक योग्य हैं वहीं जीवित रह सकते हैं। इस प्रकार विकासवाद के सिद्धांत के अनुसार इनकी क्रमशः उन्नति होती गई। अतएव उत्तर-पश्चिम के पर्वतीय मार्गों से आक्रमण करने वाली बर्बर जातियों का इन्होंने बड़ी वीरता तथा साहस के साथ सामना किया था। सिकन्दर को यहीं वीर तथा साहसी पोरस के साथ लोहा लेना पड़ा था। यह प्रदेश न केवल अपने सैनिक बल तथा रण-कौशल के लिये प्रसिद्ध था वरन् भारत की सब से प्राचीन सभ्यता अर्थात् हड़प्पा तथा मोहन जोदड़ो का विकास यहीं हुआ था। परन्तु गंगा के मैदान में जीवन बड़ा ही सरल होता है। इस प्रदेश पर प्रकृति की विशेष अनुकम्पा रही है। यहाँ थोड़े ही परिश्रम से भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है। यहाँ की जलवायु भी निर्बल बनाने वाली है। अतएव यहाँ के लोग आलसी, भीरु तथा शांति प्रिय होते हैं। साहित्य, कला, काव्य, दर्शन आदि में उनकी विशेष अभिरुचि होती है। यही कारण है कि वीर विदेशियों से वे सब सदैव पराजित हुये। परन्तु दक्षिण पर उन्होंने सदैव अपना प्रभुत्व स्थापित रक्खा। दक्षिणापथ के निर्धन प्रदेशों के विरुद्ध उत्तर ने सदैव सफलता पूर्वक युद्ध किया परन्तु उत्तर-पश्चिम के शीत प्रदेशों से आने वाली यूनानी, शक, हूण, तुर्क, मंगोल आदि जातियों के सामने वे ठहर न सके। इस मैदान के सुदूर पूर्व में आसाम तथा बंगाल के प्रांत हैं। आसाम चाय के व्यापार के लिये प्रसिद्ध है और बंगाल में चावल की अधिकता है। यहाँ की जलवायु बड़ी हानिकारक है। यहाँ के लोगों के

स्थ्य को मलेरिया ने नष्ट कर दिया है। यद्यपि इन लोगों में शारीरिक बल नहीं होता
तु मानसिक कल्पना इनकी बड़ी तीव्र होती है। अतएव साहित्य, दर्शन तथा विज्ञान में
के लोग बड़ी उन्नति कर सके हैं। उत्तरी मैदान के सुदूर पूर्व में स्थित होने के कारण
प्रदेश उत्तर-पश्चिम के आक्रमणों से बहुत काल तक मुक्त रहा परन्तु १८ वीं शताब्दी में
ंग्रेजों ने अपनी विजय इसी प्रांत से की थी। यह प्रांत सदैव धन धान्य पूर्ण रहा है।
री मैदान के दक्षिण-पश्चिम में राजपूताना की मरुभूमि है जिसके पश्चिमी भाग में
ावली की पहाड़ियाँ है। इन पहाड़ियों के पश्चिम में थार तथा सिन्ध की मरुभूमि है।
प्रदेश का भारतीय इतिहास में बहुत बड़ा महत्व रहा है। राजपूतों की वीर जाति का
कास इसी प्रदेश में हुआ था। राणा-साँगा तथा राणा प्रतापसिंह जैसे वीर राजपूतों का
न्म इसी मरुभूमि में हुआ था। भारत की स्वतन्त्रता का सुदृढ़ दुर्ग यही प्रदेश था। इस
देश ने भारत के गौरव को सदैव उन्नत रक्खा है। यद्यपि इस-मरुभूमि की जन संख्या
हुत कम है परन्तु इसके निवासी बड़े वीर, साहसी तथा सामरिक प्रवृत्ति के होते
। स्वतन्त्रता की वेदी पर यह अपना सर्वस्व अर्पण कर देने के लिये उद्यत रहे हैं। इस

स विस्तृत मरु-भूमि के कारण आगे नहीं बढ़ सकते थे परन्तु जब, हम एक दूसरे दृष्टि
ोण से देखते हैं तब यह मरु भूमि भारत की सुरक्षा में बाधक भी प्रतीत होती है। यह
रु भूमि गंगा के मैदान को सिन्ध के मैदान से अलग करती है और उत्तर पश्चिम
े सभी पर्वतीय मार्ग सिन्ध के मैदान में आकर मिलते हैं। अतएव सम्पूर्ण भारत
अथवा उत्तरी भारत के पर्याप्त साधनों का प्रयोग आक्रमणकारियों के विरुद्ध नहीं किया
ा सकता था।

**दक्षिणापथ**—आर्यावर्त के दक्षिण में विन्ध्या सतपुड़ा, तथा अमरकंटक की पर्वत
मालायें तथा नर्मदा और ताप्ती नदियाँ हैं। प्राचीन काल में यह भाग घने वनों से
आच्छादित था। अतएव आर्यावर्त से दक्षिणापथ का आना-जाना अत्यन्त दुष्कर कार्य
था। उत्तर से दक्षिण जाने के लिये कोई सुगम स्थल मार्ग न था। केवल समुद्र तट से
ही दक्षिणापथ में प्रवेश किया जा सकता था। यद्यपि दक्षिण की पर्वत मालायें अभेद्य
नहीं हैं परन्तु बीहड़ बनों के कारण उत्तर तथा दक्षिण का घनिष्ट सम्पर्क न हो सका। ऐसी
परिस्थिति में दक्षिण ने अपनी अलग संस्कृति तथा सभ्यता का सृजन तथा परिवर्धन किया
जो उत्तर से बिल्कुल भिन्न थी परन्तु कालान्तर में वनों को काट कर मार्ग निकाले गये
और उत्तर तथा दक्षिण में धीरे धीरे संबंध बढ़ने लगा। फलत. आर्यों की सभ्यता तथा
संस्कृति का प्रचार धीरे-धीरे दक्षिण भा त में भी होने लगा। दक्षिण का उतना बड़ा महत्व
नहीं है जितना उत्तर का। दक्षिण एक दरिद्र देश है। यहाँ के राजाओं ने कभी भी उत्तर पर
अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया था। इस प्रदेश के इतिहास जानने के
पर्याप्त साधन भी उपलब्ध नहीं हैं। दक्षिणी भारत पूर्वी तथा पश्चिमी घाट द्वारा तीन भागों
में विभक्त है। पश्चिमी घाट तथा अरब सागर के बीच में एक सँकरा मैदान है। यहाँ
वर्षा पर्याप्त मात्रा में होती है और भूमि उपजाऊ है। यहाँ धान की अच्छी कृषि होती है।
इस भाग में कई अच्छे अच्छे बन्दरगाह हैं। कोचिन, सूरत तथा कालीकट के बन्दरगाह
प्राचीन काल में बहुत प्रसिद्ध थे और मिस्र, बेबीलोन, अरब था भूमध्यसागर के प्रदेशों के
साथ व्यापार करते थे। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से पश्चिमी घाट का कोई बहुत बड़ा महत्व

की सहायक नदी गोमती के किनारे पर बसा है। पटना से केवल साठ मील दूर ...
गया स्थित है जो हिन्दुओं तथा बौद्धों दोनों के लिये समान रूप से पवित्र है। कलक...
देश का सबसे बड़ा नगर है और जो १८१२ तक ब्रिटिश सरकार की राजधानी रहा है, ...
नदी के किनारे पर बसा है जो गङ्गा की एक शाखा है। सिन्ध तथा उसकी सहायक न...
ने पञ्जाब देश को बड़ा उपजाऊ बना दिया है। इस प्रकार नदियों का उत्तरी भा...
समृद्धिशाली तथा व्यवसायी बनाने में बड़ा योग रहा है। हिमालय पर्वत की ...
शिखरों ने भी इस कार्य में बड़ी सहायता पहुँचाई है। यह शिखरें मानसून हवा...
अवरुद्ध कर देती है जिससे उत्तरी भारत में घोर वृष्टि होती है और वह अत्यन्त उ...
गया है। उत्तर भारत की नदियों के महत्व पर प्रकाश डालते हुये स्मिथ साहब ने ...
है कि फ्रांसीसियों पर विजय प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक था कि वे गंगा के जल...
तथा बंगाल पर अपना अधिकार स्थापित करें। पञ्जाब पर विजय प्राप्त करने के ...
अङ्गरेज़ों को सिन्ध नदी पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना पड़ा था। उत्तर के मैदा...
भारतीय इतिहास में बहुत बड़ा महत्व है। भारत का सबसे अधिक धनी भाग है ...
कारण विदेशियों के आक्रमण इसी भाग में हुआ क...
के पूर्व उत्तर पश्चिम के पर्वतीय मार्गों से जितने

र थी। परन्तु मुसलमान राजाओं ने सामुद्रिक शक्ति की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। उन्होंने सदैव अपनी स्थल सेना को अधिक से अधिक प्रबल बनाने का प्रयत्न किया। इसी स्मिथ साहब ने लिखा है कि मुगल साम्राज्य के पतन के कारणों में से एक यह भी था

...सी ओर मँडरा रहे हैं।

द्वीप—अंडमन, निकोबार, लंका, लकाद्वीप तथा मालद्वीप भारत के निकटवर्ती द्वीप हैं। इन सब से भारत का राजनैतिक तथा व्यवसायिक सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से रहा है और भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न भारतीय राजाओं ने इन पर शासन किया था। दक्षिण के चोल राजाओं ने इनमें से कुछ द्वीपों पर अपनी राजनैतिक सत्ता स्थापित कर ली थी। परम्परागत कथाओं से पता चलता है कि विजयसिंह नामक एक बंगाल निवासी वीर पुरुष ने लंका में उपनिवेश स्थापित करके शासन किया था। जब अंग्रेज़ों ने भारत में अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया तब लंका, अन्डमन तथा निकोबार पर उनकी राज सत्ता स्थापित हो गई। यद्यपि लंका अब भारत से अलग हो गया है परन्तु अंडमन तथा निकोबार अब भी भारत के अंग हैं।

सारांश—अब भारत की भौगोलिक परिस्थितियों का उसके इतिहास पर जो प्रभाव पड़ा है उस पर एक विहंगम दृष्टि डाल देना आवश्यक है। एक अत्यन्त विशाल देश होने के कारण यह देश नदियों, पहाड़ियों, जंगलों, रेगिस्तानों आदि द्वारा भिन्न-भिन्न प्रदेशों में विभक्त है जिनमें प्रादेशिक भावना का संचार होना स्वाभाविक ही था। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण देश में राजनैतिक एकता स्थापित करना अत्यन्त दुर्लभ था। परन्तु इस देश की निश्चित प्राकृतिक सीमाओं के होने के कारण इसने अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का विकास किया जो इसके पड़ोसियों की सभ्यता तथा संस्कृति से भिन्न थी। यद्यपि इस देश में राजनैतिक एकता का सदैव अभाव रहा है परन्तु सम्राटों का आदर्श तथा प्रयास राजनैतिक एकता का ही रहा है। सांस्कृतिक एकता तो इस देश में सदैव पर्याप्त मात्रा में रही है।

इस विशाल देश के अन्दर स्थित पहाड़ियों तथा नदियों का भी इसके इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। इसने भारत कई प्राकृतिक भागों में विभक्त हो गया है।

ली थी। परन्तु मुसलमान राजाओं ने सामुद्रिक शक्ति की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। उन्होंने सदैव अपनी स्थल सेना को अधिक से अधिक प्रबल बनाने का प्रयत्न किया। इसी से स्मिथ साहब ने लिखा है कि मुगल साम्राज्य के पतन के कारणों में से एक यह भी था कि उन्होंने सामुद्रिक शक्ति की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। यूरोप निवासियों ने सबसे पहिले सामुद्रिक मार्ग से भारत में प्रवेश किया था। पहिले वे व्यापार करने के विचार से आये थे परन्तु भारत की राजनैतिक कुव्यवस्था को देखकर उन्होंने साम्राज्य का स्वप्न देखना आरम्भ किया। सबसे पहिले पुर्तगालियों ने सोलहवीं शताब्दी में हिन्द महासागर पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी जिन्होंने महत्वपूर्ण स्थानों पर अपने किले भी बनवा रक्खे थे। इन लोगों ने समुद्रतट के राजाओं से सन्धियाँ भी की थीं। पुर्तगालियों के बाद हालैण्ड निवासियों ने भारत में प्रवेश किया और कोचिन, कोलम्बो, मलका तथा सुमात्रा पर अपना अधिकार जमा लिया। इनके उपरांत फ्रांसीसियों तथा अंग्रेजों ने भारत में प्रवेश किया। इन चारों जातियों में अंग्रेजों की सामुद्रिक शक्ति सबसे अधिक प्रबल थी। अतएव घोर संघर्ष के उपरान्त अंग्रेजों की ही विजय प्राप्त हुई और भारत में उनका साम्राज्य स्थापित हो गया। अंग्रेजों की सत्ता समुद्र पर पूर्ण रूप से स्थापित रही परन्तु गत महासमर के समय जब अंग्रेजों का जापानियों से संघर्ष हुआ तब सामुद्रिक युद्ध में जापानियों ने अंग्रेजों को परास्त कर दिया था और भारत के निकटवर्ती द्वीपों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। परन्तु यह विजय क्षणिक सिद्ध हुई। अब स्वतन्त्र भारत को भी अपनी नाविक शक्ति के प्रबल बनाने की बड़ी चिन्ता है और इसके लिये पूरा प्रयत्न किया जा रहा है। परन्तु प्राचीन काल की भांति इस समय भी हमारी दृष्टि उत्तर-पश्चिम की ओर अधिक लगी है क्योंकि हमारे देश के लिये आपत्तियों के बादल उसी ओर मँडरा रहे हैं।

**द्वीप**—अण्डमन, निकोबार, लंका, लकादीप तथा मालदीप भारत के निकटवर्ती द्वीप हैं। इन सब से भारत का राजनैतिक तथा व्यवसायिक सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से रहा है और भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न भारतीय राजाओं ने इन पर शासन किया था। दक्षिण के चोल राजाओं ने इनमें से कुछ द्वीपों पर अपनी राजनैतिक सत्ता स्थापित कर ली थी। परम्परागत कथाओं से पता चलता है कि विजयसिंह नामक एक बंगाल निवासी वीर पुरुष ने लंका में उपनिवेश स्थापित करके शासन किया था। जब अंग्रेजों ने भारत में अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया तब लंका, अण्डमन तथा निकोबार पर उनकी राज सत्ता स्थापित हो गई। यद्यपि लंका अब भारत से अलग हो गया है परन्तु अंडमन तथा निकोबार अब भी भारत के अंग हैं।

**सारांश**—अब भारत की भौगोलिक परिस्थितियों का उसके इतिहास पर जो प्रभाव पड़ा है उस पर एक विहंगम दृष्टि डाल देना आवश्यक है। एक अत्यन्त विशाल देश होने के कारण यह देश नदियों, पहाड़ियों, जंगलों, रेगिस्तानों आदि द्वारा भिन्न-भिन्न प्रदेशों में विभक्त है जिनमें प्रादेशिक भावना का संचार होना स्वाभाविक ही था। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण देश में राजनैतिक एकता स्थापित करना अत्यन्त दुर्लभ था। परन्तु इस देश की निश्चित प्राकृतिक सीमाओं के होने के कारण इसने अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का विकास किया जो इसके पड़ोसियों की सभ्यता तथा संस्कृति से भिन्न थी। यद्यपि इस देश में राजनैतिक एकता का सदैव अभाव रहा है परन्तु सम्राटों का आदर्श तथा प्रयास राजनैतिक एकता का ही रहा है। सांस्कृतिक एकता तो इस देश में सदैव पर्याप्त मात्रा में रही है।

इस विशाल देश के अन्दर स्थित पहाड़ियों तथा नदियों का भी इसके इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। इससे भारत कई प्राकृतिक भागों में विभक्त हो गया है।

तथा धर्मोपदेशकों ने विदेशों में जाकर भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार किया। परन्तु विदेशों में साम्राज्य स्थापित करने का भारत के सम्राटों ने कभी प्रयास नहीं किया क्योंकि भारत जैसा विशाल देश उनकी साम्राज्यवादी पिपासा को शान्त करने के लिये पर्याप्त था।

जलवायु का भी हमारे देश के इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। बहुत से इतिहासकारों की धारणा है कि इस देश की उष्ण जलवायु यहाँ के लोगों को निर्बल तथा काहिल बना देती है और यही कारण है कि भारतवासी सफलतापूर्वक विदेशियों का सामना न कर सके। परन्तु जब हम राजपूत, मरहटों तथा सिक्खों के कारनामों पर विचार करते हैं तब यह धारणा निर्मूल सिद्ध हो जाती है। अतएव भारतीयों की पराजय का कुछ और ही कारण प्रतीत होता है। एकता का अभाव भी इनकी पराजय का कारण नहीं बतलाया जा सकता क्योंकि भारतीयों की संख्या आक्रमणकारियों की संख्या से सदैव अधिक थी। भारतीयों की पराजय का वास्तविक कारण उनकी सङ्कीर्णता तथा अनभिज्ञता थी। भारतवासी विदेशियों की स्थिति, उनकी व्यवस्थाओं तथा रणनीति से बिल्कुल अनभिज्ञ रहते थे। भारतीय सेनायें अपनी सुरक्षा के लिये प्रायः हस्तिसेना पर निर्भर रहती थीं जो अश्वारोहियों तथा अग्नयस्त्रों के सामने ठहर न सकती थी।

भारत की सम्पत्ति ने सदैव विदेशियों को आकर्षित किया था। इस प्रकार भारत की उर्वर भूमि तथा इसकी प्रचुर सम्पत्ति भी इसके पतन का कारण सिद्ध हुई।

प्राकृतिक सौन्दर्य की प्रचुरता के कारण भारतीयों की प्रवृत्ति दार्शनिक तथा साहित्यिक रही है। अतएव धर्म, दर्शन, कला तथा साहित्य में इन्हें अद्भुत सफलता प्राप्त हुई थी। चूँकि जीवन वृत्ति के लिये प्रकृति के साथ इन्हें संघर्ष नहीं करना पड़ता था अतएव प्रकृति के गुप्त रहस्यों के अन्वेषण की प्रवृत्ति इनमें न बढ़ सकी। फलतः भौतिक विज्ञान का विकास यह लोग न कर सके।

सारांश यह है कि भारतीयों के राजनैतिक, सांस्कृतिक आर्थिक तथा आध्यात्मिक जीवन पर देश की भौगोलिक परिस्थितियों का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है।

---

तथा ऐतिहासिक सभी सम्राट दिग्विजय की आकांक्षा रखते थे। इस काल के न
नाटककारों की भी ऐसी भावनायें थीं। उन्होंने अपनी रचनाओं में राजों की
प्रकार बतलाई हैं "आ द्वारान्तां महीम्, आसमुद्र पर्यन्ताम् महीम, चक्रवर्ति क्षेत्र
समुद्रान्तरम।" प्राचीन भारतीय सम्राट् दिग्विजय तथा धर्म विजय की भावना
जिसमें एक महान् सम्राट होता था और अन्य सम्राट उसके अधीनस्थ शासन क
उसे कर देते थे। यह सब बात भारत की राजनैतिक एकता की द्योतक है। मह
काल में भी यह भावना विद्यमान् थी। श्री रामचन्द्र जी ने जो पूर्ण सभ्य थे अ
वानरों की सहायता से निरे असभ्य राक्षसों पर विजय प्राप्त की थी और लंका को

है, "दो सहस्त्र-वर्षों के हिन्दू तथा बौद्ध शासन काल में राजनैतिक अनैक्य तथा भाषा एवं रीति-रिवाजों की विभिन्नता होते हुये भी इस महान् देश के सभी प्रान्तों के साहित्य तथा विचारों पर समान रूप से संस्कृत की छाप है। हिन्दू काल में सम्पूर्ण भारतवर्ष में इसी प्रकार धर्म, दर्शन, साहित्यिक विचार, रीति रिवाजों तथा जीवन के दृष्टिकोण की एकता थी जिस प्रकार आज सम्पूर्ण भारत की हिन्दू जनता में पाई जाती है।" सर यदुनाथ सरकार ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "उन विदेशी जातियों में जो भारत में दीर्घ काल से रह चुकी हैं जिन्होंने एकसा अन्न खाया है, एक ही जल-धारा का जलपान किया है, एक ही सूर्य का प्रकाश प्राप्त किया है और दैनिक जीवन में एक से नियमों का पालन किया है शारीरिक बनावट तथा जीवनचर्या में काफी समीकरण हुआ है। विदेशागत भारतीय मुसलमानों पर भी शताब्दियों की अवधि में इस देश की छाप पड़ गई है और अब वे बहुत सी मुख्य मुख्य बातों में एशिया के अन्य भागों जैसे अरब तथा फारस के रहने वाले अपने भाइयों से भिन्न हैं।"

**आर्थिक एकता**—भारतवर्ष की भूमि, जलवायु तथा वनस्पति की विभिन्नता के कारण सम्पूर्ण देश की आर्थिक दशा एक सी नहीं है। प्राचीन काल से ही उत्तर में नदियों का मैदान धन-धान्य पूर्ण रहा है और राजपूताना की मरुभूमि तथा दक्षिण का पठार [illegible] व्यवसायी बनाता है। सम्पूर्ण देश धन सचय की ओर से उदासीन रहा है। सम्पूर्ण देश भाग्यवादी बन गया है। अतएव सम्पूर्ण देश का दृष्टिकोण बदल कर नई स्फूर्ति उत्पन्न करती है।

**निष्कर्ष**—उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया है कि विभिन्नताओं के अन्तस्तल में मौलिक एकता निहित है। भारतीय इतिहास, उसके लक्षणों, विश्वास तथा संस्थाओं पर विचार करने से पता चलता है कि यहां के निवासी समस्त भारतवर्ष को ही अपना देश तथा अपना आदर्श मानते रहे हैं। वे अपने देश की भौगोलिक एकता को कभी नहीं भूले, देश के धार्मिक, राजनैतिक तथा सामाजिक विचारों, रीतियों तथा संस्थाओं में इस एकता के भाव का बराबर परिचय मिलता है। वे भारतवर्ष को अपना देश समझते हैं और उनकी अभिलाषाओं, धर्म सभ्यता तथा सहानुभूति के विस्तार भारतवर्ष की समस्त सीमाओं तक है। इस सम्बन्ध में डा० स्मिथ ने लिखा है, "निस्सन्देह भारत में गहरी मौलिक एकता अन्तर्हित है जो उस एकता से कहीं अधिक वृहत्तर है जो भौगोलिक पार्थक्य तथा राजनैतिक सत्ता से उत्पन्न की गई है। यह एकता रक्त, रंग, भाषा, रस्म, आचार-व्यवहार तथा वर्गों की असंख्य विभिन्नताओं का अतिक्रमण कर जाती है।" सर हरबर्ट रिजले ने लिखा है, "भारत में समाज, नीति, भाषा, रीति-रिवाज, धर्म आदि की जो विभिन्नतायें स्पष्ट दिखाई देती हैं उन सब के अन्तस्तल में एक निश्चित मौलिक एकता है जिसने हिमालय से लेकर कन्या कुमारी तक भारतीय जीवन को एक सूत्र में बाँध रक्खा है।" श्री राधा कुमुद मुकर्जी ने अपनी 'भारत की मौलिक एकता' नामक पुस्तक में लिखा है, "इस प्रकार भारतवर्ष को प्रकृति तथा पालन दोनों में, अपनी भौगोलिक परिस्थितियों तथा ऐतिहासिक अनुभवों से, अपने धार्मिक विचारों तथा राजनैतिक आदर्शों से अपनी एकता के अनुभव करने, देखने, स्थायी रखने तथा अपने व्यक्तित्व के बढ़ाने में सहायता मिली है।"

---

र्मिक इतिहास पर जब हम एक विहंगम दृष्टि डालते हैं तो हमें इस बात का पता
ाता है कि इस काल में पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता थी। इस युग में भिन्न-भिन्न धर्म का
तन्त्रतापूर्वक प्रचार हुआ और धर्म के नाम पर अत्याचार नहीं किया गया था। जो
जा किसी विशेष धर्म के अनुयायी हो गये थे वे भी अन्य धर्मों का आदर करते थे।
स युग के इतिहास के अध्ययन से यह पता लगता है कि इस काल में हिन्दुओं
ा धार्मिक दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक था और हिन्दू धर्म में बड़ी सहनशीलता थी।
भी इसमें वह संकीर्णता नहीं आई थी जो आगे चलकर परिलक्षित होती है। यही
ारण था कि जितनी विदेशी जातियाँ भारतवर्ष में प्रविष्ट हुईं वे सब हिन्दू समाज में
विलीन हो गईं और कालान्तर में अपने अस्तित्व को खो बैठीं। कुषाण, पह्लव, हूण
ादि जितनी जातियों ने भारत में प्रवेश किया उन सबको हिन्दू-समाज ने अपने में
सम्मिलित कर लिया और उनका पार्थक्य समाप्त हो गया।

(५) तिथि-क्रम का अभाव—प्राचीन भारत के राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दोनों
प्रकार के इतिहास के विवेचन में सब से बड़ी कठिनाई तिथि-क्रम के अभाव के कारण
होती है। प्राचीन भारत के वृहत् साहित्य तथा राजनैतिक घटनाओं की तिथियों का जिनके
आधार पर संस्कृति का अध्ययन किया जाता है हमें निश्चित ज्ञान नहीं प्राप्त है। अतएव
विशद् मत-भेद तथा अनन्त तर्क वितर्क के लिये पर्याप्त स्थान है।

(६) विदेश के विजय की निस्पृहता—प्राचीन भारत के इतिहास का अध्ययन
करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि इस युग के अत्यन्त महत्वाकांक्षी सम्राटों में भी
भारत की प्राकृतिक सीमाओं के बाहर देश-विजय की कामना न थी और चन्द्रगुप्त मौर्य
तथा समुद्रगुप्त जैसे साम्राज्यवादी सम्राटों ने भी भारत के बाहर अपनी सेनाओं को भेजने
की कभी भी आयोजना नहीं की थी। भारत के सम्राटों का आदर्श केवल भारत के
अन्दर ही अपनी एकमात्र सत्ता के स्थापित करने का था। केवल चोल राजाओं ने और
[illegible] परन्तु थोड़े दिन बाद इन राजाओं ने भी
[illegible] का परित्याग कर दिया। भारत की
[illegible]
और विदेशों में भारतीय उपनिवेशों के स्थापित करने का प्रयास किया था। इन व्यापारियों
ने भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार विदेशों में किया था। व्यापारियों के अतिरिक्त
धर्माचार्यों तथा धर्मोपदेशकों ने भी भारत के आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक झण्डे को
विदेशों में फहराया था।

**प्राचीन-भारत के इतिहास के निर्माण में कठिनाइयाँ**—प्राचीन
भारत के इतिहास के निर्माण में इतिहासकारों को निम्न-लिखित कठिनाइयों का सामना
करना पड़ता है :—

(१) वैदिक तथा महाकाव्यों के काल की तिथियाँ अनिश्चित—प्राचीन भारत
के इतिहास के निर्माण में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वैदिक तथा महाकाव्यों के काल
की तिथियाँ बिल्कुल अनिश्चित तथा अव्यवस्थित हैं। सबसे पहिली तिथि जिसे
इतिहासकार निश्चित तथा विश्वस्त मानते हैं वह सिकन्दर महान् के आक्रमण की तिथि
है। अतएव उसके पहिले के क्रम बद्ध इतिहास के निर्माण में इतिहासकारों को पर्वतीय
कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(२) विभिन्न सम्वतसरों का प्रयोग—प्राचीन भारत के इतिहास के निर्माण में

## अध्याय ४

# इतिहास के साधन

कोई प्रामाणिक साधन नहीं

न भारत के इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने के लिये कोई प्रामाणिक साधन नहीं
से एलफिन्सटन साहब ने लिखा है, "भारतीय इतिहास की सिकन्दर के आक्र-
ण की किसी महत्वपूर्ण घटना की तिथि निश्चित नहीं की जा सकती।" इसके
ाद कावेल साहब ने लिखा था, "हिन्दू काल में हम उस समय तक के इतिहास
ओं का विस्तार पूर्वक तथा निश्चित रूप में वर्णन नहीं कर सकते जब तक भारत
... लिखा है कि भारत
... श में ऐसे
... द विवरण
... काल में
... या जाता
... की दृष्टि में
... किया ही
... अनभिज्ञ
न् इसका कारण यह है कि ...
त्य तो यह है कि भारतीय साहित्य के निर्माता ब्राह्मण थे जिनकी अभिरुचि राज-
में उतनी न थी जितनी धर्म में। इतिहास लिखने की ओर उनकी इतनी प्रवृत्ति न
तनी काव्य, दर्शन, विज्ञान, कला आदि की ओर। उनका दृष्टिकोण आध्यात्मिक
तिक नहीं। राज्यों के उत्थान तथा पतन की उन्हें उतनी चिन्ता न थी जितनी
के उत्थान तथा पतन की। हाँ, यदाकदा राजाओं महाराजाओं के गुणों की प्रशंसा
रय कर दिया करते थे। प्राचीन काल के हिन्दुओं की ऐतिहासिक उदासीनता के
में फ्लीट साहब ने लिखा है, "यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या प्राचीन काल
न्दुओं की प्रवृत्ति इतिहास की ओर थी? क्या उनमें यह गुण था कि वे सच्चे इतिहास
र्कपूर्ण तथा विस्तृत रूप में लिख सकें? वे संक्षिप्त, सारगर्भित परन्तु सीमित ऐति-
क रचनाएँ कर सकते थे परन्तु कोई प्रामाणिक यथार्थ तथा विश्वस्त ऐतिहासिक
उपलब्ध नहीं है जिससे यह प्रमाणित हो कि उनमें वास्तविक इतिहास लिखने की
सिक शक्ति थी।" ग्यारहवीं शताब्दी में अलबरूनी नामक प्रसिद्ध मुसलमान विद्वान्
तवर्ष में आया था। इस सम्बन्ध में उसने लिखा है, "हिन्दू लोग इतिहास की ओर
ेष ध्यान नहीं देते। वे काल-क्रमानुसार वंश परिचय देने में बड़ी असावधानी रखते हैं
र जब सूचना देने के लिये विवश किया जाता है तब वे लोग किंकर्तव्यविमूढ़ होकर
एँ कहना आरम्भ करते हैं।" इन कठिनाइयों के होते हुये भी विद्वानों ने बड़े परिश्रम
अध्यवसाय के साथ अन्वेषण कर प्राचीन भारत के इतिहास को खोज निकाला है।
विद्वानों ने जिन साधनों से भारतीय इतिहास का अन्वेषण किया है वे छः हैं—
) अनैतिहासिक ग्रन्थ, (२) ऐतिहासिक ग्रन्थ, (३) विदेशी विवरण (४) अभिलेख,
) मुद्रा तथा (६) प्राचीन स्मारक।

—(१) अनैतिहासिक ग्रन्थ—भारतवर्ष के प्राचीनतम ग्रन्थ धार्मिक हैं परन्तु इन
र्मिक ग्रन्थों में ऐतिहासिक तथ्य भी यत्र तत्र विकीर्ण कर दिये गये हैं। विद्वानों ने बड़े

ों (सिथियन) के संघर्ष का पता चलता है। किष्किंधा काण्ड में सुग्रीव ने कहा है कि
नों का देश तथा शकों के नगर कौरवों के देश तथा हिमालय के बीच में हैं। इससे यह
ीत होता है कि उन दिनों यूनानी तथा सिथियन लोग पञ्जाब के कुछ भाग में बसे थे।
हाभारत के विषय में हार्पकिंस साहब ने लिखा है, "इसमें विवरणों में कि यदुओं का प्रादु
द्ध स्मारकों ने देव मंदिर के स्थान को ले लिया है, अब लोग यदुकों का आदर करेंगे
ौर देवों की उपेक्षा करेंगे, अब पृथ्वी यदुकों से भर जायगी, वह देव-मन्दिरों से विभूषित
होगी यह पता चलता है कि बौद्ध धर्म की प्रधानता न थी।" "यूनानी लोग पश्चिमी
ोग कहे गये हैं और इनके विनाश की ओर संकेत है। रोम वालों का वर्णन केवल एक
ार आया है। यह स्पष्ट रूप से भविष्य-वाणी की गई है कि भविष्य में सिथियन,
ूनानी तथा बैक्ट्रियन बुरी तरह शासन करेंगे। इस कथन की उपेक्षा नहीं की जा
[illegible] अज्ञेय आदि
[illegible] दत्तमित्र की
[illegible] धर्म तथा अर्थ
[illegible]
[illegible] पुराणों में
[illegible] माने जाते हैं।
मिलता है। पुर [illegible] निर्माण),
पुराणों की संर [illegible] की वंशा-
(२) प्रतिसर्ग [illegible]
वली), (४) मन्वन्तर (महायुग), तथा (५) वंशानुचरित। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से
केवल पंचम विषय का महत्व है। १८ पुराणों में से केवल पांच अर्थात् मत्स्य, वायु,
विष्णु, ब्रह्माण्ड तथा भागवत में राजाओं की वंशावली पाई जाती है। इनमें मत्स्य सबसे
अधिक प्राचीन तथा प्रामाणिक है। यूरोपीय इतिहासकार पौराणिक तालिकाओं को
अधिक महत्व नहीं देते परन्तु डा० स्मिथ का मत है कि यदि इनका ध्यानपूर्वक अध्ययन
[illegible] ऐतिहासिक बातें प्राप्त हो सकती हैं।
[illegible] युग की
[illegible] देवताओं
[illegible] भी सम-
[illegible] छोड़
कालीन वंशों अथवा शासकों का उल्लेख [illegible]
जाते हैं। उदाहरण के लिये कुषाण, इन्डो-ग्रीक तथा इन्डोपार्थियन के विषय में पुराण
मौन हैं। इनमें तिथियां नहीं दी हैं और राजाओं के नाम भी प्रायः अनिश्चित दिये हैं
जैसे आन्ध्र राजाओं की तालिका। इतना दोष होने पर भी निस्सन्देह पुराणों से ऐतिहासिक
तथ्य के अंश प्राप्त होते हैं और इन पर बिल्कुल विश्वास न करना ठीक नहीं है।"

3 अर्थ-शास्त्र—कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी बड़ा सहायक ग्रंथ है। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र तथा पतञ्जलि के महाभाष्य के विषय में एक विद्वान् ने लिखा है, 'इन ग्रंथों का बहुत बड़ा महत्व है। ये भारतीय काल-क्रम के उद्वेलित सागर में लंगर का काम देते हैं।" रायचौधरी के विचार में इनसे प्राप्त सूचनाएँ महाकाव्यों तथा पुराणों द्वारा प्राप्त सूचनाओं से अधिक विश्वसनीय हैं।

4 हर्ष चरित -ऐतिहासिक दृष्टिकोण से बाण द्वारा रचित हर्ष-चरित का बहुत बड़ा महत्व है। इसकी रचना लगभग ६२० ई० में हुई थी। इसे बाण ने अपने आश्रयदाता कन्नौज तथा थानेश्वर के राजा हर्ष की प्रशंसा में लिखा था। इसमें तत्कालीन इतिहास तथा प्राचीन कथाओं का संग्रह है।

5 विक्रमाङ्कदेव चरित—बिल्हण का विक्रमाङ्कदेव चरित भी एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

इया किया है उतना अधिक महत्त्व नहीं है जितना एरियन के लेखों का महत्त्व है। ... तथ्य प्राप्त होते ... र्णन किया है। ... मौर्य दरबार ... इस विवरण ... मिलता है। ... अपनी इण्डिका ... या है। यद्यपि ... का यह पुस्तक अब उपलब्ध नहीं है परन्तु इसके अवशिष्ट उद्धरण के रूप एरियन, स्ट्रैबो, जस्टिन आदि लेखकों की रचनाओं में पाये जाते हैं। फिलस्ट्रेटस नामक एथेन्स के लेखक ने टयाना के सम्राट् अपोलोनियस की प्रशंसा एक ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रन्थ के चरित्र नायक ने अपनी उत्तर-पश्चिम भारत की यात्रा का वर्णन किया है। यदि इस पर विश्वास किया जाय तो यह एक महत्त्वपूर्ण साधन होगा। परन्तु यह कहानी एक गल्प के रूप में है। अतएव लेखक के कथन पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता। यूनानी लेखक भारतीय भाषा तथा यहाँ के रीति-रिवाजों से पूर्ण रूप से परिचित न थे। इसके अतिरिक्त उनका भ्रमण-क्षेत्र भी सीमित था और वे प्रत्येक चीज को यूनानी दृष्टिकोण से देखते थे। अतएव उनके विवरणों का बड़ी सावधानी के साथ प्रयोग करना चाहिये।

चीनी लेखक—प्राचीन भारत के इतिहास के निर्माण में चीनी यात्रियों के विवरण से बड़ी सहायता प्राप्त होती है। चीनी इतिहासकार सुमाचीन (Sumacheen) ने जिसे इतिहास का पिता कहते हैं अपना ग्रन्थ ईसा के १०० वर्ष पहिले समाप्त किया था। यह ग्रन्थ भारत के प्राचीन इतिहास पर काफी प्रकाश डालता है। चीनी यात्री काल-क्रम के साथ ठीक-ठीक विवरण देते हैं। इससे इनका बहुत बड़ा महत्त्व है। चीन के बौद्ध यात्री जो धर्म-जिज्ञासु होते थे कई शताब्दी तक भारत में आते गये। यह यात्री भारत को पवित्र भूमि समझते थे और धर्म-ग्रन्थों की खोज में यहाँ आते थे। इन यात्रियों ने भारत में बौद्ध-धर्म की जैसी स्थिति थी उसका अच्छा वर्णन किया है। यद्यपि इन यात्रियों ने अपनी आँखों देखी बातों का वर्णन किया है परन्तु धार्मिक भावना से प्रभावित होने के कारण इनके विवरण को विशेषकर जो कुछ बौद्ध धर्म के विषय में कहा गया है पूर्ण रूप से निष्पक्ष नहीं माना जा सकता। बौद्ध धर्म ही उनकी दृष्टि में प्रधान था, अन्य चीजें गौण प्रतीत होती थीं। फाह्यान ३९९ ई० में भारत आया था और १५ वर्ष तक भ्रमण करने के उपरान्त वह अपने देश को लौट गया। जिस पुस्तक में उसने अपनी यात्रा का वर्णन किया है वह अब भी प्राप्य है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन काल में बहुत सा प्रदेश की जो सामाजिक तथा राजनैतिक दशा थी उसका फाह्यान ने अच्छा वर्णन किया है। अनेक अन्य यात्रियों ने भी ऐसे लेख छोड़े हैं जो भारतीय इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। एक दूसरा चीनी यात्री ह्वेनसांग जो यात्रियों का सम्राट् कहलाता है और ... कानून का वृहत् ज्ञाता था और जो अपनी इस योग्यता के लिये सम्पूर्ण बौद्ध-भूमि में प्रसिद्ध था हर्षवर्धन के समय में भारत आया था। 'पाश्चात्य संसार के लेख' नामक पुस्तक में उसने अपनी यात्राओं का वर्णन किया है। उसने भारत के प्रत्येक भाग का

ोहा आदि पर लिखे हैं। इन लेखों के विषय भी भिन्न-भिन्न हैं। कभी-कभी धारण घटनाओं का उल्लेख रहता है जैसे खारवेल राजाओं के विषय में हथि- लेख, समुद्रगुप्त के विषय में प्रयाग स्तम्भ के लेख आदि। अधिकतर लेख अथवा धार्मिक दान के विषय में हैं। इनसे हमें वंशावली का परिचय मिलता है साधनों के साथ इनका निरीक्षण करने पर राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दशा लग सकता है। यह लेख सरकारी तथा गैर सरकारी दोनों प्रकार के हैं। कुछ तो तथा अन्य पदाधिकारियों के सरकारी पत्र हैं और कुछ गैर-सरकारी लोगों के जो भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से लिखे गये हैं। पत्थरों पर लिखे हुये अधिकतर लेख किसी विशेष घटना की स्मृति में अथवा मूर्तियों या इमारतों के समर्पण के विषय ये गये हैं। स्मृति में लिखे गये लेखों में कुछ में यात्रियों के हस्ताक्षर मात्र हैं और उच्चकोटि के संस्कृत के काव्य हैं जिनमें विजयी सम्राटों का गुण-गान है। यह यें प्रशस्ति कहलाती हैं क्योंकि यह राजाओं की प्रशंसा में लिखी गई हैं। धातुओं लिखे हुये अधिकतर भूमि के दान के विषय में हैं और ताम्र-पत्रों पर लिखे गये इनमें से कुछ तो विशेषकर दक्षिण के लेख बहुत लम्बे हैं। इनसे हमें तत्कालीन ओं तथा उनके पूर्वजों के विषय में सूचनायें प्राप्त होती हैं। इन लेखों से प्राचीन काल ऐतिहासिक घटनाओं की तिथियों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अशोक के अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन लेखों में अशोक के धर्मोपदेश, कर्त्तव्य अथवा पवित्रता के में लिखे गये हैं। राजपूताना में अजमेर तथा मध्य-भारत में धार नामक स्थानों में र-पत्रों पर नाटकों के अंश लिखे हुये प्राप्त हुये हैं। चित्तौड़ में एक स्तम्भ पर गृह- र्ण कला पर एक लेख लिखा हुआ है। मद्रास के पुदुकोत्तई राज्य में वीणा के ये बीसों गाने उपलब्ध हुये हैं। धातु के कुछ लेख समर्पण के रूप में हैं। एक अत्यन्त ीन लेख ताम्र-पत्र पर लिखा है जो गोरखपुर जिले से प्राप्त हुआ है। इसे सोहगौरा कहते हैं। यह लेख सरकारी भण्डारघर से सम्बन्ध रखता है। दक्षिणी भारत में ों की उत्तरी भारत से कहीं अधिक प्रचुरता है। यहाँ कई सहस्र लेख पाये गये हैं। दक्षिण के लेखों का उतना बड़ा महत्व नहीं है जितना उत्तर के लेखों का क्योंकि ण के लेख उतने प्राचीन नहीं हैं। यह लेख भिन्न-भिन्न भाषाओं में लिखे गये हैं र्थात् संस्कृत, पाली, प्राकृत, तामिल, तेलगू, मलयालम, कन्नाड़ी आदि। इन लेखों में ा ब्राह्मी लिपि का प्रयोग किया गया है जो बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी ता है परन्तु कभी-कभी खरोष्ठी लिपि का भी प्रयोग किया गया है जो दाहिनी ओर से ईं ओर को लिखी जाती है। भारतीय लेखों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं र्थात् अशोक के लेख तथा अशोक के बाद के लेख।

अशोक के काल के लेख—सम्राट अशोक ने अपने सम्पूर्ण राज्य … तथा …तम्भों पर लेख लिखवाये थे। यह लेख राजाज्ञायें तथा … र। यह लेख अशोक के जीवन तथा चरित्र पर प्रकाश डालते हैं। … में यह लेख बड़े सहायक सिद्ध होते हैं। अशोक के …रोष्ठी लिपि में लिखे गये थे जो दाहिनी ओर से बाईं … । शेष सभी लेख ब्राह्मी लिपि में लिखे गये थे जो बाईं … लिखी जाती थी।

अशोक के बाद के लेख—सम्राट अशोक के बाद के … विभक्त कर सकते हैं अर्थात् सरकारी तथा गैर-सरकारी। सरकारी … अथवा भूमि दानों के रूप में पाये जाते हैं। प्रशस्तियाँ राज … प्रशंसा में लिखी गई हैं। समुद्रगुप्त की एक प्रशस्ति जो अशोक

ीमा, लोहा आदि पर लिखे हैं। इन लेखों के विषय भी भिन्न-भिन्न हैं। कभी-कभी
नमें साधारण घटनाओं का उल्लेख रहता है जैसे स्वरघेला राजाओं के विषय में इथि-

[illegible]

ी पता लग सकता है। यह लेख सरकारी तथा गैर सरकारी दोनों प्रकार के हैं। कुछ तो राजाओं तथा अन्य पदाधिकारियों के सरकारी पत्र हैं और कुछ गैर-सरकारी लोगों के लेख हैं जो भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से लिखे गये हैं। पत्थरों पर लिखे हुये अधिकतर लेख या तो किसी विशेष घटना की स्मृति में अथवा मूर्तियों या इमारतों के समर्पण के विषय में लिखे गये हैं। स्मृति में लिखे गये लेखों में कुछ में यात्रियों के हस्ताक्षर मात्र हैं और कुछ में उच्चकोटि के संस्कृत के काव्य हैं जिनमें विजयी सम्राटों का गुण-गान है। यह कवितायें प्रशस्ति कहलाती हैं क्योंकि यह राजाओं की प्रशंसा में लिखी गई हैं। धातुओं पर लिखे हुये अधिकतर भूमि के दान के विषय में हैं और ताम्र-पत्रों पर लिखे गये हैं। इनमें से कुछ तो विशेषकर दक्षिण के लेख बहुत लम्बे हैं। इनसे हमें तत्कालीन सम्राटों तथा उनके पूर्वजों के विषय में सूचनायें प्राप्त होती हैं। इन लेखों से प्राचीन काल की ऐतिहासिक घटनाओं की तिथियों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अशोक के लेख अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन लेखों में अशोक के धर्मोपदेश, कर्त्तव्य अथवा पवित्रता के नियम लिखे गये हैं। राजपूताना में अजमेर तथा मध्य-भारत में धार नामक स्थानों में प्रस्तर पट्टों पर नाटकों के अंश लिखे हुये प्राप्त हुये हैं। चित्तौड़ में एक स्तम्भ पर गृह-निर्माण कला पर एक लेख लिखा हुआ है। मद्रास के पुदुकोत्तई राज्य में वीणा के लिये रागों गाने उपलब्ध हुये हैं। धातु के कुछ लेख समर्पण के रूप में हैं। एक अत्यन्त प्राचीन लेख ताम्र-पत्र पर लिखा है जो गोरखपुर जिले में प्राप्त हुआ है। इसे सोहगौरा पत्र कहते हैं। यह लेख सरकारी भण्डारघर से सम्बन्ध रखता है। दक्षिणी भारत में लेखों की उत्तरी भारत से कहीं अधिक प्रचुरता है। यहाँ कई सहस्र लेख पाये गये हैं। परन्तु दक्षिण के लेखों का उतना बड़ा महत्व नहीं है जितना उत्तर के लेखों का क्योंकि दक्षिण के लेख उतने प्राचीन नहीं हैं। यह लेख भिन्न-भिन्न भाषाओं में लिखे गये हैं अर्थात् संस्कृत, पाली, प्राकृत, तामाल, तेलगू, मलयालम, कन्नाड़ी आदि। इन लेखों में प्राय ब्राह्मी लिपि का प्रयोग किया गया है जो बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती है परन्तु कभी-कभी खरोष्ठी लिपि का भी प्रयोग किया गया है जो दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाती है। भारतीय लेखों को हम दो भागों मे विभक्त कर सकते हैं अर्थात् अशोक के लेख तथा अशोक के बाद के लेख।

अशोक के काल के लेख—सम्राट अशोक ने अपने सम्पूर्ण राज्य में शिलाओं तथा स्तम्भों पर लेख लिखवाये थे। यह लेख राजाज्ञाओं तथा घोषणाओं के रूप में पाये जाते हैं। यह लेख अशोक के जीवन तथा चरित्र पर प्रकाश डालते हैं। तत्कालीन इतिहास के जानने में यह लेख बड़े सहायक सिद्ध होते हैं। अशोक के केवल उत्तर-पश्चिम के लेख खरोष्ठी लिपि में लिखे गये थे जो दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाती थी। शेष सभी लेख ब्राह्मी लिपि में लिखे गये थे जो बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी।

अशोक के बाद के लेख—सम्राट अशोक के बाद के लेखों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं अर्थात् सरकारी तथा गैर-सरकारी। सरकारी लेख प्रधानतः प्रशस्तियों अथवा भूमि दानों के रूप में पाये जाते हैं। प्रशस्तियाँ राज कवियों द्वारा सम्राटों की

कि समुद्रगुप्त को वीणा बजाने तथा सिक्कों से यह पता चलता है कि वह से पता चलता है कि वह बौद्ध धर्म अनुयायी था। दक्षिण भारत में रोमन मुद्राओं पता लगता है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि दक्षिण भारत रोम के साथ प्राचीन काल में व्यापार करता था और आमोद-प्रमोद की वस्तुओं तथा मसालों के बदले में स्वर्ण-मुद्रा प्राप्त करता था। प्लिनी के विवरण से भी इस विचार का समर्थन होता है। परन्तु इससे यह अनुमान नहीं लगाना चाहिये कि रोम का दक्षिणी भारत से कोई राजनैतिक सम्बन्ध था। यह मुद्रायें केवल व्यवसायिक सम्बन्ध की सूचक हैं। मुद्रा से हमें यह भी पता लगता है कि प्राचीन भारत में गण अथवा स्वतन्त्र स्थानीय संस्थायें होती थीं। इन्डो बैक्ट्रियन, इन्डो ग्रीक तथा इन्डोसिथियन वंशों के इतिहास जानने का एक मात्र साधन मुद्रायें हैं क्योंकि भारतीय लेखक मिनान्डर अथवा मलिन्द को छोड़ कर और किसी का उल्लेख नहीं करते। यूनानी शासकों के शासन का इतिहास जानने का एक-मात्र साधन उनकी चलाई हुई मुद्रायें हैं। शक क्षत्रपों के शासन का भी पूर्ण परिचय हमें मुद्राओं से ही मिलता है। मुद्राओं पर अङ्कित तिथियों से शकों के काल तथा उनकी वंशावली का परिचय प्राप्त हो जाता है। गुप्त कालीन शासकों की विजय का ज्ञान उनकी मुद्राओं से प्राप्त होता है। विजेता लोग शत्रु को पराजित कर उसकी मुद्राओं के प्रचलन का निषेध कर अथवा उन्हें गलवा कर अपनी मुद्रायें चलाया करते थे। गुप्त सम्राटों ने भी इस नीति का अनुसरण किया था। किसी वंश विशेष के शासकों की संख्या का बोध भी मुद्राओं से हो जाता है। प्रायः प्रत्येक राजवंश की एक विशेष प्रकार की मुद्रा होती है और यदि किसी राजा की मुद्रा उसी प्रकार की मिली तो वह उसी राज-वंश का मान लिया जाता है। शक पह्लव काल में प्रचलित मुद्राओं के अध्ययन से तत्कालीन शासन-पद्धति का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इन मुद्राओं के लेखों से यह प्रकट होता है कि पह्लव राजा अपने गवर्नर के साथ शासन किया करते थे। मुद्राओं से कला की उन्नति का भी बोध होता है क्योंकि मुद्राओं पर कला के प्रदर्शन का प्रयत्न किया जाता था। समुद्रगुप्त तथा कुमारगुप्त की अश्वमेध मुद्राओं से अश्वमेध यज्ञ का बोध होता है। जिन मुद्राओं पर अश्वारूढ़ राजा की मूर्ति अङ्कित है उनसे यह आभासित होता है कि उस राजा का जीवन युद्ध करने में व्यतीत हुआ था। सातवाहन राजा शातकर्णि की एक मुद्रा पर पोत का चित्र प्राप्त हुआ है जिससे यह अनुमान लगाया गया है कि इस राजा ने समुद्र पर विजय प्राप्त की थी और उसी के उपलक्ष में यह मुद्रा चलाई थी। मुद्राओं का वर्गीकरण हम निम्न-लिखित ढङ्ग से कर सकते हैं:—

प्राचीनतम मुद्रायें—अत्यन्त प्राचीन काल की मुद्राओं में प्राय: चित्र अथवा चिह्न प्राप्त होते हैं। इन मुद्राओं का केवल धार्मिक तथा कलात्मक महत्व हो सकता है। इनसे ऐतिहासिक सुविधायें नहीं प्राप्त होती हैं।

यूनानियों की मुद्रायें—यूनानियों के आक्रमण के बाद जो मुद्रायें निकली हैं उनमें सम्राटों के नाम लिखे हैं। इनमें सबसे प्राचीन मुद्रायें वे हैं जो बैक्ट्रिया के यूनानी राजाओं ने जिन्होंने पंजाब तथा उत्तरी पश्चिमी सीमा को जीत लिया था जारी किया था। कला की दृष्टि से इन मुद्राओं का बहुत बड़ा महत्व है। लगभग ३० यूनानी सम्राटों तथा सम्राज्ञियों का परिचय हमें इन मुद्राओं से ही मिलता है जिन्होंने भारत में शासन किया था। यूनानियों ने भारत के एक कोने में जो दो सौ वर्षों तक अपना प्रभुत्व जमा रक्खा था उसका ज्ञान हमें केवल इन मुद्राओं से ही होता है।

सिथियन तथा पार्थियन मुद्रायें—यूनानियों की मुद्राओं का अनुकरण सिथि-

# अध्याय ५

# भारत की विभिन्न जातियाँ

मानव जाति का आदि देश कहाँ था यह बतलाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। ...ताना सरल कार्य नहीं है कि विश्व की विभिन्न जातियों का आदि-निवास ...र में था अथवा विश्व के भिन्न-भिन्न भागों में। परन्तु इतना निश्चय है ...यों ने अपना आदि स्थान त्याग कर पर्यटन आरम्भ किया और कालान्तर ... गई और इस सम्मिश्रण के कारण मौलिकता में परिवर्तन आ गया और ...ता तथा संस्कृति का सृजन हुआ। इन विभिन्न जातियों के आदि देश ...र का कारण क्या था? इसके कई कारण हो सकते हैं। सम्भव है भोजन, ... आदि की आवश्यकता के कारण इन्हें अपना मूल निवास स्थान ... अपनी पर्यटनशील प्रकृति अथवा अन्य जातियों के विरोध के कारण त्यागना ...यह भी सम्भव है कि जन संख्या की वृद्धि तथा भोजन के अभाव अथवा ...र्तन के कारण इन्हें अपनी जन्म-भूमि का परित्याग करना पड़ा हो। जब कोई ...स्थान पर जाती थी तब या तो वह वहाँ के निवासियों को वहाँ से भगा देती ...विनष्ट कर देती थी और या तो उनमें घुल मिल जाती थी। कभी कभी वह उन ...पर शासन करने लगती थी और अपनी संस्कृति तथा सभ्यता से वि...

लये भारत की कला का ही नहीं वरन् प्राचीन भारत को उपनिवेश स्थापना की अभिरुचि का भी ज्ञान प्राप्त होता है। जावा में डीङ्ग पठार का शिव मन्दिर, मध्य जावा में बोरो बोदूर तथा प्रमबनम नामक स्थानों में देव मन्दिर प्राप्त हुये हैं जिनकी भित्ति पर बड़ी ही सुन्दर खुदाई है। अङ्कोवाट तथा अङ्कोरथाम में प्राचीन स्मारक चिह्न प्राप्त हुये हैं जिनसे पता चलता है कि भारतीय कला का यहाँ प्रचार था अथवा भारतीय यहाँ जाकर बसे थे। जावा में तुकमस के ध्वंसावशेषों में शङ्ख, चक्र, पद्म तथा त्रिशूल के चिह्न पाये गये हैं। इससे यह स्पष्ट है कि जावा में हिन्दू धर्म तथा संस्कृति का प्रचार था। मलाया के 'सुन गेई-बतु' में एक देवालय तथा कुछ प्रस्तर प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। इनके विषय में ईवन महोदय लिखते हैं, "यह अवशेष स्पष्टतया यह उद्घोषित करते हैं कि यहाँ के निवासी हिन्दू थे जो शिव, पार्वती, गणेश, नन्दी आदि की पूजा करते थे क्योंकि इन देवताओं की मूर्तियाँ यहाँ उपलब्ध हुई है।" 'कार्नो पवन पर एक भग्न [illegible] हुई है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि [illegible] उपनिवेश स्थापित कर दिये थे और वहाँ [illegible] दिया था। जावा से बेढ़ मील पूर्व की ओर [illegible] यहाँ की प्रतिमायें अब भी अखण्डित रूप में विद्यमान् है। इससे पता चलता है कि यहाँ पर भी भारतीय संस्कृति तथा धर्म का प्रचार था क्योंकि यह मूर्तियाँ तथा देव मन्दिर भारतीय हैं। बोर्नियो के मुअरकमन् में सोने की बनी तीन वस्तुयें मिली हैं जिनमें एक विष्णु की मूर्ति भी है। इसी प्रकार कोम्बेङ स्थान पर एक गुह है। इसमें दो भवन हैं। एक भवन में बलुए पत्थर की बनी हुई बारह प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। यह प्रतिमायें शिव, गणेश, नन्दी, अगस्त्य, नन्दीश्वर, ब्रह्मा, स्कन्द तथा महाकाल की हैं। इनमें अधिकतर शिव की मूर्तियाँ ही हैं। इससे यह फल निकलता है कि यहाँ शैव-धर्म का प्राबल्य था। यहाँ की मूर्तियों पर विशुद्ध भारतीय कला का प्रभाव है। इससे यह परिणाम निकलता है कि भारतीय कला [illegible] नदी की घाटी में हिन्दू बस्तियाँ [illegible] सिडेन्डेङ के समीप कम नदी के [illegible] भग्न पित्तल प्रतिमा प्राप्त हुई है। इससे अनुमान किया जाता है कि यहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार था।

**निष्कर्ष**—प्राचीन भारत के इतिहास जानने के विषय में डा० स्मिथ ने लिखा है, "प्राचीन भारत के इतिहास जानने के लिये तथ्यों का अभाव नहीं वरन् तिथि-क्रम की कठिनाई है। प्राचीन भारत के इतिहासकार के पास पर्याप्त नामों की सूची, परम्परागत कथायें, एवं देवताओं की कथायें आदि है।" परन्तु यह तथ्य अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र में विकीर्ण हैं। इसी से डा० रामशङ्कर त्रिपाठी ने लिखा है, "अतएव इतिहासकार को एक खान खोदने वाले की भाँति स्वर्ण रूपी तथ्य को प्राप्त करने के लिये मलकट रूपी शस्य-प्रशस्ति तथा काव्यालङ्कार को त्याग कर धैर्य तथा तर्क पूर्ण विचार तथा धैर्य रूपी कुल्हाड़ी से कार्य करना चाहिये। प्रायः विभिन्न कालों तथा स्थानों पर अनेक सम्बत् की उपस्थिति, तिथियों का पूर्णाभाव, विरोधाधिकार आदि चट्टानों के रूप में मार्गावरुद्ध करती हैं और इन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त ही हम भारत के क्रमबद्ध शोध इतिहास के निर्माण में सफल हो सकते हैं।"

से भारत की कला का ही नहीं वरन् प्राचीन भारत की उपनिवेश स्थापना की अभि-
व का भी ज्ञान प्राप्त होता है। जावा में दींडा पठार का शिव मन्दिर, मध्य जावा में
रो बोदूर तथा प्रमबनम नामक स्थानों में देव मन्दिर प्राप्त हुये हैं जिनकी भित्ति पर
ी ही सुन्दर खुदाई है। अङ्कोवात तथा अङ्कोरथाम में प्राचीन स्मारक चिह्न प्राप्त
े हैं जिनसे पता चलता है कि भारतीय कला का यहाँ प्रचार था और भारतीय यहाँ
कर बसे थे। जावा में तुकमस के ध्वंसावशेषों में शंख, चक्र, पद्म तथा त्रिशूल के
ह्न पाये गये हैं। इससे यह स्पष्ट है कि जावा में हिन्दू धर्म तथा संस्कृति का प्रचार
। मलाया के 'सुन गेई-बतु' में एक देवालय तथा कुछ प्रस्तर प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं।
नके विषय में ईवन महोदय लिखते हैं, "यह अवशेष स्पष्टतया यह उद्बोधित करते
कि यहाँ के निवासी हिन्दू थे जो शिव, पार्वती, गणेश, नन्दी आदि की पूजा करते
क्योंकि इन देवताओं की मूर्तियाँ यहाँ उपलब्ध हुई हैं।" 'कार्लो पर्वत पर एक भग्न

हुई है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि
उपनिवेश स्थापित कर दिये थे और वहाँ
[illegible] या था। जावा से डेढ़ मील पूर्व की ओर
यहाँ की प्रतिमायें अब भी अखण्डित रूप
पर भी भारतीय संस्कृति तथा धर्म का
र भारतीय हैं। बोर्नियों के मुअरकमन् में
[illegible] में एक विष्णु की मूर्ति भी है। इसी प्रकार
कोम्बेह स्थान पर एक गुह है। इसमें दो भवन हैं। एक भवन में बलुए पत्थर की बनी
हुई बारह प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। यह प्रतिमायें शिव, गणेश, नन्दी, अगस्त्य, नन्दीश्वर,
ब्रह्मा, स्कन्द तथा महाकाल की हैं। इनमें अधिकतर शिव की मूर्तियाँ ही हैं। इससे
यह फल निकलता है कि यहाँ शैव-धर्म का प्राबल्य था। यहाँ की मूर्तियों पर विशुद्ध
[illegible] भारतीय कला सीधे
[illegible] ी में हिन्दू बस्तियाँ
[illegible] , सभीर कम नदी के
[illegible] ु प्रतिमा प्राप्त हुई

[illegible] स्मिथ ने लिखा है,
"प्राचीन भारत के इतिहास जानने के लिये तथ्यों का अभाव नहीं वरन् तिथि-क्रम की
कठिनाई है। प्राचीन भारत के इतिहासकार के पास पर्याप्त नामों की सूची, परम्परागत
कथायें, एवी देवताओं की कथायें आदि हैं।" परन्तु यह तथ्य अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र में
विकीर्ण हैं। इसी से डा० रामशङ्कर त्रिपाठी ने लिखा है, "अतएव इतिहासकार को एक
खान खोदने वाले की भाँति स्वर्ण रूपी सत्य को प्राप्त करने के लिये मलकट रूपी राज्य-
प्रशस्ति तथा काव्यालङ्कार को त्याग कर धैर्य तथा तर्क पूर्ण विचार तथा धैर्य रूपी कुल्हाड़ी
से कार्य करना चाहिये। प्रायः विभिन्न कालों तथा स्थानों पर अनेक सम्वत् की उपस्थिति,
तिथियों का पूर्णाभाव, विरोधाधिकार आदि चट्टानों के रूप में मार्गावरुद्ध करती है और
इन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त ही हम भारत के क्रमबद्ध तथा अवि-
रोध इतिहास के निर्माण में सफल हो सकते हैं।"

## अध्याय ५

# भारत की विभिन्न जातियाँ

मानव जाति का आदि देश कहाँ था यह बतलाना अत्यन्त ... बतलाना सरल कार्य नहीं है कि विश्व की विभिन्न जातियों का आदि स्थान में था अथवा विश्व के भिन्न-भिन्न भागों में। परन्तु इतना ... जातियों ने अपना आदि स्थान त्याग कर पर्यटन आरम्भ किया और ... मिल गई और इस सम्मिश्रण के कारण मौलिकता में परिवर्तन आ गया और ... सभ्यता तथा संस्कृति का सृजन हुआ । इन विभिन्न जातियों के आदि देश त्याग ... पर्यटन का कारण क्या था ? इसके कई कारण हो सकते हैं। सम्भव है भोजन, पशु, ... गाह आदि की आवश्यकता के कारण इन्हें अपना मूल निवास स्थान त्यागना पड़ा ... अथवा अपनी पर्यटनशील प्रवृत्ति अथवा अन्य जातियों के विरोध के कारण त्यागना ... हो। यह भी सम्भव है कि जन संख्या की वृद्धि तथा भोजन के अभाव अथवा जलवायु ... परिवर्तन के कारण इन्हें अपनी जन्म-भूमि का परित्याग करना पड़ा हो। जब कोई ... दूसरे स्थान पर जाती थी तब या तो वह वहाँ के निवासियों को वहाँ से भगा देती थी ... उन्हें विनष्ट कर देती थी और या तो उनमें घुल-मिल जाती थी। कभी कभी वह ... विजय प्राप्त कर शासन करने लगती थी और अपनी संस्कृति तथा सभ्यता से वि... जाति को प्रभावित करने का प्रयत्न करती थी।

भारत के ऊपर प्रकृति की विशेष कृपा रही है। यहां की भूमि बड़ी उपजाऊ ...

ह भी पाये जाते हैं। यह लोग वीर तथा साहसी होते थे और धनुष बाण का प्रयोग या करते थे। भारतीय सभ्यता में इनकी बहुत कम देन है।

निषाद—हब्शियों के बाद भारत में एक ऐसी जाति ने प्रवेश किया जो आर्यों द्वारा षाद के नाम से पुकारी गयी है। मूलतः यह लोग आस्ट्रिया के निवासी थे और पश्चिम ओर से इन्होंने भारत में प्रवेश किया था। कहा जाता है कि हब्शियों तथा मङ्गोलों जो क्रमशः इनसे पहिले तथा बाद में भारत में प्रविष्ट हुये थे जब इनका सम्मिश्रण ो गया तब कोल अथवा मुण्डा जाति की भारत में उत्पत्ति हुई। निषाद लोगों का भी ारतीय सभ्यता तथा संस्कृति पर प्रभाव पड़ा है। कहा जाता है कि शालि की कृषि सर्व थम निषादों ने ही भारत में आरम्भ की थी। कुछ शाक भाजियों का उत्पादन, गन्ने से क्कर बनाने का कार्य तथा ताम्बूल का सेवन भारत में इन्हीं लोगों ने आरम्भ किया ा। बीस अथवा कोड़ी के आधार पर संख्या की गणना इन लोगों ने ही आरम्भ किया ा। धार्मिक तथा उत्सव के अवसरों पर हल्दी तथा सिन्दूर का प्रयोग भी इन्हीं लोगों ने रम्भ किया था। आत्मा के मृत्यु के बाद भी जीवित रहने तथा आत्मा के आवागमन ी भावना इनमें विद्यमान थी। सूती कपड़ों के बुनने का काय इन्हीं लोगों ने आरम्भ या था। वस्तुतः हाथियों के पालन तथा शिक्षण का कार्य सर्वप्रथम इन्हीं लोगों ने रम्भ किया था। निछावर अथवा ... द्वारा नजर दूर करने की प्रथा इन लोगों में थी। ड से विश्व की उत्पत्ति, कच्छपावतार आदि की कल्पना इन्हीं लोगों ने आरम्भ हुई । नाग को पाताल लोक का सर्प देव मानने की भावना इन्हीं लोगों से आरम्भ हुई । इन लोगों की समूह बना कर रहने की आदत थी। यह लोग अन्ध विश्वासी होते । यह लोग प्रसन्न चित्त होते थे और संगीत के बड़े प्रेमी होते थे। अपने रीति-रिवाजों प्रति इनकी बड़ी श्रद्धा होती थी।

कोल—कुछ विद्वानों का विचार है कि कोल हिमालय के उत्तर-पूर्व के पर्वतीय भाग े भारत में आये थे। आजकल यह लोग भारत के उत्तरी-पूर्वी भाग में ही पाये जाते हैं। रन्तु कुछ लोगों के विचार में कोल लोग बाहर से नहीं आये थे। इनके विचार में कोल ोग यहीं के आदि निवासी थे। स्टेन कोनो तथा डा० हट्टोन इसी विचार के हैं। कोल [illegible] पुत्र और इरा- [illegible] कोल सभ्यता [illegible]

द्रविड़—द्रविड़ लोगों ने उत्तर-पश्चिम के पर्वतीय मार्गों से भारत में प्रवेश किया ा। अधिकांश विद्वानों की यह धारणा है कि द्रविड़ लोग भूमध्य सागर के आदि निवासी े। इन लोगों ने कोल लोगों को उपजाऊ भागों से भगा दिया और वहाँ अपना अधिकार मा लिया। यही कारण है कि कोल लोग भारत के अनुपजाऊ तथा अभेद्य भाग में पाये ाते हैं। द्रविड़ों के भय से इन लोगों ने पर्वत-मालाओं तथा जङ्गलों की शरण ली जहाँ े अपनी स्वतन्त्रता तथा सभ्यता की रक्षा कर सके थे। सैकड़ों वर्षों तक उत्तरी भारत में निवास करने के उपरान्त बहुत से द्रविड़ दक्षिण भारत की ओर चले गये और वहाँ दक्षिण के पठारी भाग में स्थायी रूप से रहने लगे। द्रविड़ों की सभ्यता तथा संस्कृति का विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा।

आर्य—द्रविड़ों के उपरान्त आर्य जाति के लोगों ने भारत में प्रवेश किया। कुछ विद्वानों का कहना है कि यह लोग मध्य-एशिया के आदिम निवासी थे और उत्तर-पश्चिम के पर्वतीय मार्गों से भारत में आये थे। इन्हें द्रविड़ों के साथ घोर संघर्ष करना पड़ा था।

स्थायी प्रभाव न छोड़ सके। सिकन्दर लगभग १९ महीने भारत में निरन्तर युद्ध करता रहा और अन्त में सहसा उसे लौट जाना पड़ा। अतएव उसके लिये यह सम्भव न था कि वह स्थायी संस्थायें स्थापित करे। चन्द्रगुप्त मौर्य ने यूनानियों को पराजित कर के उन्हें भारत से भगा दिया। अतएव सिकन्दर के इस आक्रमण का भारत की राजनीति, यहाँ के समाज, दर्शन अथवा साहित्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। मेगेस्थनीज ने जो हिंदू समाज का वर्णन किया है वह बिल्कुल हिंदू है। उस पर अन्य किसी जाति का प्रभाव नहीं है। सिकन्दर यूनानी सभ्यता के प्रचार के लिये पूर्व में नहीं आया था। भारतीयों तथा यूनानियों का सम्बन्ध इतना क्षणिक था कि उसका कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सकता था। सिकन्दर की मृत्यु के उपरान्त बैक्ट्रिया के यूनानियों ने भारत पर कई बार आक्रमण किया और पंजाब के कुछ भागों में अपना राज्य स्थापित कर लिया। यह सम्पर्क दीर्घकालीन था वास्तविक था। फिर भी यूनानियों ने भारतीयों को बहुत अधिक प्रभावित नहीं किया। मुद्रा का स्वरूप यूनानी होता था और उस पर दो भाषायें लिखी होती थीं। मुद्रा के आगे वाले भाग में यूनानी उपाख्यान लिखे रहते थे। यूनानी भाषा को जनता नहीं समझती थी। यूनानियों के इस राजनैतिक सम्बन्ध से भी यूनानी सभ्यता तथा संस्कृति का कोई बड़ा प्रभाव नहीं पड़ा। यूनानी तथा ईरानी जो भारत में रह गये थे भारतीयों में घुल-मिल गये और उनके धर्म तथा उनकी संस्कृति को स्वीकार कर लिया।

**शक अथवा सिथियन**—शक लोग मध्य एशिया के निवासी थे। यह बन्जारों की जाति के लोग थे। ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में इन लोगों ने भारत में प्रवेश किया [illegible] प्रायद्वीप में अपना राज्य स्थापित कर लिया [illegible] संस्कृति को स्वीकार कर लिया और भार- [illegible]

**यूची कुशन**—यूची जाति के लोग भी मध्य-एशिया के निवासी थे। यह भी बन्जारों की जाति के लोग थे। इनकी एक शाखा कुशान के नाम से प्रसिद्ध थी। कुशान लोगों ने ईसा के पूर्व पहिली शताब्दी में भारत में प्रवेश किया। इन लोगों ने उत्तरी भारत में एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया। दक्षिण में इनका साम्राज्य नर्मदा नदी तक फैला था। शक लोगों की भाँति यह लोग भी तुर्की जाति के थे और ईरानी आर्यों से सम्बन्ध रखते थे। यह लोग लम्बे तथा गौर वर्ण के होते थे। यद्यपि कुशन लोगों ने भी अन्य जातियों की भाँति भारत पर राजनैतिक विजय प्राप्त की परन्तु भारत की संस्कृति तथा सभ्यता पर वे विजय न प्राप्त कर सके। वे भी अन्य लोगों की भाँति भारतीयों में मिल गये और उनकी सभ्यता तथा संस्कृति को स्वीकार कर लिया।

**हूण**—यह लोग मध्य एशिया के घास के मैदानों में निवास करते थे। यह बड़े भयंकर तथा क्रूर होते थे। इनकी कई शाखायें थीं। पाँचवीं तथा छठी शताब्दी में इनकी एक शाखा ने जिन्हें श्वेत हूण कहते थे भारत पर आक्रमण कर दिया। यह लोग तुर्कों की भाँति लम्बे तथा गोरे होते थे। इनकी एक शाखा ने यूरोप पर भी आक्रमण किया था, परंतु वे लोग बड़े कुरूप होते थे। कुछ विद्वानों का विचार है कि राजपूतों की कुछ जातियाँ जैसे जाट, गूजर आदि इन्हीं की सन्तान हैं। हूण लोग भी अन्य विदेशियों की भाँति भारतीयों में मिल गये और उनकी सभ्यता तथा संस्कृति को स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार आर्यों के आगमन के उपरान्त कई जातियों ने भारत में प्रवेश किया परन्तु राजनैतिक विजय प्राप्त होने पर भी इन्हें सांस्कृतिक विजय न प्राप्त हो सकी और भारतीयों में मिलकर इन लोगों ने उनकी सभ्यता तथा संस्कृति को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार [illegible]

संस्कृति में क्रमशः परिवर्तन होता गया। परन्तु इसका स्वरूप पुराना ही रहा क्योंकि विदेशियों ने इसे बहुत अधिक प्रभावित नहीं किया। इस दीर्घकाल में विदेशियों के जितने आक्रमण हुये वे उत्तर तक ही सीमित थे। दक्षिण भारत में उनका प्रवेश [illegible] हुआ। अतएव द्राविड़ संस्कृति पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वह [illegible] रही। इस प्रकार द्रविड़ जाति वर्णसंकर होने से बच गई।

**मुसलमान**—सातवीं शताब्दी से मुसलमानों ने भारत में प्रवेश करना आरम्भ किया। इनमें अरब, तुर्क, ईरानी, अफ़गान, मंगोल सभी सम्मिलित थे। कभी-कभी अफ्रीका निवासी विशेष कर अबीसिनिया के रहने वाले भी इनमें सम्मिलित रहते थे।

सातवीं शताब्दी में अरब लोगों ने सिंध पर आक्रमण कर दिया और उस पर विजय प्राप्त कर वहाँ अपना शासन स्थापित कर दिया। परन्तु यह विजय स्थायी न सिद्ध हुई और कुछ दिनों उपरान्त सिंध में अरब शासन समाप्त हो गया। यद्यपि अरबों के आक्रमण का राजनैतिक प्रभाव बहुत कम पड़ा परन्तु सांस्कृतिक दृष्टिकोण से इसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता इतनी उच्चकोटि की थी कि अरब लोग उसकी ओर आकृष्ट हुए और उसे सीखने का प्रयत्न करने लगे। हिन्दुओं तथा अरब वालों में रक्त सम्मिश्रण भी आरम्भ हो गया।

अरब आक्रमण के उपरान्त तुर्कों का भारत पर आक्रमण हुआ। तुर्कों ने भारत पर स्थायी साम्राज्य स्थापित किया और धर्म परिवर्तन आरम्भ किया। इससे रक्त सम्मिश्रण में बड़ी वृद्धि हुई। अधिक सम्पर्क में आ जाने से सभ्यता तथा संस्कृति पर भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा।

पन्द्रहवीं शताब्दी में अफ़गानों तथा मुग़लों में भारत में राज्य स्थापित करने के लिये प्रतियोगिता आरम्भ हुई। यद्यपि अफ़गानों को भी भारत में राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त हुई परन्तु अन्त में मुग़ल सत्ता सम्पूर्ण भारत में स्थापित हो गई। मुग़ल भारत के अन्तिम मुसलमान शासक थे। अफ़गानों तथा मुग़लों का भी भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति पर प्रभाव पड़ा और रक्त सम्मिश्रण और अधिक बढ़ गया।

मुसलमानों तथा हिन्दुओं में रक्त सम्मिश्रण बहुत अधिक हुआ है। आज कल के अधिकांश मुसलमान पहिले हिन्दू थे। मुसलमानों का समाज बड़ा ही प्रजातन्त्रात्मक है। इस्लाम धर्म का द्वार सबके लिये खुला रहता है और कोई भी व्यक्ति इसमें प्रवेश कर सकता है। मुसलमान समाज का मूलाधार समानता तथा बन्धुत्व है। जाति तथा [illegible] इस समाज में नहीं पाई जाती और अन्य जाति वालों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता है। इस प्रकार मुसलमान सब जाति वालों को अपने समाज में आने के लिये प्रोत्साहन देता है और उन्हें उचित स्थान प्रदान करता है। हिन्दू समाज इससे बहुत कुछ भिन्न है। हिन्दू धर्म अत्यन्त व्यापक होने पर भी जिसमें सभी मतावलम्बियों को स्थान प्राप्त हो सकता है अपनी रक्षा का ध्यान रखता है और विधर्मियों को अपने धर्म में स्थान देने के लिये उत्सुक नहीं है। हिन्दू समाज का मूलाधार जाति व्यवस्था है जिसके कारण इतने प्रतिबन्ध हैं कि अन्तर्जातीय विवाह तथा सहभोज के लिए कोई स्थान नहीं है। जहाँ मुसलमानों में धर्म परिवर्तन को धार्मिक [illegible] है वहाँ हिन्दुओं में इस कोटि की [illegible]। हिन्दू किसी को धर्म परिवर्तन करने के लिये बाध्य नहीं करता। [illegible] हिन्दू धर्म परिवर्तन [illegible] समझते हैं और उनके विचार से [illegible] धर्म का [illegible] है। इन विचारों के कारण हिन्दू सदैव धर्म परिवर्तन की ओर [illegible] रहे हैं, परन्तु मुसलमान अन्य जाति वालों को मुसलमान बनाने के लिये [illegible] रहे हैं। परिणाम यह हुआ कि मुसलमानों की संख्या [illegible] बढ़ने लगी। [illegible] का कारण केवल धर्म परिवर्तन नहीं था। इन दोनों के हिन्दू

[हिन्दु]ओं के साथ वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित करना आरम्भ किया। इससे इनकी संख्या [इ]तनी बढ़ गई कि ये भारत के सब से बड़े अल्प-संख्यक दल बन गये और भारत की राज-[न]ीति में इनका स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गया और भारतीय राष्ट्रीयता के विकास में [ब]हुत बड़ी बाधा उपस्थित हो गई।

अन्य जातियों की भाँति मुसलमान हिन्दुओं में समा नहीं गये। प्रारम्भ से ही उन्होंने अपने अस्तित्व तथा पार्थक्य को बनाये रखने का प्रयत्न किया। इनका [illegible] तथा इनकी [सं]स्कृति हिन्दुओं से भिन्न है। इनकी धार्मिक कट्टरता ने [illegible] तथा हिन्दुओं से [illegible] के कारण यह [illegible] अलग हो जाता था [illegible] द्वार सदैव के लिये बन्द हो जाता था अतएव प्रारम्भ में हिन्दू [illegible] का अनुसरण करते हुये भी वह [illegible] और [illegible] तथा संस्कृति में [illegible] पर भी हिन्दुओं का काफी प्रभाव पड़ा। वेदान्त दर्शन का भी कुछ मुसलमानों पर प्रभाव पड़ा जिन्होंने धार्मिक सहिष्णुता का समर्थन किया और हिन्दुओं से वैमनस्य तथा घृणा की नीति का विरोध किया।

इस्लाम का भी हिन्दू धर्म के ऊपर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। इस्लाम धर्म के एकेश्वर-वाद से बहुत से हिन्दू प्रभावित हुये और बहुत से ऐसे नये-नये सम्प्रदायों का निर्माण हुआ जिन्होंने ईश्वर के पितृत्व तथा मानव के भ्रातृत्व का उपदेश दिया और धार्मिक तथा सामाजिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। परन्तु सांस्कृतिक दृष्टिकोण से मुसल-मानों ने हिन्दू सभ्यता को विनष्ट करने का प्रयत्न किया था। हिन्दुओं के अनेक मन्दिर, विश्व-विद्यालय, पुस्तकालय, भवन, प्रासाद तथा नगर नष्ट कर दिये गये थे और स्वतंत्र हिन्दू राज्यों का मूलोच्छेद कर दिया गया जिससे हिन्दू कला, विज्ञान, साहित्य तथा राजनैतिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं के विकास तथा उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो गया। मुसलमान राजाओं ने कोई नयी राजनैतिक व्यवस्था नहीं चलाई। उनका शासन निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी होता था जिसमें हिन्दुओं का बहुत कम हाथ रहता था। परन्तु यह बात निर्विवाद है कि हिन्दू कला तथा साहित्य को मुसलमानी कला तथा साहित्य ने प्रभावित किया। अब हिन्दुओं में भी भौतिकता आ गई और उनके राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में स्फूर्ति आ गई और राष्ट्रीयता तथा एकता के भाव जागृत होने लगे। मरहठा जाति की उत्पत्ति इसी जागृति का फल था। मुसलमानों के समय में भारत का सम्पर्क विदेशों से भी बढ़ गया और जल तथा स्थल दोनों मार्गों के व्यापार में वृद्धि हुई। भारतीय मुसलमानों में दो बहुत बड़ी दुर्बलतायें हैं जिनका हमारे राष्ट्रीय तथा सामाजिक जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। पहली दुर्बलता उनकी धार्मिक असहिष्णुता है जिससे द्वेष तथा घृणा का प्राबल्य रहता है और कभी-कभी आन्तरिक शान्ति भङ्ग हो जाती है। दूसरी दुर्बलता यह है कि भारत को वे अपनी मातृ-भूमि न मान कर

कहना अनुचित न होगा। रिजले महोदय ने भारत की जातियों को सात भागों में विभक्त किया है (१) तुर्की ईरानी—इसके अन्तर्गत बलूची तथा अफगान लोग आते हैं। यह लोग बलूचिस्तान तथा उत्तर पश्चिम सीमान्त प्रान्त में रहते हैं। यह लोग लम्बे कद के और गौर वर्ण के होते हैं। (२) इण्डो आर्य—इनके अन्तर्गत राजपूत, जाट तथा खत्री है जो राजपूताना, पंजाब तथा काश्मीर में रहते हैं। यह लोग भी लम्बे कद के और गौर वर्ण के होते हैं। (३) सिथियन-द्राविड़—इनके अन्तर्गत मरहठे आते हैं यह लोग बहुत लम्बे नहीं होते। इनका रङ्ग कुछ काला या भूरा होता है। इनका सिर लम्बा और चेहरा चिपटा होता है। यह लोग पश्चिमी भारत में गुजरात से कुर्ग तक निवास करते हैं। (४) आर्य-द्रविड़ अथवा हिन्दुस्तानी—यह लोग संयुक्त प्रान्त, बिहार तथा राजपूताना के कुछ भाग में पाये जाते हैं। ऊँची जाति के लोग आर्यों की सन्तान और नीच जाति के लोग द्रविड़ों की सन्तान प्रतीत होते हैं। यह लोग मध्यम कद के और साँवले या काले रङ्ग के होते हैं। (५) मङ्गोल-द्रविड़ अथवा बङ्गाली—यह लोग बङ्गाल तथा उड़ीसा में पाये जाते हैं। यह लोग मध्यम कद के साँवले काले रङ्ग के होते हैं। (६) मङ्गोल—यह लोग नैपाल, भूटान, आसाम तथा बर्मा में पाये जाते हैं। यह छोटे कद के और काले या पीले रङ्ग के होते हैं। इनकी आँखें तिर्छी होती हैं। (७) द्रविड़—यह लोग छोटे और काले होते हैं और विन्ध्या पर्वत से कुमारी अन्तरीप तक फैले हैं।

---

# अध्याय ६

## प्राचीन सभ्यता का क्रमिक विकास

मानव मस्तिष्क कल्पना का कार्यालय है। वह सदैव क्रियाशील रहता है और भि
भिन्न प्रकार की कल्पनायें किया करता है। [illegible] के इस स्वभाव के कारण ही अन्वे
तथा आविष्कार का क्रम चलता रहता है। परन्तु सभी व्यक्तियों की कल्पनायें एक सा न
होती। कवियों, दार्शनिकों तथा इतिहासकारों की कल्पनाओं में बड़ा वैषम्य होता है
कवि की कल्पना केवल कोरी कल्पना हो सकती है क्योंकि कवि सत्य की सीमा
उल्लंघन कर कल्पनायें कर सकता है। उसका ध्येय चित्ताकर्षक चित्र चित्रित करने
होता है। उसकी कल्पना में जो सुन्दर है वही सत्य है। इसी प्रकार दार्शनिक की [illegible]
भी भावुकता का भण्डार हो सकती है। परन्तु इतिहासकार की कल्पना सत्य के सोपान
अवलम्ब से आरोहण करती है और प्राचीनता के गर्भ की गुप्त रहस्य-राशि का अनुमा
के अवलंब से अन्वेषण कर मानव के अतीत का अनुभव करती है। मनुष्य ने अपने जीव
की प्राचीनतम अवस्था के विषय में भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पनायें कर डाली हैं। कवि
की कल्पना में मनुष्य का प्रारम्भिक जीवन स्वर्गीय था। वह स्वर्ण युग था जिसमें मनुष्
पाप, परिताप, दीनता तथा दरिद्रता के दौर से मुक्त था और उसे उपभोग के सभी उप
क्रम उपलब्ध थे और वह सुख तथा शान्ति का जीवन व्यतीत करता था। कुछ दार्शनिक
ने मनुष्यों का प्रारम्भिक जीवन प्राकृतिक जीवन बतलाया है जिसमें वह स्वतन्त्रतापूर्व
सुखमय जीवन व्यतीत करता था। परन्तु इतिहासकारों ने मानव जीवन के क्रमिक विकास
की कल्पना की है। उसने अपनी प्रारम्भिक अवस्था की करुण कल्पना की है। इतिहास
मनुष्य के कार्यों की क्रम बद्ध कथा है जिसे वह लिपिबद्ध कर स्थायी बना देता है। परन्तु
एक युग ऐसा था जब लेखन कला का जन्म नहीं हुआ था। मानव के उस युग की
कथा तिमिर में तिरोहित हो गई है परन्तु इतिहासकार अपनी प्रतिभा प्रभाकर के प्रकाश
से उस अन्धकार के आवरण को अनवरत अध्यवसाय के साथ हटाने का प्रयत्न करता है।
इन इतिहासकारों के विचार में मनुष्य का प्रारम्भिक जीवन पाशविक तथा असभ्य था।
परन्तु मनुष्य ने अपने जीवन को उन्नतर बनाने का सदैव प्रयत्न किया है और उसका
वर्तमान सभ्य जीवन शताब्दियों के उद्योग का फल है।

भारत के आदि निवासी कौन थे? इसका हमें ठीक ठीक ज्ञान नहीं है। परन्तु भूगर्भ-
विद्याविशारदों का कहना है कि दक्षिण भारत सबसे अधिक प्राचीन है और एक ऐसा
युग था जब यह दक्षिणी अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया से मिला था। उत्तरी भारत का
निर्माण इसके बाद हुआ और हिमालय पर्वत का सबसे बाद में। अतएव यह अनुमान
किया जाता है कि भारत के आदि निवासी दक्षिण भारत में ही निवास करते रहे होंगे।
यद्यपि हमें इस बात का ज्ञान नहीं है कि यह आदि निवासी कौन थे परन्तु जिन वस्तुओं
का वे प्रयोग करते थे और जो भूगर्भ में गुप्त हो गई थीं उनका अन्वेषण किया गया
है और तर्कपूर्ण अनुमान से उनकी सभ्यता के क्रमिक विकास की कल्पना की गई है।
[illegible] के इस क्रमिक विकास को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है
[illegible] काल, [illegible] काल तथा धातु काल।

[illegible] काल—इस युग के लोग अपने सभी औजार पत्थर के बनाते थे।

इसी से इस युग को पाषाण युग कहते हैं। यह पत्थर कठोर चट्टानों से काट लिये जाते थे। फिर आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न आकार की वस्तुयें बना ली जाती थीं। यह औज़ार इस प्रकार के होते थे जिनसे वे अपनी भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। पत्थर के बने औज़ारों से वे पशुओं का शिकार करते थे। इन्हीं के उनके हथौड़े, कुल्हाड़ी आदि होते थे जिनसे वे ठोंकते तथा छेद करते थे। यह औज़ार बड़े ही भद्दे आकार के होते थे। अधिकतर औज़ार बिल्लौर पत्थर के बने होते थे। इसी से लोगन साहब ने इन्हें बिल्लौर युग का व्यक्ति कहा है। जहाँ बिल्लौर उपलब्ध नहीं था वहाँ अन्य कठोर चट्टानों का प्रयोग किया जाता था। इन पत्थर के औज़ारों में लकड़ी तथा हड्डियों के बेंट लगे रहते थे। लकड़ी तथा हड्डियों के औज़ार भी बनते थे परन्तु यह विनष्ट हो गये और अब उपलब्ध नहीं हैं। ऐसा प्रतीत होता है इन्हें दीमकें चाट गईं। यह लोग जङ्गली पशुओं का सामना करने के लिये लकड़ी के भालों तथा लाठी का प्रयोग करते थे। गुन्टकल में पाषाण काल की कंघी प्राप्त हुई है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह लोग लकड़ी की कंघियाँ भी बनाते थे। पाषाण युग के औज़ार मद्रास प्रान्त में बड़ी संख्या में पाये गये हैं।

पाषाण युग के लोगों का जीवन बिल्कुल असभ्य था। यह जीवन पाशविक जीवन से कुछ ही उच्चतर था यह लोग कृषि नहीं करते थे। अपने उदर की पूर्ति के लिये वे जंगली पशुओं का शिकार करते थे और जंगली फलों तथा तरकारियों को खाया करते थे। अर्थ-शास्त्रवेत्ता इसी को आखेट का युग कहते हैं। इस युग में मनुष्य अपने उद्योग से वस्तुयें उत्पन्न नहीं करता था वरन् वह प्रकृति की देन पर निर्भर रहता था। चूँकि उन दिनों जन-संख्या कम थी और लोगों का आवश्यकतायें सीमित थीं अतएव प्रकृति की देन से ही उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी। यह लोग नदियों के किनारे जंगलों में रहा करते थे जहाँ इन्हें सरलता से पशु, फल तथा जल उपलब्ध हो जाते थे। यह लोग अग्नि उत्पन्न करना जानते थे अथवा नहीं इस बात पर विद्वानों में मत-भेद है। कुछ लोगों के विचार में अग्नि का प्रयोग यह जानते थे परन्तु अधिकतर विद्वानों की यही धारणा है कि सम्भवतः वे अग्नि का प्रयोग नहीं करते थे। यदि यह लोग अग्नि का प्रयोग नहीं जानते थे तो कच्चे माँस तथा कच्ची तरकारियों को खाकर और नदियों के जल को पीकर अपने उदर की पूर्ति करते रहे होंगे। यह लोग नंगे रहते थे अथवा वस्त्र धारण करते थे ? कुछ विद्वानों की धारणा है कि यह लोग वृक्षों की पत्तियों, छाल तथा पशुओं की खाल से अपने शरीर को आच्छादित रखते थे और यही वस्तुयें वस्त्र का काम देती थीं। इन लोगों को बर्तन बनाने का ज्ञान नहीं था। शीत, ताप तथा वर्षा से अपनी सुरक्षा के लिये ये लोग वृक्षों की सघन छाया में अथवा पर्वत की कन्दराओं में निवास करते थे। कभी-कभी वृक्षों की डालियों तथा पत्तियों की झोपड़ियाँ भी बना लिया करते थे। इन लोगों को धर्म का बिल्कुल ज्ञान नहीं था। यह लोग अपने मुर्दों को गाड़ते या जलाते नहीं थे और न कोई स्मारक चिह्न बनाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मुर्दों को फेंक दिया करते थे जिन्हें पशु पक्षियाँ खा जाया करती थीं। ऐसी प्रथा ऐतिहासिक काल में भी प्रचलित थी। सारांश यह है कि मानव सभ्यता की यह पहली श्रेणी थी जिसमें मनुष्य का जीवन लगभग पशुओं की ही भाँति था। यह जीवन बिल्कुल असभ्य तथा फिसड्डी था। कुछ विद्वानों के विचार में पूर्व पाषाण युग के लोग अन्डमन द्वीप में निवास करने वाले लोगों की भाँति हब्शी जाति के होते थे। इन लोगों का रङ्ग काला और कद छोटा होता था। इनके बाल ऊनी और नाक चपटी होती थी।

**उत्तर पाषाण काल**—मनुष्य एक सक्रशील प्राणी कहा गया है। वह अपने विकास के लिये प्रकृति पर ही निर्भर नहीं रहता वरन् वह स्वयम् भी अपने विकास का प्रयत्न करता है। कभी कभी तो अपने विकास के लिये उसे प्रकृति से संघर्ष करना पड़ता

[illegible] लम्बाकार तथा अन्त में एक निश्चित रूप में कार्य करने के [illegible] हथियारों का [illegible] प्रयोग रहा है। इसी से उसकी सफलता का [illegible] की दूसरी श्रेणी को उत्तर-पाषाण [illegible] हुआ है। [illegible] के विद्वान [illegible] पाषाण काल में कई शताब्दियों का अन्तर [illegible] है। [illegible] की यह धारणा है कि इन दोनों युगों में कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी से [illegible] पूर्व पाषाण काल के व्यक्तियों की सन्तान नहीं [illegible] में कुछ [illegible] उपलब्ध हैं परन्तु डा० स्मिथ के विचार में [illegible] इस धारणा [illegible] क्योंकि प्रकृति में इस प्रकार की विच्छिन्नता नहीं हुआ करती [illegible] नहीं है [illegible] विकास में इस प्रकार की विभिन्नता की सम्भावना करना तर्क [illegible] होगा। परन्तु ज्ञान के साधनों के अभाव के कारण मत-भेद की सम्भावना [illegible] नहीं रहती। जहाँ कोरी कल्पना से काम लेना पड़ता है वहाँ उतने ही मत [illegible] सम्भावना रहती है जितने इस मत पर विचारक होते हैं।

[illegible] महोदय ने मद्रास के बेलारी जिले में उत्तर पाषाण काल के बहुत [illegible] का पता लगाया है। इन महोदय ने दक्षिण भारत में इस काल के [illegible] की बहुत सी बस्तियों तथा कारखानों का अन्वेषण किया है जहाँ मिट्टी के बहुत से [illegible] प्राप्त हुये हैं जो चाक के बने हुये हैं। दक्षिण भारत में इस काल की ऐसी वस्तुयें [illegible] हुई हैं जिन पर प्यालों तथा घ [illegible] ठियों की चित्रकारी है। इस युग की लाल खड़िया [illegible] विन्ध्या की पहाड़ियों में उपलब्ध है। चिंगिलपुट, नीलगिरि तथा अर्काट के [illegible] में कुछ ऐसी पकी हुई मिट्टी की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जो बगदाद में अन्वेषित मूर्तियों [illegible] मिलती हैं। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि भारत की प्राचीन सभ्यता [illegible] बेबीलोन और असीरिया की सभ्यताओं में घनिष्ठ सम्बन्ध था। उत्तर पाषाण काल [illegible] अवशेष भारत के सभी भागों में पाये जाते हैं और इनके अध्ययन से हमें इस बात [illegible] ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि इस युग में भारतीय सभ्यता सोपान की पंक्तियों पर कहाँ [illegible] आरोहण कर चुकी थी।

उत्तर पाषाण काल में भी मनुष्य पत्थरों के उपकरणों का प्रयोग करता था परन्तु [illegible] उसकी वस्तुयें पूर्व-पाषाण काल की भाँति भद्दी नहीं होती थी। अब वह प्रस्तर की चट्टान [illegible] से काट कर उसे रगड़ कर चमकीला बना लेता था। बिल्लौर के अतिरिक्त वह [illegible] प्रकार के पत्थरों का भी प्रयोग करता था परन्तु सोने के अतिरिक्त वह अन्य किसी प्रकार [illegible] की धातु का प्रयोग नहीं करता था। इस काल में भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति [illegible] लिए वह पत्थर की बड़ी सुन्दर-सुन्दर वस्तुयें बनाता था।

इस काल में अपने उदर की पूर्ति के लिये मनुष्य प्रकृति की देन पर ही निर्भर न [illegible] रहता था। अब उसने प्रकृति से संघर्ष आरम्भ किया और उत्पत्ति के उपकरण उपस्थित [illegible] किये। इस युग में उसने कृषि करना आरम्भ किया और फल तथा अनाज अपने परिश्रम [illegible] से उत्पन्न करना आरम्भ किया। समुद्र के तट के लोग मछलियाँ पकड़ते थे। समुद्र [illegible] दूर रहने वाले लोग अब भी पशुओं का शिकार करते थे परन्तु अब यह लोग इस बात [illegible] का अनुभव करने लगे थे कि पशुओं का पालन अधिक लाभदायक सिद्ध होगा। अतएव [illegible] गाय, बैल, भेड़, बकरी आदि पशुओं का पालना आरम्भ हो गया। अतएव [illegible] भोजन के उपकरण में भी वृद्धि हो गई। अब यह लोग पशु, मछली, फल, तरकारी, दूध, [illegible] दही आदि का भोजन करने लगे। इस युग में लोग पाक विज्ञान को समझ गये [illegible] और भिन्न-भिन्न प्रकार का अच्छा भोजन यह लोग बना सकते थे क्योंकि भोजन बनाने [illegible] की इस युग की बहुत सी ऐसी वस्तुयें प्राप्त हुई हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि [illegible] लोग पर्याप्त उन्नति कर चुके थे। इस युग के लोग साधारण वस्त्र धारण [illegible] पशुओं की खाल का बना होता —

उत्तरार्ध में ऐसा प्रतीत होता है कि यह लोग सूती वस्त्रों का प्रयोग करना सीख गये ! यह लोग ऊन तथा सूत कातना सीख गये थे और कपड़ा बुनना जानते थे। इस ग की कंघियों तथा गुलूबन्द से पता चलता है कि स्त्रियों की शृंगार की ओर अभिरुचि ी। इनके सभी आभूषण अस्थियों तथा शंख के बने होते थे जिससे पता चलता है कि स युग के लोगों के पास छेद करने के अच्छे अच्छे औजार होते थे। यह लोग अब भी न्दराओं में रहते थे जिनकी भित्त पर आखेट तथा नृत्य के दृश्यों की सुन्दर चित्रकारी रते थे। इनमें से कुछ अब भी उत्तरी तथा दक्षिणी भारत में उपलब्ध हैं। यह लोग क्ष की शाखाओं, पत्तों तथा मिट्टी के पर्ण-कुटीर भी अपनी रक्षा के लिए बना लिया करते ी। नाव बनाने की कला का भी इन्हें ज्ञान था और समुद्र पर यह लोग यात्रा किया करते । बाँस अथवा लकड़ी को रगड़ कर यह लोग अग्नि उत्पन्न कर लिया करते थे। मिट्टी के र्तन बनाने में यह लोग बड़े दक्ष थे। पहिले यह बर्तन हाथ से बनाये जाते थे परन्तु बाद ें चाक से बनने लगे थे। यह लोग अपने इन बर्तनों को चित्रकारी से अलंकृत भी करते े। इन पर फूल तथा पत्तियों की चित्रकारी बना रहती थी। बहुत से पात्र सादे भी होते े। युद्ध तथा रक्षा के औजार अब भी कठोर चट्टानों के बनते थे परन्तु अन्य पदार्थ अन्य ंग बिरंगी सामग्री से बनती थी। मिर्जापुर जिले में कुछ भग्नावशेष प्राप्त हुये हैं जिनसे ता चलता है कि यह लोग शव को गाड़ते थे और स्मारक निर्मित करते थे। कुछ शव भस्म ात्र भी उपलब्ध हुये हैं जिनसे पता चलता है कि यह लोग कभी-कभी शव को जलाते भी े। ऐसा प्रतीत होता है कि यह लोग प्रकृति देवी के उपासक थे। यह पशुओं का बलिदान ेते थे और खाद्य तथा पेय पदार्थ भी उन्हें चढ़ाते थे। यह लोग प्रेतवाद में विश्वास करते े और लिङ्ग पूजन इनमें प्रचलित था। प्रो० रङ्गाचार्य के मतानुसार जन्म, विवाह, मृत्यु, आदि सम्बन्धी बहुत से नियम उत्पत्ति में उत्तर पाषाण काल के हैं। "मस्तिष्क का रीर के ऊपर तथा अदृश्य प्राकृतिक शक्तियों का अधिकार होने के कारण प्रत्येक व्यक्तिगत तथा जातीय भौतिक कार्यों के अवसर पर आचार व्यवहार होने गये।"

कुछ विद्वानों के विचार में उत्तर पाषाण काल के लोग बाहर से आये थे। इस सम्बन्ध में डा० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, "कुछ समय के बाद पूर्व पाषाण के लोगों को एक दूसरी जाति ने आकर पराजित किया। ये लोग उनकी अपेक्षा अधिक सभ्य थे।...मध्य प्रदेश के संथाल, कोल और मुंडा जातियों के लोग, आसाम के खासी तथा निकोबार द्वीपसमूह के निवासी इन्हीं लोगों के वंशज हैं और अभी तक [illegible]

[illegible]

[illegible] होता है। प्राचीन काल में इसकी गति और अधिक मन्द रही होगी। पूर्व पाषाण काल तथा उत्तर-पाषाण काल की सभ्यताओं पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों में बहुत कुछ अन्तर था और उत्तर-पाषाण काल के लोग बहुत अधिक सभ्य हो चुके थे। अतएव इन दोनों सभ्यताओं के बीच में सहस्रों वर्षों का अन्तर रहा होगा।

धातु-काल—पाषाण काल के उपरान्त धातु युग का आरम्भ होता है। विद्वानों का विचार है कि पाषाण युग के कई शताब्दी उपरान्त धातु का प्रयोग आरम्भ किया गया। कुछ विद्वानों के विचार में धातु युग के लोग उत्तर-पाषाण युग के लोगों से भिन्न थे और उत्तर पश्चिम के पर्वतीय मार्गों से आये थे। परन्तु कुछ विद्वान् धातु-काल के लोगों को उत्तर-पाषाण काल के लोगों की ही सन्तान मानते हैं और इस बात का समर्थन करते हैं

परिणत हो गई। इस विचार के समर्थन में दो प्रमाण दिये जाते हैं। पहिला तो यह कि पाषाण तथा धातु का प्रयोग साथ साथ होता था और दूसरा यह कि अन्तिम पाषाण तथा प्रारम्भिक धातु-काल की वस्तुओं के आकार तथा बनावट में बड़ी समानता है।

धातु का युग प्रायः तीन भागों में विभक्त किया जाता है अर्थात् ताम्र काल, [illegible] काल तथा लौह-काल। परन्तु हमारे देश में काँस-काल नहीं था। इस सम्बन्ध में स्मिथ ने लिखा है, 'यूरोप के बहुत से विस्तृत क्षेत्रों में उत्तर-पाषाण काल तथा प्रा[illegible] लौह काल के बीच में काँस का काल आता है। काँसा ताँबे और टिन का मिश्रण [illegible] प्रायः नौ भाग ताम्र और एक भाग टिन मिला कर इसका निर्माण होता है। यह [illegible] ताम्र से अधिक कठोर होता है और इसका औजार तथा शस्त्र बनाने में अधिक उ[illegible] होता है। भारत में काँस के युग का पता नहीं लगता। केवल पाँच छः सख्या में प्राचीन काल के काँसे के भारतीय उपकरण प्राप्त हुये हैं उनमें टिन विभिन्न अनुपात [illegible] और सम्भवतः बाहर से लाया गया था अथवा परीक्षा-मात्र के लिये बनाया गया [illegible] यह निश्चय है कि काँस के बने हुये उपकरण अथवा शस्त्र कभी साधारण प्रयोग में लाये गये थे। दक्षिण भारत की समाधियों में टिनेवेली के शव-धार पत्रों में जो बहु[illegible] काँसे की वस्तु [illegible] प्रयोग की वस्[illegible]

कठोरे। यह [illegible]

वस्तुयें बाहर [illegible]

मिलाकर टिन के मिलावट से अधिक प्रयोग किया जाता है।" अतएव भारतवर्ष [illegible] दो धातु के युग माने जाते हैं अर्थात् ताम्र-काल तथा लौह काल। एक ही प्रकार की धा[illegible] प्रयोग सम्पूर्ण भारत में एक साथ नहीं आरम्भ हुआ। दक्षिण भारत में उत्तर पाषाण [illegible] के उपरान्त ही लौह-काल का प्रादुर्भाव हुआ परन्तु उत्तरी भारत में पाषाण काल के [illegible] ताम्र काल का आरम्भ हुआ और औजार तथा शस्त्र ताम्र के बनने लगे थे। उत्तरी भ[illegible] के गुनगेरिया नामक स्थान से बहुत से ताँबे के औजार प्राप्त हुये हैं। कानपुर, फते[illegible] मैनपुरी तथा मथुरा में ताँबे की तलवारें और भाले प्राप्त हुये हैं। अतएव यह स्पष्ट है [illegible] उत्तरी भारत में उत्तर-पाषाण काल के उपरान्त ताम्र युग का आरम्भ हुआ। इस युग [illegible] कई शताब्दी उपरान्त उत्तर के लोगों ने लौह का प्रयोग करना सीखा और धीरे धीरे [illegible] के स्थान पर लोह का ही प्रयोग करने लगे।

ताम्र तथा लौह युग के साथ ऐतिहासिक काल का श्रीगणेश होता है। सबसे प्राचीन[illegible] तम ताँबे के औजार ईसा के दो हजार वर्ष पहिले के प्रतीत होते हैं और सम्भवतः उन[illegible] उन दिनों प्रयोग होता था जब ऋग्वेद के मन्त्रों की रचना हुई थी। लौह का प्रयोग उ[illegible] भारत में ईसा के १००० वर्ष पूर्व हुआ होगा। परन्तु कुछ विद्वानों के विचार में ताम्र[illegible] में वेदों की रचना नहीं हुई थी। जब ऋग्वेद लिखा गया था तब लौह-काल का आर[illegible] हो गया था।

अब प्रश्न यह उठता है कि ताम्र काल के लोग थे कौन! कुछ विद्वानों का मत है [illegible] ये उसी जाति के लोग थे जिनके वंशज मेसोपोटामिया के सुमेरियन तथा दक्षिण भा[illegible] के द्रविड़ लोग हैं। सम्भवतः ये लोग ईसा के १००० वर्ष पूर्व उत्तर-पश्चिम के पर्व[illegible] मार्गों अथवा मेकरान और बिलोचिस्तान के मार्गों से भारत में प्रवेश किये थे और [illegible] की घाटी में बस गये थे। दूसरा मत यह है कि यह लोग दक्षिण से आये थे और क्रम[illegible] [illegible]रत में फैल गये थे। आधुनिक काल में हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो की खुदा[illegible] की सभ्यता का पता लगा है। इसका वर्णन आगे किया जायगा। लौह-[illegible] लिये कहा जाता है कि यह लोग पामीर के पठार की ओर से आये थे और [illegible] में फैल गये और मध्य प्रदेश के वनों में होकर [illegible]

## अध्याय ७

# कोल तथा द्रविड़ सभ्यता

**कोल**—डा० हडो तथा स्टेन कोनों के विचार में कोल भारत के मूल-निवासी हैं। यह कहीं बाहर से नहीं आये थे। परन्तु कुछ विद्वानों के विचार में यह लोग उत्तर-पूर्व के पर्वतीय मार्गों से भारत में प्रवेश किये थे। अपने पर्यटन के विषय में कोल लोगों की जो परम्परागत कथायें हैं उनसे भी यही पता चलता है कि यह लोग उत्तर पूर्व से ही आये थे। आजकल यह लोग केवल उत्तर-पूर्व भारत में पाये जाते हैं। इन लोगों की तथा ब्रह्मपुत्र और ईरावदी नदियों के निकट निवास करने वाले लोगों की भाषाओं में [illegible] कोल लोग सबसे पहिले [illegible] के पहिले यहाँ एक [illegible] यह लोग कद के छोटे [illegible] जब द्रविड़ लोगों ने [illegible] उपजाऊ भागों से [illegible]

कोल लोग गाँवों में सङ्गठन करके निवास करते थे। इन लोगों में परस्पर सहयोग तथा सहकारिता रहती थी। यह लोग आखेट एक साथ करते थे और भोजन भी साथ ही करते थे। इस प्रकार यह लोग मेल-जोल के साथ निवास करते थे। सन्तान को उचित शिक्षा का इन्हें बड़ा ध्यान रहता था। अतएव बच्चे शिक्षा के लिये गण के एक विशेष पदाधिकारी को सौंप दिये जाते थे जो इनकी उचित शिक्षा के लिये उत्तरदायी रहता था। कोल लोग चतुर कृषक होते थे और भूमि से भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न उत्पन्न करते थे। इस प्रकार केवल प्रकृति की देन पर ही यह लोग निर्भर नहीं रहते थे, वरन् अपने उद्यम से उत्पत्ति के साधन भी निकाल लिये थे। कोलों की अपनी अलग नियमावली होती थी। इन्हीं नियमों के अनुसार अपराधियों को दण्ड दिया जाता था। जो लोग बड़े-बड़े अपराध करते थे वे गाँव से बाहर निकाल दिये जाते थे परन्तु साधारण अपराधों के लिये जुर्माने का दण्ड दिया जाता था। जुर्माने का दण्ड प्रायः इस रूप में होता था कि पूरे गण को भोज देना पड़ता था। बंगाल की संथाल जाति में जो कोलों के शुद्ध वंशज माने जाते हैं इनमें से बहुत से रीति-रिवाज अब भी प्रचलित हैं। कोल लोगों में जाति प्रथा न थी। परन्तु विवाह तथा मृतक क्रिया के समय बहुत से आचार-व्यवहार करने पड़ते थे। संथाल को अपने जीवन में ६ कर्म करने पड़ते हैं। कोल लोग भूत प्रेत की पूजा किया करते थे। प्रत्येक [illegible] की अपनी अलग उपासना का वस्तु होती थी। इन लोगों का विश्वास [illegible] त प्राचीन विशाल वृक्षों में निवास करते हैं। यह लोग सर्व- [illegible] कल्पना नहीं करते थे जो मानव-जाति का निरीक्षण करता है।

भाषा किसी की जाति की परिचायक नहीं है। इस प्रकार इनके रीति रिवाज इनके पिता के पक्ष के हैं और इनकी भाषा माता पक्ष की। परन्तु इस आलोचना से काल्डवेल के इस सिद्धांत पर कि द्रविड़ लोग उत्तर-पश्चिम से आये थे कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कुछ विद्वानों का कहना है कि उस क्षेत्र में जिसमें द्राविड़-ब्राहुई भाषा बोली जाती है तुर्की-ईरानी लोग निवास करते हैं और उनमें जाति-पाँति तथा छूत छात का भेद-भाव नहीं है। परन्तु शता-ब्दियों की दीर्घ अवधि में ऐसे सामाजिक परिवर्तन सम्भव हैं। अतएव इस सिद्धांत पर कि द्रविड़ लोग उत्तर-पश्चिम से आये थे इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह लोग मध्य एशिया से आये थे अथवा पश्चिमी एशिया से। चूँकि पश्चिमी एशिया की सुमेरियन जाति द्रविड़ों से अधिक मिलती जुलती है अतएव अधिक सम्भव यही है कि यह लोग पश्चिम एशिया से आये थे। परन्तु हाल ने अपने 'निकट-पूर्व' के प्राचीन इतिहास में लिखा है कि सुमेरियन लोग भारत से पश्चिम एशिया में गये थे। आधुनिक काल में जो हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो में खुदाइयाँ हुई हैं उनसे पता चलता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता प्राचीन काल में कैसी थी। बहुत से विद्वानों का मत है कि सिन्धु घाटी के निवासी द्रविड़ थे।

**द्रविड़-सभ्यता**—द्रविड़ लोगों को आर्यों से संघर्ष करना पड़ा था। आर्य लोग इन्हें बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते थे और इन्हें दस्यु, दानव, राक्षस आदि नामों से पुकारते थे। परन्तु वास्तव में द्रविड़ लोग उतने असभ्य तथा दुराचारी न थे जितना आर्यों ने इन्हें चित्रित किया है। वास्तव में अनार्यों में सबसे अधिक सभ्य द्रविड़ जाति के ही लोग थे। तामिल साहित्य से हमें पता चलता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में द्रविड़ लोग आमोद-प्रमोद तथा भोग-विलास की वस्तुओं का प्रयोग करते थे और इनके देश में धनी नगर बस गये थे। यह लोग ईंटों और पत्थरों के मकान बना कर रहते थे और सोने-चाँदी के आभू-षणों का प्रयोग करते थे। यह लोग गाँवों में और ऐसे नगरों में निवास करते थे जिनकी किलेबन्दी हुई रहती थी। यह लोग भवन-निर्माण में बड़े दक्ष थे। यह में
बड़े निपुण थे और खेतों की सिंचाई के लिये नदियों में बाँध
सुन्दर बर्तन बनाने में यह लोग बहुत चतुर थे। इससे पता चलता
थे। डा० बारनट के विचार में इनका समाज मातृक था जिसके
के भाई की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता था, अपने पिता की
में चचेरे भाई बहिन में विवाह हो सकता था। यह प्रथा इनमें
प्रकार इनके विवाह तथा उत्तराधिकार के नियम आर्यों से
इन लोगों में नहीं था क्योंकि इनके समाज में क्षत्रिय
सैनिक व्यवस्था राजतन्त्रात्मक थी और शासन बहुत

यह लोग भय के कारण इन भूतों की पूजा किया करते थे। उनकी ऐसी धारणा थी यदि प्रेत अप्रसन्न हो जायँगे तो उनका अनिष्ट हो जायगा। इन देवताओं को वे मीठी रोटी, शहद तथा दूध चढ़ाते थे और छोटे-छोटे पशुओं तथा पक्षियों का बलि देते थे। कोल लोग मुण्डा भाषा बोलते हैं। यह लोग शान्ति प्रिय तथा सीधे सादे हैं। अपरिचितों से यह लोग बहुत डरते हैं और अपने गाँव में शान्ति पूर्वक सरल जीवन व्यतीत करते हैं। यह लोग अधिकतर पश्चिमी बंगाल के पर्वतीय भाग में, ... प्रान्त तथा छोटा नागपूर में पाये जाते हैं।

**द्रविड़ों का आदि देश**—द्रविड़ लोग भारत के मूल निवासी थे अथवा ... जातियों की भाँति इन्होंने विदेशों से भारत में प्रवेश किया इस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वानों के विचार में द्रविड़ लोग दक्षिणी भारत के मूल तथा ... निवासी थे। रिजले महोदय के विचार में यह लोग भारत के आदिम निवासी थे ... थर्स्टन महोदय के विचार में द्रविड़ों के पहिले एक अन्य जाति भारत में निवास करती थी जिसे भारत का आदिम निवासी समझना चाहिये। चूँकि मुण्डा भाषा सब से ... प्राचीन भाषा है अतएव इसके बोलने वाले कोल लोगों को ही भारत का आदिम निवासी समझना चाहिये द्रविड़ों को नहीं। अतएव अधिकतर विद्वानों के विचार में द्रविड़ ... बाहर से भारत में आये थे। अब प्रश्न यह उठता है कि यह लोग किस मार्ग से ... थे। भारत में प्रवेश करने के तीन मार्ग हैं अर्थात् उत्तर-पश्चिम, उत्तर-पूर्व ... दक्षिण का सामुद्रिक मार्ग। इतिहास-कारों ने तीनों दिशाओं में अपनी ... दौड़ाई है। कुछ विद्वानों के विचार में द्रविड़ लोग उन आर्यों के प्रतिनिधि ... जिन्होंने सब से पहिले भारत में प्रवेश किया था। परन्तु द्रविड़ों तथा आर्यों ... रूप रंग तथा सभ्यता और संस्कृति में इतना अन्तर है कि यह विचार ... तर्क-पूर्ण नहीं प्रतीत होता। स्वर्गीय श्री कनकसभाई के विचार में द्रविड़ लोग म... जाति के थे और बंगाल की खाड़ी को पार कर दक्षिण भारत में इन लोगों ने अपना ... निवास स्थान बना लिया था। चूँकि मंगोल लोग उत्तर-पूर्व से आये थे अतएव यह ... इसी दिशा से आये होंगे। सर हन्टर के विचार में कोल तथा द्रविड़ दोनों एक ही ... की दो शाखायें थीं। अन्तर केवल इतना ही था कि इन्होंने दो भिन्न मार्गों से भा... प्रवेश किया—एक ने उत्तर-पूर्व से और दूसरी ने उत्तर-पश्चिम से। कुछ विद्वानों के ... में हिन्द महासागर में प्राचीन काल में एक लेमूरिया नामक महाद्वीप था जो काल... [illegible] डूब गया है। इन विद्वानों के विचार में यही लेमूरिया द्रविड़ लोगों का मूल नि... स्थान था। कुछ बहुत बड़े विद्वानों के विचार में द्रविड़ लोग उत्तर-पश्चिम से आये ... [illegible] उत्तरी भारत में रहने के उपरान्त [illegible] बहुत से लोग दक्षिण चले ... [illegible] दक्षिण के [illegible] भाग में स्थायी रूप से निवास करने लगे। इस म... समर्थन में इन लोगों का कहना है कि बलूचिस्तान के [illegible] ब्राहुई भाषा बोली ... है। इस भाषा में तथा द्रविड़ भाषा में बड़ी समानता है। अतएव ऐसा प्रतीत होता है ... [illegible] बलूचिस्तान में आये थे और [illegible]

[illegible]

रखते होते थे। अतएव द्रविड़ लोग ही पराजित होकर दक्षिण की ओर चले गये और वहाँ अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का शान्ति पूर्वक विकास करते रहे। दक्षिणी भाग अधिक सुरक्षित होने के कारण इनकी सभ्यता भी सुरक्षित रह सकी।

इसमें सन्देह नहीं कि कालान्तर में इन दोनों जातियों ने एक दूसरे की सभ्यता तथा संस्कृति को बहुत अधिक प्रभावित किया परन्तु आरम्भ में इनकी सभ्यता में बहुत बड़ा अन्तर था। इन दोनों का सामाजिक संगठन एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न था। द्रविड़ों का कुटुम्ब मातृक था अर्थात माता ही कुटुम्ब की प्रधान मानी जाती थी परन्तु आर्यों का कुटुम्ब पैतृक था अर्थात् पिता अथवा सबसे अधिक वयोवृद्ध व्यक्ति कुटुम्ब का प्रधान माना जाता था। इस कौटुम्बिक व्यवस्था में अन्तर होने के कारण उत्तराधिकार के नियमों में भी अन्तर था। द्रविड़ों में लोग अपनी माता के भाई की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते थे परन्तु आर्यों में लोग अपने पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते थे। विवाह के नियम भी दोनों के भिन्न थे। द्रविड़ों में चचाजाद भाई-बहिन का विवाह हो सकता था परन्तु आर्यों में यह प्रथा न थी। इसके अतिरिक्त आर्यों के समाज का मूलाधार जाति व्यवस्था थी जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के कार्य अलग-अलग निश्चित थे परन्तु द्रविड़ों में जाति व्यवस्था न थी। इस सम्बन्ध में डा० स्मिथ ने लिखा है, 'हिन्दुओं का सिद्धान्त कि मानव जाति चार वर्णों अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में विभक्त है दक्षिण के लोगों को बिल्कुल नहीं मालूम था। आज भी उनमें क्षत्रिय तथा वैश्य नहीं पाये जाते।" द्रविड़ों की भाषा भी आर्यों की संस्कृत भाषा से बिल्कुल भिन्न थी। इन दोनों जातियों के धर्म में भी अन्तर था। द्रविड़ लोग भूत प्रेत की पूजा किया करते थे परन्तु आर्य लोग सर्वशक्तिमान् दयालु ब्रह्म को मानते थे। द्रविड़ लोगों को सामुद्रिक जीवन प्रिय था। अतएव वे सामुद्रिक व्यापार में बड़े चतुर थे। आर्य लोग स्थल का जीवन अधिक पसन्द करते थे। परन्तु द्रविड़ लोग आर्यों से अलग न रह सके। आर्यों ने दक्षिण में भी इनका पीछा किया और उन पर विजय प्राप्त की। अतएव अब इनका सम्पर्क बहुत बढ़ गया और इन लोगों ने एक दूसरे की सभ्यता को प्रभावित किया। आर्यों का ग्राम संगठन द्रविड़ों के स्थानीय स्वराज्य के आधार पर बनाया गया है। द्रविड़ों के भूत-प्रेतों को नये नाम देकर आर्यों ने उन्हें अपना देवता बना लिया। द्रविड़ों के भक्ति-धर्म से भी आर्य लोग प्रभावित हुये हैं। धर्म के आगम तथा निगम सिद्धान्तों में से निगम आर्यों का है परन्तु आगम द्रविड़ों का है। इसी प्रकार होम आर्यों का है परन्तु पूजा द्रविड़ों की है। वर्तमान हिन्दू धर्म तथा सभ्यता के वस्त्र का ताना द्रविड़ों का और बाना आर्यों का है। शिव तथा उमा द्रविड़ हैं और विष्णु आर्य तथा द्रविड़ दोनों हैं। कृष्ण जिन्हें आर्यों ने विष्णु का अवतार माना है मूलतः द्रविड़ देवता हैं। गणेश भी मूलतः द्रविड़ ही देवता हैं। गरुड़ जो विष्णु के वाहन हैं द्रविड़ हैं। गाय की पूजा की उत्पत्ति भी सम्भवतः द्रविड़ों से ही आरम्भ हुई थी। हनुमान जो राम के भक्त माने जाते हैं और जो आर्यों के लिये पूज्य बन गये मूलतः द्रविड़ देवता थे। न केवल धर्म वरन् आर्यों की संस्कृति को भी द्रविड़ों ने बहुत प्रभावित किया है। भोजन, वस्त्र, गृह सभी पर द्रविड़ों की गहरी छाप है।

---

पर्याप्त सामग्री मोहेनजोदड़ो की खुदाइयों से भी प्राप्त हुई है। मोहेनजोदड़ो सिन्ध के लरकाना ज़िले में सिन्धु नदी तथा नर-नहर के बीच की पतली पट्टी में स्थित है। मोहेनजोदड़ो का अर्थ मुर्दों की समाधि है। अतएव इसे वहाँ के लोग मुर्दों का नगर कहते हैं। इस नगर की खुदाई करने पर इसकी सात तहें पानी के तल तक प्राप्त हुई हैं। इससे यह अनुमान लगाया गया है कि यह नगर सात बार नष्ट हुआ होगा और सात बार बसाया गया होगा। उत्खनन में मोहेनजोदड़ो में इतनी वस्तुयें प्राप्त हुई हैं कि उनसे प्राचीन सभ्यता का हमें पर्याप्त परिचय प्राप्त हो जाता है। परन्तु सिन्ध घाटी की सभ्यता का कोई लिखित विवरण उपलब्ध नहीं हुआ है जिससे तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त हो सके। जो शिलायें मिली भी हैं वे पढ़ी नहीं जा सकतीं। अतएव हमें केवल सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक दशा की ही झाँकी प्राप्त होती है।

(३) अन्य स्थान – हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी खुदाइयाँ हुई हैं जो सिन्ध-घाटी की सभ्यता पर प्रकाश डालती हैं। करांची ज़िले में अमरी नामक स्थान पर अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के भग्नावशेष प्राप्त हुये हैं। अम्बाला में भी ऐसे भग्नावशेष मिले हैं जो सिन्ध घाटी की सभ्यता पर प्रकाश डालते हैं। सिन्ध में चेन्हूदड़ो तथा झूकरदड़ो में और बलूचिस्तान के कलात राज्य में नाल नामक स्थान पर भी ऐसे भग्नावशेष प्राप्त हुये हैं जिनसे सिन्ध घाटी की सभ्यता का ज्ञान प्राप्त होता है।

**सभ्यता का विस्तार**—उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सभ्यता केवल सिन्धु नदी की घाटी ही तक सीमित न थी वरन् यह भारत के पश्चिमी तथा उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों तक विस्तृत थी। हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो इस प्राचीन सभ्यता के दो प्रधान केन्द्र थे। पञ्जाब में स्थित होने के कारण हड़प्पा इस सभ्यता का उत्तरी केन्द्र और सिन्ध में स्थित होने के कारण मोहेनजोदड़ो इसका दक्षिणी केन्द्र था। पूर्व में इस सभ्यता का विस्तार सतलज नदी के तट पर स्थित रूपर नामक स्थान तक और दक्षिण-पूर्व में काठियावाड़ में स्थित रंगपुर नामक स्थान तक था। सरस्वती तथा दृषद्वती की घाटियों में भी इस सभ्यता के चिह्न उपलब्ध हुये हैं। उत्तरी बलूचिस्तान में दवार कोट तथा पेरियानो और दक्षिणी बलूचिस्तान में कुल्ली तथा मेही इस सभ्यता के प्रमुख केन्द्र थे। इस प्रकार सिन्ध घाटी की सभ्यता का प्रसार शिमला पहाड़ियों के निकटस्थ रूपर नामक स्थान से लेकर अरब सागर के सन्निकट स्थित सुत्कागेनडोर तक और उत्तर-पश्चिम में दवार कोट से लेकर दक्षिण-पूर्व में रंगपुर तक था। इस सभ्यता के सुविस्तृत क्षेत्र को यदि एक त्रिभुज द्वारा प्रकट किया जाय तो उसकी तीनों भुजाओं का विस्तार क्रमश: ९५०, ८०० तथा ७५० मील होगा। इस सुविस्तृत क्षेत्र के अन्तर्गत आधुनिक उत्तरी पश्चिमी सीमा-प्रान्त, पञ्जाब, सिन्ध, काठियावाड़ का अधिकांश, गंगा की घाटी का उत्तरी भाग तथा समस्त राजपूताना आ जाता है। इस विशाल प्रदेश के विभिन्न स्थानों में जो उत्खनन के फल-स्वरूप ध्वंसावशेष प्राप्त हुये हैं उनमें असाधारण साम्य है। उनकी एक सी लिपि है, एक ही प्रकार की निर्माण-योजना है, उनकी तौल तथा मुहरों में भी एकरूपता है। इस प्रकार इस विशाल प्रदेश में सांस्कृतिक एकरूपता परिलक्षित होती है। सहस्रों वर्षों की इस सांस्कृतिक एकरूपता के आधार पर विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सम्भवतः यह सम्पूर्ण प्रदेश एक राजसूत्र में सम्बद्ध था और इस विशाल साम्राज्य की दो राजधानियाँ थीं, उत्तर में हड़प्पा और दक्षिण में मोहेनजोदड़ो। लिखित विवरण के अभाव के कारण इस साम्राज्य तथा इसके राजवंश के नाम का पता नहीं चलता है।

**विशेषतायें**—सिन्ध-घाटी की सभ्यता का विशद विवेचन करने

ान मार्शल ने इस मत का खण्डन किया है और बतलाया है कि सिन्धु सभ्यता वैदिक सभ्यता में इतना बड़ा वैषम्य है कि इन दोनों सभ्यताओं के निर्माता एक ाति के हो ही नहीं सकते थे। इन दोनों सभ्यताओं के वैषम्य पर इस प्रकरण के म भाग में प्रकाश डाला जायगा।

(२) सुमेरियन थे ?—गार्डन चाइल्ड तथा कतिपय अन्य विद्वानों की यह धारणा [illegible] निश्चित [illegible] निर्माण [illegible] डा० आर० [illegible] जिनका [illegible] यह सभी स दिग्ध माने जाते हैं।

(३) द्रविड़ थे ?—डा० राखलदास बनर्जी के विचार में सिन्धु-घाटी की सभ्यता के ाता द्रविड़ लोग थे। इस मत के समर्थन में तीन तर्क उपस्थित किये जाते हैं। ला तर्क तो यह है कि दक्षिण भारत के द्रविड़ों के मिट्टी के बर्तन, पाषाण के पत्र तथा भूषण अधिकांश में सिन्धु-प्रदेशीय है और दूसरा तर्क यह है कि उन पर अङ्कित अनेक ह सिन्धु-लिपि से सादृश्य रखते है। इस मत के समर्थन में तीसरा तर्क यह स्थित किया जाता है कि बलूचिस्तान में निवास करने वाली ब्राहुई जाति की द्रविड़ [illegible]

[illegible] ाय होना अधिक स्वाभाविक तथा तथ्य एवं तर्क संगत प्रतीत होता है परन्तु जब तक सिन्धु-लिपि का पूर्ण परिज्ञान न प्राप्त हो जाय तब तक कोई निश्चित निष्कर्ष निकालना ठिन ही है। इसके अतिरिक्त इन दोनों में सांस्कृतिक तथा शारीरिक वैषम्य भी है। तएव यह संदिग्ध ही है।

(४) मिश्रित जाति के थे ?—उत्खनन में उपलब्ध अस्थि-पंजरों, मूर्तियों तथा अन्य पदार्थों का अनुशीलन कर कर्नल स्यूअल, डा० गुहा तथा कतिपय अन्य विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सिन्धु-घाटी की सभ्यता के निर्माता किसी एक जाति के न थे वरन् इनमें विभिन्न जातियों का सम्मिश्रण था। हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो में जो कपाल तथा अस्थि-पञ्जर उपलब्ध हुये हैं उनकी समीक्षा करने पर यही परिणाम निकलता है कि इन नगरों के निवासी मिश्रित जाति के थे। ऐसा प्रतीत होता है कि व्यापार, नौकरी तथा अन्य प्रलोभनों से आकृष्ट होकर अनेक जातियों के लोग इन नगरों में आकर बस गये थे। फलतः विद्वानों की धारणा है कि सिन्धु प्रदेश में भूमध्यसागरीय, प्रोटो-आस्ट्रालायड, मंगोलियन तथा अल्पाइन जाति के लोग निवास करते थे। इनमें भूमध्यसागरीय जाति के लोगों की संख्या सर्वाधिक थी। सम्भवतः यही जाति सबसे अधिक कुलीन तथा समाज में सम्मानित समझी जाती थी और सिन्धु-घाटी की सभ्यता के सृजन तथा सम्बर्द्धन में इसी जाति ने सर्वाधिक योग दिया। प्रोटो-आस्ट्रालायड जाति के लोग सम्भवतः आदि-वासी थे जो सांस्कृतिक दृष्टिकोण से निम्नतर होने के कारण समाज में निम्न कोटि के समझे जाते थे। मङ्गोलीय जाति के सम्बन्ध में पिगट महोदय की धारणा

फीट गहरा है। यह पक्की ईंटों का बना हुआ है और इसकी दीवारें बड़ी प्रबल के भीतर प्रवेश करने के लिये पक्की सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। इस जलाशय के चारों बारादरी बनी हुई है जिसकी चौड़ाई १५ फीट है। जलाशय के दक्षिण परिचम आठ स्नानागार बने हुये हैं। इन स्नानागारों में सोपानों के ध्वंसावशेष प्राप्त हुये से यह अनुमान लगाया गया है कि इनके ऊपर कमरे बने हुये थे जिनमें पुजारी निवास करते थे। मैकी नामक विद्वान् की धारणा है कि कुछ विशिष्ट धार्मिक पर ही पुजारी लोग इन स्नानागारों में स्नान किया करते थे और साधारण ही जलाशय में स्नान किया करती थी। जलाशय के सन्निकट एक कूप भी था। तः इसी के जल से जलाशय को पूर्ण किया जाता था। जलाशय को भरने तथा करने के लिये नल बने थे। जलाशय के निकट ही एक भवन था जो सम्भवत या और जहाँ पर जल को उष्ण बनाने की व्यवस्था थी।

(६) परिखा तथा प्राकार का प्रबन्ध—सिन्धु सभ्यता के नगरों के चारों ओर तथा प्राकार के भी ध्वंसावशेष उपलब्ध हुये हैं। यह व्यवस्था नगर की सुविधा के की गई थी। यह चहारदीवारी सम्भवतः दुर्ग का काम देती थी।

(७) समाज का सङ्गठन—मोहनजोदड़ो की खुदाइयों से पता लगता है कि सिन्धु टी के लोगों का समाज कई भागों में विभक्त था जिन्हें हम चार भागों में रख हैं अर्थात् विद्वान्, योद्धा, व्यवसायी तथा श्रमजीवी। विद्वान् वर्ग में पुजारी, तथा ज्योतिषी आते थे। योद्धा वर्ग का कर्तव्य जनता की रक्षा करना होता था। वर्ग में व्यापारी तथा भिन्न-भिन्न उद्योग-धन्धों के लोग आते थे। चौथे वर्ग में नौकर तथा श्रमजीवी आते थे। चमड़े का कार्य करने वाले, टोकरी बनाने वाले, न, मछुये आदि इसी वर्ग में आते थे।

(८) भोजन—सिन्धु घाटी के लोगों का प्रधान खाद्यान्न गेहूँ तथा जौ था क्योंकि दोनों अन्न उत्खनन में प्राप्त हुये हैं। चावल भी यह लोग खाते थे क्योंकि इसकी पत्ति होती थी। चूँकि खजूर के भी बीज प्राप्त हुये हैं अतएव ऐसा प्रतीत होता इसका भी यह लोग प्रयोग करते थे। कुछ अर्ध-जलित अस्थियाँ तथा छिलके प्राप्त हैं जिससे यह प्रमाणित होता है कि यह लोग मछली, अण्डे, माँस आदि का प्रयोग थे। दूध का भी यह लोग सेवन करते थे। सम्भवतः फल तथा तरकारी भी इनका द्य-पदार्थ था।

(९) वेश-भूषा—सिन्धु घाटी के निवासियों की वेश-भूषा का यथोचित ज्ञान प्राप्त ने के लिये हम निम्न-लिखित बातों पर विचार करना होगा :—

(क) बालों का शृङ्गार—यह लोग छोटी दाढ़ी तथा मूँछें रखते थे परन्तु कुछ ग मूँछ मुड़ाये रहते थे। यह लोग कन्घी करते थे और बालों को पीछे की ओर रहते थे। कुछ लोगों के बाल छोटे होते थे और कुछ लोगों के लम्बे। जिन लोगों बाल बड़े होते थे वे चोटी बाँध रहते थे। स्त्रियों के बालों के सम्बन्ध में अधिक त नहीं है क्योंकि वे सिर पर एक प्रकार का वस्त्र पहिने रहती थीं।

(ख) वस्त्र—यह लोग सूती तथा ऊनी दोनों प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग करते थे न्तु यह स्पष्ट नहीं है कि वस्त्रों के पहिनने का ढंग कैसा था। ऐसा प्रतीत होता कि इनका वस्त्र साधारण होता था। एक पुरुष की मूर्ति प्राप्त हुई है जिसमें वह एक शाल ढ़े है। शाल बायें कन्धे के ऊपर से आकर दाहिने कंधे के नीचे से जाता है। शरीर के अधो भाग को परिवेष्टित करने के लिये किसी न किसी वस्त्र का प्रयोग अवश्य किया

सार मृत्यु के उपरान्त सम्पूर्ण शरीर को पृथ्वी के नीचे गाड़ दिया जाता था। (२) ांक समाधिकरण जिसके अनुसार शव को पशु तथा पक्षियों द्वारा खा लेने पर अवशिष्ट थों को एकत्रित करके पृथ्वी के नीचे गाड़ दिया जाता था। (३) दाह-कर्म जिसके सार शव को भस्म कर दिया जाता था और फिर उस भस्म को समाधिस्थ कर दिया ा था। अधिकांश में इसी तीसरी रीति का प्रयोग किया जाता था।

**आर्थिक दशा**—हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो जैसे विशाल एवं समृद्धिशाली ों के अस्तित्व से ही सिन्धु-घाटी के निवासियों की आर्थिक दशा का पर्याप्त परिचय हो जाता है। इस काल की आर्थिक दशा का पूर्ण परिज्ञान निम्न-लिखित तथ्यों से ़ हो जाता है:—

(१) कृषि कर्म—सिन्धु सभ्यता के निवासियों के आर्थिक जीवन का प्रधान आधार षि-कर्म था। कृषि करके यह लोग अनेक प्रकार के अन्नों का उत्पादन करते थे जिनमें गेहूँ था जौ की मुख्यता थी। अन्नों के अतिरिक्त फल की भी कृषि यह लोग करते थे। इस त का भी प्रमाण मिलता है कि यह लोग कपास की भी कृषि करते थे। अन्न को एक- त्र करने के लिये बड़े-बड़े अन्नागार भी होते थे जिनके समीप ही अनाज के पीसने की ी व्यवस्था रहती थी।

(२) आखेट कर्म—सिन्धु-सभ्यता के निवासी शाकाहारी ही न थे वरन् वे माँस, छली, अण्डे आदि का भी सेवन करते थे और अपने उदर की पूर्ति के लिये वे पशुओं ा शिकार करते थे। पशुओं का वध कर वे उनसे अपनी कृषि की रक्षा करते थे और उनके ाल, खाल तथा अस्थियों से विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनाया करते थे।

(३) पशु-पालन—केवल कृषि तथा आखेट ही इन लोगों की जीविका का साधन न ा वरन् वे पशुओं को भी पालते थे। मुहरों पर अङ्कित गाय, बैल, भैंस आदि के चित्रों े यह प्रमाणित हो जाता है कि इन पशुओं को इस काल में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया था। सिन्धु घाटी के निवासियों के प्रधान पालतू-पशु गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरी, हाथी, सुअर, कुत्ते आदि थे। यह आश्चर्य की बात है कि इस प्रदेश में ऊँट तथा अश्व के अस्तित्व का कोई सबूत उपलब्ध नहीं है। पालतू पशुओं के अतिरिक्त यह लोग गैंडा, ्यांल, भालू, बन्दर, खरगोश आदि पशुओं से भी परिचित थे।

(४) शिल्प तथा व्यवसाय—सिन्धु घाटी की सभ्यता के लोग कुशल शिल्पी तथा व्यवसायी भी थे। मिट्टी के बर्तन बनाने में यह लोग बड़े निपुण थे। उत्खनन में जो मिट्टी के बर्तन प्राप्त हुये हैं उनके अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे कुम्हार के ाक पर बनाये गये हैं यह बर्तन विभिन्न प्रकार के चित्रों तथा आकृतियों से विभूषित किये जाते थे। इन बर्तनों के बनाने की विधि इस प्रकार की थी। पहिले कुम्हार चाक पर र्तन बना लेते थे। तदुपरान्त उसमें चमक उत्पन्न करने के लिये एक प्रकार का लेप लगाते थे। अन्त में चित्रकारी करके भट्टियों में पका लिया जाता था। यह बर्तन बड़े ही मजबूत तथा चमकीले होते थे।

सिन्धु-घाटी की सभ्यता के लोग न केवल मिट्टी के बर्तन के बनाने में दक्ष थे वरन् वे पाषाण तथा धातु के बर्तनों के बनाने में भी बड़े कुशल थे। हाथी दाँत की विभिन्न प्रकार की वस्तुयें बनाई जाती थीं।

सिन्धु घाटी के लोगों द्वारा सूती कपड़ा भी प्रचुर मात्रा में बनाया जाता था और पश्चिमी देशों में भेजा जाता था। यह लोग ऊनी तथा रेशमी वस्त्रों का भी निर्माण करते

ते थे। लम्बाई नापने के भी यन्त्र होते थे और ऐसा प्रतीत होता है कि फुट का भी प्रयोग किया जाता था क्योंकि मोहेनजोदड़ो के भग्नावशेषों में सीपी का बना हुआ फुट का एक खण्ड मिला है। सोनों के खण्डों को जोड़ने के लिये धातु का प्रयोग किया जाता था। हड़प्पा के भग्नावशेषों में कांस की बनी एक शलाका प्राप्त हुई है जिस पर छोटे-छोटे भाग अङ्कित हैं। तौलने के लिये उस युग में तराजू का प्रयोग किया जाता था क्योंकि तराजू के अनेक खण्ड इस काल के ध्वंसावशेषों में उपलब्ध हुये हैं।

(८) व्यापार—हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो की खुदाइयों में अनेक ऐसी वस्तुयें प्राप्त हुई हैं जो सिन्धु-प्रदेश में उत्पन्न नहीं होती थीं। इससे यह अनुमान लगाया गया है कि यह वस्तुयें विदेशों से व्यापारियों द्वारा यहाँ लाई गई हैं और विदेशों के साथ सिन्धु सभ्यता के लोगों का व्यापारिक सम्बन्ध था। सिन्धु घाटी में ताँबा, चाँदी, सोना आदि धातुयें उपलब्ध नहीं होती हैं। चाँदी, टिन, सीसा तथा सोना सम्भवतः अफगानिस्तान या ईरान से मँगाये जाते थे। अनेक प्रकार के बहुमूल्य पत्थर सम्भवतः इन्हें बदख्शाँ से प्राप्त होते थे। ताँबा इन्हें प्रधानतः राजपूताना से प्राप्त होता था। सीपी, शंख, कौड़ी आदि सम्भवतः काठियावाड़ के समुद्र-तट से मँगाई जाती थीं। मूँगा तथा मोती भी जिनका प्रयोग आभूषणों में होता था वहीं से लायी जाती थी। देवदार की लकड़ी जिसका प्रचुरता से प्रयोग किया जाता था सम्भवतः हिमालय के पर्वतीय प्रदेश से मँगाई जाती थी। इन तथ्यों से ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इस युग में गमनागमन के साधनों में पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी और व्यापारियों का अच्छा संगठन था तथा शान्ति एवं सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था थी। स्थल तथा जल दोनों मार्ग से व्यापारी दूर दूर व्यापार के लिये जाया करते थे। नावों तथा छोटे जहाजों के चित्र उपलब्ध हुये हैं जिससे स्पष्ट है कि जल मार्ग से जाने के लिये उनका प्रयोग किया जाता था। स्थल मार्ग से जाने के लिये बैलगाड़ियों तथा इक्कों का प्रयोग होता था। सिन्धु सभ्यता के लोगों का न केवल अन्तर्देशीय वरन् विदेशी व्यापार भी उन्नत दशा में था। यह लोग पश्चिमी एशिया के विभिन्न देशों के [illegible] के भग्नावशेषों [illegible] शैली की मुद्रायें [illegible] सम्बन्ध था।

कला—सिन्धु-घाटी के निवासी विभिन्न कलाओं में भी अत्यन्त दक्ष थे। जिन कलाओं का वे अभ्यास करते थे और जिनमें उन्होंने कौशल तथा हस्तलाघव प्राप्त कर लिया था वे निम्नांकित थीं :—

(१) [illegible]

पात्र [illegible]

हुआ [illegible]

मन [illegible]

[illegible] के दैशा में हुआ करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि लिपि दाहिनी ओर से बाईं ओर [illegible] है परन्तु किसी किसी मुहर में पहिली पंक्ति दाहिनी ओर से बाईं ओर को है और किसी-किसी में बाईं ओर से दाहिनी ओर को।

(२) संगीत तथा [illegible]

) द्विदेववाद—विद्वानों की धारणा है कि सिन्धु घाटी के निवासियों ने सृष्टि-कर्ता
य नियन्ता के रूप में दो शक्तियों की प्रतिष्ठा की थी अर्थात् परम पुरुष तथा
री की।

है जिसमें त्रिमुख-
एक सिंहासन पर
था महिष के साथ
किया गया है। इस मूर्ति के शीश पर भी दो सींग प्रदर्शित किये गये हैं। सर
र्शल के विचार में यह शिव की मूर्ति है। अपने मत के अनुमोदन में मार्शल
ने चार सारगर्भित तर्क उपस्थित किये हैं। उनका पहिला तर्क यह है कि शिव
दर्शी तथा अन्तर्यामी हैं। इसी सत्य को प्रदर्शित करने के लिये सिन्धु घाटी के
निवासियों ने उनके त्रिमुखों की कल्पना की है। मार्शल का दूसरा तर्क यह है कि
में में शिव अपनी योग-साधना के लिये प्रख्यात हैं। इसी से सिन्धु-घाटी के
निवासियों ने भी उन्हें योग मुद्रा में अभिव्यञ्जित किया है। मार्शल का तीसरा
है कि शिव को पशुपति की संज्ञा दी जाती है। इसी से हड़प्पा की मुहरों में भी
ता पशुओं के साथ अङ्कित किये गये हैं। मार्शल का अन्तिम तर्क यह है कि शिव
धारी हैं। मुहर में देवता के शीश पर जो सींग अङ्कित हैं सम्भवतः उसी से त्रिशूल
पना का प्रादुर्भाव हुआ है।

३) मातादेवी की उपासना—अनेक ऐसी मुहरें तथा मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनमें
ई अर्द्ध नग्न नारी का चित्र अङ्कित है। उसकी कटि के चारों ओर एक मेखला है
सके शीश पर एक विशेष प्रकार का परिधान है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह
नारी की शक्ति का प्रतीक है। सर जान मार्शल के विचार में यह महादेवी है। यह
एवं सृष्टिकारिणी शक्ति है। मार्शल की यह धारणा तर्क-संगत प्रतीत होती है
मातृदेवी की पूजा अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित थी। कालान्तर में इसी मातृ-
ने हिन्दू-धर्म में शक्ति का स्वरूप प्राप्त हो गया।

(४) देवताओं का मानवीकरण—ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु-घाटी के प्राचीन
सियों ने अपने देवताओं का मानवीकरण किया था और उन्हें मनुष्य के रूप में
थे। मानवी गुणों की प्रतिष्ठा के कारण ही मुहरों तथा प्रतिमाओं में उनके दैवी-
मानवी आकृति में प्रस्थापित किये गये हैं। इस मानवीकरण से देवताओं के प्रति
भक्ति उत्पन्न होने में बड़ा योग मिला है।

(५) प्रजनन-शक्ति की उपासना—सिन्धु घाटी के प्राचीन निवासी मातृदेवी की
के साथ साथ प्रजनन-शक्ति की भी उपासना करते थे। उत्खनन में ऐसे प्रस्तर
ब्ध हुये हैं जो विशेषज्ञों के विचार में योनि तथा शिव लिङ्ग के प्रतीक हैं। कालान्तर
न्दू-धर्म में योनि तथा लिङ्ग की पूजा को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया।
व यह अनुमान लगाया गया है कि पशुपति शिव के उपासक सिन्धु घाटी के प्राचीन
सी योनि तथा लिंग की प्रतिमा बना कर प्रकृति की प्रजनन-शक्ति की भी पूजा
थे।

(६) मूर्ति-पूजा—यद्यपि उत्खनन में मन्दिरों के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं
। है परन्तु विद्वानों की ऐसी धारणा है कि सिन्ध प्रदेश के प्राचीन निवासी मूर्ति-पूजा

ित हिन्दू धर्म से उसका विभेद कठिनता से किया जा सकता है बिलकुल सत्य होता है।

**जनैतिक दशा**—सिन्धु घाटी के प्राचीन निवासियों का राजनैतिक संगठन की शासन व्यवस्था किस प्रकार की थी इसका कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं प्राप्त हो । परन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि सिन्ध, पंजाब, पूर्वी-बिलोचिस्तान तथा ठियावाड़ तक विस्तृत सिन्धु सभ्यता के क्षेत्र में एक संगठन, एक व्यवस्था तथा एक की सत्ता थी। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इस सम्पूर्ण क्षेत्र में एक ही या तौल प्रचलित थे, एक ही प्रकार के भवनों का निर्माण होता था, एक ही प्रकार र्तियाँ बनाई जाती थीं तथा एक ही प्रकार की लिपि का प्रचार था। अतएव ों का यह अनुमान है कि सिन्धु-सभ्यता का क्षेत्र एक विशाल साम्राज्य में संगठित ामनागमन के साधनों के अभाव के कारण इस विशाल साम्राज्य की दो राजधानियाँ गई थीं एक हड़प्पा में और दूसरी मोहेनजोदड़ो में। इन्हीं केन्द्रों से उत्तर तथा ा का शासन चलता था। हड़प्पा उत्तरी साम्राज्य की और मोहेनजोदड़ो दक्षिणी ज्य की राजधानी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु-साम्राज्य का शासन बड़ा स्थित था अन्यथा इस विशाल क्षेत्र में सभ्यता की एकरूपता न विद्यमान् रहती।

**विदेशों से सम्बन्ध**—सिन्धु-सभ्यता तथा सुमेर सभ्यता का अनुशीलन करने [illegible] समता पारस्परिक सम्पर्क के ही फल-स्वरूप [illegible] की मुहरें तथा समान आकार-प्रकार [illegible] की वस्तुयें उपलब्ध हुई हैं। इससे [illegible] दोनों देशों में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा । अब प्रश्न यह उठता है कि इन दोनों सभ्यताओं में किसने किसको प्रभावित । इस पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। हाल महोदय की धारणा है कि सभ्यता त्र में सुमेर भारत का ऋणी है। इसके विपरीत गोर्डन चाइल्ड तथा मैकडानल्ड धारणा है कि सिन्धु-सभ्यता सुमेर सभ्यता की ऋणी है और उससे प्रभावित हुई सिन्धु-प्रदेश तथा ईजियन प्रदेश में उपलब्ध ताँबे की कुल्हाड़ियों के आधार पर तिपय विद्वानों ने इन दोनों क्षेत्रों में भी पारस्परिक सम्बन्ध की कल्पना की है। उत्खनन ट्रली में ताँबे की एक अत्यन्त प्राचीन पिन मिली है जो सिन्धु प्रदेश की पिनों के ा है। इस सादृश्य के आधार पर इन दोनों देशों में पारस्परिक सम्बन्ध का ुमान लगाया गया है। इसी प्रकार उत्खनन में उपलब्ध वस्तुओं के आधार पर श्र तथा सिन्धु-प्रदेश में भी पारस्परिक सम्बन्ध की कल्पना की गई है। पुरातत्व ुसन्धानकर्ताओं की यह धारणा है कि यह सम्बन्ध सम्भवतः व्यापारियों द्वारा ापित किया गया था। परन्तु इस व्यापारिक सम्बन्ध का सांस्कृतिक प्रभाव पड़े बिना रहा।

**निष्कर्ष**—सिन्धु घाटी की सभ्यता का ऊपर विशद् वर्णन किया गया है। आलो-नात्मक दृष्टि से इसकी समीक्षा करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सिन्धु-ाटी की सभ्यता एक उत्कृष्ट सभ्यता थी। इस सभ्यता की एक बहुत बड़ी विशेषता यह ी कि इसमें सामाजिक तथा आर्थिक वैषम्य का सर्वथा अभाव था। समाज का संगठन स प्रकार था कि उसमें अत्यधिक धन-सम्पन्नता तथा अत्यधिक निर्धनता सम्भव न

छोटे छोटे घरों में निवास करते थे। इसमें तो निर्विवाद है कि तत्कालीन नागरिक शान्तिमय तथा सुखपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिये पर्याप्त उत्सुक रहते थे। सिन्धु घाटी की सभ्यता के सम्बन्ध में एक यह भी स्मरणीय तथ्य है कि इसका उद् तथा सम्वर्द्धन एकाकी रूप में नहीं हुआ था वरन् इसका तत्कालीन अन्य सभ्यताओं से घनिष्ठ सम्बन्ध था और उनके सांस्कृतिक तथा तत्त्वों से इसका समन्वय हि हुआ था।

**सिन्धु-घाटी की सभ्यता का विनाश**—विद्वानों की यह धारणा है ईसा के लगभग १५०० वर्ष पूर्व इस उन्नत तथा उत्कृष्ट सभ्यता का विनाश हो ग अब प्रश्न यह उठता है कि इस विनाश का कारण क्या था। यद्यपि लिखित लि के अभाव के कारण कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं परन्तु उत्खनन में उप सामग्री के साक्ष्य के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि इसके विनाश के नि लिखित कारण हो सकते हैं :—

(१) **जल-प्लावन**—कुछ विद्वानों की धारणा है कि सम्भवतः सिन्धु सरिता प्रवाह-दिशा में इस समय परिवर्तन हो गया अथवा उसमें सहसा जल-प्लावन आ ग फलतः सिन्धु प्रदेश के प्रमुख नगर जल-मग्न हो गये और सिन्धु-सभ्यता सदैव के लि भूगर्भित हो गई।

(२) **अनावृष्टि**—कुछ विद्वानों का अनुमान है कि सम्भवतः अनावृष्टि के कारण इस सभ्यता का विनाश हुआ था। यद्यपि सिन्ध में पहिले बड़ी वर्षा होती थी प कालान्तर में इसमें वर्षा की बड़ी न्यूनता आरम्भ हो गई और सिन्ध मरुस्थल होने लग अतएव नगर के लोगों ने इसे त्याग दिया।

(३) **राजनैतिक एवं आर्थिक विघटन**—कुछ विद्वानों की यह धारणा है सिन्धु सभ्यता का विनाश सिन्धु प्रदेश के राजनैतिक तथा आर्थिक विघटन के फलस्व हुआ था।

होता है। सर जान मार्शल ने इन दोनों सभ्यताओं में निम्न-लिखित अन्तर बतलाया है :—

(१) निवास सम्बन्धी अन्तर—वैदिक काल की सभ्यता ग्रामीण तथा कृषि-प्रधान थी परन्तु इसके विपरीत सिन्धु-सभ्यता नागरिक तथा व्यापार प्रधान थी। वैदिक काल के लोग गाँवों में बाँस के पर्ण-कुटीर बना कर निवास करते थे परन्तु सिन्धु-सभ्यता के लोग पक्की ईंटों के बने हुये विशाल भवनों में निवास करते थे जिनमें स्नानागारों, कुओं तथा नालियों की पूर्ण व्यवस्था रहती थी।

(२) धातु के प्रयोग में अन्तर—धातु के प्रयोग में दोनों सभ्यताओं में अन्तर था। वैदिक सभ्यता के लोग प्रारम्भ में सोने तथा ताँबे का और कालान्तर में चाँदी, लोहे तथा काँसे का प्रयोग करने लगे थे परन्तु सिन्धु सभ्यता के निवासी प्रधानतः पाषाण का प्रयोग करते थे। धातुओं में सिन्धु प्रदेश के लोग सोने की अपेक्षा चाँदी का अधिक प्रयोग करते थे। लोहे से तो यह लोग सर्वथा अपरिचित थे।

(३) अस्त्र शस्त्र के प्रयोग में अन्तर—इन दोनों सभ्यताओं के लोगों के अस्त्र-शस्त्र में अन्तर था। यद्यपि आक्रमण के अस्त्र-शस्त्र में अधिक अन्तर न था परन्तु रक्षा के अस्त्र-शस्त्र में महान् अंतर था। वैदिक काल के लोग कवच तथा शिरस्त्राण का प्रयोग रक्षा के लिये करते थे। परन्तु सिन्धु की घाटी के लोग इनका प्रयोग करना नहीं जानते थे।

(४) मांसाहार के प्रयोग में अन्तर—मांसाहारी होते हुये भी वैदिक काल के आर्यों की मीन-मछली में बड़ी अरुचि थी परन्तु सिन्धु-घाटी की सभ्यता के लोगों का यह अत्यन्त प्रिय खाद्य पदार्थ था।

(५) अश्व के प्रयोग में अन्तर—वैदिक काल के लोगों का प्रमुख पशु घोड़ा था जिसकी सहायता से इन लोगों ने अनेक जातियों पर विजय प्राप्त की थी। परन्तु सिन्धु-सभ्यता के निवासी इस पशु से सर्वथा अपरिचित थे। सिन्धु-प्रदेश में घोड़ों के अस्तित्व के जो दो एक प्रमाण मिले हैं उनसे केवल यही सिद्ध होता है कि व्यापारियों के माध्यम से वहाँ पर यदा-कदा घोड़े आ जाया करते थे।

(६) व्याघ्र तथा हस्ति के ज्ञान में अन्तर—वैदिक काल के लोग व्याघ्र से सर्वथा अपरिचित थे। हाथी का भी वेदों में बहुत कम उल्लेख मिलता है परन्तु सिन्धु-सभ्यता के निवासी इन दोनों पशुओं से भली-भाँति परिचित थे।

(७) गाय की महत्ता में अन्तर—वैदिक काल के लोग गाय को बड़ा पवित्र [illegible] य को अधिक [illegible]

[illegible] अपने देवी-देवताओं में [illegible] का आरोपण कर [illegible] मूर्ति पूजक न थे। परन्तु सिन्धु-प्रदेश के लोगों में मूर्ति-पूजा की प्रतिष्ठा थी जिसके अनेक प्रमाण मिले हैं।

[illegible] तथा [illegible] में अन्तर—सिन्धु सभ्यता के लोग शिव तथा [illegible] से अधिक महत्वपूर्ण स्थान देते थे। इसके [illegible] न था और देवी का स्थान देवता से न्यून-[illegible]

[illegible] लोग लिङ्ग-पूजा किया करते [illegible] के लोग लिङ्ग पूजा के घोर

# अध्याय ६

# आर्यों का आगमन

**आर्य कौन थे ?**—द्रविड़ों के बहुत दिनों तक उत्तरी भारत में निवास करने के [अन]न्तर उत्तर पश्चिम की ओर से एक नई वीर तथा साहसी जाति ने भारतवर्ष में प्रवेश [कि]या। इन लोगों ने द्रविड़ों के साथ युद्ध किया और उन्हें पराजित कर दक्षिण की ओर [भ]गा दिया। इन लोगों ने अपने को आर्य के नाम से पुकारा। कभी-कभी इन लोगों को [भा]रतीय आर्य भी कहा जाता है क्योंकि इस जाति के लोग ईरान तथा योरोप के भिन्न-[भिन्न] भागों में भी पाये जाते हैं। आर्य शब्द का अर्थ है उच्च वंश का। सबसे पहले [इ]स शब्द का प्रयोग वेदाचार्यों ने किया था। इन लोगों ने अपने को आर्य और अपने [वि]रोधियों को दास अथवा दस्यु कहना आरम्भ किया। यह लोग लम्बे डील-डौल के; [हृ]ष्ट पुष्ट, गौर-वर्ण के, लम्बी नाक वाले, वीर तथा साहसी थे। इस प्रकार यह लोग [रं]ग तथा डील-डौल में द्रविड़ों से भिन्न थे जो छोटे कद के तथा काले रंग के होते थे। [स]भ्यता तथा संस्कृति में भी आर्य लोग द्रविड़ों से आगे थे। यह लोग शीतोष्ण कटिबन्ध के [नि]वासी थे और दूध, मांस तथा गेहूँ इनका खाद्य पदार्थ था। अतएव यह बड़े ही बलिष्ट [त]था साहसी होते थे। यह लोग पर्यटनशील थे और कृषि करना भी जानते थे। यह [ल]ोग अपने हथियारों को भी बड़ी चतुरता से चला सकते थे। यद्यपि इन लोगों ने समुद्र [न]हीं देखा था परन्तु अपनी बनाई हुई नौका द्वारा यह लोग नदियों तथा झीलों को पार [क]र सकते थे। यह लोग प्रकृति प्रेमी थे और हर प्रकार के भावों को ग्रहण करने के लिये [उ]द्यत रहते थे।

**आर्यों का आदि देश**—आर्यों का मूल निवास स्थान कहाँ था यह एक अत्यन्त विवादग्रस्त प्रश्न है। अभी तक इस प्रश्न का कोई ऐसा सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया गया है जो सर्वमान्य हो। परन्तु मनुष्य एक अन्वेषणशील प्राणी है। उपलब्ध सामग्रियों के अवलम्ब से वह अपनी कल्पना शक्ति तथा तर्कपूर्ण बुद्धि के बल से गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करने में सफल होता है। आर्यों के आदि-देश के अन्वेषण करने में विद्वानों ने चार विभिन्न साधनों का अवलम्ब लिया है अर्थात् भाषा विज्ञान, पुरातत्वों का निरीक्षण, जातीय विशेषतायें तथा शब्दार्थ भाषा विज्ञान। विभिन्न साधनों तथा दृष्टिकोणों से गवेषणा करने के कारण यह विद्वान् विभिन्न निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। फलतः आर्यों के आदि देश के सम्बन्ध में चार प्रधान सिद्धान्तों का जन्म हुआ है अर्थात् (१) यूरोपीय सिद्धान्त (२) मध्य एशिया का सिद्धान्त, (३) आर्कटिक प्रदेश का सिद्धान्त तथा (४) भारतीय सिद्धान्त। अब इनका अलग-अलग विस्तृत वर्णन करना आवश्यक है।

**(१) यूरोपीय सिद्धान्त**—बहुत से विद्वानों का मत है कि वह आर्य जिन्होंने भारत में प्रवेश किया यूरोपीय आर्यों की एक शाखा थे। फारस, यूनान, इटली, जर्मनी, फ्रांस तथा इङ्गलैण्ड के निवासी इन्हीं की शाखायें तथा उपशाखायें हैं। अपने मत की पुष्टि के लिये इन विद्वानों ने भाषा एवं संस्कृति की समता तथा मानव-जाति विषयक अन्वेषणों का अवलम्ब लिया [illegible] सैसेटी नामक फ्लोरेन्स के एक सौदागर ने जो गोआ में पाँच वर्ष [illegible] [पह]ली बार यह बतलाया कि संस्कृत तथा यूरोप की अन्य भाषाओं [illegible] परन्तु यह साम्य भारत तथा यूरोप के लोगों के एक मूल निवास [illegible] [इ]स मत का समर्थन सबसे पहिले सर विलियम जोन्स ने एतिहासिक

देश शीतोष्ण कटिबन्ध में रहा होगा और पर्वत मालाओं से घिरा रहा होगा। यह निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता कि किन फलों का इन्हें ज्ञान था। आर्य लोग स्थायी रूप से एक स्थान पर निवास करते थे इसकी सम्भावना है। जिन पशुओं का उन्हें ज्ञान था वे बैल, गाय, भेड़, कुत्ता, सुअर, हिरन आदि थे। गधे, खच्चर तथा हाथी

[illegible]

[illegible] जा सकते हैं। यवनों का उपत्यका में भेड़ों के लिये बड़ी सुविधायें हैं। सुअर भी यहाँ पाये जाते हैं। इसी प्रकार वट वृक्ष भी इस क्षेत्र में पाये जाते हैं जिनका प्राचीन आर्यों को ज्ञान था। अतएव यही क्षेत्र आर्यों का आदि-देश रहा होगा।"

अब प्रश्न यह उठता है कि यह लोग किस मार्ग से विदेश को गये और इनमें से कौन से [illegible] गये थे। अतएव सबसे सरल [illegible] की पूर्व शाखा ने भारत में [illegible] डारडेनलीज के मार्ग से एशिया [illegible] के दक्षिण की ओर से हिरात [illegible] पहुँचे होंगे और आमूर तथा [illegible] होगा। अभी तक इन लोगों [illegible] सकते हैं। कुछ आर्य ईरान में रह गये और शेष भारत चले आये। अपने इस विचार का समर्थन डा० गाइल्स ने इस प्रकार किया है। एशिया-माइनर में जो बोगजकोई नामक स्थान पर खुदाई हुई है उसमें ऐसे लेख उपलब्ध हुये हैं जिनमें इन्द्र, वरुण आदि ऐसे देवताओं का उल्लेख है जिनका वर्णन भारतीय आर्य ग्रन्थों में भी है। मेसोपोटामिया के तत्कालीन राजाओं का नाम आर्य होता था। इसी प्रकार बेबीलोनिया में भी राजाओं तथा देवताओं के नाम आर्य होते थे। इससे पता चलता है कि यूरोप से आर्य लोग ईरान में आये थे और वहाँ से भारत पहुँचे थे। अब प्रश्न यह उठता है कि भारतीय तथा ईरानी आर्यों में झगड़ा क्यों हुआ और वे एक दूसरे से अलग क्यों हो गये। इनमें धर्म के विषय में परस्पर मत-भेद हो गया। भारतीय आर्य प्रकृति की शक्तियों अर्थात् इन्द्र, वरुण, मरुत, सोम आदि की पूजा अब भी करते रहे परन्तु ईरानी आर्य की धार्मिक भावना बदल गई और वे अहुर मज्द की पूजा करने लगे। इस प्रकार प्रकृति के उपासक देव और अहुर मज्द के उपासक असुर कहलाये। इनमें परस्पर संग्राम हुआ [illegible]ओं की पराजय और असुरों की विजय हुई। अतएव देव लोग भारत में

[illegible]

जर्मन प्रदेश आर्यों का आदि देश—पेन्का के नेतृत्व में कुछ [illegible] जर्मन प्रदेशों को आर्यों का आदि देश बतलाया है। अपने मत [illegible] के स्थान पर इन विद्वानों ने जातीयता का अवलम्ब लिया [illegible] कि जर्मन प्रदेशों के आन्तरिक भाग में और विशेषकर [illegible] जाति ने अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं किया। जर्मन [illegible] भाषा का प्रयोग किया है। अतएव यह

[illegible] शब्द से करने लगे जिसका यह तात्पर्य है कि यह लोग बाद में दक्षिण की ओर [illegible] इन लोगों के पास नावें [illegible] होंगी। यह लोग घोड़े [illegible]। इन लोगों को पीपल के [illegible] परिचित न थे। इनके ग्रन्थों में जौ का भी उल्लेख है और सोम की बड़ी प्रशंसा की गई है। इन तथ्यों के आधार पर बहुत से यूरोपीय विद्वान् इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि मध्य एशिया ही आर्यों का आदि देश रहा होगा क्योंकि यह सभी चीजें वहाँ पर पाई जाती हैं और शक, हूण आदि जातियाँ यहीं से भारत में गई थीं। यहाँ से ईरान, यूरोप तथा भारत तीनों जगह जाना सम्भव तथा सरल है। जन-संख्या की वृद्धि तथा भोजन के अभाव के कारण विवश होकर इन्हें अपनी जन्म-भूमि त्यागनी पड़ी थी।

[illegible]

[illegible] है। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि १४०० ई० पू० के पहिले इन्डो-ईरानी लोग एशिया माइनर में निवास करते थे।

इसी प्रकार मिश्र में एल-अमर्ना नामक स्थान पर प्राप्त मिट्टी के पात्रों पर अंकित ऐसे राज-वंशों के नाम मिले हैं जो इन्डो ईरानी लगते हैं। यह राज-वंश सीरिया में १४०० ई० पू० के लगभग शासन कर रहे थे। इस तथ्य से भी विद्वान् लोग इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि १४०० ई० पू० के पहिले इन्डो ईरानी लोग एक ही स्थान पर निवास करते थे। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि लगभग १४०० ई० पू० में कैपेडोशिया तथा सीरिया में ऐसी इन्डो-ईरानी भाषा थी जो प्राचीनतम अवेस्तन अथवा संस्कृत भाषा से कहीं अधिक प्राचीनतर थी। इतिहासकारों ने इस बात का भी पता लगाया है कि १७६० ई० पू० में कैसाइट लोगों ने बेबीलोन पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। कहा जाता है कि कैसाइट लोग सूर्य के लिये सुरिया शब्द का प्रयोग करते थे जो इन्डो ईरानी शब्द है। [illegible] फेंडड का कहना है कि कैसाइट लोगों ने इस शब्द को इन्डो-[illegible] तब उन्होंने अपने मूल निवास स्थान को नहीं छोड़ा [illegible] यह कहना कि इन्डो-ईरानी लोग १८ वीं शताब्दी [illegible] करते थे उचित न होगा। फिर भी १५ वीं शताब्दी [illegible] इन्डो ईरानी नामों तथा बोगज-कोई के अभिलेखों [illegible] हो जाता है [illegible] ईरानी एक समय पश्चिमी एशिया [illegible] यह लोग कहाँ से इस स्थान [illegible]

[illegible] अब इन्डो-ईरानी हो गया था [illegible] किया था क्योंकि यद्यपि साधारण [illegible] पश्चिम से पूर्व की ओर आये थे परन्तु [illegible] था। इडवर्ड मेयेर ने हर्ट के इस सिद्धांत [illegible] है कि यह कैसे सम्भव हो सकता है कि [illegible] लोग आरम्भ में बाहर बसे थे उनका कोई [illegible] मिया से लेकर असीरिया के युग तक जितने [illegible] से एक भी इन्डो-यूरोपीय [illegible]

बहुत सी ऐसी बातें मिलती हैं जिससे पता चलता है कि उत्तरी-ध्रुव प्रदेश आर्यों का आदि देश रहा होगा। उदाहरण के लिये इन लोगों को इस बात का ज्ञान था कि एक लम्बे दिन और एक लम्बी रात का वर्ष होता है और कई दिनों का प्रात काल होता है। पहिले उत्तरी-ध्रुव प्रदेश तुषारावृत था परन्तु भौगोलिक परिवर्तनों के कारण तुषार का नाश हो गया और स्थायी सुहावना बसन्त सा हो गया। इस बसन्त के काल में आर्य लोग यहीं उत्तरी ध्रुव प्रदेश में निवास करते थे। सहस्त्रों वर्ष उपरान्त एक और तुषार पात हुआ जिसके कारण आर्यों को अपनी मातृ भूमि त्याग देनी पड़ी। इस तुषार-पात का उल्लेख अवेस्ता में भी मिलता है जिसके कारण ईरानी आर्यों को अपनी मातृ-भूमि त्यागनी पड़ी थी। सम्भव है जनसंख्या की वृद्धि के कारण भी इन्हें अपनी मातृ-भूमि त्यागनी पड़ी हो। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य लोग ईसा के लगभग ८००० वर्ष पूर्व उत्तरी ध्रुव से चले थे और इनकी एशिया की शाखा ईसा के लगभग ६००० वर्ष पूर्व मध्य एशिया में बस गई थी। फिर यहाँ से यह लोग ईरान तथा सिन्धु घाटी में चले आये। तिलक जी के इस सिद्धान्त के बहुत कम समर्थक हैं।

(४) भारतीय सिद्धान्त—कुछ विद्वानों के विचार में सप्त-सिन्धव ही आर्यों का आदि देश था। इस सिद्धान्त का समर्थन कलकत्ता के विद्वान् श्री अविनाश चन्द्र दास ने किया था। यह देश सिन्धु नदी से सरस्वती नदी तक फैला था। काश्मीर तथा पंजाब इसके अन्तर्गत थे। काबुल तथा गान्धार भी इसमें सम्मिलित थे। चूंकि आर्य लोगों को अफगानिस्तान के पश्चिम के भाग का तथा गंगा के पूर्व के भाग का ज्ञान था अतएव सप्त सिन्धव को ही आर्यों का आदि देश मानना चाहिये। वेदों में आर्यों ने सप्त सिन्धव का ही गुण गाया है। इस बात का हमें कहीं संकेत नहीं मिलता कि आर्य विदेशों से आये थे। पुराणों में देवासुर संग्राम का उल्लेख है। इस युद्ध में अन्त में देवताओं को विजय प्राप्त हुई थी और असुर लोग खदेड़ दिये गये थे। अवेस्ता में भी ईरानियों के पैगम्बर लिखते हैं कि वे अपनी मातृ-भूमि से खदेड़ दिये गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि देवासुर संग्राम केवल प्राचीन आर्यों तथा ईरानियों का [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] का आदि-देश निश्चित किया है। श्री एल० डी० कल्ला ने काश्मीर तथा हिमालय प्रदेश को आर्यों का मूल निवास-स्थान माना है। कुछ अन्य विद्वानों ने [illegible]राणों के आधार पर गंगा के मैदान को आर्यों का आदि देश माना है। जो विद्वान् भारतवर्ष को आर्यों का आदि-देश मानते हैं वे अपने मत के अनुमोदन में निम्नलिखित तर्क उपस्थित करते हैं.—

(१) अभी तक इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं दिया जा सका है कि आर्य विदेशी थे। अनुश्रुतियों में भी उनके बाहर से आने का संकेत नहीं है। इसके अतिरिक्त इस बात का प्रचुर साहित्यिक प्रमाण मिलता है कि वैदिक आर्य सप्त-सिन्धु को अपना मूल निवास-स्थान तथा देव निर्मित मानते थे। यदि वे आये भी रहे होंगे तो वेदों की रचना काल के [illegible]

[illegible]

(१) यदि भारतवर्ष आर्यों का मूल-निवास स्थान रहा होता तो बाहर जाने के पूर्व [उन्हों]ने समस्त भारत के आर्य-करण का कार्य समाप्त कर दिया गया होता।

(२) सम्पूर्ण दक्षिण भारत तथा उत्तर भारत का कुछ अङ्ग अब भी भाषा के दृष्टिकोण [से] अनार्य है। इससे यही सिद्ध होता है कि भारत आर्यों का आदि-देश नहीं था।

(३) चूँकि समस्त दक्षिण भारत में तथा उत्तरी भारत के कुछ भागों में अनार्य भाषा [क]ा और विशेष कर ब्राहुई (द्रविड़) भाषा का बलूचिस्तान में प्रयोग होना इस बात का [सू]चक है कि सम्भवतः समूचे अथवा कम से कम भारत के बहुत बड़े भूभाग में कभी अनार्य भाषाओं का प्रयोग होता था।

(४) इन्डो यूरोपीय भाषाओं से संस्कृत की ध्वनि में जो विभेद हो गया है वह आर्यों [क]े भारत में प्रवेश करने के बाद कोल तथा द्रविड़ भाषाओं के प्रभाव के कारण ही हुआ है।

(५) बहुत से विद्वानों की यह धारणा है कि मोहनजोदड़ो की, सभ्यता आर्य-सभ्यता [स]े भिन्न तथा अधिक प्राचीनतम है। जब भारत की प्राचीनतम सभ्यता अनार्य थी तब [ह]म इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आर्यों का आदि देश भारत नहीं था।'

**निष्कर्ष**—उपरोक्त विवेचना से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि आर्यों के मूल [नि]वास-स्थान की समस्या अभी सुलझ नहीं पाई है। विरोधी मतों का संघर्ष पूर्ववत् बना [ह]ुआ है और जब तक कोई अकाट्य प्रमाण नहीं प्राप्त हो जाता तब तक शंका समाधान [क]ी सम्भावना नहीं है। बहुत से विद्वानों की यह धारणा है कि यदि मोहनजोदड़ो की भाषा [illegible]

**[illegible]**—यद्यपि यह निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता कि आर्य लोगों की जन्म-भूमि भारतवर्ष ही थी-अथवा वे विदेशों से आये थे परन्तु इतना निश्चय है कि आर्य लोग सबसे पहिले अफगानिस्तान तथा पंजाब में बसे थे। ऋग्वेद में हमें [क]ुभुक, स्वात, कुरम तथा गोमल नदियों का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वै[दि]क काल में आर्यों का अफगानिस्तान पर अधिकार था। अनार्यों पर अपनी प्रभुता स्था[पि]त करने में उन्हें बहुत समय लगा होगा। ऋग्वेद में पञ्जाब की नदियों के भी नाम मिलते हैं। उन दिनों पंजाब में सात नदियाँ थी। इसी से इस देश का नाम सप्त सिन्धु अथवा सप्त-सिन्धव रक्खा गया था। इन नदियों के नाम ये थे (१) सिन्धु (सिन्धु), (२) वितस्ता (झेलम), (३) असिक्नी (चेनाब) (४) परुष्णी (रावी), (५) विपाश (व्यास), (६) शतुद्री (सतलज) और (७) सरस्वती। सप्त-सिन्धु में आर्य लोग बहुत दिनों [त]क रहे। इस भूमि का गुण-गान वेदों में बारम्बार किया गया है। सप्त-सिन्धव से आर्य लोग धीरे-धीरे दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़े। अनार्यों के घोर विरोध के कारण वह लोग शीघ्रता से आगे न बढ़ सके। परन्तु अनार्यों से अधिक बलिष्ट तथा रण-कुशल होने के कारण इन्हें विजय प्राप्त हुई। आर्यों ने सरस्वती तथा दृषद्वती नदियों के बीच की भूमि को जीत लिया और इसका नाम ब्रह्मावर्त रक्खा। उत्तरी नदियों के मार्ग के बदल जाने के कारण इस देश को निश्चित रूप से बतलाना कठिन है। परन्तु महाभारत के एक पद से ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मावर्त कुरुक्षेत्र का एक अङ्ग था। ब्रह्मावर्त पर अधिकार करने के उपरान्त आर्य लोग और आगे बढ़े और अपने विरोधियों पर विजय प्राप्त कर ली। इस प्रदेश का नाम इन लोगों ने ब्रह्मर्षि देश रक्खा। ब्रह्मर्षि देश के अन्तर्गत कुरु, मत्स्य,

पांचाल तथा सूरसेन राज्यों के भूभाग सम्मिलित थे। इन राज्यों में आधुनिक थानेश्व
पूर्वी राजपूताना, गङ्गा तथा यमुना का दोआब तथा मथुरा का जिला आ जाता है। इ
लोग कालान्तर में और आगे बढ़े और हिमालय तथा विन्ध्य पर्वत के बीच की भूमि
विजय प्राप्त कर ली। अब पूर्व में यह लोग प्रयाग तक पहुँच गये। इस प्रदेश का
आर्यों ने मध्य देश रक्खा। हिमालय पर्वत से विन्ध्याचल तक और पूर्वी समुद्र से पश्चि
समुद्र के सम्पूर्ण भाग का नाम आर्यों ने आर्यावर्त रक्खा। विहार तथा बङ्गाल के
पूर्व का भाग बहुत दिनों तक आर्यों की सभ्यता के प्रभाव से मुक्त रहा। परन्तु कालान्त
में यहाँ के निवासियों को भी आर्यों की प्रभुता स्वीकार करनी पड़ी। आर्य लोगों ने
अङ्ग (बिहार), बंग (बङ्गाल), पुंड (उत्तर बङ्गाल), सुह्म (दक्षिण बंगाल) तथा कलिं
राज्य स्थापित किये। दक्षिण भारत में आर्य लोग सबसे अन्त में पहुँचे। उत्तर वै
काल में आर्यों ने भारत में प्रवेश किया था। कहा जाता है कि दक्षिण भारत में
सभ्यता का प्रचार सबसे पहिले अगस्त्य ऋषि ने किया था। आर्यों की दक्षिण भारत
विजय आध्यात्मिक थी भौतिक नहीं। क्रमशः आर्यों ने सुदूर दक्षिण तक अपनी स
का प्रचार किया। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत में आर्य लोग फैल गये और भारत के को
कोने में अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार किया।

**दस राजाओं का युद्ध**—आर्य लोगों ने कई जत्थों में भारतवर्ष में प्रवेश कि
था। अतएव यह लोग कई दलों में विभक्त थे और बहुत दिनों तक एक दूसरे से पृ
रहे। आर्यों के इन दलों का उल्लेख वैदिक साहित्य में किया गया है। अफगानिस्ता
बहुत जिलों के नाम भी इन्हीं दलों के नाम पर पड़े हैं। इन दलों के नाम का ज्ञान
ऋग्वेद से होता है। ऋग्वेद में जिन दलों का वर्णन है उनमें अधिक प्रसिद्ध भरत, मत्स्
अनुस, द्रुह्यु, तुर्वसु, यदु तथा पुरु थे। भरत लोग उस भूखण्ड में निवास करते थे
बाद में ब्रह्मावर्त के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मत्स्य दल उस प्रदेश में निवास करता
जिसके अन्तर्गत आजकल अलवर, जयपुर तथा भरतपुर राज्य हैं। अनुस तथा द्रुह्यु
के लोग पंजाब में निवास करते थे। तुर्वसु दल वाले दक्षिण-पूर्व में आवास करते थे।
लोग पश्चिम में रहते थे और पुरु लोग सरस्वती नदी के चारों ओर के प्रदेश
बसे थे। पुरु दल बड़ा बलवान् तथा प्रभावशाली था। इन दलों के अतिरिक्त और
अनेक दल थे। यह दल परस्पर युद्ध किया करते थे। ऋग्वेद से हमें पता चलता है
भरत दल के त्रित्सु वंश का राजा सुदास था। उसने पंजाब पर अपना अधिकार स्था
करना चाहा। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसे उत्तर-पश्चिम के दस दलों के स
युद्ध करना पड़ा। इस युद्ध का कारण एक पुरोहित का निर्वाचन था। कौशिक वंश का
विश्वामित्र भरत दल का पहिले पुरोहित था। वह बड़ा वीर तथा साहसी था और उ
नेतृत्व में बड़ी सफलता से इन लोगों ने अपने वैरियों से युद्ध किया था। परन्तु कुछ

# अध्याय १०

## आर्य-ग्रन्थ

आर्य ग्रन्थ आर्य जीवन के विविध अंगों के व्याख्यान हैं। आर्य जीवन प्रधानतः आध्यात्मिक जीवन था। धर्म जीवन का एक प्रधान अंग था। अतएव आर्य ग्रन्थों में कहीं धर्म का लक्षण और कहीं उसके विशेष अंग के पालन करने वाले महापुरुष के जीवन अथवा अनुभव का उल्लेख है। ज्ञान, कर्म तथा उपासना भारतीय धर्म के तीन अङ्ग हैं। प्रत्येक भारतीय रचना इस श्रोत से व्याप्त है। यदि हम आर्य वाङ्मय को एक विशालकाय वृक्ष मान लें तो वेदों को उसका मूल मानना सर्वथा सत्य होगा। स्वयं मनु जी ने भी वेदों को अखिल धर्मों का मूल बताया है। अतः यहाँ सर्व प्रथम वेदों का ही वर्णन किया जायगा।

वेद—वेद शब्द विद् धातु से बना है जिसका अर्थ है जानना। अतएव वेद का [illegible]

[illegible] उसका अभ्यास कर लेते थे। अतएव वेदों का नाम श्रुति पड़ा अर्थात् जो सुना गया हो। परन्तु यह मत तर्क संगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि ऋग्वेद में ही लिपि प्रचार का भव्य वर्णन है। वस्तुतः में श्रुति शब्द का अर्थ है जिसमें ईश्वर के विषय में श्रवण किया जाय। वेदों में ज्ञान, कर्म तथा उपासना ये तीन कांड हैं। कुछ विद्वान् वेदों को ईश्वर की कृति मानते हैं और कुछ [illegible] नहीं कि वेद आर्यों [illegible] वेद सृष्टिकर्ता ब्रह्मा [illegible] भिन्न शताब्दियों में [illegible] रचना उस समय हुई थी जब आर्य विभक्त नहीं हुये थे। अनुमान लगाया गया है कि वेदों की रचना ईसा से ६५०० से ५१० वर्ष के पूर्व तक में हुई थी। परन्तु इसका [illegible]

[illegible]
वेदों के उपरान्त जो संस्कृत-साहित्य लिखा गया है वह वेदों के ही आधार पर लिखा

प्रवर्तक माने जाते हैं। प्राचीन काल में भी मांगलिक उत्सवों में गाने की प्रथा थी। यज्ञशाला में भी गीत की विधि थी। सामवेद का याज्ञिक कुशल गायक होता था। भगवान् शंकर का ताण्डव नृत्य प्रसिद्ध है। इस प्रकार आर्यजाति दुर्गा के खड्ग को भाँति सरस्वती की वीणा का भी सम्मान करती थी।

अर्थ-शास्त्र—अथर्ववेद का उपवेद अर्थशास्त्र है। परन्तु आज कल केवल कौटिल्य का ही अर्थ शास्त्र उपलब्ध है। इस विषय के अन्य ग्रन्थों का दुर्भाग्यवश लोप हो गया है।

वेदाङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष छन्दस् तथा निरुक्त ये वेदों के छः अङ्ग हैं। वेदों के सम्यक् ज्ञान के लिये इन छः ग्रन्थों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। छन्द शास्त्र वेद का चरण, कल्पसूत्र हाथ, ज्योतिष नेत्र, निरुक्त कान, शिक्षा नाक तथा व्याकरण मुख कहे गये हैं।

शिक्षा—वेदों के उच्चारण में मात्रा, स्वर तथा वर्णों के उच्चारण स्थान का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। इसका ज्ञान शिक्षा-शास्त्र से होता है। शिक्षा-शास्त्र में ध्वनि का वैज्ञानिक स्वरूप, वर्णों की उत्पत्ति, प्रक्रिया, उनके भेद तथा उनके उच्चारण में मुख के भीतर तथा बाहर होने वाले प्रयत्न, ध्वनियों के उच्चारण की शैली आदि विषयों का निरूपण है।

कल्प सूत्र—कल्प सूत्र का वर्णन आगे किया जायगा।

व्याकरण—व्याकरण शब्दों का विधान शास्त्र है। बिना व्याकरण के शब्दों का यथार्थ ज्ञान असम्भव है। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है, "हम म्लेच्छ न हो जायँ इसलिये हमें [illegible] यद्यपि व्याकरण के अनेक ग्रन्थ हैं किन्तु [illegible] है। पाणिनि की शैली अत्यन्त वैज्ञानिक [illegible] पाणिनि उनका गोत्र नाम है। पाणिनि [illegible] का नाम शलङ्कु था। उनका जन्म पूर्वी गान्धार के शलातुर नामक ग्राम में हुआ था। उन्होंने तक्षशिला विश्व-विद्यालय के उपाध्याय से शब्द शास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया था।

निरुक्त—निरुक्त वैदिक शब्दों का भाषा-विज्ञान है। निरुक्त के अध्ययन से ही वेदों के वास्तविक रहस्य का बोध होता है। निरुक्त ग्रन्थों में यास्काचार्य का निरुक्त बड़ा उपयोगी है। इसमें शब्दों की निरुक्ति के अतिरिक्त वेद में आये हुये देवता, वस्तु के विषय में वैज्ञानिक विवेचन हैं। गुरु के प्रति शिष्य का क्या कर्तव्य है, कैसे छात्र को विद्या-दान देना चाहिये, वेदों का अर्थ करने का किसे अधिकार है इन सब बातों का भी इसमें उल्लेख है।

छन्दस—छन्द वैदिक ध्वनियों के प्रवाह का मानो धारा-पथ है। इसी से इसे वेद का चरण माना गया है। महर्षि यास्क ने अपने निरुक्त में बहुत से छन्दों का निर्वाचन किया है। महर्षि पिङ्गलाचार्य रचित 'पिंगल छन्द सूत्र' में लौकिक तथा वैदिक दोनों प्रकार के छन्दों की चर्चा है।

ज्योतिष—सहस्राब्दियों पूर्व भारतवासी असीम आकाश के ग्रह तथा नक्षत्रों की गति तथा उनकी परिधियों से परिचित थे। भारतीय ज्योतिष गणित तथा फलित इन दो भागों में विभाजित है। आर्य वास्तु-विद्या में बड़े प्रवीण थे। उनकी यज्ञशालाओं की रचना बड़े वैज्ञानिक ढंग से होती थी। यज्ञ-कुण्डों का परिमाण नियत था। इस स्थिति में रेखागणित का ज्ञान प्राप्त करना नितान्त आवश्यक था। वेदों में प्रचलित संख्याओं का उल्लेख है।

ज्योतिष की आवश्यकता न हो। आर्य भट्ट का आर्य सिद्धान्त, ब्रह्मगुप्त का ब्रह्मस्फुट, वराह मिहिर की बृहत्संहिता तथा भास्कराचार्य की लीलावती भारतीय ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रंथ हैं।

दर्शन—संस्कृत भाषा में आध्यात्मिक विज्ञान को दर्शन कहते हैं। ... नास्तिक तथा आस्तिक इन दो भागों में विभाजित है। नास्तिक दर्शन सौगत, ... तथा आर्हत इन तीन भागों में विभाजित है। आस्तिक दर्शन न्याय, वैशेषिक, ... वेदान्त, सांख्य तथा योग इन छः भागों में विभक्त है।

न्याय—न्याय दर्शन में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन न्याय के पाँच अंगों का निरूपण, प्रमेय तथा प्रमिति के सामान्य तथा विशेष अंगों का वर्णन ... इसके आचार्य महर्षि गौतम हैं।

वैशेषिक—वैशेषिक भारतीय साहित्य का पदार्थ विज्ञान है 'विशेष' नामक ... का निरूपण होने के कारण इस दर्शन का नाम वैशेषिक पड़ा। इसमें द्रव्य, गुण, ... सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव इन सात पदार्थों का विवरण तथा निरूपण ... इस दर्शन के आचार्य कणाद हैं।

मीमांसा—मीमांसा दर्शन में धर्म प्रतिपादक वेद-वाक्यों का वास्तविक अर्थ ... बताया गया है। परस्पर विरोधी वैदिक वाक्यों का समन्वय करने के लिये मीमांसा ... का आविष्कार हुआ था। मीमांसा कर्मकाण्ड प्रधान दर्शन है। इस दर्शन के आ... जैमिनि हैं। भारतीय दर्शनों में मीमांसा दर्शन का साहित्य बहुत विशद, गम्भीर ... मनन करने योग्य है।

वेदान्त—वेदान्त दर्शन उपनिषदों का सूत्रात्मक रूप है। इस दर्शन के आ... महर्षि कृष्ण द्वैपायन 'व्यास' हैं। इसमें ब्रह्म तत्व का निरूपण है। भारतीय दर्शन... वेदान्त दर्शन का साहित्य बहुत विस्तृत है।

सांख्य—सांख्य दर्शन सब दर्शनों से अधिक प्राचीन है। महर्षि कपिल इस द... के आचार्य माने जाते हैं। आप ने इस विद्या का उपदेश सर्व-प्रथम अपनी माता दे... को दिया था। इस दर्शन में तत्व-ज्ञान के द्वारा आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आ... त्मिक दुःखों की निवृत्ति का मार्ग बताया गया है।

योग—चित्त-वृत्तियों के निरोध को कहते है। योग दर्शन के आचार्य महर्षि पत... ञ्जलि हैं। इस दर्शन से चित्त-वृत्ति निरोध, समाधि, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणि... क्रिया योग, यम, नियम, संयम तथा उनकी विभूतियों का वर्णन है।

सूत्र—संस्कृत भाषा के सर्व प्रथम युग में सूत्र ग्रन्थों की रचना हुई थी। इ... काल ईसा के सातवीं शताब्दी पूर्व से दूसरी शताब्दी तक माना जाता है। वै... साहित्य की भिन्न-भिन्न शाखायें कई शताब्दियों तक केवल कण्ठाग्र रख कर महर्षियों ...

... होता गया। अत ... इस कठिनाई को ... हैं। यद्यपि इन सूत्रों ... सरल होता है। आश... के तीन भेद हैं ... विक महत्व नहीं है। ... गृह्य सूत्र में जन्म ... संस्कार, अन्त्य-कर्म, ... संस्कार प्रधान हैं।

ग्रन्थों में बहुत से राजाओं का उल्लेख मिलता है। इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस काल की राजनैतिक व्यवस्था राजतन्त्रात्मक थी परन्तु अन्य प्रकार की व्यवस्थाओं के भी नाम उद्धृत मिलते हैं। इस प्रकार हमें गण का उल्लेख मिलता है जिसका प्रधान गणपति अथवा ज्येष्ठ हुआ करता था। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि राजतन्त्र के अतिरिक्त अन्य प्रकार की भी व्यवस्थायें थीं। राष्ट्र का प्रधान राजन होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि चूँकि इन दिनों आवागमन के साधनों का सर्वथा अभाव था। अतएव राज्य बहुत छोटे-छोटे हुआ करते थे। प्रत्येक गण का एक राजा होता था। ऋग्वेद की एक सूक्ति से पता चलता है कि पाँच गणों के संघ ने राजा सुदास पर आक्रमण किया था। इससे अनुमान लगाया जाता है कि इस काल में सहयोगात्मक अथवा संघात्मक संगठन भी रहा होगा। ऋग्वेद की एक सूक्ति से ज्ञात होता है कि राजा कामु ने एक ऋषि को दस राजा दान के रूप में दिये थे। अन्य बहुत से राजाओं के नाम मिलते हैं जो विशाल राजप्रासादों में रहते थे और सहस्रों गायों, घोड़ों तथा सुवर्ण का दान दिया करते थे। इससे स्पष्ट है कि इस काल के राजा ऐश्वर्यशाली होते थे। राजा का पद उत्तराधिकार द्वारा वंशानुगत होता था। यद्यपि ऋग्वेद में राजा के निर्वाचन के विषय में कहीं [illegible]

[illegible]

तथा मातद्वन्दी विनाशक समझा जाता था। कभी-कभी राजा के स्थान पर सम्राट शब्द का भी प्रयोग किया जाता था। उत्तर-वैदिक काल में सम्राट् का स्थान राजन् से ऊँचा होता था। राजा का स्थान सर्वोच्च समझा जाता था। वह सुन्दर वस्त्र धारण करता था और एक अलंकृत राजभवन में निवास करता था जहाँ राजपदाधिकारी, भृत्य, गायक तथा पंडित उपस्थित रहते थे। गायक तथा पंडित उसकी प्रशंसा किया करते थे।

राजा के कर्तव्य -- राजा के कर्त्तव्यों का कहीं निश्चित रूप से निरूपण नहीं किया गया है। प्रजा की रक्षा करना, शत्रुओं से युद्ध करना तथा शान्ति के समय यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करना राजा के मुख्य कर्तव्य होते थे। राजा न केवल प्रजा की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का ध्यान रखता था वरन् वह अपनी प्रजा की आध्यात्मिक उन्नति का भी ध्यान रखता था। राजा अपनी प्रजा के आचरण के निरीक्षण के लिये गुप्तचर रखता था जो प्रजा के आचरण के विषय में राजा को सूचना दिया करते थे। आचरण भ्रष्ट-प्रजा को राजा दण्ड दिया करता था। राजा के पास बहुत से याज्ञिक होते थे जो यज्ञ किया करते थे और जिन्हें प्रजा से बलि (दान) प्राप्त होती थी।

राज्य के प्रमुख पदाधिकारी—राजा की सहायता के लिये कई पदाधिकारी होते थे। इनमें पुरोहित, सेनानी तथा ग्रमियी प्रधान थे। पुरोहित का स्थान सर्वोत्कृष्ट था। पुरोहित का पद प्रायः वंशानुगत होता था परन्तु कभी-कभी वह अन्य कुटुम्ब से भी चुन लिया जाता था। पुरोहित को बहुत से कर्तव्य करने पड़ते थे। वह राजा का धर्म गुरु तथा परामर्शदाता होता था। अतएव राज्य में उसका बड़ा प्रभाव रहता था। ऋग्वैदिक पुरोहित के विषय में डा० कीथ ने लिखा है, "वैदिक पुरोहित उस ब्राह्मण राजनीतिज्ञ का अग्रगामी है जिसने समय समय पर भारतवर्ष में कार्य प्रबन्ध में अपूर्व योग्यता प्रदर्शित की है और इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं है कि प्रारम्भिक वैदिक काल में एक विश्वामित्र अथवा वशिष्ठ राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग होता था। यह भी स्पष्ट है कि पुरोहित राजा के साथ रण-क्षेत्र में जाता था और अपनी प्रार्थनाओं तथा अपने मन्त्र तन्त्र द्वारा राजा की विजय का प्रयत्न करता था। अपनी इस सेवा के लिये [illegible]

पता चलता है कि सभा में स्त्रियों को भाग लेने का अधिकार नहीं था। सभा लोक हित कार्यों में निर्णय देती थी और उत्तर वैदिक काल में न्याय में इसका बड़ा महत्वपूर्ण स्थान हो गया। कुछ विद्वानों के विचार में सभा राजयत्नों में से राजा को निर्वाचित करती थी और पुरोहित मन्त्री से उसका राज्याभिषेक करता था। परन्तु डा० कीथ का कहना है "यदि राजा वास्तव में किस द्वारा निर्वाचित होता था तो उसका निर्वाचन समिति में होता था। परन्तु इस कल्पना का कोई आधार नहीं है कि राजा निर्वाचित होता था।"

सीमित राजतन्त्र – वैदिक काल में राजा स्वेच्छाचारी अथवा निरंकुश नहीं होता था। उस पर सभा तथा समिति का नियंत्रण रहता था। पुरोहित का भी उस पर नियंत्रण रहता था। इसके अतिरिक्त इस काल में सप्तांग राष्ट्र की भावना थी जिसका तात्पर्य यह है कि राजा के अतिरिक्त राज्य के ६ अन्य अङ्ग होते थे जिनके अपने अधिकार होते थे। अतएव राजा स्वेच्छाचारी अथवा निरंकुश नहीं हो सकता था।

न्याय व्यवस्था—ऋग्वैदिक काल में राजनैतिक व्यवस्था उन्नत दशा में न थी। इस काल में न्याय की क्या व्यवस्था थी इसका हमें बहुत कम ज्ञान है। कुछ विद्वानों के विचार में राजा अपने सहायकों की सहायता से दीवानी तथा फौजदारी के मुकदमों का [illegible]

[illegible]

उत्तर वैदिक कालीन राजनैतिक व्यवस्था—उत्तर वैदिक काल में ऋग्वैदिक काल की राजनैतिक व्यवस्था में परिवर्तन हो गया था। इस काल की राजनैतिक दशा पर एक विहङ्गम दृष्टि डालने पर हमें निम्नलिखित परिवर्तन परिलक्षित होते हैं:—

राजा की शक्ति में सम्वर्द्धन—इस काल में बड़े-बड़े राज्यों की स्थापना हो गई थी और राजा लोग पहिले से अधिक शक्तिशाली हो गये थे। अब राजा लोग ब्राह्मण को छोड़कर सम्पूर्ण प्रजा पर अपने को अनियन्त्रित शासक समझते थे। ब्राह्मण लोग सोम को अपना राजा मानते थे। परन्तु ब्राह्मणों को भी राजा स्वेच्छा से पद-च्युत कर सकता था। साधारण स्वतन्त्र लोगों को बलि, शुल्क, भाग आदि कर राजा को देने पड़ते थे। दास लोगों को तो राजा बहिष्कृत कर सकता था और अपनी स्वेच्छा से प्राण तक ले सकता था। राजा का प्रधान कार्य युद्ध तथा न्याय करना, जनता तथा कानूनों की रक्षा सेना और जनता के बैरियों का नाश करना था। राजा सब को दण्ड दे सकता था परन्तु वह स्वयं दण्ड से मुक्त था। अब वीर विजयी राजा सार्वभौम, एकराट् आदि की उपाधि [illegible]

[illegible]

ति कामों में किया जाता था। प्रत्येक घर में एक बैठक और स्त्रियों के लिये अलग कक्ष
ता था।

**वैवाहिक व्यवस्था तथा स्त्रियों की दशा**—ऋग्वैदिक काल में बहु-विवाह की प्रथा
थी। एक समय में एक व्यक्ति एक ही स्त्री रख सकता था। परन्तु राजवंशों में बहु-विवाह
की प्रथा था। हमें कहीं ऐसा संकेत नहीं मिलता कि एक स्त्री कई पति रख सकती थी।
भाई-बहिन तथा पिता पुत्री में विवाह वर्जित था। दस्युओं के साथ भी विवाह का निषेध
था। बाल विवाह की प्रथा न थी। विवाह में यद्यपि पिता का नियन्त्रण रहता था परन्तु
कन्या को भी पर्याप्त स्वतन्त्रता रहती थी। इस बात का कहीं भी स्पष्ट प्रमाण नहीं
मिलता कि माता पिता अथवा भाई की आज्ञा लेना अनिवार्य था। स्त्री पति के सभी यज्ञों

विवाह करते थे जिनके पुत्र में कोई खराबी रहती थी। विवाह एक पवित्र बन्धन माना
जाता था जिसका विच्छेद मानव-शक्ति के बाहर था। विधवाओं के पुनर्विवाह का भी
संकेत हमें इस काल में नहीं मिलता। परन्तु ऋग्वेद की एक सूक्ति से यह पता चलता है
कि पुत्रविहीना विधवा सन्तानोत्पत्ति के हेतु अपने पति के भाई के साथ विवाह कर सकती
थी। ऋग्वेद की एक सूक्ति से पता चलता है कि सती की प्रथा थी परन्तु ऐसा प्रतीत होता
है कि यह प्रथा केवल [illegible] तक ही सीमित थी। संरक्षण के अभाव में कन्यायें प्रायः
अपनी जीवन-वृत्ति के लिये कर्तव्य-भ्रष्ट हो जाया करती थीं। कन्याओं का विवाह युवावस्था
प्राप्त होने पर होता था। अतएव उन्हें अपने वर चुनने में पर्याप्त स्वतन्त्रता रहती थी।

ऋग्वैदिक काल का कुटुम्ब पैतृक होने के कारण पुत्रोत्पत्ति की लोग बड़ी आकांक्षा
रखते थे और अधिक से अधिक पुत्रों की उत्पत्ति के लिये भगवान् से प्रार्थना करते थे। पुत्र
के उत्पन्न होने पर उत्सव मनाया जाता था। कन्या की लोग आकांक्षा नहीं करते थे परन्तु
उत्पन्न हो जाने पर उसके साथ सहानुभूति तथा दया दिखलाई जाती थी और उनकी शिक्षा-
दीक्षा का समुचित प्रबन्ध किया जाता था। विश्ववारा, घोषा, अपाला आदि कन्याओं
को तो इतनी उच्च-कोटि की शिक्षा प्राप्त हुई थी कि वे वैदिक सूक्तियों की भी रचना कर सकती
थीं। कानून की दृष्टि में स्त्रियाँ स्वतंत्र नहीं होती थीं और उन्हें अपने पुरुष सम्बन्धियों के
आश्रय में रहना पड़ता था। पत्नियाँ गृह स्वामिनी मानी जाती थीं और सभी धार्मिक
कृत्या में अपने पति के साथ भाग लेती थीं। घर में स्त्रियों का बड़ा आदर होता था। इन
दिनों पर्दे की प्रथा न थी और स्त्रियाँ यज्ञ तथा धार्मिक कृत्यों में सम्मिलित हो सकती
थीं। इस काल की स्त्रियों के आचार विचार उच्च-कोटि के थे।

**वेश-भूषा**—ऋग्वैदिक काल के आर्य सुन्दर वेश-भूषा रखते थे। वे मनोहर वस्त्र तथा
आभूषणों से अपने को अलंकृत करते थे। यह लोग प्रायः तीन वस्त्र धारण करते थे। एक
नीचे का वस्त्र होता था जिसे नीवि कहते थे। उनका दूसरा वस्त्र वास अथवा परिधान
कहलाता था। इनका तीसरा वस्त्र अधिवास कहलाता था। इनके वस्त्र रङ्ग बिरंगे होते थे
और ऊनी तथा सूती दोनों प्रकार के होते थे। कुछ वस्त्रों में सोने के काम भी किये रहते थे

जिन्हें वे उत्सव के अवसरों पर प्रयोग किया करते थे। कभी-कभी मृगचर्म के वस्त्र प्रयोग किये जाते थे। स्त्री तथा पुरुष दोनों पगड़ी का प्रयोग करते थे। वे लोग लम्बे बाल रखते थे और कंघी करते थे। सिर में तेल डालते थे और स्त्रियाँ चोटी करती थीं। पुरुष अपने बाल घुंघराली लटों के आकार में रखते थे। यद्यपि दाढ़ी रखने की प्रथा थी परन्तु कुछ लोग दाढ़ी मुड़वा भी देते थे। उत्सव के समय लोग पुष्प-हार पहिनते थे। ऋग्वेदिक काल के आर्य आभूषणों का भी प्रयोग करते थे। इनके आभूषण प्रायः सोने के बने होते थे। कुम्भकर्ण, कान की बाली, कंगन, नूपुर आदि का प्रयोग स्त्री पुरुष दोनों करते थे। [illegible] वस्त्र को कल्याणमन कहते थे जो सोने का होता था और पुरुष लोग पहनते थे। कुरीर [illegible] न्योचना सिर के आभूषण थे जिन्हें कन्यायें पहिनती थीं। खादी नामक आभूषण का प्रयोग भुजबन्द अथवा पायजेब की भाँति किया जाता था। निष्क स्वर्ण आभूषण और [illegible] नामक हीरे अथवा मोती का आभूषण गले में पहिना जाता था। रुक्म नामक आभूषण वक्षस्थल पर पहिना जाता था।

**खाद्य-पदार्थ**—ऋग्वेदिक काल के आर्यों का मुख्य खाद्य-पदार्थ दूध था। दूध को प्रायः स्वाभाविक दशा में ही प्रयोग करते थे अथवा उसमें यव का सम्मिश्रण कर लेते थे। [illegible] या तो भून कर या पीस कर [illegible] [illegible] के साथ खाते थे। [illegible] [illegible] करते थे और माँस-भक्षण भी करते थे। विवाह के अवसर पर तथा अतिथियों के लिए वृषभ की बलि दी जाती थी। साधारण तौर पर बैलों, भेड़ों तथा अजा का माँस भक्षण किया जाता था और देवताओं को अर्पण किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि घोड़ों का माँस केवल अश्वमेध यज्ञ में अश्व की शक्ति तथा चंचलता प्राप्त करने के लिये किया जाता था। साधारण रूप में घोड़े के माँस का प्रयोग नहीं किया जाता था। परन्तु गाय की उपयोगिता के कारण उसे अवध्य माना जाता था और उसका आदर किया जाता था। परन्तु गोमाँस-भक्षण का भी उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि केवल यज्ञ में ही गाय की बलि दी जाती थी और उसका माँस खाया जाता था। इसके अतिरिक्त केवल वन्ध्या गायों की ही बलि दी जाती थी। माँस या तो भून लिया जाता था या मिट्टी अथवा धातु के पात्र में पका लिया जाता था। हमें ऋग्वेद में कहीं इस बात का उल्लेख नहीं मिलता कि आर्य लोग नमक का प्रयोग करते थे।

**पेय-पदार्थ**—ऋग्वेदिक काल के आर्यों के दो प्रधान पेय पदार्थ सोम तथा सुरा थे। सोम का प्रयोग केवल यज्ञों के अवसर पर किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में प्रवेश करने के पूर्व आर्य लोग सोम का बहुत अधिक प्रयोग करते थे। परन्तु जब वे भारत में आये तब उन्हें उस वृक्ष का अभाव मिला जिससे सोम रस उत्पन्न किया जाता था। अतएव इसका प्रयोग भी केवल यज्ञों के अवसर के लिए सीमित कर दिया गया। सुरा एक मादक पदार्थ था जो अन्न से बनाया जाता था। ब्राह्मण लोग सुरा को घृणा की दृष्टि से देखते थे। सुरापान कहीं-कहीं अपराध भी बतलाया गया है। इस काल के लोग नदियों तथा सोतों के जल के अतिरिक्त कृत्रिम कूपों के जल का भी प्रयोग करते थे। कुयें का जल पत्थर के चक्र की सहायता से निकाला जाता था और एक काष्ठ-पात्र में उड़ेला जाता था।

**आमोद प्रमोद के साधन**—ऋग्वेदिक काल के आर्यों के आमोद-प्रमोद के साधन भी अत्यन्त प्रचुर थे। इनके आमोद-प्रमोद का प्रधान साधन रथ-सञ्चालन था। इस [illegible] [illegible]-लिप्सा थी और उन्हें अश्व-प्रेम था। अतएव इस वीर जाति को [illegible] होना स्वाभाविक था। इनके मनोविनोद का दूसरा प्रधान साधन [illegible] में एक जुआरी के विलाप करने का वर्णन है जो सम्भवतः

सर्वस्व जुये में खो बैठा था। द्यूत किस प्रकार खेला जाता था इसका वर्णन कहीं नहीं मिलता। नृत्य तथा संगीत भी मनोविनोद का एक बहुत बड़ा साधन था। कन्याओं के नृत्यों का कई स्थानों पर उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पुरुष भी नृत्य में भाग लेते थे क्योंकि एक स्थान पर नर्तकों की पद धूलि का उल्लेख मिलता है। इस काल का संगीत भी उन्नत दशा में था। इस युग में भिन्न-भिन्न प्रकार की वीणाओं के नाम उपलब्ध हैं। झाँझ को 'आघाट' कहते थे जिसका प्रयोग नृत्य के अवसर पर होता था। मृदंगादि चर्म वाद्य 'दुंदुभि', 'आडम्बर' आदि नामों से प्रसिद्ध थे। बंसी को इस काल के लोग 'तूणव' तथा 'नाडी' कहते थे। तार के वाद्यों का प्रयोग तभी सम्भव होता है जब संगीत उच्च-कोटि का होता है। अतएव यह स्पष्ट है कि इस काल के आर्यों का संगीत उच्च-कोटि का था। आखेट भी इनके मनोविनोद का एक साधन था। यह लोग सिंह, हाथी, सुअर, भैंसे तथा मृग का शिकार करते थे। पक्षियों का भी यह लोग शिकार करते थे। इन भिन्न-भिन्न प्रकार के मनोविनोदों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्य लोगों का जीवन आनन्दमय था। इन लोगों का संगीत सर्वथा आनन्दमय होता था। अतएव इनके गानों में कहीं मृत्यु की ओर संकेत नहीं है और यदि कहीं है भी तो अपने वैरियों की मृत्यु की ओर।

शिक्षा—ऋग्वैदिक काल में शिक्षा मौखिक होती थी। गुरु वेद-मन्त्रों को कहते थे और विद्यार्थी उनकी पुनरावृत्ति करते थे। अतएव स्मरणशक्ति तथा कण्ठाग्र करने की बड़ी आवश्यकता होती थी। कभी-कभी पिता भी अध्यापन का कार्य किया करता था जो अपनी सन्तान के साथ पड़ोस के अन्य बच्चों को पढ़ाया करता था। शिक्षा का प्रधान लक्ष्य बौद्धिक विकास तथा आचरण की सभ्यता होता था। यह अभी तक निश्चित नहीं हो पाया है कि इस युग में लेखन-कला का प्रचार था अथवा नहीं।

औषधि—ऋग्वैदिक काल में कुशल चिकित्साकार भी होते थे। अश्विन औषधि शास्त्र के देवता माने जाते थे जिनमें रोगों के दूर करने की विलक्षण शक्ति थी। रोगों में यक्ष्मा का प्रायः उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद की एक सूक्ति में औषधियाँ प्रायः जड़ी बूटियाँ हुआ करती थीं। चिकित्सा करना एक प्रकार का व्यवसाय बन गया था। सम्भवतः चीर फाड़ का भी काम होता था। दीर्घायु बनाने के लिये प्रार्थना का भी आश्रय लिया जाता था।

मृतक क्रिया—इस काल में आर्य मृतक शरीर को या तो जला देते थे या गाड़ देते थे। दोनों प्रकार की प्रथायें प्रचलित थीं परन्तु विधवाओं को जलाया नहीं जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि सती की प्रथा बाद में उत्पन्न हुई थी।

वर्ण तथा जाति व्यवस्था—वैदिक काल में क्रमशः कुल में वृद्धि होती गई। इस वृद्धि में वर्ण तथा जाति का बहुत बड़ा महत्व था। ऋग्वैदिक काल में जाति व्यवस्था थी अथवा नहीं इस पर विद्वानों में बड़ा मत-भेद है। कुछ विद्वानों के विचार में इस युग में जाति व्यवस्था नहीं थी परन्तु अन्य विद्वान् इनसे सहमत नहीं हैं। परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि आर्यों तथा अनार्यों में आरम्भ से ही अन्तर था और गौर वर्ण तथा ऊँचे डीलडौल के आर्य कृष्ण-वर्ण तथा छोटे डीलडौल के अनार्यों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। आर्यों में भी भिन्न-भिन्न वर्ग उत्पन्न होने आरम्भ हो गये थे। ब्राह्मण तथा राजन्य अथवा क्षत्रिय वर्ग अलग हो गये थे। अन्य साधारण स्वतन्त्र व्यक्ति विश कहलाते थे। पुरुष-सूक्त में ही चार वर्णों का उल्लेख मिलता है जिसमें यह बतलाया गया है कि ब्राह्मण आदि पुरुष के मुख, क्षत्रिय उसकी भुजाओं, वैश्य उसके अंगों और शूद्र उसके चरणों से उत्पन्न हुये हैं। इस प्रकार यद्यपि ऋग्वेद

[illegible]

[illegible] जाता है कि नाटक का खेल भी मनोविनोद का साधन हो गया था। हमें [illegible] का भी उल्लेख मिलता है। वीणागाथिन लोग वीणा बजा कर वीरों की गाथायें गाया करते थे। हमें शततंतु का भी उल्लेख मिलता है जिससे पता चलता है कि [illegible] बाजों में सौ तार लगे होते थे।

**स्त्रियों की दशा में परिवर्तन**—उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों की दशा पहले से भी अधिक बिगड़ गई। राजवंशों में अब बहु-विवाह की प्रथा पूर्णरूप से स्थापित हो चुकी थी और ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य उच्च वर्ग के लोग भी इनका अनुकरण करने लगे थे। इससे रानियों तथा उच्च वर्ग के घरों की स्त्रियों का जीवन कलहपूर्ण रहता था, विशेष कर रानियों का जीवन शोचनीय होता था। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि महिषी अर्थात् प्रधान रानी तथा वावाता अर्थात् राजा की अत्यन्त प्रिय रानी का आदर-सत्कार होता था परन्तु अन्य रानियों की बड़ी अवहेलना होती थी। परन्तु यज्ञ आदि धार्मिक संस्कारों में उन्हें भाग लेने का अधिकार था। अब कन्याओं को दु:ख का कारण समझा जाता था और उनके जन्म से लोग दुखी होते थे। पुत्र के उत्पन्न होने पर अब पहिले से भी अधिक उत्सव मनाया जाता था। परन्तु कन्याओं की शिक्षा पर अब भी ध्यान दिया जाता था जिनमें कुछ ऐसी विदुषी होती थीं कि वे वैज्ञानिक वाद-विवादों में भाग लिया करती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में स्त्रियों को 'सभा' में जाने का अधिकार नहीं था। वैवाहिक बन्धन अब अधिक दृढ़ हो गये थे और बाल विवाह का भी [illegible]

[illegible]

[illegible] नियन्त्रण रहता था। साधारण पिता अपने पुत्र अथवा पुत्री के विवाह की व्यवस्था [illegible]

[illegible]

[illegible] थे। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय इन दो उच्च वर्णों को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे जिनसे [illegible] वैश्य तथा शूद्र वंचित थे। वैश्यों में अब धीरे धीरे उपजातियाँ बनने लगीं। भिन्न-भिन्न व्यवसाय के करने वालों की अब अलग अलग जातियाँ बनने लगीं। अब रथकार साधारण स्वतन्त्र व्यक्ति से हेय समझा जाने लगा। शूद्र स्त्रियों से उत्पन्न लोग भी घृणा की दृष्टि से देखे जाने लगे थे। अनार्यों के अधिक निकट सम्पर्क में आने के कारण रक्त की शुद्धता पर भी अधिक ध्यान दिया जाने लगा। अब विवाह के नियम भी पहिले से अधिक दृढ़ होते जा रहे थे। अब लोग केवल अपनी ही जाति में विवाह कर सकते थे और यदि अपनी जाति के बाहर [illegible]

रियों से सुरक्षित रखने के लिये प्रत्येक घर झाड़ियों अथवा अन्य किसी चीज से घिरा रहता था। मकान लकड़ी तथा बाँस के बने होते थे। गाँव के प्रबन्ध के लिये ग्रामणी होता था जिसके विषय में पहिले उल्लेख हो चुका है। गाँव के प्रबन्ध के लिये एक और पदाधिकारी होता था जिसे ब्रजपति कहते थे। यह एक सैनिक पदाधिकारी प्रतीत होता है।

कृषि—ऋग्वैदिक आर्यों का प्रधान उद्यम कृषि था। कृषि योग्य भूमि भिन्न भिन्न व्यक्तियों तथा कुलों की अलग-अलग होती थी। परन्तु खिल्य अर्थात् चरागाह सब का एक भाग होता था। इस काल के आर्य हल का प्रयोग करना सीख गये थे और अपने खेतों को हल से ही जोतते थे। कृषि योग्य भूमि को उर्वरा अथवा क्षेत्र कहते थे। यह लोग प्रधानतः धान तथा जौ की खेती करते थे। यह लोग खेतों को सींचते थे और खाद का भी प्रयोग किया जाता था। अनाज पक जाने पर उसे हँसिये से काटकर बोझ बाँध लेते थे। खलियान में लाकर उसे भूमि पर पीट कर अनाज अलग कर लेते थे। इसके बाद उसे पीस कर रोटियाँ बनाते थे और दूध, मक्खन अथवा तरकारी के साथ खाते थे। दूध इस काल के आर्यों का प्रधान भोजन था।

पशु पालन—ऋग्वैदिक आर्य कई प्रकार के पशु भी पालते थे। इनमें गाय का सब से अधिक महत्व था क्योंकि यह सभी पशुओं से अधिक उपयोगी होती थी यद्यपि आर्य लोग अन्य पशुओं का माँस खाते थे परन्तु गाय को वे अघन्य मानते थे और उसका आदर करते थे। रात्रि के समय तथा कड़ी धूप में गाय को बाड़े में रखते थे और दिन के शेष भाग में वह स्वतन्त्रतापूर्वक चरती थी। गाय का तीन बार दुहा जाता था। पशुओं को चराने के लिये गोप हुआ करता था। गाय के कान पर ८ का चिह्न होता था। इससे उसे अष्टकर्णी भी कहते थे। हल जोतने तथा गाड़ी खींचने के लिये बैल तथा साँड होते थे। इस काल के आर्यों का दूसरा महत्वपूर्ण पशु घोड़ा था। घोड़े का प्रयोग हल चलाने और गाड़ी खींचने में नहीं किया जाता था। इसका प्रयोग केवल रथों में किया जाता था। रथ सचालन में आर्य बड़े प्रवीण होते थे। यह लोग रथों में बैठकर युद्ध करते थे जिनमें घोड़े जुते रहते थे। मनोविनोद के लिये यह लोग घोड़ों को रथों में जोत कर दौड़ करते थे। इनके अन्य पशु, भेड़, बकरी, गधे तथा कुत्ते थे। कुत्ते रात्रि के समय रखवाली करते थे। परन्तु बिल्ली का पालन इन लोगों ने आरम्भ नहीं किया था।

पशुओं का आखेट—इस काल के लोग पशुओं का आखेट भी करते थे। यह लोग धनुष बाण तथा पाश द्वारा पशुओं का शिकार करते थे। यह लोग सिंह तक को अपने फन्दे में फँसा लेते थे। सुअर का शिकार यह लोग कुत्तों द्वारा करते थे। मृग को गड्ढे में फँसा लेते थे। पक्षियों को भी यह लोग जाल में फँसा लेते थे। भैंसों को यह लोग बाण से मारते थे। कभी-कभी सिंह को भी यह लोग चारों ओर से घेर कर बाणों से मार डालते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि यह लोग पालतू हाथियों की सहायता से अन्य हाथियों का शिकार करते थे परन्तु यह संदिग्ध बात है।

हस्तकारी के कार्य—यद्यपि ऋग्वेद काल के आर्य प्रधानतः कृषि करते तथा पशु पालते थे परन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार के कला-कौशल में भी निपुण थे। तक्षन् अर्थात् बढ़ई रथ तथा गाड़ियाँ बनाना जानते थे। वे लकड़ी पर नक्काशी भी कर सकते थे। चूँकि रथों की युद्ध तथा दौड़ में और गाड़ियों की कृषि में बड़ी आवश्यकता पड़ती थी अतएव तक्षन् का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाता था और उसका बड़ा आदर होता था। गृह निर्माण तथा नावों के बनाने में भी बढ़ई बहुत सहायक सिद्ध होता था। यह सुन्दर-सुन्दर प्याले भी बनाता था और उन पर चित्रकारी करता था। कर्मकार [illegible]

के पात्र बहुत अच्छी तरह बना सकता था। लोहे की तलवार, हल, कुल्हाड़ी आदि भी बनाये जाते थे। कसकार भाँति-भाँति के छुरे, [illegible] तथा सुई [illegible] था। सुवर्णकार भाँति-भाँति के सोने चाँदी के आभूषण बनाया करता था। [illegible] चमड़े की भी सुन्दर सुन्दर वस्तुएं बनती थीं। यह लोग मशक, प्रत्यञ्चा, हस्तत्राणक आदि बनाते थे। सीना-पिरोना, चटाइयाँ बुनना, ऊनी तथा सूती कपड़े [illegible] करना आदि व्यवसाय भी ऋग्वेद काल में होते थे। स्त्रियाँ तथा पुरुष दोनों [illegible] करते थे। कुलाल अर्थात् कुम्हार मिट्टी के बड़े-बड़े बर्तन बनाता था। ऋग्वेद [illegible] के आर्य एक प्रकार की धातु का प्रयोग करते थे जिसे अयस कहते थे। यह धातु कांसा अथवा लोह था यह निश्चित नहीं हो पाया है।

व्यापार—ऋग्वेदिक काल के आर्य व्यापार भी किया करते थे। यह लोग धन [illegible] करने के लिये विदेशों से व्यापार करते थे। लाभ प्राप्त करने के लिये पूजा-पाठ भी [illegible] लोग करते थे। न केवल विदेशों के साथ वरन् अन्तर्देशीय व्यापार भी खूब होता था। [illegible] युग का व्यापार कुछ विशेष लोगों के हाथों में था जिन्हें पणी कहते थे। यह लोग [illegible] थे और अपनी कृपणता के लिये प्रसिद्ध होते थे परन्तु इनमें कुछ सौदागर बड़े दानी होते थे। वाणिज्य में उन दिन विनिमय की प्रथा थी। मुद्रा का प्रयोग अभी नहीं था और लोग वस्तुओं का विनिमय करते थे अर्थात् एक वस्तु के लिये दूसरी वस्तु दिया करते थे। वस्तुओं का मूल्य गौ से आँका जाता था। परन्तु बाद में गौ के [illegible] पर सोना चाँदी का प्रयोग होने लगा। यह लोग निष्क नामक एक सोने की मुद्रा का [illegible] हार आरम्भ कर दिये थे। व्यवसाय की प्रधान वस्तुयें कपड़े, चद्दरें तथा चर्म होते [illegible] आवागमन के प्रधान साधन रथ तथा गाड़ियाँ थीं। रथ में घोड़े और गाड़ियों में बैल [illegible] जाते थे। जंगली मार्गों में व्यापारियों तथा पथिकों को तस्करों तथा डाकुओं और [illegible] पशुओं का भय रहता था। अतएव कभी-कभी इन वनों में आग लगा दी जाती थी।

ऋग्वेदिक काल के आर्यों को समुद्र का ज्ञान था अथवा नहीं इस प्रश्न पर विद्वानों [illegible] बड़ा मत-भेद है। कुछ विद्वानों के विचार में इस काल के आर्यों को समुद्र का ज्ञान [illegible] था। यद्यपि समुद्र शब्द का प्रयोग किया गया है परन्तु इसका तात्पर्य चौड़ी नदी से [illegible] परन्तु अन्य विद्वान् इस धारणा से सहमत नहीं हैं। इनके विचार में इन्हें समुद्र का [illegible] था क्योंकि ऋग्वेद के मन्त्रों में सौ डाँड़ों की नावों पर समुद्र की यात्रा करने वाले व्यापारियों का उल्लेख मिलता है। अतएव अनुमान लगाया जाता है कि विदेशों से जल [illegible] द्वारा भारत का व्यापार उन दिनों भी होता था। इस बात का प्रमाण भी हमें उपलब्ध [illegible] कि तत्कालीन भारतवासियों का सम्बन्ध ईरान तथा बेबीलोन के साथ था। कुछ भी [illegible] यह बात तो निर्विवाद है कि इस काल के आर्य लोग नावों का प्रयोग करते थे चाहे उनसे नदियाँ पार करते रहे हों अथवा समुद्र।

**उत्तर वैदिक कालीन आर्थिक व्यवस्था**—उत्तर वैदिक काल में आर्यों [illegible] आर्थिक व्यवस्था में क्रमशः परिवर्तन होने लगा था। यद्यपि लोग अब भी गाँवों में निवास करते थे परन्तु अब नगरों की सुविधायें भी लोगों को उपलब्ध हो गई थीं। ऋग्वेदिक काल में भूमिपतियों का कहीं नाम न था परन्तु अब बड़े-बड़े भूमिपतियों का विकास आरम्भ हो गया। बहुत से भूमिपति सम्पूर्ण गाँव के मालिक होते थे। परन्तु भूमि का आदान प्रदान अब भी लोक-मत के विरुद्ध था।

कृषि—उत्तर वैदिक काल में कृषि तथा पशु पालन में भी उन्नति हो गई थी। [illegible]

भारी [illegible] हल का प्रयोग होने लगा था। कभी कभी एक हल में चौबीस बैल जुते रहते थे। [illegible] उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रका[illegible]

प्रो० मैकडोनेल ने इस सम्बन्ध में आगे कहा है कि यद्यपि ... नहीं है परन्तु इसकी वाक् सरणि सरल तथा अकृत्रिम है। इसके विचार कल्पना प्राय: सुन्दर और कभी तो महान् होती है। उषा की प्रशमा में ऋ... आर्यों ने बड़ी भावुकता प्रकट की है। निम्न-लिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है कि इस काल की काव्य-कला कितनी उच्च-कोटि की था। ऋग्वेद में लिखा है:—

एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्
अपं द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात्

अर्थात् यह शुभ्र-वर्णा, सुअलंकृता स्नान करके उठी हुई स्त्री की भाँति ... को दिखलाती हुई आदित्य की कन्या उषा शत्रु रूपी अन्धकार को दूर करती हुई ... साथ आती है।

लेखन-कला—ऋग्वेद-काल में लेखन-कला का प्रचार था अथवा ... विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वानों का कथन है कि इस काल में लेखन ... आविष्कार नहीं हुआ था। विद्यार्थी लोग गुरु के मुख से पाठ का श्रवण ... अभ्यास कर लेते थे। इसी से वेदों का नाम श्रुति पड़ा। परन्तु स्वयम् ऋग्वे... प्रचार का भव्य वर्णन है:—

उतत्वः पश्यन् न ददर्श वाचम्। उतत्वः शृण्वन् न शृणोत्ये... 
उतोत्वस्मै तन्वं विसस्रे। जायेव पत्य उशती सुवा...

अर्थात् कुछ ऐसे लोग हैं जो शब्दों को देखते हुये भी नहीं देख पाते अर्थात् ... के कारण लिखित वाक्यों का अर्थ नहीं समझ पाते और कुछ लोग शब्दों को ... नहीं सुनते अर्थात् ध्वनियों को सुन कर भी मूढ़ होने के कारण उनके अर्थ का ... कर पाते। कुछ ऐसे भी पुरुष हैं जिनके समक्ष, पति के समक्ष पतिव्रता स्त्री ... लिपियाँ तथा ध्वनियाँ अपना अभिप्राय व्यक्त कर देती हैं। अतएव यह ... संगत नहीं प्रतीत होती कि ऋग्वेद कालीन आर्य लेखन-कला से अनभिज्ञ ... में श्रुति शब्द का अर्थ है जिसका श्रवण किया जाय। इसके अतिरिक्त ऋग्वे... कई स्थानों पर उल्लेख मिलता है जिसका अर्थ कुछ विद्वान् यह लगाते हैं ... कान पर आठ का अङ्क बना हो। इससे भी पता चलता है कि इस काल के आ... कला का ज्ञान प्राप्त कर चुके थे।

अन्य कलायें—ऋग्वैदिक काल के आर्य गृह निर्माण कला में भी परम ... ऐसे भवनों का हमें उल्लेख मिला है जिनमें सहस्र स्तम्भ लगे रहते थे और ... द्वार होते थे। ऐसी इमारतों का भी उल्लेख है जिनमें सौ दीवार होती थीं। पत्... भी इस युग में बनाये जाते थे। इस काल की इन्द्र की मूर्तियों से अनुमान ... है कि यह लोग मूर्ति-निर्माण कला में भी प्रवीण थे। यह लोग कताई, बुनाई, ... का काम भी बहुत अच्छा करते थे। भिन्न भिन्न धातुओं की भिन्न-भिन्न वस्तु... भी यह लोग जानते थे। लकड़ी के काम में भी यह लोग अत्यन्त प्रवीण थे। ... नृत्य तथा वाद्य-कला का भी इन्हें अच्छा ज्ञान था। युद्ध-कला में भी यह ... प्रवीण थे और आक्रमण तथा रक्षा के अस्त्र शस्त्रों का इन्हें ज्ञान था। ... यह लोग काफी उन्नति कर गये थे। इन लोगों को भिन्न भिन्न प्रकार की ... का ज्ञान था जो रोग नाशक होती थीं। परन्तु इस काल के चिकित्सक मन्त्र-तन्त्र ... होतों को दूर करने का दावा करते थे। शल्य शास्त्र का भी इन लोगों को ... का के विषय में यह लोग उन्नत कर लिये थे। कुछ मर्दों का निरीक्षण इन लो... ... और उन्हें नाम दे दिया था।

**उत्तर वैदिक कालीन कला**——उत्तर वैदिक काल में साहित्य की बड़ी उन्नति
इस युग में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई और [illegible]
[illegible] में नक्षत्रों का [illegible]
[illegible] हो चली थी। [illegible]
से ही वैद्यों का मा [illegible]
न अत्यन्त हीन-दशा में था और रोगों की संख्या तथा प्रकोप बढ़ गया था। ज्वर,
[illegible]

**पूर्व वैदिक कालीन धार्मिक धारणा**—"मानव जाति के इतिहास की
[illegible] दशा के आचार-विचार ऋग्वेद में नहीं मिलते। वेद का धर्म प्रौढ़ विचारों और
भावों से परिपूर्ण है। वेद के ग्रन्थों में आर्य जाति की उन्मेष शालिनी प्रतिभा का
[illegible] प्रतिबिम्ब देख पड़ता है। ऋषियों के धार्मिक विचार उनकी गम्भीर तत्व जिज्ञासा
[illegible] भक्ति-भाव से उत्पन्न हुये थे।" ऋग्वैदिक काल के धार्मिक विचारों पर एक विहङ्गम
डालने पर हमें निम्न-लिखित तथ्य परिलक्षित होते हैं :—

प्रकृति उपासना—प्रकृति की पूजा करते करते ऋषि प्रकृति के नियता, एक अनादि,
[illegible]न्त परमात्मा की उपासना करने लगे। सूर्य, चन्द्र, वायु, मेघ, अरुणोदय, अग्नि आदि
सृष्टि के अद्भुत और सुन्दर पदार्थों में परमेश्वर का वास है, यह भावना ऋषियों के
में दृढ़ हो गई थी। वे प्रकृति के इन भिन्न भिन्न रूपों को सगुण और चेतना-युक्त
[illegible]ते थे और उनकी स्तुति करते थे। धीरे-धीरे प्रकृति के इन भिन्न-भिन्न रूपों से प्रतीयमान
[illegible]ओं में एक ही अखंड और चेतन-सत्ता का अनुभव ऋषियों को होने लगा था। आकाश
जैसे तारे चमकते हैं वैसे ही प्रकृति के ये सब रूप परमात्मा के तेज से चमकते हैं इस
[illegible]वना से प्रेरित होकर वे प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों को और उनमें वास करने वाले प्रभु
रूप को 'देव'—द्योतन-शाल—दीप्तमय—कह कर पुकारते थे।" आर्य-धर्म एक महान
विश्वास करता है। एक सत् विप्रा बहुधा वदन्ति अर्थात् ईश्वर एक है परन्तु विद्वान्
[illegible] भिन्न भिन्न प्रकार से उसका वर्णन करते हैं। वह सर्व-व्यापक तथा शक्तिमान् है।
[illegible]वेद के आर्य प्राकृतिक पदार्थों में ईश्वर की सत्ता का अनुभव करते थे और फलतः
[illegible]ति की उपासना करते थे।

ऋग्वैदिक काल के आर्यों की धार्मिक धारणा की विवेचना श्री अविनाश चन्द्र दास ने
[illegible] प्रकार की है, "विकासमान् आर्यों के मस्तिष्क का विशेष गुण यह था कि उन्हें प्रकाश
[illegible] मानव सुख दायिनी वस्तुओं से प्रेम था। बालकों की भाँति वे प्रकाश की ओर दौड़ते
और अंधकार से दूर भागते थे। नीलवर्ण तथा प्रकाशमान आकाश (द्यौस), जलपूरित
[illegible]िताओं, हरे भरे वनस्पतियों तथा सूर्य प्रकाश से प्रकाशित पृथ्वी, सूर्योदय के पूर्व की
[illegible] के आगमन के पूर्व अंधकार से संघर्ष करता हुआ मलिन प्रकाश (अश्विन),
[illegible]त्रि में नक्षत्रों से परिपूर्ण प्रकाशमान आकाश (वरुण) अंधकार को दूर करने वाली
[illegible] अग्नि, आकाश में वक्र गति से चलने वाली बिजली, प्रकाशमान चन्द्र जो
[illegible] में आकाश को दीप्तिमान बना देता है, समुद्र का विस्तृत तथा प्रकाशमान जल
(वरुण), जीवनदान करने वाला नदियों का जल, वर्षा का जल (आप) जो तृण, अन्न तथा
[illegible] वनस्पतियों को उत्पन्न करता है, वायु जो ताप के कुप्रभाव को दूर करती है आँधियाँ
[illegible] वर्षा के आरम्भ में चलती हैं (मरुत), बिजली जो शब्दायमान, भयंकर, मेघविदारिणी

**नर्जन्मवाद के सिद्धान्त का अनुमोदन**—पुनर्जन्मवाद के सिद्धान्त का भी हमें इस युग में मिलता है। ऋग्वेद की एक सूक्ति से हमें यह ज्ञान प्राप्त होता है रीरव की रचना "पुरुष" से होती है। ब्राह्मण काल में "पुरुष" प्रजापति कहलाने है और बलि विश्व के अस्तित्व के लिये दी जाती है। यज्ञ करने वाला मृत्यु से जाता है और वह अनन्त सुख का भागी होता है। उपनिषदों में भी हमें पुनर्जन्म- ओर संकेत मिलता है। उपनिषद् भी महान् अथवा आत्मन् में विश्वास रखते हैं। यक में लिखा है कि जिसे आत्मन का पूर्ण ज्ञान हो जाता है वह मृत्यु के उपरान्त विहीन हो जाता है। उपनिषदों में लिखा है कि मृत्यु के उपरान्त भी मनुष्य मृत्यु से मुक्त नहीं रहता; परलोक में उसकी कई बार मृत्यु हो सकती है। छान्दोग्य तथा यक इस बात पर सहमत हैं कि वन में तपस्या करने वाला व्यक्ति जिसने महान् प्राप्त कर लिया है, मृत्यु के उपरान्त महान् में मिल जाता है और जन्म मरण हो जाता है। परन्तु जिस व्यक्ति ने केवल अच्छे अच्छे कार्य किये हैं और महान् नहीं प्राप्त किया है वह चन्द्रलोक को जाता है और तब तक वहाँ रहता है जब सके सत्कर्मों के फल समाप्त नहीं हो जाते। इसके उपरान्त वह वनस्पति योनि में फिर मनुष्य योनि में अथवा सीधे मनुष्य-योनि में जन्म लेता है। छान्दोग्य के अनुसार र्म करने वाले कुत्त तथ सुअर की योनि में उत्पन्न होते हैं परन्तु बृहदारण्यक के और यह लोग पक्षियों तथा पशुओं की योनि में पैदा होते हैं। बृहदारण्यक में कर्मवाद भी उल्लेख है अर्थात् मनुष्य का पुनर्जन्म उसके कर्मानुसार निश्चित होता है। इस उत्तर-वैदिक काल में पुनर्जन्मवाद का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया था।

**विद्या का महत्व**—उत्तर वैदिक काल में विद्या अथवा सम्यक ज्ञान पर बहुत जोर गया था। उपनिषदों के कथनानुसार विद्या द्वारा ही महान् तथा परमानन्द की हो सकती है। उपनिषदों में मनुष्य, परमात्मा तथा विश्व के सम्बन्ध के जानने का किया गया है।

**अन्य परिवर्तन**—उत्तर वैदिक काल में भूत-प्रेत, मन्त्र-तन्त्र, जादू आदि में लोगों विश्वास बढ़ता जा रहा था और प्राचीन देवताओं का महत्व घटता जा रहा था और का स्थान नये देवता ग्रहण कर रहे थे। यद्यपि वरुण तथा पृथ्वी का महिमा का वर्णन अथर्ववेद में मिलता है परन्तु इस युग में प्रजापति का महत्व सभी देवताओं से अधिक गया था। कालान्तर में रुद्र का महत्व बहुत बढ़ गया और इन्हें महादेव कहने लगे। पशुपति के नाम से भी पुकारते थे। रुद्र के साथ साथ शिव का भी महत्व बढ़ने । धीरे धीरे शिव को वरुण का स्थान प्राप्त हो गया और ऋषि मुनि इसी के परम- प्राप्त करने की आकांक्षा करने लगे। विष्णु आगे चल कर वासुदेव कहलाने लगे। गवत सिद्धान्त के बीज भी हमें इस युग में उपलब्ध हैं। इस युग में यह धारणा रम्भ हो गई थी कि मनुष्य सत्कर्मों से मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

**वैदिक संस्कृति की विशेषतायें**—ऊपर वैदिक काल की सभ्यता तथा संस्कृति का विशद् वर्णन किया गया है। अब संक्षेप में वैदिक काल की संस्कृति की विशेषताओं का उल्लेख कर देना आवश्यक है। वैदिक काल की संस्कृति की ६ प्रमुख विशेषतायें हैं अर्थात् (१) सहिष्णुता तथा सामञ्जस्य का भाव (२) ओजस्विता अथवा [illegible]

रने में असमर्थ हो जाता था तब राजा स्वयं पाप का भागी समझा जाता था। धियों को शारीरिक दण्ड दिया जाता था अथवा उन्हें देश के बाहर निकाल था। दण्ड देने में जाति का ध्यान रक्खा जाता था। जिस अपराध के लिये यु दण्ड दिया जाता था उसी अपराध के लिये ब्राह्मण को केवल अन्धा बना था। यदि कोई व्यक्ति अपनी स्त्री को त्याग देता था तो उसे गधे की खाल पहन क्तियों के घर पर यह कहकर कि 'स्त्री त्यागी को भिक्षा दे दो' भिक्षा माँगनी और ६ महीने तक यही उसकी जीविका का साधन होता था। इसी प्रकार मद्य- वाले को तप्त द्रव-पदार्थ तब तक पीना पड़ता था जब तक उसकी मृत्यु न हो कारी न्याय व्यवस्था के साथ-साथ 'वैरदेय' अर्थात् क्षति-पूर्ति की प्रथा भी प्रच- इस प्रकार यद्यपि ब्राह्मण की हत्या वैरदेय से अक्षम्य थी परन्तु क्षत्रिय की हत्या क सहस्र गाय, वैश्य की हत्या के लिये एक सौ गाय और शूद्र की हत्या के लिये के देने से अपराध क्षम्य हो जाता था। यह गायें मृतक के सबंधियों को दी जाती ी को उत्तराधिकार का अधिकार नहीं था और न पैत्रिक सम्पत्ति में उन्हें कोई मिलता था। विधवा स्त्री केवल अपने आभूषणों की अधिकारिणी [illegible]

[illegible]

[illegible] —उपनिषदों तथा सूत्रों के काल की सामाजिक दशा पर इस दृष्टि डालने पर हमें निम्नांकित तथ्य परिलक्षित होते हैं :—

टुम्बिक जीवन—सामाजिक संगठन का मूलाधार कौटुम्बिक जीवन ही था। इस भी सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा थी और घर का वयोवृद्ध ही कुटुम्ब का प्रधान होता पः कुटुम्ब का विभाजन भी हो जाया करता था। कन्या की अपेक्षा पुत्र की उत्पत्ति क कामना की जाती थी। कुटुम्ब का प्रधान अन्य सदस्यों के भोजन कर लेने पर भोजन करता था। पिता अपने बच्चों पर बड़ी उदारता रखता था और बच्चे ता को बड़े आदर तथा श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे।

[illegible]

**स्वास्थ्य तथा स्वच्छता**—इस युग में स्वास्थ्य तथा स्वच्छता पर भी वि[illegible]
से ध्यान दिया जाता था। जीवन का लक्ष्य कम से कम १०० वर्ष तक जीवित [illegible]
था। इन लोगों का औषधि की अपेक्षा संयम में अधिक विश्वास था। राज-यक्ष्मा
से लोग प्रायः ग्रसित हो जाया करते थे। कुमार अथवा अपस्मार (मिर्गी) के रोग
बच्चों को प्राय हो जाया करता था लोग बड़े भयभीत रहते थे। इससे श्वग्रह [illegible]
भी पुकारा जाता था। एक अन्य रोग जिससे बालक प्रायः पीड़ित हो जाते
कहलाता था। इसमें रोगी श्वान की ध्वनि की भांति चिल्लाता था। मन्त्र-तन्त्र से [illegible]
दूर करने का प्रयत्न किया जाता था। स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिये व्रत रखने [illegible]
जोर दिया जाता था। गृह्य-सूत्र में स्वच्छता पर बड़ा जोर दिया गया है। प्रति दि[illegible]
करना तथा घर को स्वच्छ रखना नितांत आवश्यक था। फर्श पर जल छिड़कना [illegible]
गोबर से लीपना स्वास्थ्य वर्द्धक समझा जाता था। जल के आस-पास थूकने का [illegible]
था। कूड़ा एकत्रित करने के लिये एक निश्चित स्थान होता था। शौच वहीं कि[illegible]
सकता था जहां घास हो। गोशालायें गाँवों तथा नगरों के बाहर हुआ करती थीं।

**आर्थिक व्यवस्था**—उपनिषदों तथा सूत्रों के काल की आर्थिक दशा [illegible]
विहंगम दृष्टि डालने पर हमें निम्न-लिखित तथ्य परिलक्षित होते हैं :—

**कृषि तथा पशुपालन**—इस युग में अधिकांश लोग गाँवों में निवास करते [illegible]
कृषि तथा पशु-पालन इनकी जीविका का प्रधान साधन था। गाँव का किसान ही [illegible]
का वास्तविक प्रतिनिधि था। जौ की कृषि प्रधानतः इस युग में की जाती थी। [illegible]
मुख्य व्यवसाय कृषि होने के कारण पशुओं का बड़ा महत्व था और अधिक से [illegible]
गायों के रखने का प्रयास किया जाता था। राजा भी असंख्य गायें रखता था [illegible]
दक्षिणा में दिया करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि पशु ही विनिमय के साधन
थे। गायों के दाग लगाने की प्रथा थी। धीरे-धीरे गाय का आदर बढ़ रहा था।

**व्यापार तथा कला-कौशल**—इस युग में वैश्य लोग वाणिज्य-व्यवसाय में
रहते थे। व्यापार में सफलता प्राप्त करने के लिये यह लोग पवन [illegible] नामक [illegible]
थे। ऐसा प्रतीत होता है कि मुद्रा का प्रयोग इस युग में होता था। पाणिनि
[illegible], [illegible] तथा [illegible] नामक मुद्राओं का उल्लेख किया है। [illegible], [illegible]
[illegible] तथा अन्य नामक [illegible] का भी उल्लेख मिलता है। [illegible], [illegible], कुम्हार तथा
[illegible] बनते थे। [illegible] के [illegible] तथा [illegible] के [illegible] का प्रयोग होता
[illegible] था। [illegible]

द्र विषयों का अध्ययन करता है वह पतित हो जाता है। वेदों का अभ्यास न करने
चार का त्याग करने से, आलस्य तथा अन्न दोष से ब्राह्मण नष्ट हो जाता है। समाज
रीर का ब्राह्मण प्राण है। उसके नष्ट हो जाने से समाज नष्ट हो जाता है। ब्राह्मण

भिमान, छल आदि दोषों से दूर रहना
जाने की शक्ति है तब तक उसका कोई
दाहकता शक्ति से हीन अग्नि भस्म
ताप और उसके आर्जव आदि गुण
हैं। इन गुणों से हीन होकर ब्राह्मण
सूर्य स्वयं अस्त होकर भी संसार को
को अत्याचार करने का अवसर प्रदान
समाज को भी पतित बना देता है।
ान की तरह पतन का भी वही कारण
है। ब्राह्मण का जीवन ज्ञान, कर्म और

ाला, उन्नत मस्तक, चमकीली आंखों,

भूमि का आश्रय न अपने खड्ग से शकों और हूणों के रक्त से रञ्जित किया है।
विदेशी आक्रमणकारियों का दर्प दूर किया है। क्षत्रिय वह पुत्र है जो जाति माता की
की रक्षा करता है, रण-भूमि जिसका प्रांगण है, खड्ग जिसका साथी है और
न्त में भी मृत्यु से कंपित नहीं होता है। उस क्षत्रिय पुत्र के अभाव में जातियां
नित होती हैं। दण्ड के पात्र ज्ञान से नहीं शान्त होते। पर्वतों का पंख तोड़ने के
बृहस्पति के ज्ञान का नहीं अपितु इन्द्र के वज्र की आवश्यकता है। दशकण्ठ का
छेदन करने के लिए वशिष्ट की ब्रह्म-विद्या की नहीं राम के बाणों की आवश्यकता
व वह वीर माता तथा वीर पिता का पुत्र, वीर भगिनी का भाई और वीर वधू का
होता है। उसकी रग-रग में वीर रस व्याप्त होता है। वीर भाव के वातावरण में
है, वीरता की कहानियां सुनता है और आत्म-सम्मान पूर्वक जीवित रहता है।
नित होने के बदले वह मृत्यु का स्वागत करता है। इन असाधारण गुणों के कारण
समाज में राजन्य पद से विभूषित होता है। प्रत्येक जाति ने क्षत्रिय पुत्रों को जन्म
है। किसी जाति में जब तक क्षत्रियों की कमी न होगी तब तक उसका जीवन
पद होगा। भय से अथवा दण्ड से शासित रहने वाले लोग क्षत्रियों के अभाव
उपद्रव मचाते हैं। सारा राष्ट्र त्रस्त हो उठता है। बड़े-बड़े कुशल कलाकार, नाटककार
गायनाचार्य इन नर-पशुओं को शान्त नहीं कर सकते। ऐसे अधम्य प्राणियों से
र के त्राण के लिए विधाता ने क्षत्रियों की रचना की है। इन्द्र, पवन, सूर्य, अग्नि,
, चन्द्र और कुबेर का अंश लेकर विधाता ने क्षत्रियों का निर्माण किया है।
रूप क्षत्रिय सबको अपने तेज से अभिभूत करता है। कोई इनका सामना नहीं

[illegible] मे यह उपदेश दिया है। ऋग्वेद में इस आशय का एक मन्त्र मिलता है। ज्ञान और [illegible]नि के उपासकों के अतिरिक्त लक्ष्मी के पुजारियों के वर्ग का भी जहाँ तहाँ आभास [illegible] अर्थ-शास्त्र स्वयम् एक स्वतन्त्र उप- [illegible] रचने वाले ब्राह्मणों और सामाजिक [illegible] वर्ग था। उस वर्ग का नाम वैश्य था। [illegible]य भारतीय समाज शास्त्र की आलंकारिक भाषा में विशालकाय राष्ट्र का जघा बत-[illegible]या गया है। जिस प्रकार हाथ आवश्यक भोज्य अथवा पेय वस्तुओं को, मुख और उदर [illegible]

[illegible] से करने [illegible] जाता था। [illegible] मुक्त थे। [illegible]

[illegible]र्तमान प्रातिनिधि है जो राष्ट्र के मस्तक को निस्सन्देह उन्नतशील बनायेगा।

**शूद्र**—शूद्र समाज रूपी शरीर का चरण है। इसकी अपेक्षा शूद्र विश्वरूप परमात्मा का चरण है अथवा चरण से उत्पन्न हुआ है। यह आलंकारिक कथन भी शूद्र की महिमा का प्रकाशक है। शूद्र महान् तपस्वी है। उसकी सहिष्णुता सराहनीय है। भारतीय विधान में वह चतुर्थ स्थान में रक्खा गया है। तीन वर्णों की निश्छल सेवा उसका धर्म था। सेवा का भार बड़ा गहन होता है। सेवा सामाजिक व्रत है। उसका अनुष्ठान करने वाला शूद्र भी व्रती है। मानव समष्टि भी भगवान का ही रूप है। इसकी सेवा करने वाला कोई प्राणी अपमानस्पद नहीं हो सकता। भगवान की आराधना कर शूद्र भी समृद्ध और समुन्नत हो सकता है। किन्तु उसका नारायण नर प्राणियों के हृदय में निवास करता है। मानव प्राणी शूद्र का सर्वोत्तम साधना मन्दिर है। विशालकाय भारतीय समाज शूद्र के ऊपर ठहरा हुआ है। शूद्र धन्य है। अपने आचरण और शब्दों से उसका कभी अप-मान नहीं करना चाहिये।

**जाति की उत्पत्ति तथा विकास**—जाति तथा वर्ण में अन्तर है। जाति का निश्चय जन्म से होता था परन्तु वर्ण का निश्चय व्यवसाय से होता है। एक वर्ण के लोग एक ही व्यवसाय को करते हैं परन्तु एक ही जाति के लोग भिन्न-भिन्न व्यवसायों को कर सकते हैं। वर्ण व्यवस्था में अस्पृश्यता का आग्रह नहीं रहता परन्तु जाति व्यवस्था में अस्पृश्यता का बड़ा ज़ोर रहता है। वर्ण व्यवस्था में सहभोज तथा अन्तर्वर्णीय विवाह पर प्रतिबन्ध नहीं था परन्तु जाति व्यवस्था में सहभोज तथा अन्तर्जातीय विवाह पर प्रति-बन्ध होता है। जाति व्यवस्था में रक्त की शुद्धता पर बड़ा ध्यान दिया जाता है। [illegible]का मूलाधार जन्म है। रक्त तथा रंग की शुद्धता और धार्मिक तथा सामाजिक रीति

स्था की हुई। जो संस्था अतीत में एक आदर्श संस्था थी वही कालान्तर में इतनी
गई कि इस देश के पतन का कारण सिद्ध हुई। जो वर्ण व्यवस्था एक आदर्श
थी वही जाति-व्यवस्था में परिवर्तित होकर पतनोन्मुख हो गई और कालान्तर में
के लिये विषवत् सिद्ध हुई। जाति-प्रथा की जटिलता ने देश को निर्बल बन
यह व्यवस्था भारत की राजनैतिक तथा धार्मिक एकता के लिये बड़ी घातक
। राष्ट्रीयता का विकास सर्वथा अवरुद्ध हो गया। हिन्दू समाज सहस्रों वर्ग
ग्रों में विभक्त हो गया। इससे विचार-संकीर्णता, स्वार्थपरता तथा ईर्ष्या-द्वे

द्वेष, असन्तोष, जातीय-वर्ग तथा इनसे उत्पन्न अन्य दोषों के कारण भारतवासी
क क्षेत्र में कभी एक न हो सके और सामूहिक रूप से विदेशी आक्रमणकारियों का
न कर सके। जब विदेशियों के आक्रमण हुये तब युद्ध का सम्पूर्ण भार क्षत्रियों को ही
ना पड़ा और ब्राह्मण तथा वैश्य रण स्थल से सदैव अलग रहे क्योंकि युद्ध को वे
कार्य-क्षेत्र नहीं समझते थे। अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबन्ध होने के कारण विवाह
संकुचित हो गया। अतएव रक्त सम्मिश्रण से उत्पन्न होने वाली शारीरिक एवं
क उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो गया। इस प्रकार जाति प्रथा ने हिन्दू समाज की
क एवं मानसिक उन्नति में बाधायें उत्पन्न कर दीं। प्रत्येक जाति का अलग-व्यवसाय
कारण अन्य जाति वाले उन व्यवसायों से वंचित हो गये। अतएव उनका स्वाभाविक
अवरुद्ध हो गया। जाति-व्यवस्था के जटिल बन्धनों के कारण भारतवासी विदेशियों
घनिष्ट सम्पर्क न स्थापित कर सके और उनसे अपना हेल-मेल न बढ़ा सके और
धर्म परिवर्तित कर उन्हें अपने समाज में सम्मिलित न कर सके। जाति के बन्धनों
से हिन्दू धर्म तथा हिन्दू समाज का द्वार विदेशियों के लिये बन्द था। इससे हिन्दू
को बड़ी क्षति पहुँची। जातीय बन्धन के कारण विदेश यात्रा तथा तज्जनित ज्ञान
अनुभव से भारतवासी वंचित रहे। पारस्परिक ईर्ष्या, असन्तोष, जात्याभिमान, ऊँच
भावना आदि के कारण भारतवासी राजनैतिक आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक

भोग नहीं करना चाहिये। अपने लिये भोजन न बनावे। अन्न के लिये यथाशक्ति गाँव में भी प्रवेश न करे। साथ में निर्वाह के लिये मिट्टी अथवा लौकी का पात्र रक्खे। मृत्यु तथा जीवन - दोनों में उदासीन रहे। देख कर पैर रक्खे। वस्त्र से छान कर जल पीवे, मन को सदैव पवित्र रक्खे। निन्दा करने वालों की उपेक्षा करे। कभी किसी का अपमान

इस प्रकार सन्यासी अपने सम्पूर्ण भावों को ईश्वर में लगाकर विश्व-प्रपञ्च से मुक्त हो जाय। सभी ओर ईश्वर भाव से देखें।

इन उपर्युक्त आश्रमों में गृहस्थाश्रम सर्वोत्तम है क्योंकि सभी आश्रमों का वही ... श्रमों के नियमों का ... दस लक्षणों वाले ...

... व्यवस्था के कारण ही आर्य जीवन इतना पूत तथा गौरवपूर्ण था। इस व्यवस्था के अभाव में आर्य-जाति पतनोन्मुख हो चली है। ब्रह्मचर्य के महत्व को सभी स्वीकार करेंगे। भौतिक जीवन को सफल बनाने के लिये शारीरिक तथा मानसिक विकास वाँछनीय हैं। इस आवश्यकता की पूर्ति ब्रह्मचर्य करता है। सांसारिकता में आजन्म लिप्त रहना जीवन का अन्तिम लक्ष्य कदापि नहीं हो सकता। जीवन के अन्तिम भाग में निस्पृह तथा निरीह होकर शान्ति पूर्वक जीवन व्यतीत कर आत्मोत्सर्ग वाँछनीय है। इसकी पूर्ति वानप्रस्थ तथा सन्यासाश्रम से हो सकती है। इस प्रकार वर्णाश्रम व्यवस्था मानव आत्मा के स्वर्गारोहण के लिये सरल सोपान थी।

---

हुआ था। ई० स० की पाँचवी शताब्दी के शिला-लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय भी महाभारत का उतना ही विस्तार था जितना इस समय है। अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाभारत की मूल कथा की रचना अत्यन्त प्राचीन है परन्तु इसके परिवर्धतांश ई० स० पूर्व की चौथी शताब्दी से ई० स० की दूसरी शताब्दी पर्यन्त लिखे गये होंगे।

**रामायण की कथा**—रामायण में श्री रामचन्द्र जी के पवित्र चरित्र का वर्णन है। रामचन्द्र जी महाराज दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र थे। महाराज दशरथ का जन्म इक्ष्वाकु वंश में हुआ था। वे अयोध्या के राजा थे। उनके तीन रानियाँ, कौशिल्या, सुमित्रा तथा कैकेयी थीं। ऋषियों के आशीर्वाद से राजा के चार पुत्र उत्पन्न हुये। कौशिल्या के राम, सुमित्रा के लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न और कैकेयी के भरत थे। इनमें राम सबसे बड़े थे। वृद्धावस्था के प्राप्त होने पर महाराज दशरथ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को युवराज बनाना चाहा। परन्तु महारानी कैकेयी की मन्थरा नामक दासी ने इस शुभ कार्य में विघ्न उत्पन्न करा दिया। महाराज दशरथ की कैकेयी में विशेष अनुरक्ति थी। उन्होंने उसे दो वर देने का वचन दिया था। मन्थरा ने कैकेयी को अब उन दो वरों के माँगने के लिये कहा। अतएव रानी ने एक वरदान से रामचन्द्र जी को चौदह वर्ष का बनवास और दूसरे से भरत के लिए राज-गद्दी माँगा। राजा वचन बद्ध थे। अतएव उन्हें यह दोनों वरदान स्वीकार करने पड़े। परंतु राजा पुत्र शोक को सहन न कर सके और राम के वन जाने के उपरान्त ही वे परलोक को सिधार गये। कैकेयी की भी इच्छा की पूर्ति न हुई। भरत की रामचन्द्र जी में अपार श्रद्धा थी। उन्होंने ज्येष्ठ भाई की अनुपस्थिति में राजसिंहासन पर बैठना स्वीकार न किया। परंतु मन्त्रियों के बहुत समझाने बुझाने पर और रामचन्द्रजी की आज्ञा से ज्येष्ठ भाई की चरण-पादुका को सिंहासन पर रखकर उसी की आज्ञा से एक निरीह तपस्वी का जीवन व्यतीत कर चौदह वर्ष तक प्रजा के हित में राज-काज सभालते रहे।

रामचन्द्र जी का विवाह मिथिला के राजा जनक की कन्या सीता के साथ हुआ था। राम के वन जाते समय सीता ने ऐसे तर्क उपस्थित किये कि विवश होकर राम को उन्हें अपने साथ ले जाना पड़ा। लक्ष्मण की राम में अपार श्रद्धा थी। अतएव राम के साथ वह भी अपनी पत्नी उर्मिला को त्याग कर वन को चले गये। रामचन्द्र जी अपने भाई तथा स्त्री के साथ दक्षिण के दण्डक वन को गये और गोदावरी नदी के किनारे पंचवटी नामक स्थान में कुछ दिनों तक निवास किया। वहाँ मुनियों के पवित्र आश्रम थे। राक्षस लोग इन तपस्वियों की तपस्या में विघ्न उत्पन्न किया करते थे। रामचन्द्रजी ने अपने भाई के साथ इन राक्षसों का दमन आरम्भ किया। इससे राक्षस इनसे बहुत असन्तुष्ट हुये और उन्हें कष्ट पहुँचाने का उपाय सोचने लगे। लङ्का का राजा रावण जो बड़ा बलवान् तथा प्रभावशाली था इन राक्षसों का सम्बन्धी था। वह भी इन दोनों भाइयों से रुष्ट हो गया। इसी बीच में लक्ष्मण ने रावण की भगिनी शूर्पणखा के नाक-कान काट लिये। अब रावण के क्रोध की सीमा न रही और वह बदला लेने का उपाय सोचने लगा। उसने अपने मामा मारीच से स्वर्ण मृग का रूप धारण करने के लिये कहा और स्वयम् यती का रूप धारण कर लिया। स्वर्ण-मृग को देखकर रामचन्द्र जी ने धनुष बाण लेकर उसका पीछा किया। लक्ष्मण सीता की रक्षा के लिये वहीं रह गये। परन्तु थोड़ी देर में उन्हें अपने भाई के चिल्लाने का शब्द सुनाई पड़ा। अतएव सीता के आग्रह करने पर वे भी धनुष-बाण लेकर उसी ओर चल दिये जिधर से आवाज आई थी। इसी में रावण यती के वेश में आकर सीता को विमान पर बैठाकर उड़ा ले गया। अब कपटी स्वर्ण मृग लुप्त हो गया। अतएव निराश होकर रामचन्द्र जी अपने भाई लक्ष्मण के साथ अपनी कुटी को लौट आये परन्तु वहाँ सीता को न पाकर बड़े दुखी हुये।

जब राम तथा लक्ष्मण किष्किन्धा वन में सीता को खोज रहे थे उस समय उन
तथा हनुमान से मैत्री हो गई। सुग्रीव के भाई बालि ने अपने भाई का सब कुछ
करके उसे मार कर निकाल दिया था। अतएव सुग्रीव बालि के भय से पम्पापुर में
करता था। रामचन्द्रजी ने बालि को मार कर सुग्रीव को राजा बनाया और बालि
अंगद को युवराज बना दिया। अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिये सुग्रीव ने ह
जामवन्त आदि वानरों की सहायता से सीता की खोज आरम्भ की। हनुमान समु
पार कर लंका गये और अशोकवाटिका में सीता से भेंटकर उन्हें आश्वासन दिया।
उपरान्त लंका को जला कर हनुमान राम के पास लौट आये। युद्ध करने के पूर्व रा
अङ्गद को अपना राजदूत बना कर भेजा परन्तु रावण सन्धि पर उद्यत न हुआ। अ
वानरों तथा राक्षसों में घोर संग्राम हुआ। अन्त में राक्षसों का संहार हुआ और रा
मारा गया। राम ने रावण के भाई विभीषण को लंका का राजा बना दिया और अप
स्त्री सीता को लेकर अपने भाई लक्ष्मण के साथ चौदह वर्ष बाद अयोध्या को लौट आये
भरत ने भाई का बड़े समारोह के साथ स्वागत किया और उन्हें उनका राज्य लौ
दिया। सीता के लंका में अधिक दिनों तक निवास करने के कारण जनता में कुछ अस
न्तोष फैल गया। अतएव सीता की अग्नि-परीक्षा की गई जिसमें वे उत्तीर्ण हुईं। परन्तु
इतने पर भी जनता को सन्तोष न हुआ। अतएव लोक-निन्दा के भय से रामचन्द्रजी ने
सीता को वनवास दे दिया। सीता जी ने वाल्मीकि मुनि के आश्रम में शरण ली जहाँ लव
तथा कुश नामक पुत्रों को उन्होंने जन्म दिया। जब राम ने अश्वमेध यज्ञ किया तब इन
दोनों बालकों ने घोड़े को बाँध लिया और रामचंद्र जी से घोर संग्राम किया। अन्त में राम
ने अपने इन दोनों पुत्रों को स्वीकार किया और उन्हें अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया।

**रामायण का महत्त्व**—वाल्मीकीय रामायण संस्कृत का एक अनुपम ग्रन्थ है।
रामायण वैदिक आचार नीति का एक उदाहरण ग्रंथ है। एक वैदिक धर्मानुयायी का
ण कैसा होना चाहिये, रामायण इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है। यह भारतीय भाषा
ा सर्व प्रथम महाकाव्य है। बहुत कम ऐसे हिन्दू होंगे जिन्हें रामायण की कथा ज्ञात न
हो। यह एक सजीव तथा लोक प्रिय ग्रंथ है। यह एक अत्यन्त लोकोपकारी रचना
वन की कोई ऐसी परिस्थिति नहीं है जिसका चित्रण रामायण में नहीं है। इसमें आ
रित्रों का समावेश है जिसके अनुकरण से विश्व के नर-नारी अपने व्यक्तित्व को ऊँचा
ते हैं। यदि हम रामायण को एक [illegible] ग्रन्थ कहें तो कुछ अनुचित न होगा। इ
स ग्रंथ को [illegible] से भारतीय जनता शताब्दियों से शांति तथा आश्वासन पाती
है। संस्कृत के अन्य विद्वानों ने रामायण की कथा के आधार पर अपनी रचनायें
ायण की महत्ता को स्वीकार किया है। भारतीय साहित्य तथा संस्कृति को रामायण
तथा अमर कृति है। यह [illegible] कठिन है कि राम की कथा में कोई ऐतिहासिक
है अथवा नहीं। [illegible] के विचार में रामायण की कथा [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

बिल्कुल अनैतिहासिक बना देना बहुत बड़ी कल्पना होगी। उनका उल्लेख बौद्ध 'दशरथ जातक' में उपलब्ध है जिसमें वह दैवी गुणों से विहीन साधारण स्वरूप में मिलते हैं। यह भी ज्ञात है कि आर्यों के पूर्व में बढ़ने के समय से ही मध्यदेश में कोशल का महत्वपूर्ण राज्य था। अतएव राम एक वास्तविक व्यक्ति थे जो अयोध्या के इक्ष्वाकु राजवंश के थे और जिन्होंने अपनी युद्ध तथा शांति के काल की प्रतिभा से लोक-मत को अत्यंत प्रभावित किया था।"राम तथा सीता का नाम वैदिक साहित्य में भी मिलता है परन्तु मनुष्य के रूप में नहीं। इनका इक्ष्वाकु तथा विदेह वंशों से कोई सम्बन्ध नहीं है। ब्राह्मण तथा अन्य ग्रंथों में रावण का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। महाकाव्यों में सर्व प्रथम रावण का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में रावण का उल्लेख मिलता है। प्रो० आर सी मजू-

[illegible]

ने जो अपने को इक्ष्वाकु वंश का मानते थे यह प्रश्न विवादपूर्ण रहेगा।"चाहे रामायण का कोई ऐतिहासिक महत्व न हो परन्तु इसका साहित्यिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से बहुत बड़ा महत्व है यह बात निर्विवाद है। यह हिन्दू जाति का एक अमूल्य रत्न है।

**महाभारत की कथा**—महाभारत में कौरवों तथा पाण्डवों के संघर्ष का चित्रण किया गया है। प्राचीन काल में चन्द्र वंश में भरत दौष्यन्ति अथवा भरत नाम के एक बड़े प्रतापी राजा हुए थे। कौरव तथा पाण्डव दोनों ही भरत वंशी थे। अत वे भारत कहलाते थे। महाभारत की रचना कौरवों तथा पाण्डवों को लक्ष्य करके की गई थी। अत भारतों की गाथा होने के कारण इस ऐतिहासिक आख्यान ग्रन्थ का भी नाम भारत पड़ा। महाभारत शब्द में भारत शब्द के साथ महा शब्द का प्रयोग सम्मानार्थ किया गया है। भारत लोग हस्तिनापुर में राज्य करते थे। हस्तिनापुर के राजा शान्तनु के तीन पुत्र थे—भीष्म चित्राङ्गद तथा विचित्रवीर्य। भीष्म ने आजन्म ब्रह्मचारी रहने का प्रण किया था। चित्राङ्गद किसी युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुये थे। अतएव शान्तनु की मृत्यु के उपरांत विचित्रवीर्य सिंहासनारूढ़ हुये। विचित्रवीर्य के दो पुत्र थे। बड़े पुत्र का नाम धृतराष्ट्र और छोटे का पाण्डु था। धृतराष्ट्र जन्म के ही अन्धे थे। अतएव पिता की मृत्यु के उपरान्त पाण्डु राजसिंहासन पर बैठे और शासन सूत्र को अपने हाथों में लिया। पाण्डु के पांच पुत्र थे—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र थे जिनमें दुर्योधन सब से बड़ा था। दुर्भाग्यवश पाण्डु की अकाल मृत्यु हो गई। अतएव विवश होकर धृतराष्ट्र को शासन प्रबन्ध अपने हाथों में लेना पड़ा। धृतराष्ट्र ने राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा के लिये द्रोणाचार्य नामक ब्राह्मण को, जो शस्त्र विद्या में अत्यन्त प्रवीण थे, नियुक्त किया था। गुरु द्रोणाचार्य के प्रयत्न से पाण्डव शस्त्र-विद्या में सिद्ध-हस्त हो गये थे। पाण्डवों का यह शस्त्र कौशल दुर्योधन को असह्य हो गया। अतएव वह उनसे ईर्ष्या-द्वेष रखने लगा। युधिष्ठिर अपनी धर्म निष्ठा तथा सदाचरण के कारण धृतराष्ट्र के विशेष प्रेम-पात्र हो गये थे। अतएव धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को अपना युवराज नियुक्त कर दिया। इससे दुर्योधन की ईर्ष्याग्नि और प्रज्वलित हो गई और वह पाण्डवों के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने लगा। कौरवों के षडयन्त्र से बचने के लिये पाण्डवों को हस्तिनापुर छोड़कर बाहर चला जाना पड़ा। पाण्डव घूमते हुये पाञ्चाल देश में पहुँचे। वहाँ पर उन्हें पाञ्चाल-देश के द्रुपद की कन्या द्रौपदी के स्वयम्बर की सूचना मिली। पाण्डवों ने स्वयम्बर में भाग लिया। अर्जुन धनुर्विद्या में बड़े प्रवीण थे। उन्हें स्वयम्बर में सफलता प्राप्त हो गई। परन्तु द्रौपदी पाँचों भाइयों की अर्द्धांङ्गिनी

बन गई। अर्जुन ने यदुवंशी राजा कृष्ण की बहिन सुभद्रा के साथ भी विवा
जो मथुरा तथा द्वारिका में शासन करते थे। अब पाण्डवों ने धृतराष्ट्र से उन्हें
राज्य लौटा देने की याचना की। धृतराष्ट्र ने कौरव राज्य के दक्षिण में खाण्डव वन
पाण्डवों को दे दिया। जहाँ पर दिल्ली के निकट पाण्डवों ने इन्द्रप्रस्थ नामक नि
नगर बसाया। अपनी प्रतिभा तथा शासन-पटुता के बल से पांडव अपने साम्राज्
अभिवृद्धि करने लगे और उत्तरोत्तर उनकी उन्नति होती गई। कृष्ण के कहने
पांडवों ने मगध के शक्तिशाली राजा जरासन्ध से युद्ध किया और उस पर विजय प्र
की। अब पांडवों का उत्साह बढ़ गया और उन्होंने चारों ओर विजय आरम्भ की। धी
धीरे उनका साम्राज्य अत्यन्त विशाल हो गया। अब युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया
जिसमें दूर-दूर के राजा आमन्त्रित किये गये। पांडवों के इस ऐश्वर्य को कौरव सहन न
कर सके और दुर्योधन की द्वेषाग्नि प्रज्वलित हो उठी। एक दिन हंसी में ही दुर्योधन
युधिष्ठिर को द्यूत क्रीड़ा के लिए आमन्त्रित किया। निष्कपट युधिष्ठिर ने निमन्त्रण
स्वीकार कर लिया। दुर्योधन ने कपट द्वारा जुये में विजय प्राप्त की और युधिष्ठिर का सब
कुछ अपहरण कर लिया। पांडव अपनी स्त्री द्रौपदी को भी जुये में हार गये। दुर्योधन
द्रौपदी को पकड़वा कर भरी सभा में, जिसमें बड़े-बड़े धर्मधुरीण उपस्थित थे,
अपमानित करने का प्रयत्न किया। सारी सभा मौन रही और उस अबला की रक्षा का
किसी ने साहस न किया। पांडवों को द्रौपदी के इस अपमान से बड़ी ग्लानि उत्पन्न हुई।
धृतराष्ट्र ने यह निर्णय किया कि पांडव लोग बारह वर्ष तक वन में निवास करें और एक
वर्ष अज्ञात-वास करें। पांडवों ने वृद्ध राजा की आज्ञा स्वीकार कर ली और तेरह वर्ष
इधर उधर अनेक यातनाओं को सहन करते हुए घूमते रहे। तेरह वर्ष के उपरान्त
उन्होंने कौरवों से अपना राज्य वापस माँगा। परन्तु दुर्योधन सुई के अग्र बराबर
भूमि देने के लिए उद्यत न था। कृष्ण की मध्यस्थता से भी सन्धि न हो सकी। अन्त
में विवश होकर पांडव विग्रह के लिए उद्यत हो गये। अन्त में कौरवों तथा पांडवों की
सेना कुरुक्षेत्र के रण-स्थल में उपस्थित हुई। भारत के सभी प्रसिद्ध राजा एक
या दूसरे दल की ओर से उपस्थित थे। अठारह दिन तक घमासान युद्ध हुआ।
कौरव सेना के सचालक भीष्म, द्रोण, कर्ण जैसे शस्त्राचार्य थे। पांडवों की ओर कृष्ण
थे परन्तु वे निशस्त्र लड़ रहे थे। महाभारत का युद्ध वास्तव में धर्म तथा अधर्म का
युद्ध था। अन्त में धर्म की विजय हुई और अधर्म की पराजय। इस युद्ध में कौरवों
का सर्वनाश हो गया और विजय लक्ष्मी पांडवों को प्राप्त हुई। अब युधिष्ठिर
चक्रवर्ती राजा बन गये। कुछ दिनों शासन करने के उपरान्त उन्होंने शासन
किया। अपने पौत्र परीक्षित को सौंप दिया और अपने भाइयों तथा द्रौपदी के
साथ अरण्य में चले गये और वहीं अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी।

**महाभारत की प्राचीनता**—संस्कृत साहित्य में महाभारत को 'इतिहास पु
वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में इतिहास पुराण विद्या के उल्लेख मिलते
हैं ये विषय उपयोगी समझे जाते थे। इतिहास पुराण के भार
संदेह नहीं किया जाता। यद्यपि विद्यमान् वैदिक ग्रन्थों में कुरुक्षेत्र
मिलता परन्तु ब्राह्मणों, उपनिषदों तथा श्रौत सूत्रों में कौरवों त
संघर्ष का उल्लेख है। यद्यपि वैदिक ग्रन्थों में पांडु नाम का कह
है परन्तु अर्जुन परीक्षित तथा जनमेजय का कई स्थानों पर उल्लेख
सिद्ध होता है कि इतिहास पुराण अत्यन्त प्राचीन है। ऐसा प्रतीत
प्रकार वेदों को ऋषियों ने परम्परा से सुरक्षित रक्खा था उसी प्रकार
की कथा कहने वाले सूत लोगों ने सुरक्षित रक्खा। सम्भवतः ...

तथा महाभारत की रचना उन प्राचीन गाथाओं के आधार पर हुई है जो नाराशंसी के नाम से प्रसिद्ध थीं। अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर दस दिन तक वीरों के गुण-गान होते थे। इन गाथाओं के बहुत कुछ अंश रामायण तथा महाभारत में उपलब्ध हैं। इसमें सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है कि महाभारत तथा रामायण में वर्णित बहुत से चरित्र ऐतिहासिक तथा वास्तविक हैं।

**महाभारत का महत्व**—महाभारत भारतीय नीति का विशाल दर्पण है। गीता जैसा अन्तर्राष्ट्रीय ग्रन्थ महाभारत का ही अंश है। महाभारत पञ्चम वेद कहलाता है। इसमें उपाख्यानों के बहाने से लोक धर्म के अनेक अङ्गों पर प्रकाश डाला गया है। भारतवर्ष के महापुरुष विश्व-मानव के प्रतिनिधि गीता शास्त्र के प्रवक्ता भगवान् श्री कृष्ण, दृढ़प्रतिज्ञ गांगेय भीष्म तथा सत्यवादी युधिष्ठिर जैसे महामानवों की इसमें कथायें हैं। महाभारत भारतीय वीरता, शौर्य, साहस तथा पुरुषत्व की दीप्त गाथा है। इसमें वीर-कथाओं, भव्य-उपाख्यानों तथा धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों का समावेश है। इस ग्रन्थ में उपदेशों का इतना बाहुल्य हो गया है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ उपदेशात्मक हो गया है। इसी से कुछ विद्वानों ने इसे हिन्दू धर्म का वृहत्कोष अथवा 'धर्म शास्त्र' बतलाया है। कुछ विद्वानों ने इसे 'पुराण संहिता' के नाम से पुकारा है। इस अमूल्य ग्रन्थ में शकुन्तला तथा सावित्री, नल तथा शिवि आदि की रोचक गाथायें हैं। इस महाकाव्य में त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति के साधन बतलाये गये हैं। अतएव हम इसे शास्त्र कह सकते हैं। इस विशाल ग्रन्थ में मोक्ष के भी साधन बतलाये गये हैं। अतएव इसे मोक्ष शास्त्र भी कह सकते हैं।

**महाकाव्यों के काल की सभ्यता**—रामायण तथा महाभारत के अध्ययन से हमें तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक दशा का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। प्रायः इन महाकाव्यों के काल की व्यवस्थायें एक सी थीं। अतएव इनका वर्णन एक साथ किया जायगा।

**राजनैतिक दशा**—महाकाव्यों पर आद्योपान्त एक विहंगम दृष्टि डालने पर हमें तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था सम्बन्धी निम्नलिखित तथ्य परिलक्षित होते हैं :—

**राजा**—महाकाव्यों के काल में राजा निरंकुश अथवा स्वेच्छाचारी नहीं होता था। उसे अपने भाइयों, मन्त्रियों तथा प्रजा की इच्छा का ध्यान रखना पड़ता था। राजा को अन्य सङ्घों अर्थात् कुल, जाति, श्रेणी तथा पूग के नियमों का आदर करना पड़ता था। राजा केवल अपनी शक्ति के कारण ही शासन नहीं करता था वरन् उसे दयालु तथा सदाचारी भी होना पड़ता था। जो सम्राट् अपनी प्रजा की रक्षा करने के स्थान पर उसे कष्ट पहुँचाता था वह पागल कुत्ते की भाँति मार डाला जा सकता था। सिंहासन का अधिकारी होते हुये भी यदि युवराज में किसी प्रकार का अभाव होता था तो वह राजसिंहासन पर नहीं बिठाया जाता था और राज-सूत्र उसके हाथ में नहीं दिया जाता था। इसी से विचित्रवीर्य के मरने के उपरान्त धृतराष्ट्र के जन्मान्ध होने के कारण उन्हें राजसिंहासन पर नहीं बैठाया गया वरन् विचित्रवीर्य के छोटे पुत्र पाण्डु को राजा बनाया गया। युवराज का राजतिलक बड़े समारोह तथा विधि विधान के साथ किया जाता था। राजा अपनी प्रजा का नेता समझा जाता था। यद्यपि महाकाव्यों में मन्त्रियों तथा सभासदों का बहुत बड़ा महत्व बतलाया गया है और राजा को बिना इनकी परामर्श के कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं करना चाहिये परन्तु क्रियात्मक रूप में ऐसा प्रतीत होता है कि राजा बिना इनकी परामर्श के जो उचित समझता था वही करता था। यद्यपि मन्त्रियों की परामर्श तथा पुरोहित का आशीर्वाद प्राप्त करके राजा को युद्ध करना चाहिये था परन्तु प्रायः

वह मित्र-राजाओं की परामर्श से युद्ध सम्बन्धी सभी बातों का निर्णय स्वयं
पुरोहित अब वास्तव में राजा को केवल धार्मिक विषयों में परामर्श दिया कर
'सभा' का प्राचीन महत्व समाप्त हो गया था। अब सभा केवल नैतिक विषय
परामर्श दे सकती थी। शक्ति के सामने पुरोहित तथा पुरजन मौन हो जा
भरी सभा में दुर्योधन द्रौपदी का अपमान कर रहा था उस समय बड़े-बड़े
उपस्थित थे परन्तु किसी ने इस अन्याय के विरोध करने का साहस नहीं किया।
सज धज के साथ रहता था। राजा के आमोद प्रमोद के लिये नर्तकियाँ होती थीं
जुआ, आखेट, पशु युद्ध तथा मल्ल-युद्ध राजा के मनोविनोद के विशेष साधन थे
वृद्धावस्था में राजा शासन का भार अपने ज्येष्ठ पुत्र को देकर वन में तपस्या के लि
जाया करता था। राजा दशरथ ने ऐसा ही निश्चय किया था। राजधानी के चारों
मीनारों से युक्त एक दीवार होती थी। नगर की रक्षा के लिये सात खाइयाँ बनी रहती
सड़कों पर पानी छिड़का जाता था और प्रकाश का प्रबन्ध रहता था। राजभवन के
अथवा उसके अन्तर्गत ही न्यायालय का प्रबन्ध रहता था। संगीतालय, द्यूत-कक्ष,
पशु युद्ध-स्थल तथा मल्ल युद्ध स्थल की भी व्यवस्था राजभवन में रहती थी। प्रायः रा
भवन में चार द्वार रहते थे परन्तु कभी कभी नौ या ग्यारह द्वार हुआ करते थे। लंका
आठ द्वार थे। अमीरों तथा धनिकों के लिये सुन्दर भवन बने होते थे। नगर के बहिर्भाग
में व्यापारियों की छावनियां बनी रहती थीं।

**सेना का संगठन**—विदेशी आक्रमणों से प्रजा की रक्षा करना राजा का परम धर्म
होता था। अतएव राजा को एक विशाल सेना रखनी पड़ती थी। सेना के प्रबन्ध के लिये
अलग पदाधिकारी होते थे। सेना चतुरंगिणी होती थी अर्थात् पैदल, घोड़े, रथ तथा हाथी।
इनके अतिरिक्त जल-सेना, गुप्तचर, स्थानीय मार्ग-दर्शक तथा श्रमजीवी भी होते थे। सेना
अक्षौहिणी, वाहिनी आदि भागों में विभक्त रहती थी। युद्ध में व्यूह रचना भी की जाती
थी। अभिमन्यु ने चक्रव्यूह के भंग करने का प्रयत्न किया था। अर्जुन व्यूह भेदन में बड़े
प्रवीण थे। इस युग में एक ऐसे अस्त्र का प्रयोग किया जाता था जिसे शतघ्नी अर्थात् सौ
व्यक्तियों को मारने वाला कहा जाता था। राजा की सभा में उच्च-वर्ण के आर्य तथा साधारण
वर्गों के लोग भी होते थे। सेनापति का पद अभिजात कुलीनों अथवा राजपरिवार के
व्यक्तियों को ही प्राप्त होता था। साधारण वर्ग के आर्य तथा अनार्य भृत्य पैदल सेना
[illegible] थे। रथ चलाने का काम भी यही करते थे। रथ चलाने वाले सूत कहलाते थे। घु
[illegible] तथा हाथियों की सेना में भी यह लोग कार्य करते थे। यह लोग धनुष-बाण, ढाल-
[illegible] आदि से लड़ते थे। शूद्रों को शस्त्र धारण की आज्ञा नहीं थी। सेना में धनुर्धर,
[illegible], गजारोही, रथारोही तथा उपजवर्धक आदि होते थे। चक्र तथा [illegible] की तरह
[illegible] प्रक्रिया से जल उठाने वाले शस्त्रों का प्रयोग होता था। बहुत से लोगों के विचा
[illegible] के सैनिक तोप तथा बारूद का प्रयोग करना जानते [illegible]। परन्तु यह विचार
[illegible] हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह लोग [illegible] अभिमान चक्र तथा वाण
[illegible] जाते थे। एक रथिन का [illegible] प्रदान था। जो सैनिक युद्ध
[illegible] से उनकी [illegible]

[illegible] का धर्म—सैनिकों के कुछ [illegible]

[illegible]

पतिविधि सम्वाद अध्याय
[illegible] की पुत्री [illegible] जाने पर
[illegible]
[illegible] युद्ध करके [illegible]

समर से सुख मिलता है। रण स्थल में मृत्यु हो जाने पर स्वर्ग प्राप्त होता है और यदि शत्रु पर विजय प्राप्त हो गई तो यश प्राप्त होता है। शांति के समय वीर सैनिक अपने सम्राट् के साथ आमोद प्रमोद का जीवन व्यतीत करता था। युद्ध के समय वह यश प्राप्त करने तथा अपने राजा के लिये लड़ता था। महाभारत में जिन राजाओं ने भाग लिया था उनका उद्देश्य केवल यश प्राप्त करना था। यद्यपि आत्म श्लाघा मूर्खता समझी जाती थी परन्तु वीर लोग अपनी तथा अपने कुटुम्ब की वीरता पर गर्व किया करते थे। यदि कोई वीर अपने विरोधी को कैद कर लेता था तो वह एक वर्ष के लिये उसका दास बन जाता था और यदि विजेता उसे छोड़ देता था तो विजेता विजित का गुरु अथवा पिता तुल्य हो जाता था। तृण का दांत में दबाना आधिपत्य की स्वीकृति का सूचक था।

कूटनीति तथा छल-बल का प्रयोग—महाकाव्यों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध में प्रायः कूटनीति से काम लिया जाता था और अनीति के अवलम्ब से वैरी का दमन किया जाता था। रामायण में वालि राम से कहता है "हे स्वामी आपकी सामर्थ्य का कोई दोष नहीं है परन्तु आपने मुझे एक व्याध की भांति मारा है।" रामचन्द्र जी ने बालि को एक वृक्ष की ओट से मारा था। महाभारत में हमें छल तथा कपट के अनेक उदाहरण मिलते हैं। यहाँ तक कि भगवान् कृष्ण भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। जिस समय कर्ण असहाय है उस समय कृष्ण के आदेश से अर्जुन उस पर बाण चलाते हैं। कृष्ण जी यह जानते हुये कि अश्वत्थामा नामक हाथी मरा है आचार्य द्रोणाचार्य का हृदय भग करने के लिये सत्यवादी युधिष्ठिर से मिथ्या-भाषण कराते हैं—'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो'। दुर्योधन तो छल तथा कपट की साक्षात् मूर्ति है। छल तथा कपट से ही उसने द्यूत क्रीड़ा में सफलता प्राप्त की थी। लाक्षागृह का निर्माण करा कर छल से पांडवों को जीवित भस्म कर देने का उसने प्रयत्न किया था। उसने षड्यन्त्र रचकर दस व्यक्तियों से सौगन्ध लेकर उन्हें अर्जुन पर आक्रमण करने के लिये भेजा था। अर्जुन की शक्ति को क्षीण करने के लिये चक्रव्यूह की रचना कर एक निरस्त्र बालक अभिमन्यु को चारों ओर से घिरवा कर उसी ने मरवाया था। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में राजनीति में कूटनीति तथा अनीति का प्रयोग किया जाता था।

मन्त्रि-परिषद् तथा अन्य पदाधिकारी—राजा शासन का प्रधान होता था

मन्त्रियों के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से सहायक तथा परामर्शदाता होते थे। सामन्त युवराज तथा उच्च-वर्ग के लोगों से राजा को बड़ी सहायता प्राप्त होती थी। राजा की सहायता के लिये बहुत से पदाधिकारी भी होते थे। इनमें पुरोहित, चमूपति, द्वारपाल, प्रदेष्टा, धर्माध्यक्ष, दण्डपाल, नगराध्यक्ष, कार्य निर्माणकृत, कारागाराधिकारी, दुर्गपाल आदि प्रधान थे।

शासन-व्यवस्था—ग्राम शासन की सबसे छोटी इकाई होती थी। ग्राम का प्रधान ग्रामणी होता था। इन गाँवों को स्वायत्त शासन की काफी स्वतन्त्रता थी। दस गाँवों के प्रबन्ध के लिये दशग्रामी होता था। बीस गाँवों के प्रबन्ध के लिये विंशति होता था। सौ गाँवों के प्रबन्धकर्त्ता को शतग्रामी कहते थे और हजार गाँवों के पदाधिकारी को अधिपति कहते थे। इन पदाधिकारियों को भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करने पड़ते थे। सरकारी मालगुजारी इकट्ठा करना, अपराधी का पता लगाना और अपने क्षेत्र में शान्ति तथा सुव्यवस्था रखना इन पदाधिकारियों के प्रधान कार्य होते थे। स्थूलकोटि का प

पुरोहित के स्थान पर अब सेनापति का अधिक आदर होने लगा। कभी-कभी कई राज्यों के लिये एक ही पुरोहित होता था। इस प्रकार काशी, कोशल तथा विदेह के ही पुरोहित था। पुरोहित वर्ग में किसी प्रकार का संगठन न था। यह वर्ग

रह गया था। अतएव राजनीति में क्रमशः उनका प्रभुत्व कम होता जा रहा था। ब्राह्मण कई वर्गों में विभक्त हो गये थे जो परस्पर संघर्ष किया करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय अपने-अपने धर्म को त्याग रहे थे। यद्यपि विश्वामित्र क्षत्रिय थे परन्तु उन्होंने मुनि धर्म स्वीकार कर लिया था। इसी प्रकार द्रोणाचार्य ब्राह्मण होते हुये भी क्षत्रिय धर्म को स्वीकार कर लिये थे और युद्ध कला के आचार्य माने जाते थे।

तीसरा वर्ग व्यापारियों का था। व्यापारियों ने अपने को श्रेणियों में सङ्गठित कर लिया था (इनके प्रधान महाजन कहलाते थे। अठारह प्रधान दस्तकारी के लोगों ने अपने को श्रेणियों अथवा वर्गों में विभक्त कर लिया था। प्रत्येक श्रेणी का एक प्रमुख होता था। यह प्रमुख ज्येष्ठक अथवा श्रेष्ठिन के नाम से भी पुकारा जाता था। महाश्रेष्ठिक तथा अनुश्रेष्ठिक का भी हमें कहीं-कहीं उल्लेख मिलता है। सभी श्रेणियों के पदाधिकारियों का प्रधान भाण्डागारिक कहलाता था। इस संगठन के कारण व्यापारी वर्ग का राजनीति में धीरे-धीरे महत्व बढ़ रहा था। व्यापारी वर्ग से न्यून-कोटि के कृषकों का वर्ग था। व्यापारी तथा कृषक दोनों ही वैश्य जाति के अन्तर्गत थे। दोनों आर्य थे। अतएव इनमें अधिक अन्तर न था। कृषकों का व्यापारियों की भाँति कोई अच्छा सङ्गठन न था। व्यापारी लोग प्रायः नगरों में निवास करते थे परन्तु किसान लोग गाँवों में रहते थे। यह आर्यों का सङ्गठन था। इनके नीचे दास-वर्ग था। यह लोग विजित अनार्य थे। यह लोग असभ्य तथा जंगली थे। यह लोग श्रम-जीवी होते थे।

भिन्न-भिन्न वर्गों के कार्य—महाकाव्यों में इन भिन्न-भिन्न वर्गों के कार्य इस प्रकार बतलाए गये हैं, "क्षत्रिय का कर्तव्य जनता की रक्षा करना, ब्राह्मण का भिक्षाटन, वैश्य का पशु पालन, कृषि तथा द्रव्योपार्जन और दास का कार्य श्रम करना है।" गुलाम निर्धन होता था। वह श्रम द्वारा अपना कर चुकाता था क्योंकि उसके पास धन सम्पत्ति नहीं होती थी। चूँकि शूद्र की उत्पत्ति भगवान् के चरणों से हुई है अतएव उसका जन्म ही सेवा के लिये हुआ है। इस काल के लोग इस बात को नहीं समझ सके थे कि शूद्र का भगवान् के चरणों से उत्पन्न होना उसकी महिमा का द्योतक है। त्रैलोक्य पावन सुरसरि जिन चरणों से [illegible] है उन्हीं चरणों से शूद्र भी उत्पन्न हुआ है। भगवान् तो अपने [illegible] करते हैं। हमारे शास्त्रों में बतलाया गया है कि प्रलय काल की [illegible] पर शयन करते हैं और नन्हे बच्चे [illegible] भगवान् के चरणों ने ही अहिल्या [illegible] था। भगवान् की चरण पादुका [illegible] शूद्र के अपावन होने में अन्य जो कुछ [illegible] के कारण वह अपावन है यह कथन

...ले बालकों का विवाह नहीं किया जाता था। राजघरों में विवाह प्राय स्वयंवर द्वारा

[illegible]

...न्हें आदर के साथ राज दरबार में बैठाया करते थे। कन्याओं को भी पिता की सम्पत्ति ...भाग मिलता था। कहीं-कहीं सती की प्रथा का वर्णन मिलता है। पांडु की दो स्त्रियों ...से एक अपने पति के साथ सती हो गई थी। प्रायः विधवाओं का विवाह कर दिया ...ता था। राजाओं महाराजाओं को छोड़कर अन्य लोगों को एक से अधिक विवाह करने ...की आज्ञा न थी। स्त्रियों का आदर्श बड़ा ऊँचा था। सीता, सावित्री, दमयन्ती आदि के ...तीत्व तथा पति प्रेम का आदर्श बड़ा ऊंचा था। परन्तु इस युग की कुलटा तथा व्यभि-...चारिणी स्त्रियों के भी उदाहरण उपलब्ध हैं। सुभद्रा का त्याग तथा पति प्रेम उच्चकोटि ...का था। उर्मिला का त्याग तथा संतोष अद्वितीय था। द्रौपदी आदर्श जीवन सङ्गिनी थी। ...स्त्री का वध महा-पाप समझा जाता था। वह पुरुष की अर्धांङ्गिणी समझी जाती थी।

सोम तथा मदिरा का सेवन—महाकाव्यों के पूर्वार्द्ध में मांस-भक्षण का प्रचार ...क्षत्रियों में बहुत अधिक था। रामचन्द्र जी भी मृगया के लिये जाया करते थे। परन्तु इस ...काल के उत्तरार्ध में मांस-भक्षण घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा था। ऐसा प्रतीत होता ...है कि धीरे धीरे अहिंसा धर्म का प्रचार होता आ रहा था और लोग शाकाहारी होते ...जा रहे थे। इस काल में मद्य-पान का भी प्रचार होता जा रहा था। लोग भिन्न भिन्न ...प्रकार के मादक द्रव्यों का प्रयोग करते थे।

जाति-व्यवस्था—यद्यपि सिद्धांतः जाति पांति का भेद-भाव नहीं था परन्तु क्रियात्मक रूप में जाति प्रथा के बन्धन जटिल होते जा रहे थे। इस काल के दार्शनिकों की धारणा थी, "जाति पांति का भेद-भाव नहीं है। महान् से उत्पत्ति होने के कारण यह सम्पूर्ण विश्व दैवी है। ईश्वर ने सबको समान उत्पन्न किया है। परन्तु अपने कर्मों के कारण मनुष्य भिन्न-भिन्न जातियों में विभक्त है।" इस धारणा का प्रभाव जनता पर पड़े बिना न रहा। महाकाव्यों से हमें पता चलता है कि अन्तर्जातीय विवाह कभी-कभी हुआ करते थे और लोग अपनी जाति के व्यवसाय को भी त्याग देते थे। इस काल के एक

द्धान्तों का विकास हो रहा था और भक्ति-मार्ग पर बड़ा जोर दिया जा रहा था। इस का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है और उसका आगामी जन्म इस जन्म के कार्यों से निश्चित होता है। परन्तु ईश्वर के प्रसाद में भी शक्ति है और यह प्रसाद मनुष्य के कर्म के फल में कुछ परिवर्तन कर सकता है। इस प्रसाद की प्राप्ति भक्ति द्वारा हो सकती है। कृष्ण जी ने गीता में निष्काम कर्म का उपदेश दिया है।

**विज्ञान तथा दर्शन की उन्नति**—इस युग में विज्ञान तथा दर्शन की भी बड़ी उन्नति हुई। खगोल विद्या तथा ज्योतिष में काफ़ी उन्नति हो चुकी थी। वैद्य तथा जर्राह भी काफ़ी संख्या में पाये जाते थे। पशुओं तथा पक्षियों के लिये भी औषधियाँ बनती थीं। औषधियों का मूल्य बहुत अधिक नहीं होता था। इससे साधारण जनता भी उनका प्रयोग कर सकती थी। चीर-फाड़ के यन्त्र इतने अच्छे होते थे कि बालों के भी दो टुकड़े कर सकते थे।

## वैदिक काल तथा महाकाव्यों के काल की सभ्यताओं की तुलना—

[illegible]

[illegible] बहुत बड़ा अन्तर है [illegible] दोनों एक ही देश तथा एक ही जाति की संस्कृतियाँ हैं अतएव इनका मूलाधार एक ही है। वैदिक काल तथा महाकाव्यों के काल की सभ्यताओं की तुलना धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में अलग-अलग करना स्पष्टता तथा बोध-गम्यता के दृष्टिकोण से अधिक श्रेयस्कर होगी।

**धार्मिक क्षेत्र**—वैदिक युग के धर्म से महाकाव्य युग के धर्म में बड़ा अन्तर था [illegible] ऊषा आदि देवताओं [illegible] महाकाव्यों के काल में वीर पुरुष इनका स्थान ग्रहण करने लगे यथा राम, कृष्ण आदि।

वैदिक काल में एकेश्वरवाद था परन्तु महाकाव्यों के काल में त्रिमूर्तिवाद का उत्कर्ष हुआ। जिस प्रकार वैदिक युग में सब देवता एक भगवान् की विभिन्न शक्तियों के सूचक थे उसी प्रकार अब वे भगवान् की तीन मुख्य उत्पादक, संरक्षक तथा संहारक शक्तियों के प्रतीक ब्रह्मा, विष्णु, महेश के विविध रूप बन गये।

वैदिक काल में कर्म-काण्ड पर अधिक बल दिया जाता था। उपनिषदों में ज्ञान की प्रधानता बतलाई गई है। परन्तु महाकाव्यों के काल में भक्ति पर बड़ा बल दिया जाने लगा।

वैदिक काल में पशु-यज्ञ की प्रधानता थी परन्तु महाकाव्यों के काल में पशु-यज्ञ के स्थान पर आत्म-यज्ञ, आत्म-संयम तथा चरित्र शुद्धि पर बल दिया जाने लगा।

[illegible]

अतएव केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य ही मोक्ष के अधिकारी समझे जाते थे परन्तु श्री कृष्ण जी ने भक्ति को मोक्ष का साधन बतला कर स्त्रियों तथा शूद्रों के लिये भी मोक्ष का द्वार खोल दिया।

गीता तथा महा-भारत में धर्म-पालन पर बड़ा बल दिया गया है परन्तु

[illegible] था वरन इसका तात्पर्य ईमानदारी तथा नैतिकता के [illegible] काल में भी था। वास्तव में आचार-शुद्धि तथा धर्म एक दूसरे के पर्या[य] [illegible]

वैदिक विधियों का महाकाव्यों के युग में भी पालन होता था। [illegible] में स्पष्ट निर्देश है। प्रायः सब प्रकार के आपदन तथा विचार के लिये [illegible] समझा जाता था। [illegible] का मत भी महाभारत में स्पष्ट रूप से परिलक्षित [illegible]

सामाजिक क्षेत्र—वैदिक काल में वर्णव्यवस्था थी जिसका मूलाधार कर्म सिद्धान्त था परन्तु महाकाव्यों के काल में वर्णव्यवस्था जातिव्यवस्था का रूप धर रही थी और स्वभाव के स्थान पर जन्म से जाति का निश्चय होने लगा था। यद्यपि द्रोणाचार्य ने क्षात्र-वृत्ति को स्वीकार कर लिया था परन्तु थे वे ब्राह्मण। इसी विश्वामित्र ने ब्राह्मण-वृत्ति को स्वीकार कर लिया था परन्तु थे वे क्षत्रिय। इसी भीष्म पितामह भी सबसे बड़े क्षत्रिय होते हुये भी तत्व ज्ञान के उपदेशक थे। इस [illegible] वैदिक काल का कार्य विभाजन सिद्धान्त [illegible] हो रहा था और क्षत्रिय ब्राह्मणों का [illegible] ब्राह्मण क्षत्रियों का कार्य करने लगे थे।

वैदिक काल में स्त्रियों का जो आदर सम्मान था वह महाकाव्यों के काल में नहीं [illegible] गया था। कौरवों की भरी सभा में द्रौपदी को अनावृत किये जाने का प्रयास इसका ज्वलन्त प्रमाण है। वैदिक काल में सती की प्रथा का कहीं उल्लेख नहीं मिलता परन्तु महाकाव्यों के काल में सती की प्रथा का आरम्भ हो गया था क्योंकि माद्री पाण्डु के साथ सती हो गई थी। वैदिक काल में बाल-विवाह की प्रथा नहीं थी परन्तु महा-काव्यों के काल में इस प्रथा का प्रचार आरम्भ हो गया था। वैदिक काल में पर्दे की प्रथा न [थी] परन्तु महाकाव्यों के काल में इस प्रथा का सर्वथा अभाव न था। रामायण तथा महाभार[त] दोनों में इस बात का सङ्केत है कि स्त्रियाँ साधारणतया अलग रहती थीं और सर्व-साधार[ण] के सामने नहीं आती थीं। जब रामचन्द्र ने लक्ष्मण से सीता को अग्नि परीक्षा के लिये सबके सामने लाने को कहा तब लक्ष्मण आश्चर्य चकित हो गये। इस पर रामचन्द्र जी ने उन्हें समझाया कि सङ्कट, यज्ञ तथा विवाह के समय में स्त्री का दर्शन आपत्ति-जनक नहीं है।

आर्थिक क्षेत्र—वैदिक काल की अपेक्षा महाकाव्यों के युग में धन धान्य की प्रचुरता थी। अतएव आमोद-प्रमोद तथा विलासिता [illegible]

वैदिक काल के लोगों [illegible] ों के काल में बन्द हो गई थी। ही [illegible] र था। अतएव वे लोग गाँवों में [illegible] क जीवन से अधिक [illegible] में बढ़ गया [illegible] ई गई थी।

[illegible] दिक काल में राज्य छोटे-छोटे होते थे। प्रत्येक गण का एक र[ाजा] [illegible] हो जाता था परन्तु महाकाव्यों के काल में बड़े बड़े राज्यों की स्थापना हो गई थी। अब सम्राटों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी और वे सभाओं के परामर्श की विशेष चिन्ता नहीं करते थे। वैदिक काल में हस्ति-सेना का प्रयोग नहीं होता था परन्तु महा-काव्यों के काल में सम्भवतः हस्ति सेना का प्रयोग होने लगा था। अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध नियमों का भी आरम्भ महा-काव्यों के काल से आरम्भ हुआ। कौरवों तथा पाण्डवों ने युद्ध से पहिले ही यह नियम बना लिया था कि निरस्त्र, निष्कवच् तथा युद्ध में पीठ दिखाने वाले शत्रु पर प्रहार नहीं किया जायगा।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक देश तथा एक जाति की सभ्यता होते हुये भी वैदिक काल तथा महाकाव्यों की सभ्यता में पर्याप्त वैषम्य था।

---

## अध्याय १५

# धर्म-शास्त्रों तथा पुराणों का युग

**धर्म-शास्त्र**—धर्म-शास्त्र भारतीय साहित्य का वह अंग है जिसमें तत्कालीन भा
तीय समाज, धर्म, राजनीति तथा व्यवहार (कानून) के ऊपर ब्राह्मण संस्थाओं द्वारा
गई व्यवस्थाओं का विवेचन है। धर्म शास्त्रों ने भारतीय जीवन के विभिन्न अंगों
शताब्दियों से संचालन तथा नियंत्रण किया है। बौद्धों के प्रभाव से देश के सांस्कृति
जीवन में जो विशृंखलता उत्पन्न हो गई थी उसे दूर कर इन ग्रन्थों ने वैदिक संस्कृ
तथा तत्कालीन परिस्थिति में सुन्दर समन्वय स्थापित किया है। यह ग्रन्थ भारतीय व्य
हार (कानून) व्यवस्था के महत्वपूर्ण स्रोत हैं।

धर्म-शास्त्रों की रचना भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न कालों में की थी। इनमें म
का मानव-धर्म शास्त्र सब से अधिक प्राचीन तथा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी रचन
महाकाव्यों के काल में हुई थी अर्थात् यह ग्रन्थ तीसरी अथवा चौथी शताब्दी ई०
लिखा गया था। प्रो० जाली के विचार में इसकी रचना दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी
अथवा उसके पूर्व हुई होगी। मानव धर्म शास्त्र के उपरान्त तीसरी शताब्दी ई० में क्रि
ने विष्णु धर्म शास्त्र की रचना की। इसमें कम से कम १६० श्लोक मनु के हैं। लगभ
चौथी शताब्दी ई० में मिथिला के विद्वान् पंडित याज्ञवल्क्य ने याज्ञवल्क्य स्मृति
रचना की थी। यह ग्रन्थ मानव धर्म-शास्त्र से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध रखता है। पाँच

[illegible]

मानी जाती हैं। इन सब ग्रन्थों के अध्ययन से हमें भारत की तत्कालीन राजनैति
सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था का सुन्दर चित्र मिलता है।

**सामाजिक दशा**—धर्म-शास्त्रों का सिंहावलोकन करने से हमें निम्न-लिखि

[illegible] समाज जाति-प्रथा की नीं
[illegible] अधिकार होते थे। मनु
[illegible] लोगों से कराना, अध्य
[illegible] क्षत्रिय का कर्तव्य शास
[illegible] ता में धन व्यय करना,
करना; धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन, साहस तथा निर्भीकता के साथ युद्ध करना आदि है
वैश्य का कार्य पशु पालन, यज्ञ करना, ब्याज पर धन उधार देना, कृषि तथा व्याप
करना आदि है। शूद्र का धर्म अन्य वर्ण वालों की सेवा करना है। इन धर्मशास्त्रों
वर्ण-शङ्कर जातियों का भी उल्लेख है जिनकी उत्पत्ति अन्तर्जातीय विवाहों त
व्यभिचारों के कारण हुई थी। इनके अतिरिक्त अनार्य लोग भी थे जो म्लेच्छ
श्वपच आदि नामों से पुकारे जाते थे। यह लोग शूद्रों से भी अधिक पतित सम
जाते थे।

**वर्णाश्रम**—धर्मशास्त्रों में वर्णाश्रम धर्म के पालन पर जोर दिया गया है।

का पालन सभी द्विजों को करना चाहिये। ब्रह्मचर्य की अवस्था में विद्यार्थी को अपने
आचार्य के यहाँ वेद, दर्शन, वेदांत आदि का अध्ययन करना चाहिये। यह अध्ययन का
कम से कम १२ वर्ष और अधिक से अधिक ४८ वर्ष होना चाहिये। सम्भवतः केवल
ही इतने दीर्घकाल तक अध्ययन करते थे। क्षत्रियों का अध्ययन काल १६ वर्ष हो
अध्ययन काल के उपरान्त गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना पड़ता था। इस आश्रम में
करके कौटुम्बिक जीवन व्यतीत करना पड़ता था। गृहस्थ को तीन ऋणों से मुक्त
पड़ता था। देव ऋण यज्ञ से, ऋषि ऋण अध्ययन तथा संयम से और पूर्वजों का
सन्तानोत्पत्ति से होता था। गृहस्थाश्रम के उपरान्त वानप्रस्थाश्रम आरम्भ होता
इस अवस्था में सांसारिक जीवन के आमोद-प्रमोद को त्याग कर कन्द, मूल, फल खा
वन में जीवन व्यतीत करना पड़ता था। जीवन के अन्तिम भाग में सत्य की खोज
सन्यास लेना पड़ता था। धर्मशास्त्र के रचने वालों ने आयु के यह चार भाग किये थे औ
प्रत्येक द्विज को इसी प्रकार का जीवन व्यतीत करना चाहिये था परन्तु क्रियात्मक रूप मे
इसका पालन करना सब के लिये दुष्कर कार्य था।

स्त्रियों का स्थान—स्त्रियों के विषय में धर्म-शास्त्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार के विचा
प्रकट किये गये हैं। एक स्थान पर मनु जी ने लिखा है, "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र
देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः।" अर्थात् जहाँ स्त्रियों का आद
किया जाता है वहाँ पर देवता निवास करते हैं परन्तु जहाँ स्त्रियों की पूजा नहीं हो
सभी कर्म निष्फल हो जाते हैं। परन्तु एक अन्य स्थान पर इसके विपरीत विच
ये मनु जी ने कहा है, "स्वभाव नारीणां नराणामिह दूषणम्" अर्थात् स्त्रियों क
भाव है कि वे मनुष्यों को बुराइयों में लगा देती हैं। मनु जी स्त्रियों की स्वतन्त्रता के
नहीं हैं। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है, "पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौव
न्ति स्थविरे पुत्र न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति" अर्थात् कौमार्यावस्था में स्त्री की रक्षा पित
वस्था में पति तथा वृद्धावस्था में पुत्र लोग करते हैं। इस प्रकार मनु के विचार में स्त्र
जीवन पर्यन्त परतन्त्रता में रहना चाहिये। मनु के विचार में स्त्री के विचार स्वार्थ
होते। अतएव वह साक्षी नहीं बन सकती। स्त्री पातिव्रत्य धर्म से भ्रष्ट हो जाने
र डाली जा सकती थी। यदि किसी स्त्री के सन्तान न होती हो अथवा केवल
होती हो तो वह त्यागी जा सकती है। मनु विधवा विवाह तथा नियोग दोनों का
करते हैं। परन्तु नारद इन दोनों का अनुमोदन करते हैं। मनु स्त्री धन का अनुमो
ते हैं। परन्तु यह स्पष्ट रूप से नहीं बतलाया गया है कि विधवा अपने पति की
की उत्तराधिकारिणी बन सकती है अथवा नहीं। याज्ञवल्क्य के विचार में स्त्री
र की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी बन सकती है परन्तु नारद ने स्त्री को इस
से वंचित कर दिया है। सती प्रथा की आज्ञा नहीं थी और विधवाओं की दशा
न थी। पर्दे की प्रथा का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। अष्टाचरण के लिये स्त्री
कर बाहर रक्खा जा सकता था। यही उसके अपराध का दण्ड था परन्तु मनु के
... व्यक्ति द्वारा स्त्री पर नियन्त्रण नहीं रक्खा जा सकता। स्त्री का आदर पुरुषों होने
ही पर होता था। कन्याओं के विवाह के सम्बन्ध में कहीं कहीं विरोधी विचार प्रगट किये
गये हैं। मनु कन्याओं के बाल-विवाह के पक्ष में हैं। कन्या का विवाह, मनु के कथना-
नुसार कम से बारह वर्ष की अवस्था में हो जाना चाहिये। मनु का नियम है कि तीस
वर्ष का वर बारह वर्ष की कन्या के साथ और चौबीस वर्ष का वर आठ वर्ष की कन्या के
साथ विवाह ...
परन्तु मनु का यह भी कथन है कि जब तक सुयोग्य वर न मिले
विवाह न हो। कन्याओं के विवाह के विषय में विरोधी विचार
स्थान पर मनु ने लिखा है, "यदि कोई कन्या किसी भावी वर
किसी अन्य कन्या का दान किया जाता है तो वह दूसरी ...

में दोनों का विवाह कर सकता है।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कन्याओं का विक्रय हो सकता है। परन्तु एक अन्य स्थान पर लिखा गया है, "किसी विद्वान् पिता को अपनी कन्या दान में थोड़ा सा भी धन नहीं लेना चाहिये क्योंकि चाहे वह कम हो अथवा अधिक वह एक प्रकार का विक्रय हो जायगा।" एक अन्य स्थान पर लिखा है, "यदि किसी कन्या के लिये मूल्य दे दिया गया है और मूल्य देने वाले वर की मृत्यु हो जाय तो वह कन्या के उस वर के भाई को दे दी जायगी यदि वह उस कन्या को चाहता है।" परन्तु इसके बाद ही हमें इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि "एक दास को भी अपनी कन्या के लिये मूल्य नहीं लेना चाहिये।" एक अन्य स्थान पर लिखा है कि यदि कोई नीच जाति का आदमी किसी ऊँची से ऊँची जाति की स्त्री के साथ प्रेम करता है तो उसे मृत्यु

उत्तराधिकार—धर्म शास्त्रों में लिखा है कि पिता के सभी पुत्र एक साथ निवास कर सकते हैं और अपने पिता की सम्पत्ति के अधिकारी हो सकते हैं। यदि वह लोग चाहें तो पिता के जीवन काल में सर्व-सम्मति से उसकी सम्पत्ति को परस्पर बाँट सकते हैं। ज्येष्ठ भाई को बड़े होने के कारण कुछ विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं परन्तु यदि वह अयोग्य हो जाय तो वह इन अधिकारों से वंचित हो जाता है। सतान-हीन स्त्री की सम्पत्ति उसके पति की हो जाती है। परन्तु यदि उसका विवाह धर्मानुकूल नहीं हुआ है तब उस स्त्री की सम्पत्ति उसके पिता को मिलेगी। विवाहोपहार तथा भाई, माता तथा पिता से और विवाहोपरान्त पति से जो उपहार मिलता है वही स्त्री धन होता है और उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके बच्चों को मिलता है।

ब्याज—धर्म-शास्त्रों में ब्याज का लेना न्याय-संगत समझा जाता है। ब्याज की दर १५ प्रतिशत वार्षिक बतलाई गई है परन्तु नीच जाति के लोगों से साठ प्रतिशत भी लिया जा सकता है। परन्तु किसी भी दशा में इससे अधिक ब्याज नहीं लिया जा सकता था। ब्याज की दर जाति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की हुआ करती थी।

मजदूरी—मजदूरी प्रायः वस्तु में दी जाती थी, मुद्रा में नहीं। मजदूरों को उपज का पंचमांश प्राप्त होता था। यदि मजदूर पशु-पालन का कार्य करता हो तो जितनी संख्या पशुओं की बढ़ती उसका पंचमांश उसे प्राप्त होता। गायों की देख-भाल करने वाले मजदूरों को दस गायों में एक गाय का दूध मिलता था। मजदूरों को भोजन तथा कपड़ा मिलता था। परन्तु जो मजदूर भोजन तथा कपड़ा नहीं लेता था उसे उपज का तीसरा भाग मिलता था नहीं तो पंचमांश मिलेगा। परन्तु नारद ने साधारण नियम बतलाया है

तेली, दर्जी, रंगरेज, धोबी, कुम्हार, जुलाहा, मोची, बढ़ई, धनुष-बाण के निर्माताओं, मादक द्रव्यों के बनाने वालों, धातु की वस्तुयें बनाने वालों आदि का उल्लेख धर्म-शास्त्रों में मिलता है। इनके अतिरिक्त शिल्पकार, कारीगर आदि थे जो समाज के लिये अत्यन्त उपयोगी समझे जाते थे। साधारण जनता खेती-बारी करती थी परन्तु व्यापार की भी अवहेलना नहीं की जाती थी। व्यापार वस्तु-विनिमय तथा मुद्रा के प्रयोग से होता था। मुद्रा सोने चाँदी की होती थी। वस्तुओं का मूल्य राज्य की ओर से निश्चित रहता था। यदि कोई व्यापारी कम तौलता या अधिक मूल्य लेता तो उसे राज्य की ओर से दण्ड दिया जाता था। अकाल के समय में वस्तुयें बाहर नहीं भेजी जा

...का निर्माण नहीं हो सकता था जिन पर सरकार का पूर्ण...
...री लोग प्राय अनुशासित होते थे। सामान बैलगाड़ियों तथा...
स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा जाता था। नदियों को नावों द्वारा पार कि...

राजनैतिक व्यवस्था—धर्म शास्त्रों का अध्ययन करने से हमें निम्न...
...नैतिक व्यवस्था परिलक्षित होती है :—

राजा—धर्म शास्त्र में अराजकता की बड़ी निंदा की गई है। राज्य प्राय...
...हुआ करते थे। राज्य का प्रधान कोई उच्च वर्ग का होना चाहिये। मनु ने इस...
...जोर दिया है कि राजा का होना आवश्यक है नहीं तो बड़ी गड़बड़ी फैल जायगी...
...को धर्म शास्त्रों में दैव स्वरूप माना गया है और उसकी आज्ञा के पालन पर जोर...
...गया है। मनु ने एक स्थान पर लिखा है, "बालोऽपि नावमंतव्यो मनुष्य इति भूमिप...
...देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥" अर्थात् बालक राजा का भी उसे मनुष्य समझ...
...अपमान नहीं करना चाहिये। वास्तव में वह एक महान् देवता है जो मनुष्य के रूप...
...विद्यमान् है। मनु ने फिर कहा है, "अपने प्रभाव से वह अग्नि, वायु, अर्क, सोम, धर्मरा...
...कुबेर, वरुण तथा इन्द्र है। परंतु राजा निरंकुश अथवा स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता। उसे...
...प्रजा की रक्षा उसी प्रकार करनी चाहिये जिस प्रकार देवता करते हैं। उसे राजदण्ड का...
...प्रयोग धर्म की रक्षा के लिये करना चाहिये। राजा को नियमानुकूल कार्य करना चाहिये।
...वह नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता। जो राजा नियमानुकूल शासन नहीं करता
...उसका नाश हो जाता है। राजा को अपनी प्रजा का पालन करना चाहिये।

मन्त्रि-परिषद्—मनु के विचार में सात-आठ आमात्यों अथवा मन्त्रियों की एक परि-
षद् होनी चाहिये जो राज्य के कार्यों में राजा को परामर्श दे और उसकी सहायता करे। इन
आमात्यों का पद परम्परागत होना चाहिये। यह आमात्य ऐसे होने चाहियें जिनके पूर्वजों
ने राजाओं की सेवायें की हों। राजा का प्रधान मंत्री कोई विद्वान् ब्राह्मण होना चाहिये।

शासन प्रबन्ध—शासन को सुचारु रीति से चलाने के लिये योग्य कर्मचारियों की
व्यवस्था होनी चाहिये। सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति सम्राट को करनी चाहिये। सर-
कारी कर्मचारी वीर तथा साहसी होने चाहिये। राजा को स्वयम् भी वीर तथा साहसी होना
चाहिये और रणक्षेत्र में स्वयम् उपस्थित रहना चाहिये। राजाओं को मारना उसे अपना
परम धर्म समझना चाहिये क्योंकि जो राजा वीरता के साथ युद्ध करता है और अन्य राजाओं
के मारने का प्रयत्न करता है वह स्वर्ग को जाता है। युद्ध में लूट से प्राप्त धन में राजा क...
भी भाग होता है और राजा का यह कर्तव्य है कि वह लूट के माल को अपने सैनिकों में बांटे।
राजा का यह कर्तव्य है कि प्रत्येक गाँव तथा नगर की रक्षा के लिये एक सैनिक पदाधिकारी
तथा सैनिकों की एक टोली रक्खे। प्रत्येक गाँव के लिये एक ग्रामीक होना चाहिये। दस
गाँवों के लिये दशी, बीस गाँवों के लिये विंशी, सौ गाँवों के लिये शतेश अथवा शताध्यक्ष
और हजार गाँवों के लिये सहस्रपति होना चाहिये। ग्रामीक को चाहिये कि अपने गाँव के
सब अपराधों की सूचना दशप अथवा दशी को दे दे। इसी प्रकार दशी विंशतेश अथवा
विंशी को और विंशी सहस्रेश को सूचित कर दे। अपने कर्तव्यों के पालन के बदले में गाँव-
वासियों को प्रतिदिन उसके भोजन की व्यवस्था करनी चाहिये। दशी को इतनी भूमि
मिलनी चाहिये जो एक कुल के लिये पर्याप्त हो। एक कुल के लिये इतनी भूमि आवश्यक
है जो छः जोड़ी बैलों से जोती जा सके। एक विंशी को इतनी भूमि दी जानी चाहिये जो
...पाँच कुलों के लिये पर्याप्त हो। शतेश को एक गाँव मिलना चाहिये और सहस्रेश को एक
...नगर की आय मिलनी चाहिये। यद्यपि सरकारी पदाधिकारी जनता की रक्षा तथा भलाई
...लिये रक्खे जाते हैं परन्तु प्राय: ये कर्तव्य-भ्रष्ट तथा दुष्ट हो जाते हैं। अतएव...
...तथा कार्यों का पता लगाने के लिये एक गुप्तचर विभाग...

एक ही प्रकार के अपराध के लिये यदि साधारण व्यक्ति को एक
तो राजा को एक हजार कार्षापण जुर्माना होगा। इससे यह परिणाम
व्यक्ति जितना ही अधिक ... तिय तथा उच्च कोटि का होता था उ
जुर्माना होता था। किसी की हत्या के लिये एक साँड के साथ सौ गायों
जाता था। यह गायें या तो मृतक व्यक्ति के संबंधियों को या राजा को
दी जाती थी। धर्मशास्त्रों में इस प्रकार का दण्ड-विधान बतलाया गय
वर्ण का व्यक्ति न्यून वर्ण के व्यक्ति का अपमान करे तो हल्का दण्ड हो
जाति का आदमी ऊँची जाति के आदमी का अपमान करे तो उसे भारी द
चारिणी स्त्रियों के लिये बड़ा कठोर दण्ड बतलाया गया है। दीवानी के
पत्ती तथा इकरार का उल्लेख मिलता है। मनु ने केवल धार्मिक अनुष्ठान
साझा-पत्ती का उल्लेख किया है। ब्राह्मण लोग मिल कर अनुष्ठान करते थे
को परस्पर बाँट लिया करते थे। परन्तु याज्ञवल्क्य ने व्यापार तथा कृषि में
का उल्लेख किया है। नारद तथा बृहस्पति ने भी इनका उल्लेख किया है
है कि यह लोग परस्पर किस प्रकार बटवारा करें।

कर—धर्मशास्त्रों में बतलाया गया है कि राज-कर हल्का होना चाहिये
अन्धे, बहरे, लँगड़े तथा लूले कर देने से मुक्त थे। श्रमजीवियों ...
बदले में प्रतिमास एक दिन काम कर देना ...
था। भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर ...

इतिहास पुराण—पुर
... चुका है। यह पाँचवा वेद
... नता पर पुराणों का बहुत
बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त ...

ाथिस्ता
प्राचीन
ोग हमें
विवरण

मिलते हैं। डा० स्मिथ ने इसी से लिखा है "अनैतिहासिक काल की पौराणिक वशावली बहुत कम महत्व रखती है परन्तु ऐतिहासिक अथवा कलिकाल की वशावली बहुत बड़ा महत्व रखती है और भारत के प्राचीन राजनैतिक इतिहास के निर्माण में बड़ी सहायक ...ा इतिहास उपलब्ध है और

...व हुई यह निश्चित रूप से ...की कल्पनायें की हैं। विल्सन ...५ ई० में हुई थी। परन्तु डा० स्मिथ ने इस कल्पना की तीव्र आलोचना की है। इस मत के विरोध में डा० स्मिथ का कहना है, "अलबेरूनी ने जिसने १०३० ई० में भारत का वैज्ञानिक विवरण लिखा था ऋषियों द्वारा निर्मित अठारह पुराणों की सूची दी है और वास्तव में इनमें से तीन अर्थात् मत्स्य, वायु तथा आदित्य पुराणों के अशों को देखा भी था। अतएव यह निश्चय है कि १०३० ई० में अठारहों पुराण आज कल की भांति विद्यमान थे और प्राचीन काल के ऋषियों की कृति माने जाते थे। हर्ष-चरित के रचयिता वाण जिन्होंने इस ग्रंथ की रचना ६२० ई० में की थी पुराणों के अस्तित्व को चार शताब्दी पूर्व प्रमाणित करते हैं। जब वाण आधुनिक शाहाबाद ज़िले में सोन नदी के किनारे अपने घर गये तब उन्होंने सुदृष्टि से वायु पुराण सुना था। डा० फुहरर का विश्वास था कि वह इस बात को सिद्ध कर सकते थे कि वाण ने अग्नि, भागवत तथा मार्कण्डेय और वायु पुराणों का प्रयोग किया था। इसी काल में स्कन्द पुराण के अस्तित्व का स्वतन्त्र प्रमाण मिलता है। इस ग्रंथ की बंगाल पाण्डु लिपि उपलब्ध है जो गुप्त लिपि में लिखी है और प्राचीन शिलालेखों के आधार पर इसका काल सातवीं शताब्दी के मध्य में स्थिर किया जा सकता है। पुराण किसी न किसी रूप में मलिन्दपन्ह के रचयिता को ज्ञात थे जो इन्हें वेदों तथा महाकाव्यों की भांति प्राचीन तथा पवित्र मानता था। मलिन्दपन्ह की रचना २०० ई० के पहिले हुई थी। अतएव पुराणों का अस्तित्व इसके पहिले का है। वायु पुराण में गुप्त साम्राज्य की सीमा का उल्लेख है जो चन्द्रगुप्त प्रथम के काल को सूचित करता है। इससे यह प्रकट होता है कि पुराणों को वर्तमान स्वरूप चौथी शताब्दी ई० में प्राप्त हुआ था।"
पार्जिटर महोदय का कहना है कि केवल भविष्य पुराण मौलिक ग्रंथ है। मत्स्य तथा वायु पुराण इसी के आधार पर लिखे गये हैं। मत्स्य, वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराणों में जो वशावली उपलब्ध है वह भविष्य पुराण से ली गई है। इन तीनों में मत्स्य पुराण सबसे अधिक प्राचीन तथा उत्तम है। पार्जिटर महोदय के विचार में ऐतिहासिक तथ्यों का पहिला ...न आंध्र सम्राट् यज्ञश्री के काल में लगभग दूसरी शताब्दी ई० के अन्त में हुआ
...प्रो० रैपसन का कहना है कि भविष्य पुराण का उल्लेख आपस्तम्ब के धर्म सूत्र में ...े है जो ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी के बाद नहीं लिखा गया था और सम्भवतः भी ...न है। प्राचीन ग्रंथों में हमें इतिहास पुराण बतलाया गया ...वेद। इस प्रकार पुराणों की प्राचीनता अथर्ववेद

...हुई है।

त अथवा भक्ष्य परिणाम है। इसके अवश्यम्भावी होने पर भी जीवन की अपार परम्परा इन परम्पराओं से मुक्त हो जाना मानव जीवन की सार्थकता है। धर्म ही अभ्युदय मुक्ति का सुदृढ़ आधार है। पूर्ण धार्मिक होना ही पूर्ण मानव होना है यह तो सत्य कि जीवन के नश्वर होने पर भी जीवन की गाथायें अमर बनाई जा सकती हैं और इतिहासकार गाथाओं को स्वर्णाक्षरों में अंकित कर उन्हें शाश्वत बना देते हैं। धर्म आत्मा शान्ति देता है। हमारी उत्पत्ति भूमि क्या है? हमारा गन्तव्य क्या है? यह विश्व है? इसका मानव जीवन से क्या सम्बन्ध है? प्राणियों को कष्ट क्यों होता है? यह बड़े गहन तथा जटिल प्रश्न हैं जिनके उत्तर पाये बिना आत्मा को शान्ति नहीं प्राप्त ती। इन प्रश्नों का उत्तर केवल धर्म दे सकता है। धर्म मनुष्य को अहंकार से बचाता जो मनुष्य के पतन का कारण होता है। धर्म उसे सदैव ईश्वर की सत्ता की याद दिलाया करता है। जब मनुष्य निराशा के आघात से विक्षिप्त हो किंकर्तव्यविमूढ़ हो ता है तब धर्म उसे ईश्वर की अनुकम्पा की याद दिला कर उसे आलोक प्रदान करता । धर्म मनुष्य को नैतिक बल प्रदान करता है। सारांश यह है कि धर्म सभी साधनों मूल है।

**धर्म का लक्ष्य तथा साधन**—यद्यपि धर्म के ध्येय सदैव एक से रहते हैं परन्तु

[illegible]

पश्चात भगवद्गीता में भक्ति मार्ग मोक्ष का साधन बतलाया गया है। इस प्रकार हिन्दू में में क्रमशः परिवर्तन तथा परिवर्धन होता चला आ रहा है।

**छठीं शताब्दी ई० पूर्व क्रांति का युग**—छठीं शताब्दी ई० पूर्व धार्मिक क्रांति का युग कहा जा सकता है। यह क्रांति विश्वव्यापी थी। चीन में लुत्जे तथा कन्फ्युशस, [illegible] अन्य दार्शनिक और बेबीलोन में इसीहा धर्म [illegible] इवोनिया के यूनानी द्वीपों में हेराक्लिटस [illegible] और ईरान में जोरास्टर उस समय के प्रचलित आडम्बरों तथा अन्ध-विश्वासों के विरुद्ध आन्दोलन कर रहे थे। इसी काल में भारत में भी एक महान् धार्मिक क्रान्ति आरम्भ हो गई थी। इस भारतीय क्रान्ति के कई कारण थे। वैदिक काल का धर्म अत्यन्त सरल तथा आडम्बरहीन था। परन्तु काल-चक्र ने उसे अत्यन्त जटिल तथा दुरूह बना दिया। वैदिक काल के आर्य प्रकृति की पूजा किया करते थे परन्तु अब प्रकृति पूजा के स्थान पर एकेश्वरवाद का सिद्धांत अनुसरण होने लगा और धार्मिक भावना इतनी उत्कृष्ट हो गई कि साधारण व्यक्ति के लिये यह दुर्भेद्य हो गयी। इसके परिणाम स्वरूप यज्ञ तथा बलिदान का प्रकोप आरम्भ हुआ और धार्मिक आडम्बरों में क्रमशः वृद्धि होने लगी। ब्राह्मणों की सत्ता पूर्ण रूप से स्थापित हो गई और इनका

[illegible]

इस प्रकार शुद्ध तथा सरल हिन्दू धर्म आडम्बरों से आच्छन्न होता जा रहा था। साधारण जनता धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूलती जा रही थी। यज्ञों तथा बलिदानों का विरोध उपनिषद् काल से ही आरम्भ हो गया था और बड़े-बड़े दार्शनिकों ने ज्ञान मार्ग का

# अध्याय १६

# धार्मिक क्रान्ति का युग

**धर्म क्या है ?**—धर्म की परिभाषा दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न प्रकार की है। महर्षि कणाद ने अभ्युदय तथा निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष के [illegible] कर्मों को धर्म माना है। महर्षि जैमिनि ने विधि वाक्य बोधित स्वर्ग आदि के उद्देश्य से किये जाने वाले यज्ञादि शुभ कर्मों को धर्म बतलाया है। [illegible] मीमांसानुमोदित धर्म की विधि और निषेधमयी दो धारायें हैं। विहित कर्मों का [illegible] और निषिद्ध कर्मों का त्याग मीमांसा धर्म का सार है। नैयायिक विहित कर्म के [illegible] और निषिद्ध कर्म के त्याग से उत्पन्न एक अदृश्य एवं अलौकिक शक्ति को धर्म मानते [illegible] मीमांसक इस अदृश्य तत्व को ही संसार-चक्र का नियामक मानते हैं। यदि हम [illegible] कर लें कि धर्म एक पूर्ण मानव व्यक्ति है तो शील को उसका हृदय और आचार को उस[illegible] मस्तिष्क मानना होगा। व्यावहारिक शब्दों में मनुष्य जीवन की उस व्यापक नीति [illegible] धर्म कहते हैं जिसके पालन करने से मनुष्य पूर्ण मनुष्य बनता है। जिस जाति की भाव[illegible] नीति जितनी ही वैज्ञानिक और भावना जितनी ही उदार होगी सभ्यता के क्षेत्र में [illegible] जाति उतनी ही उन्नत समझी जायगी। इस नीति और भावना का समन्वित रूप धर्म का स्वस्थ आकार है। सम्राट् मनु ने धर्म की बड़ी भव्य परिभाषा की है "विद्वद्भिः सेवितः सद्भिः नित्यमद्वेष रागिभिः हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥" अर्थात् अपने देश के राग द्वेषहीन सदाचारी विद्वान् जिसका अनुष्ठान करते हैं और अपना हृदय भी जिसे स्वीकार करता हो वही धर्म है। अपने चारों ओर किसी चेतन साक्षी की सत्ता का अनुभव करते हुए राष्ट्र, समाज तथा प्रकृति के नियमों का पालन करना, शरीर, मन, बुद्धि तथा चित्त को स्वच्छ रखना, मन से भला सोचना, [illegible] से प्रिय तथा उचित भाषण करना, दूसरों को अवनत [illegible] असत् से सत् की ओर, अन्ध[illegible] [illegible] भारतीय धर्म का संक्षि[illegible] [illegible] धृति, क्षमा, दमोऽस्तेयं, [illegible] धर्म।' अर्थात् धृति (धैर्य), [illegible] शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध [illegible] धर्म के लक्षण हैं।

**धर्म का महत्त्व**—धर्म का मानव जीवन में बहुत बड़ा महत्व है। जिस प्रक[illegible] किसी चीज के विकास के लिये उर्वर भूमि, जल तथा रक्षा भित्ति की आवश्यकता होती [illegible] उसी प्रकार मानव जीवन को विकसित तथा उन्नत बनाने के लिये धर्म एक दैवी आविष्कार [illegible]। धर्म तो मानवता की परिष्कृत परिभाषा है। धर्म रहित जीवन मृत्यु का पूर्व रूप है। अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों को समझना तथा उनका उपभोग और पालन करना ही तो [illegible] है। धर्म शास्त्र विश्व के हितैषी महर्षियों का यथार्थ अनुभव है। न उसमें किसी कर्म [illegible] शाश्वत विधान है, न शाश्वत निषेध। देश, काल, पात्र तथा अवस्था भेद से धर्म के भी अनेक रूप हैं। वस्तुतः यह जीवन दीर्घ काल तक चलने वाला एक अभिनय है। इस विशाल रङ्ग स्थल में इस जीवन के बहुमुखी अभिनय का साक्षी स्वयं ईश्वर है। उसकी [illegible]ष्टों में खरा उतरना जीवन नाटक की सफलता है। यह जीवन भी अनेक जीवन का

विकृत अथवा भग्न परिणाम है। इसके अवसान होने पर भी जीवन की अपार परम्परा है। इन परम्पराओं से मुक्त हो जाना मानव जीवन की सार्थकता है। धर्म ही अभ्युदय

[illegible]

दिलाया करता है। जब मनुष्य निराशा के आघात से विक्षिप्त हो किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है तब धर्म उसे ईश्वर की अनुकम्पा की याद दिला कर उसे आलोक प्रदान करता है। धर्म मनुष्य को नैतिक बल प्रदान करता है। सारांश यह है कि धर्म सभी साधनों का मूल है।

**धर्म का लक्ष्य तथा साधन**—यद्यपि धर्म के ध्येय सदैव एक से रहते हैं परन्तु

[illegible]

उपरान्त भगवद्गीता में भक्ति मार्ग मोक्ष का साधन बतलाया गया है। इस प्रकार हिन्दू धर्म में क्रमशः परिवर्तन तथा परिवर्धन होता चला आ रहा है।

**छठीं शताब्दी ई० पूर्व क्रांति का युग**—छठीं शताब्दी ई० पूर्व धार्मिक क्रांति का युग कहा जा सकता है। यह क्रांति विश्वव्यापी थी। चीन में लाओत्से तथा कन्फ्युशस, यूनान में सोक्रेटीज़ तथा उसके समकालीन अन्य दार्शनिक और बेबीलोन में इसीहा धर्म के प्राचीन विचारों को परिशोधित कर रहे थे। इयोनिया के यूनानी द्वीपों में हेराक्लिटस अपने नये सिद्धांतों का प्रचार कर रहे थे और ईरान में ज़ोरास्टर उस समय के प्रचलित आडम्बरों तथा अन्ध-विश्वासों के विरुद्ध आन्दोलन कर रहे थे। इसी काल में भारत में भी एक महान् धार्मिक क्रान्ति आरम्भ हो गई थी। इस भारतीय क्रान्ति के कई कारण

[illegible]

में क्रमशः वृद्धि होने लगी। ब्राह्मणों की सत्ता पूर्ण रूप से स्थापित हो गई और इनका ढोंग भी धीरे-धीरे बढ़ने लगा। ब्रह्मा, विष्णु, तथा महेश की कर्ता, भर्ता तथा हर्ता इन तीन देवताओं के रूप में पूजा आरम्भ हो गई। शैव की अभिवृद्धि के साथ-साथ नाग तथा लिङ्ग की भी पूजा आरम्भ हो गई। भूत, प्रेत आदि में भी लोगों का विश्वास बढ़ने लगा। इस प्रकार शुद्ध तथा सरल हिन्दू धर्म आडम्बरों से आच्छन्न होता जा रहा था। साधारण जनता धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूलती जा रही थी। यज्ञों तथा बलिदानों का विरोध उपनिषद् काल से ही आरम्भ हो गया था और बड़े-बड़े दार्शनिकों ने ज्ञान मार्ग का

छठी शताब्दी ई० पू० की उपर्युक्त धार्मिक क्रान्ति के सम्बन्ध में तीन प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कर देना आवश्यक है। पहिली विशेषता यह है कि सभी सुधार

के

के

ती

[illegible] विशेषता यह है कि इसने स्वतन्त्र विचार तथा अन्वेषण की प्रवृत्ति को बल मिला। इस आन्दोलन ने एक अद्भुत बौद्धिक क्रियाशीलता उत्पन्न कर दी। प्राचीन-विचार प्रणालियों से बाहर निकल कर लोगों ने सोचना आरम्भ किया। इनमें अच्छे, बुरे दोनों विचारक हुये। एक ओर बौद्ध, जैन, भागवत आदि सम्प्रदाय वाले अच्छी विचार धारा के निकले, तो दूसरी ओर चार्वाकों का भी जन्म हुआ जो भौतिक सुख को ही सब कुछ मानते हैं। भारतीय दर्शन के अधिकांश विचारों का प्रादुर्भाव इसी काल में हुआ था।

ने के

यह

था।

[illegible]वर्तिन सम्राट् के नेतृत्व में भारत में राजनैतिक एकता की स्थापना का स्वप्न चरितार्थ [illegible]ने लगा। जब यह राजनैतिक एकता का कार्य आरम्भ हुआ, तब १६ महाजनपद मगध [illegible] अवन्ती जैसी राजतन्त्रात्मक व्यवस्थाओं में अथवा लिच्छवि तथा यौधेय जैसी गण[illegible]त्मक व्यवस्थाओं में अपने को संगठित कर लिया था। इन राज्यों में भीषण संघर्ष [illegible] रहा था और सबल राज्य निर्बल राज्य के अस्तित्व को समाप्त कर देने के प्रयास में [illegible] थे। इस राजनैतिक क्रांति का वर्णन आगे किया जायगा। यहाँ पर अभी धार्मिक [illegible]न्दोलनों पर ही विचार किया जायगा।

**जैन धर्म को प्राचीनता**—जैन धर्म के जन्म के विषय में बहुत दिनों तक [illegible]द्वानों में बड़ा मत-भेद था। कुछ विद्वान जैन-धर्म को बौद्ध-धर्म से अधिक प्राचीन

[illegible] गये थे। ऋषभदेव के काल का ठीक-ठीक पता नहीं चलता परन्तु इसमें सन्देह नहीं [illegible] इनका काल अत्यन्त प्राचीन काल था। जैनियों के तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ जी थे [illegible]नकी मृत्यु महावीर स्वामी से २५० वर्ष पूर्व हुई थी। इसका यह तात्पर्य है कि पार्श्वनाथ [illegible] ऐतिहासिक व्यक्ति थे और इनका युग ईसा के पूर्व आठवीं शताब्दी था। पार्श्वनाथ [illegible]शी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे जो क्षत्रिय थे। तीस वर्ष की अवस्था तक पार्श्वनाथ ने [illegible]ोग विलास तथा आमोद-प्रमोद का जीवन व्यतीत किया। इसके उपरान्त राज सम्पदा [illegible] त्याग कर उन्होंने सन्यास धारण कर लिया। कहा जाता है कि ८४ दिन के मनोयोग [illegible] उपरांत उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था। इसके पश्चात् ७० वर्ष तक सन्यासी का जीवन [illegible]यतीत करने के उपरांत उन्हें सम्मेत पर्वत पर निर्वाण प्राप्त हुआ था। पार्श्वनाथ जी के [illegible]ार प्रधान उपदेश थे अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) तथा अपरिग्रह (धन-[illegible]याग)। पार्श्वनाथ ने अपने अनुयायियों को वस्त्र-धारण करने का निषेध नहीं किया था। [illegible]जैन-धर्म वास्तव में अहिंसा धर्म है। बहुत से विद्वानों का मत है कि हिंसा धर्म तथा अहिंसा धर्म वैदिक काल से ही चले आ रहे हैं। वैदिक धर्म हिंसा धर्म है। वैदिक काल

निरीश्वरवादी कहना ठीक नहीं है। यद्यपि जैन लोग ईश्वर को जगत्कर्ता नहीं मानते परन्तु उसके अस्तित्व को मानते हैं और उसे सर्वज्ञ तथा वीतराग बताते हैं। अन्य विद्वानों का कहना है कि जैन लोग ईश्वर में विश्वास नहीं करते। वे तीर्थंकरों की पूजा करते हैं जिनकी आत्मा को सभी बन्धनों से मुक्ति प्राप्त हो गई है और जो अपने स्वयम् के प्रयत्न से मुक्त, पूर्ण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा सर्व-दुःख रहित हो गये हैं। प्रत्येक जीव जो बन्धन में है इन तीर्थंकरों का अनुकरण कर उन्हीं की भांति बन सकता है। अतएव जैन-धर्म में ईश्वर का स्थान तीर्थंकरों को दे दिया गया है और उन्हीं की पूजा की जाती है। परन्तु यह पूजा दया अथवा क्षमा के लिये नहीं की जाती क्योंकि जैन लोग कर्म में विश्वास करते हैं। अतएव मनुष्य के अपराध क्षमा नहीं किये जा सकते। उसका उद्धार केवल सत्कर्मों द्वारा हो सकता है। इस प्रकार जैन-धर्म स्वावलम्बन की भावना उत्पन्न करता है। इस बात पर सभी विद्वान् सहमत हैं कि जैन लोग ईश्वर को विश्व का कर्ता तथा हर्ता नहीं मानते। जैनी लोग संसार को किसी की कृति नहीं मानते। वे उसे अनादि तथा अनन्त मानते हैं। जैनियों का कहना है कि निर्माणक के सदैव अंग प्रत्यंग होते हैं जिनसे वह निर्माण करता है परन्तु ईश्वर निराकार माना जाता है। तब वह विश्व का निर्माणक कैसे माना जा सकता है।

(२) आत्मा के अस्तित्व तथा अमरत्व में विश्वास—जैन लोग आत्मा के अस्तित्व तथा अमरत्व में विश्वास करते हैं। यह आत्मा सर्वद्रष्टा है परन्तु कर्म के बन्धनों के कारण इसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। आत्मा में ज्ञान होता है और यह क्रियाशील है। यह सुख-दुःख का अनुभव करती है और अपने को तथा अन्य पदार्थों को प्रकाशित करती है। यह शरीर से अलग है। यद्यपि इसकी कोई मूर्ति नहीं होती परन्तु प्रकाश की भांति यह अपना अस्तित्व रखती है। यद्यपि आत्मा स्वभाव से पूर्ण तथा निर्विकार है

[illegible]

हमारे कर्म से होता है। भिन्न-भिन्न कर्मों से भिन्न-भिन्न बातों का निश्चय होता है। इस प्रकार गोत्र-कर्म से वंश का और आयु कर्म से जीवन की अवधि का निश्चय होता है। इसी प्रकार और भी कर्म होते हैं। जो कर्म ज्ञान को आच्छादित कर लेता है उसे ज्ञानावरणीय कहते हैं, जो विश्वास को आच्छादित कर लेता है उसे दर्शनावरणीय और जो मोह उत्पन्न करता है उसे मोहनीय कहते हैं। आत्मा को क्रोध, मान (अहंकार) माया तथा लोभ बन्धन में डालते हैं। यह बन्धन में डालने वाली वस्तुयें कषाय कहलाती हैं। यह आत्मा का बन्धन दो प्रकार का होता है—एक को भाव बन्धन कहते हैं और दूसरे को द्रव्य-बन्धन। जब मनुष्य के हृदय में बुरे विचार आरम्भ होते हैं तब उसकी आत्मा का भाव-बन्धन आरम्भ हो जाता है और जब वह अपने दुर्विचारों को दुष्कर्म में परिणत कर देता है तब उसकी आत्मा द्रव्य बन्धन में पड़ जाती है।

(४) विषयों का विनाश आवश्यक—आत्मा के इस कर्म के बन्धन से मुक्त होने का उपाय भी जैन लोग बतलाते हैं। जैनियों के विचार में संसार के विषय हमारी इन्द्रियों द्वारा आत्मा में प्रविष्ट होकर उसे मलिन कर देते हैं। इन विषयों का प्रवाह (आस्रव) आत्मा में बार-बार होता रहता है। इस आस्रव को रुकना या रोकना अर्थात् 'संवर' करना ही कर्म बन्धनों से मुक्त होने का साधन है। परन्तु केवल नये विषयों के आस्रव को रोकने से ही कर्म बन्धनों से मुक्ति न मिलेगी। जो विषय आत्मा में प्रविष्ट हो चुके हैं उनका विनाश (निर्जरा) भी आवश्यक है।

जार देते हैं। ... लोभ के वशाभूत हो जाता है। ...—जैनियों के विचार में अज्ञानता के कारण

तीर्थङ्करों के उपदेशों के अध्ययन के कषाय से मुक्ति नहीं मिल सकती। अतएव जैनी लोग [illegible]

हो चुके हैं। परन्तु इन उपदेशों के अध्ययन से प्राप्त हो सकता है जो स्वयं कर्म-ब[illegible]

कर लेना तथा इन उपदेशकों में विश्वास रखना आवश्यक है। अध्ययन करने के पहिले इनका साधार[illegible]

विश्वास को सम्यक दर्शन कहते हैं। इस सम्यक् दर्शन के बिना ज्ञान की प्रा[illegible]

सकता। परन्तु केवल ज्ञान प्राप्त कर लेने से कुछ नहीं होता। इस साधारण [illegible]

में प्रयोग करना चाहिये। अतएव सम्यक् चरित भी नितान्त आवश्यक है। इस ज्ञान को क्रिया[illegible]

के लिये मनुष्य को अपनी इन्द्रियाँ अपने विचारों, भाषण तथा कर्म पर रखना [illegible]

रखना चाहिये। इतना करने पर त्रिरत्नों का आत्मा में 'आस्रव' बन्द हो जायगा [illegible]

उसे मुक्ति मिल जायगी। सम्यक् ज्ञान, सम्यक दर्शन तथा सम्यक् चरित्र को जैनी [illegible]

त्रिरत्न कहते हैं। उमा स्वामी ने लिखा है कि सम्यक् दर्शन का अर्थ सत्य से श्रद्धा र[illegible]

है। बिना श्रद्धा के अध्ययन नहीं हो सकता। ज्यों ज्यों अध्ययन बढ़ता जाता है त्यों[illegible]

श्रद्धा भी बढ़ती जाती है और ज्ञान भी बढ़ता जाता है। सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो[illegible]

पर सम्यक् श्रद्धा हो जाती है। अब यह जान लेना आवश्यक है कि सम्यक् ज्ञान से [illegible]

तात्पर्य है। जैनी ज्ञान को दो भागों में विभाजित करते हैं अर्थात् परोक्ष तथा अपरो[illegible]

जो ज्ञान इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है उसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं और जो ज्ञान अनुमा[illegible]

अथवा तर्क द्वारा प्राप्त होता है उसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं। अपरोक्ष ज्ञान दो प्रकार क[illegible]

होता है अर्थात् व्यावहारिक तथा पारमार्थिक। व्यावहारिक ज्ञान इन्द्रियों अथवा मन[illegible]

द्वारा आत्मा प्राप्त करती है परन्तु पारमार्थिक ज्ञान कर्म के बन्धनों के टूटने से ही प्राप्त हो[illegible]

सकता है। इस ज्ञान की तीन कोटियाँ हैं अर्थात् अवधि ज्ञान, मनः पर्याय ज्ञान और[illegible]

केवल ज्ञान। जब मनुष्य कर्मों के आंशिक प्रभाव को नष्ट कर देता है तब वह अवधि ज्ञान

प्राप्त कर लेता है। इस ज्ञान के प्राप्त कर लेने पर मनुष्य उन वस्तुओं का ज्ञान प्रा[illegible]

लेता है जो आकार रखती हैं परन्तु जो इन्द्रियों से परे अथवा दूर हैं अथवा [illegible]

सूक्ष्म हैं। जब मनुष्य ईर्ष्या, घृणा आदि का नाश कर लेता है तब वह मनः पर्याय

प्राप्त कर लेता है। मन पर्याय ज्ञान के प्राप्त कर लेने पर मनुष्य अन्य व्यक्ति[illegible]

के भावों तथा विचारों को समझ लेता है। परन्तु जब मनुष्य सभी कर्मों के बन्धनों

नष्ट कर देता है तब उसे केवल ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसी केवल ज्ञान को ता[illegible]

ज्ञान कहते हैं। सम्यक् चरित्र का तात्पर्य है हितकर कार्यों को करना और अहितक[illegible]

कार्यों से अपने को बचाना। दूसरे शब्दों में सम्यक् चरित्र वह है जो हमें उन कर्मों से

बचाता है जो हमें बन्धन तथा दुःख में डालते हैं।

(६) कर्मों के बन्धन से मुक्ति पाने के मार्ग साधन—यह पहिले बतलाया जा

चुका है कि आत्मा को बन्धन से मुक्त करने के लिये त्रिरत्नों का पालन तथा त्रिरत्न

आवश्यक है अर्थात् नये विषयों को आत्मा में प्रवेश करने से रोकना चाहिये और जो

प्रविष्ट हो चुके हैं उनका विनाश करना चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये मार्ग

साधन बतलाये गये हैं जिनमें अधिक महत्वपूर्ण पंचमहाव्रत हैं।

(७) पंचमहाव्रत—जैन धर्मावलम्बी इन्हें पंचयाम कहते हैं। उपनिषदों में

भी इन पंच महाव्रतों का उल्लेख किया गया है। यह पंच महाव्रत अहिंसा, सत्

अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह हैं। इनका विवरण नीचे दिया जाता है। ...

उचित होगा।

(क) अहिंसा—'अहिंसा परमोधर्मः'—अहिंसा जैन धर्म का प्रधान ... अंग है ...

त्रस (जगम) तथा स्थावर (वृक्षादि) दोनों को जीवधारी मानते हैं। अतएव इन दोनों सा को वे पाप बतलाते हैं। चूंकि अहिंसा के इस उच्चादर्श का पालन सर्व साधारण नहीं कर सकते अतएव उन्हें केवल जगम जीव की हिंसा से बचने का उपदेश दिया है। अहिंसा का तात्पर्य यही नहीं है कि किसी की हत्या न की जाय वरन् न किसी या का विचार करना चाहिये और न कहना चाहिये, न दूसरों को हत्या करने की देना चाहिये और न हत्या करने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये।

(ख) सत्य—सत्य का तात्पर्य केवल सत्य बोलने से नहीं है वरन् वह सुन्दर मधुर भी हो। इसी से सत्य को कभी-कभी सुनृत भी कहा गया है। इस व्रत ा करने के लिये क्रोध, भय तथा लोभ पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है।

(ग) अस्तेय—अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। इस व्रत के अनुसार अप्रदत्त को नहीं ग्रहण करना चाहिये। धन मनुष्य का वाह्य जीवन है और मनुष्य का धन उसका वाह्य जीवन लेना है। ऐसी जैनियों की धारणा है। यदि धन के बिना । असम्भव है तो इसमें सन्देह नहीं कि किसी का धन अपहरण करना उसका जीवन है। अतएव यह भी एक प्रकार की हिंसा है। इस प्रकार अस्तेय तथा अहिंसा में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(घ) ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य का तात्पर्य है सभी प्रकार के काम (विषय-वासना) याग देना। न काम की ओर कभी ध्यान करना चाहिये और न इसके विषय में बात करना चाहिये।

(ङ) अपरिग्रह—अपरिग्रह का तात्पर्य है किसी वस्तु में आसक्ति न रखना। द्रियाँ जिन वस्तुओं की ओर आकर्षित होती हैं उनको त्याग देना ही अपरिग्रह है। एवं मधुर ध्वनि, स्पर्श, रङ्ग, स्वाद तथा गन्ध की ओर से उदासीन हो जाना ही अपरिग्रह है। जब मनुष्य की सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति रहती है तो वह संसार न्धन में जकड़ा रहता है और उसका पुनर्जन्म होता है। अतएव अपरिग्रह के बिना क्ष मिलना असम्भव है।

(ii) सीमिति—आत्मा को बन्धन से मुक्त करने की दूसरी क्रिया सीमिति कह-ती है। इसका यह तात्पर्य है कि चलने, बोलने, भिक्षा प्राप्त करने, शौच आदि में सावधानी रखनी चाहिये जिससे किसी जीव की हिंसा न हो।

(iii) गुप्ति—तीसरी क्रिया को गुप्ति कहते हैं अर्थात् अपने विचारों, भाषणों तथा र्यों के विचरण पर नियन्त्रण रखना चाहिये।

(iv) दस धर्मों का पालन—चौथी क्रिया यह है कि दस भिन्न-भिन्न प्रकार के र्मों का पालन करना चाहिये। यह दस धर्म क्षमा, नम्रता, सौजन्यता, सत्य, स्वच्छता, संयम, पवित्रता, त्याग तथा आत्मवाहित जीवन है।

(v) आत्मा तथा विश्व विषयक सिद्धान्तों पर विचार—पाँचवीं क्रिया यह कि आत्मा तथा विश्व के विषय में जैन प्रधान सिद्धान्तों का उपदेश दिया गया है र पर विचार करना चाहिये।

(vi) सामायिक क्रिया—छठीं क्रिया को सामायिक र्पर्य है कि दौलत, दरिद्रता, सुख तथा [illegible] वह मन हिय और उन समता का [illegible]

(vii) [illegible]

इन्द्रियों को अपने वश में रक्खे, सांसारिक वस्तुओं से अपने को अलग कर दे, जनता के संग में न रहे, भिक्षाटन करे, वन में निवास करे परन्तु एक ही स्थान पर नहीं, बाह्य तथा आन्तरिक स्वच्छता रक्खे, जीवों को क्षति न पहुंचाये, शुद्ध जीवन व्यतीत करे किसी से ईर्ष्या न करे और दया भाव तथा सन्तोष रक्खे। यह साधारण नियम प्रायः सभी जैन ग्रंथों में उपलब्ध हैं। प्रा० जैकोबी ने इस बात को सिद्ध कर दिया है कि एक जैन भिक्षु ... समानता है। इस सम्बन्ध में डा० ... पूर्व-वर्ती ब्राह्मणों से सिद्धान्तों में न ... हो प्रथा के हटाने के उद्योग में न कि ... बदलने के किसी प्रकार के प्रयत्न में ... ते हैं कि ब्राह्मण जन्म से ही ब्राह्मण नहीं होता वरन् अपने सत्कर्मों से होता है तब भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैनियों ने किसी नई बात का प्रचार नहीं किया क्योंकि इससे हमें सत्यकाम जाबाल आदि की याद आ जाती है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण धर्म में भी जन्म से ही मनुष्य की पवित्रता आदि का निश्चय नहीं होता। जैन लोगों ने जाति व्यवस्था के उच्छेद का कभी भी प्रयत्न नहीं किया। ब्राह्मणों तथा जैनियों में जाति के विषय में यह मत भेद था कि जैन लोग ब्राह्मणों की प्रधानता को नहीं मानते थे और जाति के ... धर्म है परन्तु जैन नास्तिक ... और उसे जगत का कर्ता, ... वे संसार को अनादि तथा ... धर्म वेदों को प्रमाण मानता ... धर्म वेदों को प्रमाण नहीं मानता और यज्ञ तथा बलिदान में विश्वास नहीं रखता। जैन धर्म तर्क तथा अहिंसा का धर्म है। ब्राह्मण धर्म तथा जैन-धर्म दोनों ही कर्म, पुनर्जन्म तथा मोक्ष के सिद्धान्तों को मानते हैं। इन्द्र, ब्रह्मा, शिव, विष्णु आदि ब्राह्मण धर्म के देवताओं को जैनी भी मानते हैं और उनकी पूजा करते हैं। अतएव जैन-धर्म को हिन्दू धर्म का एक परिष्कृत स्वरूप मानना चाहिये।

**बौद्ध धर्म**—इस धर्म की गणना भी नास्तिक धर्म में होती है। इस धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध देव थे। "उनके द्वारा भारतवासियों के जीवन और संस्कृति में जो संशोधन हुआ वह विचार और कर्म की एक भारी क्रांति को सूचित करता है जो क्रांति न केवल भारतवर्ष के प्रत्युत विश्व के इतिहास में शताब्दियों तक एक प्रबल प्रेरक शक्ति का काम करती रही। उस क्रांति की जड़ उपनिषदों के समय की लहर से जम चुकी थी। बुद्ध से पहिले अनेक बोधिसत्व और तीर्थङ्कर उसके अङ्कुर को सींच चुके थे, किन्तु उसका पूरा विकास बुद्ध के समय में और उन्हीं के द्वारा हुआ। उनकी जीवन घटनाओं के वृत्तान्त से हमें उस क्रांति से पहिले की अवस्था को, उस क्रांति के स्वरूप और प्रेरणा को तथा उस क्रांति को जारी रखने वाली संस्था (बौद्ध संघ) की बनावट और कार्यप्रणाली को समझने में बड़ी सहायता मिलती है, साथ ही उनके समय के भारत के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक जीवन का एक पूरा दिग्दर्शन होता है।" अतएव बुद्ध जी की जीवनी पर एक विहङ्गम दृष्टि डाल देना नितान्त आवश्यक है।

**बुद्ध जी की जीवनी**—बुद्ध जी का बचपन का नाम गौतम था। इनके पिता का नाम शुद्धोदन और माता का मायादेवी था। शुद्धोदन शाक्य वंश के क्षत्रिय थे और कपिलवस्तु के शाक्य राष्ट्र के राजा थे। कपिलवस्तु इनकी राजधानी थी। यह नगर नेपाल की दक्षिणी सीमा पर रोहिणी नदी के पश्चिम की ओर बसा था। कपिलवस्तु के पूर्व की ओर

सका विनाश रोग द्वारा होता है। क्या रोगों से बचने का कोई उपाय नहीं है।" तीसरी
ार राजकुमार ने एक मृतक शरीर को देखा। उस मृतक व्यक्ति के सम्बन्धी तथा मित्र
पने बाल नोच रहे थे और अपनी छाती पीट कर फूट-फूट कर रो रहे थे। इस घटना को
खकर सिद्धार्थ के कोमल हृदय पर महान् आघात हुआ और वे सोचने लगे, "इस
ीवन को धिक्कार है जो इतना क्षण भंगुर है। क्या कोई ऐसा उपाय नहीं है जिससे
ृत्यु से मुक्ति मिल सके।" ऐसा विचार करते हुए सिद्धार्थ अपने प्रासाद को लौट आये।
अन्तिम बार सिद्धार्थ ने एक सन्यासी को देखा जो शान्त, प्रसन्न-चित्त, नम्र तथा कान्ति
ान दिखाई देता था और अपने हाथ में एक भिक्षा पात्र को लिये सन्यासियों का वस्त्र धारण
किये था। सिद्धार्थ ने अपने सारथी से पूछा कि वह कौन है। उत्तर मिला कि वह सन्यासी
है, उसने सांसारिक भोग-विलासों को त्याग दिया है और पवित्र जीवन व्यतीत करता
है। वह अपने ऊपर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है, वह निरीह तथा निष्काम है
और किसी से ईर्ष्या नहीं करता। वह भिक्षाटन किया करता है और एक भक्त का जीवन
व्यतीत करता है। सिद्धार्थ इस प्रकार के जीवन की ओर आकर्षित हुये और सन्यास लेने
का निश्चय कर लिया। इस समय सिद्धार्थ की अवस्था २८ वर्ष की थी। नदी के तट पर
एक बाग में बैठे हुए सिद्धार्थ को पुत्रोत्पत्ति का समाचार मिला। कहा जाता है कि राहुल
के जन्म का समाचार पाकर गौतम कुछ कातर कण्ठ से बोल उठे। "यह एक और नई
तथा दुर्भेद्य हृदय-ग्रन्थि है जिसे मुझे तोड़ना पड़ेगा।" एक दिन आधी रात को अपनी
प्रियपत्नी तथा नव-जात शिशु को त्याग कर वन का मार्ग ग्रहण किया। सिद्धार्थ के
जीवन की इस घटना को महाभिनिष्क्रमण कहते हैं।

सिद्धार्थ सबसे पहिले वैशाली गये। यहाँ पर आलार कालाम नामक एक प्रसिद्ध
दार्शनिक थे जिनके ३०० विद्यार्थी थे। इस तपस्वी ब्राह्मण की शिक्षा से गौतम की ज्ञान
पिपासा शान्त न हुई और वहाँ से निराश होकर वे राजगृह पहुँचे। यहाँ पर रुद्रक नाम
के एक अन्य प्रसिद्ध दार्शनिक रहते थे जिनके ७०० शिष्य थे। परन्तु यहाँ पर भी गौतम
को वह ज्ञान-रत्न उपलब्ध न हुआ जिसके अन्वेषण में उन्होंने राजवैभव त्यागा था।
निराश होकर गौतम ने एक नये मार्ग का अनुसरण किया। अपने पाँच सहपाठियों के
साथ रुद्रक के आश्रम को त्याग कर तपस्या के अभ्यास के लिये उन्होंने गया के पहाड़ी
जंगलों की ओर [illegible]

(३) अस्तेय (चोरी न करना),
...य-पान का त्याग, (७) सुगंधित
) कोमल शय्या का त्याग तथा
... उपासकों के लिये केवल प्रथम
पाँच ही थे परन्तु भिक्षुओं के लिये दसो नियमों का पालन करना आवश्यक था। बुद्ध जी की सबसे क्रान्ति-कारी घोषणा यह थी कि उनके संदेश सब के लिये थे। नर तथा नारी, युवा तथा वृद्ध, धीमान् तथा कंगाल, ऊँच तथा नीच सभी समान रूप से उस पर आचरण कर सकते थे।

(५) कर्मवाद—बुद्ध जी कर्मवादी थे। उनका कहना था कि मनुष्य जैसा कर्म करता है वैसा फल उसे भोगना पड़ता है। कर्मों का फल यज्ञ अथवा बलिदान से नहीं मिटाया जा सकता। कर्मवाद का सारांश यह है कि "कर्म ही हमारा निज का है, हम कर्म-फल के उत्तराधिकारी हैं, कर्म ही हमारी उत्पत्ति का कारण है, कर्म ही हमारा बन्धु है कर्म ही हमारा शरण्य है। पुण्य हो अथवा पाप हम जो कर्म करेंगे उसी के उत्तराधिकारी होंगे।"

(६) अनीश्वरवाद—बुद्ध जी अनीश्वरवादी थे। उनकी सम्पूर्ण शिक्षाओं का यही सार है कि संसार की उत्पत्ति के लिये किसी सत्ता की आवश्यकता नहीं है वरन् कार्य तथा कारण की शृंखला से संसार चलता है।

(७) अनात्मवाद—बुद्ध जी अनात्मवादी थे और स्थायी आत्मा में उनका विश्वास नहीं था। उनके कथनानुसार मनुष्य का व्यक्तित्व कई संस्कारों का संघात (जोड़) है। शरीर के इन तत्वों के गाड़ी के पुर्जे की भाँति अलग-अलग हो जाने पर आत्मा नाम का कोई स्थायी तत्व शेष नहीं रह जाता।

(८) क्षणिकवाद—संसार के सम्बन्ध में बुद्ध का मत क्षणिकवाद था। उनका

(९) पुनर्जन्म में विश्वास—ईश्वर तथा आत्मा के अस्तित्व को न स्वीकार करते हुए भी बुद्ध जी ने पुनर्जन्मवाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया था। परन्तु उनका यह कहना था कि यह पुनर्जन्म आत्मा का नहीं वरन् अनित्य अहङ्कार का होता है। यह पुनर्जन्म भी कर्म अथवा कार्य-कारण के नियम से संचालित होता है। तृष्णा तथा वासना के पूर्ण क्षय से मनुष्य का अहंकार नष्ट हो जाता है। तब वह पुनर्जन्म की बाधा से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करता है। जिस प्रकार तेल तथा बत्ती के जल जाने से दीपक अपने आप बुझ कर शांत हो जाता है उसी प्रकार तृष्णा तथा अहंकार के नष्ट हो जाने पर मनुष्य निर्वाण अथवा परम शांति को प्राप्त कर लेता है।

(१०) जाति प्रथा का विरोध—बुद्ध जी ने जाति प्रथा को स्वीकार नहीं किया था। वे सामाजिक एकता में विश्वास करते थे और सभी को मोक्ष का भागी समझते थे।

(११) अहिंसा परमो धर्मः—बुद्ध जी ने अहिंसा पर बड़ा जोर दिया था। इनका कहना था कि प्राणियों को पीड़ा पहुँचाना महा-पाप है।

(१२) निर्वाण अन्तिम लक्ष्य—बुद्ध जी ने जीवन का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण की प्राप्ति करना बतलाया है। यह निर्वाण सभी जातियों तथा वर्गों के लोगों को सदाचरण तथा सत्कर्मों द्वारा प्राप्त हो सकता है। निर्वाण का विश्लेषण ऊपर दिया जा चुका है।

बौद्ध-संघ—बौद्ध धर्म के प्रचार के आरम्भ में बुद्ध जी के अनुयायी पर्यटनशील

(५) वस्सावास अथवा वर्षा ऋतु का विश्राम—वर्षा ऋतु के तीन महीने भिक्षुओं को एक निश्चित स्थान पर निवास करने की आज्ञा थी और पड़ोस के गृहस्थों का भिक्षा दान उनकी उदर-पूर्ति का साधन होता था। वर्षा-ऋतु समाप्त होने पर भिक्षु लोग इस अवधि में जो भूल किये रहते थे उन्हें स्वीकार करने के लिये फिर एकत्रित हुआ करते थे।

(६) भिक्षुणियों के लिये विशेष नियम—बौद्ध भिक्षुणियों के लिये विशेष प्रकार के नियम होते थे जो 'भिक्षुणी पातिमोक्ख' कहलाते थे। भिक्षुणियों पर उनके पर्यटन-निवास तथा भिक्षुओं द्वारा भिक्षुणियों के निरीक्षण सम्बन्धी विशेष प्रतिबन्ध लगाये गये थे।

(७) संगठन—भारतीय धर्मों में केवल बौद्ध ही एक ऐसा धर्म है जिसमें धर्मोपदेशक ने अपनी मृत्यु के बाद आने वाले अपने उत्तराधिकारी नियुक्त करने की व्यवस्था नहीं की। बुद्ध जी ने अपना कोई उत्तराधिकारी नियुक्त नहीं किया और अपने अनुयायियों को आदेश दिया कि एक निश्चित सीमा के अन्दर रहने वाले भिक्षु अपने प्रधान को निर्वाचित कर लेंगे जो संघस्थविर अथवा संघ परिणायक कहलायेगा। संघस्थविर के निर्वाचन की व्यवस्था के साथ-साथ प्रस्ताव अर्थात् ज्ञप्ति के उपस्थित करने की प्रथा थी। शलाका द्वारा गुप्त निर्वाचन की भी व्यवस्था थी। समितियों तथा उपसमितियों के निर्माण की भी व्यवस्था थी। जब तक एक निश्चित संख्या में सदस्य उपस्थित नहीं रहते थे तब तक कोई कार्यवाही वैध नहीं समझी जाती थी। प्रत्येक संघ में पदाधिकारी निर्वाचित किये

में विद्यमान था परन्तु लोग इसकी ओर विशेष ध्यान न देते थे। कर्म, पुनर्जन्म मोक्ष के सिद्धान्तों को बौद्ध-धर्म ने ब्राह्मण-धर्म से ही ग्रहण किया है। इन्द्र, , शिव, विष्णु आदि हिन्दू देवताओं की पूजा बौद्ध लोग भी किया करते थे। बौद्ध-के मानने वालों के गृह-कर्म व कुछ संस्कारों के अनुसार होते रहे। अब बौद्ध तथा ण धर्म के साम्य को हम निम्नलिखित रूप में प्रकट कर सकते हैं :—

साम्य—(१) दोनों का अन्तिम लक्ष्य समान था अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति जिसे मुक्ति या निर्वाण कहा गया है। हाँ इनकी प्राप्ति के साधन भिन्न अवश्य बतलाये गये हैं।

(२) दोनों ही कर्म तथा आवागमन के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। पुनर्जन्मवाद दोनों ही मानते हैं।

(३) दोनों ही शान्ति तथा सहिष्णुता है। दोनों ही का इतिहास धार्मिक अत्याचारों से मुक्त है। अपने विरोधियों का बलात् दमन करने का दो में से एक ने भी प्रयास किया।

(४) आचरण के सम्बन्ध में बौद्ध-धर्म द्वारा जो क्रियात्मक जीवन में आदर्श रक्खे गये वे ब्राह्मण धर्म के आदर्शों से भिन्न नहीं हैं।

वैषम्य—परन्तु इतना होने पर भी बौद्ध धर्म तथा ब्राह्मण धर्म में बड़ा अन्तर है। इन दोनों सम्प्रदायों के सिद्धान्त तथा संगठन एक दूसरे से भिन्न हैं। यह अन्तर निम्नलिखित हैं।

(१) बौद्ध लोग वेदों को प्रामाणिक ग्रंथ नहीं मानते वरन् तर्क को ही सर्व-प्रधान मानते हैं।

ादि भी अनार्य ही हैं। डा० आर० सी० मजूमदार का कहना है, कि इन सम्प्रदायों
जो कालान्तर में मूर्तियों का महत्त्व बढ़ा यह भी प्रनार्य का प्रभाव था क्योंकि वैदिक
ए मूर्ति पूजक नहीं थे। इतनी समानता होने पर भी इन दोनों धर्मों में काफी अन्तर
है। इनमें निम्नलिखित अन्तर है —

विषमता इन दोनों सम्प्रदायों की मोक्ष के विषय में भिन्न-भिन्न प्रकार की धारणायें
[illegible] व यह दुःखों से मुक्त हो जाती
[illegible] त्व को पूर्णरूप से समाप्त कर
[illegible] देया था परन्तु दोनों के मोक्ष
[illegible] ग्रत, उपवास आदि को मोक्ष
[illegible] था उपवास में विश्वास नहीं
[illegible] ते हैं। उनके विचार में शरीर
[illegible] र शरीर से ही हो सकती है।
रन्तु कट्टर जैनी उपवास करके प्राण दे देना मुक्ति का साधन मानता है। जैनियों के मता-
सार मोक्ष की प्राप्ति इस जीवन के समाप्त होने पर होती है परन्तु बौद्ध धर्म के अनु-
ार निर्वाण की प्राप्ति इस जीवन में ही हो सकती है। जैनियों की अहिंसा की धारणा
ौद्धों से कहीं अधिक उच्चकोटि की है। कुछ परिस्थितियों में बौद्ध लोग मांस भक्षण की
ाज्ञा दे देते हैं और चीन, जापान, लंका आदि देशों में जहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ
ा मांस भक्षण होता था परन्तु जैनियों की अहिंसा की भावना बड़ी उच्चकोटि की थी।
े छोटे छोटे जीव की हत्या को पाप समझते हैं हत्या करने को कौन कहे इन जीवों की
त्या की कल्पना को भी जैनी महापाप मानते हैं। डा० स्मिथ के मतानुसार जैन लोग

र वंशीय राजा मिङती ने ६५ ई० में १८ व्यक्तियों का एक दूत-मंडल भारत भेजा जो टते समय अपने साथ दो भिक्षु तथा बहुत से बौद्ध ग्रन्थ ले गये। इन भिक्षुओं के नाम श्यपमातग तथा धर्म-रक्ष थे। इन्हीं दोनों ने सब से पहिले चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार या था। चौथी शताब्दी तक चीन में बौद्ध-धर्म का पूर्ण रूप में प्रचार हो गया। ३७२

[illegible] पाँच

[illegible] द्ध धर्म

[illegible] न्तु उसे

[illegible] शान में

[illegible] राष्ट्र

[illegible] ब्दी में

या गया था। परन्तु वास्तव में इस देश में बौद्ध धर्म का प्रचार सातवी शताब्दी में ारम्भ हुआ। धीरे-धीरे बौद्ध धर्म तिब्बत का राष्ट्र धर्म बन गया। मङ्गोलिया में बौद्ध-र्म के प्रचार का प्रयत्न किया गया था परन्तु वहाँ पर स्थायी न हो सका। इस प्रकार ौद्ध धर्म विश्व-व्यापी धर्म बन गया।

बौद्ध-संगीतियाँ—बुद्ध जी की मृत्यु के उपरांत बौद्ध-भिक्षुओं में आन्तरिक झगड़े

[illegible]

ाषा की सहायता से 'विनय' तथा 'धर्म', सम्बन्धी बुद्ध के उपदेशों का संग्रह किया गया। पालि को 'विनय' के विषय में और आनन्द को 'धर्म' के विषय में प्रमाण माना गया। इस सभा का प्रधान कार्य बुद्ध जी के उपदेशों का संग्रह करना था।

द्वितीय-संगीति—प्रथम सभा के अधिवेशन के सौ वर्ष उपरांत वैशाली में बौद्धों की द्वितीय सभा हुई। इस सभा की आयोजना स्थविर 'यश' ने की थी। इस सभा का अधि-वेशन आठ मास तक होता रहा। इस सभा का उद्देश्य वैशाली के भिक्षुओं में उठे विवादों को दूर करना था। इस सभा में लगभग सौ भिक्षु उपस्थित हुए थे। वैशाली के भिक्षुओं को सभा से बहिष्कृत कर दिया गया। परन्तु दूसरे पक्ष वालों ने इस निर्णय को स्वीकार नहीं किया और अपनी अलग सभा स्थापित की। चूंकि इनकी संख्या अधिक थी अतएव वे महासांघिक कहलाये। द्वितीय संगीति का उद्देश्य संघ के आन्तरिक विवादों को दूर करना था। परन्तु 'यश' को अपने इस उद्देश्य में सफलता न प्राप्त हुई। वरन् बौद्ध संघ

[illegible]

सभा में लगभग एक सहस्र भिक्षु अशोकाराम में एकत्रित हुए। इस सभा की बैठक नौ मास तक होती रही। इसमें त्रिपिटक का संकलन किया गया। विवादों को दूर करने के लिये तिष्य ने 'कथावस्तु' की रचना की। इसी अधिवेशन में यह भी निश्चय किया गया कि बुद्ध जी के उपदेशों के प्रचार के लिये भिक्षुओं को भिन्न भिन्न देशों में भेजा जाय।

चतुर्थ संगीति—बौद्धों की चौथी सभा कनिष्क के शासन काल में हुई थी। बौद्धधर्म

और इससे लोग आकृष्ट भी अवश्य हुये होंगे परन्तु यह बात निर्विवाद नहीं कही जा सकती कि बुद्ध जी ने धर्म का द्वार सब के लिये खोल दिया। यदि ब्राह्मण धर्म ने जाति प्रथा द्वारा अपने को संकुचित कर दिया था तो बौद्ध धर्म ने आचरण की उच्चकोटि की शुद्धता द्वारा अपने क्षेत्र को सीमित कर दिया था। बौद्ध धर्म के आचरण के नियम इतने कठोर थे कि उनका अनुसरण करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये सम्भव न था। केवल बुद्धिमान् लोग ही इन नियमों का पालन कर सकते थे। अतएव सत्य बात तो यह है कि यदि ब्राह्मण-धर्म ने केवल ऊँची जाति के लिये धर्म का द्वार खोल रक्खा था तो बौद्ध धर्म वालों ने केवल बुद्धिमानों के लिये अपने धर्म का द्वार खोल रक्खा था।

(४) महान् व्यक्तियों का प्रोत्साहन—बौद्ध धर्म की उन्नति का चौथा कारण महान् व्यक्तियों द्वारा दिया गया प्रोत्साहन बतलाया गया है। मगध, कोशल, अवन्ति तथा कौशाम्बी के राजा—बिम्बिसार, प्रसेनजित प्रद्योत तथा उदयन शाक्य, लिच्छवि, मल्ल, भग्ग, कोलिय तथा मोरिय आदि गण, अनाथ पिंडक जैसे समृद्धशाली व्यापारी, यश जैसे प्रतिष्ठित नागरिक, जीवक जैसे राजवैद्य, अभय राजकुमार जैसे प्रतिभाशाली, व्यक्ति तथा शारिपुत्र और मौद्गल्यायन जैसे विद्वान्, महा प्रजापति गौतमी, सामावती, खेमा तथा भद्राकापिलानी जैसी रानियाँ बौद्ध-संघ में सम्मिलित हो चुकी थीं। इन सब का शीश-किरीट सम्राट अशोक था जिसने बौद्ध धर्म को विश्वव्यापी बना दिया। कनिष्क ने भी बौद्ध-धर्म के प्रचार में बड़ा योग दिया। चूँकि कनिष्क का सम्बन्ध मध्य-एशिया के राज्यों के साथ था अतएव उत्तर तथा मध्य एशिया में बौद्ध-धर्म के प्रचार में कनिष्क ने बड़ी सहायता पहुँचाई। सम्राट् हर्ष ने भी बौद्ध धर्म के प्रचार में बड़ा योग दिया। उसके काल में कन्नौज बौद्ध-धर्म का केन्द्र बन गया था। कुछ विद्वानों ने इस धारणा की भी आलोचना की है। इनका कहना है कि इसमें संदेह नहीं कि अशोक तथा कनिष्क जैसे सम्राटों से बौद्ध-धर्म को सहायता प्राप्त हुई और कुछ जातियों ने जैसे शाक्य, लिच्छवि आदि से भी इसे प्रोत्साहन मिला और बिम्बिसार, जीवक आदि व्यक्तियों ने इसकी सहायता की परन्तु इस बात को कभी नहीं भूलना चाहिये कि भारत में कभी भी धार्मिक असहिष्णुता न थी। सम्राट् तथा राजकुमार लोग सभी धार्मिक सम्प्रदायों को दान दिया करते थे और सहायता पहुँचाया करते थे। बहुत से ऐसे सम्राट थे जो बौद्ध नहीं थे परन्तु बौद्ध-धर्म की उन्होंने सहायता की थी। अशोक के शिला-लेखों से हमें पता लगता है कि अशोक ने अन्य धार्मिक सम्प्रदायों को भी दान दिया था। यही बात अन्य सम्राटों के विषय में भी लागू है। इन लोगों ने न केवल बौद्ध-धर्म की वरन् जैन धर्म की भी सहायता की थी।

(५) उच्चादर्श—बौद्ध धर्म की उन्नति का पाँचवाँ कारण बौद्ध-धर्म के उच्चादर्श बतलाये जाते हैं। बौद्ध-धर्म के सत्य तथा अहिंसा के आदर्श बड़े ऊँचे थे। यह धर्म आत्मत्याग तथा सेवा की शिक्षा देता है। अपने इन उत्तम आदर्शों के कारण ही बौद्ध-धर्म की उन्नति हुई। इस धारणा की भी कुछ विद्वानों ने आलोचना की है। इनका कहना है कि इसमें सन्देह नहीं कि सत्य तथा अहिंसा के आदर्श बड़े ऊँचे थे और बहुत से बौद्धों [illegible] तथा अन्य सम्प्रदायों ने [illegible] की उन्नति इसके आदर्शों [illegible] है।

[illegible]—[illegible] का दूसरा तथा वास्तविक कारण इसके संगठन की श्रेष्ठता थी। बुद्ध जी का जन्म एक संघ राज्य में हुआ था। अतएव संघ व्यवस्था में इनको विशेष अभिरुचि थी। भिक्षुओं को संगठित करते समय उनका भी उन्होंने एक संघ बनाया। वे अपने बाद किसी एक को महन्थ नहीं बना गये। इसका

अतएव प्रतिदिन के व्यवहार में प्रयोग किये जाने वाले बौद्ध धर्म के सरल तथा नैतिक सिद्धान्तों का उसने सहर्ष स्वागत किया।

(१३) जाति पांति के भेद-भाव का अभाव— बौद्ध-धर्म का द्वार मानव मात्र के लिये खुला हुआ था। उसमें ऊँच-नीच, जाति-पांति का लेश-मात्र भेद भाव नहीं था। अतएव लोगों ने बहुत बड़ी संख्या में उसका स्वागत किया और उसे अपनाया।

(१४) बुद्ध जी का चुम्बकीय चरित्र—बुद्ध जी के व्यक्तित्व तथा चरित्र में एक अलौकिक आकर्षण था। उनका पवित्र, निष्कलंक तथा उच्च-चरित्र और असाधारण व्यक्तित्व बौद्ध धर्म के प्रचार में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ।

[illegible] करते थे वरन् [illegible] उनके धर्म की [illegible] था।

(१६) मध्यम मार्ग का अनुसरण—बौद्ध-धर्म की लोक-प्रियता का एक बहुत बड़ा कारण यह था कि उसने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया था। बुद्ध जी ने जीवन में अति का सर्वत्र विरोध किया था। अतएव जन-साधारण के लिये यह मार्ग अत्यन्त सरल, सुगम तथा सुबोध बन गया था।

(१७) बौद्ध संगीतियों का प्रभाव—बौद्ध धर्म के प्रचार तथा उसके भीतर आये हुये दोषों के निवारण में विभिन्न समयों पर की गई बौद्ध धर्म की चार महान् सभाओं से भी बड़ी सहायता मिली।

(१८) आकर्षणशीलता—भारत में आने वाले विदेशियों के लिये वैदिक कर्म कांड तथा वर्ण एवं जाति समन्वित ब्राह्मण धर्म की अपेक्षा बौद्ध-धर्म अधिक आकर्षक सिद्ध हुआ और इन लोगों ने बहुत बड़ी संख्या में इसे स्वीकार किया।

(१९) उन्नत तथा विशाल साहित्य—बौद्ध धर्म का उन्नत तथा विशाल साहित्य भी इस धर्म के प्रचार में सहायक हुआ और चीन जैसे दूर देशों के यात्री उसके अध्ययन से अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त करने के लिये सदैव भारत आया करते थे। बुद्ध जी की शिक्षायें तथा उनके उपदेश लिपिबद्ध कर दिये गये थे। अतएव वे सर्व-साधारण को प्राप्य तथा बोधगम्य हो गये थे।

(२०) लोक-मत से समन्वय—बौद्ध धर्मावलम्बी अपने धर्म में संशोधन तथा परिवर्तन करने के लिये उद्यत रहते थे जिससे वह लोकमत के अनुकूल बन जाय। इन लोगों ने लोकमत तथा अपने धर्म में समन्वय स्थापित करने का सदैव प्रयास किया। नास्तिक होने पर भी कालान्तर में इस धर्म में उन लोक-प्रिय देवी देवताओं का समावेश हो गया जिनके प्रति सर्वसाधारण की श्रद्धा तथा विश्वास था और जिनकी पूजा [illegible]

[illegible] र्म में परिवर्तनशीलता का एक बहुत बड़ा गुण [illegible] वश्यकताओं के अनुकूल अपने को शीघ्र ही बना

करने के लिये कई सम्मेलन किये गये परन्तु विभिन्नता का नाश न हो सका। पाँचवी शताब्दी के उपरान्त बौद्ध-धर्म अठारह सम्प्रदायों में बट गया था। इनमें हीनयान, महायान, वज्रयान तथा महासंघिक प्रधान हैं। इस साम्प्रदायिकता ने बौद्ध-धर्म पर बहुत आघात पहुँचाया।

(६) विदेशियों के आक्रमण—बौद्ध-धर्म के पतन का छठा कारण विदेशियों का आक्रमण बतलाया जाता है। हूणों तथा मुसलमानों के आक्रमणों ने बौद्ध-धर्म की रही सही शक्ति को नष्ट कर दिया। बड़े बड़े विहार नष्ट होकर धूल में मिल गये। बौद्धों के प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र अग्नि की आहुति बन गये। सहस्त्रों की संख्या में भिक्षुओं की हत्या कर दी गई। जो भिक्षु क्रूर एवं रक्त-पिपासु आक्रमणकारियों की कराल करवाल से बच गये वे विदेशों को भाग गये। ऐसी परिस्थिति में गृहस्थ बौद्ध निरावलम्ब होकर हिन्दू-धर्म की शरण में चले गये।

(७) राजपूतों का उत्कर्ष—बौद्ध-धर्म की अवनति का सातवाँ कारण राजपूतों का उत्कर्ष माना जाता है। राजपूतों की हिंसावृत्ति तथा युद्ध-प्रियता ने अहिंसा धर्म को स्वीकार नहीं किया। वे बौद्ध-धर्म के स्थान पर ब्राह्मण धर्म की ही ओर अधिक आकृष्ट हुये।

(८) मिथ्याडम्बरों का प्रवेश—बौद्ध धर्म की सफलता का कारण महात्मा बुद्ध के सरल तथा बोधगम्य उपदेश थे। परन्तु कालान्तर में लोग बुद्ध जी के उपदेशों तथा

[illegible]

था कि इन आन्तरिक बुराइयों ने इसे शिथिल तथा जर्जर बना दिया।

(९) संघ में स्त्रियों का प्रवेश—बौद्ध संघ में स्त्रियों के प्रवेश से भी यह धर्म पतनोन्मुख हो गया। प्रारम्भ में बुद्ध जी ने संघ में प्रवेश करने की स्त्रियों को आज्ञा नहीं दी थी परन्तु परिस्थितियों से बाध्य होकर आचरण सम्बन्धी कुछ शर्तों के साथ स्त्रियों को भी संघ में सम्मिलित होने की आज्ञा प्राप्त हो गई। इसके परिणाम बड़े घातक सिद्ध हुये। विहारों में युवक तथा युवतियों का भिक्षु तथा भिक्षुणी के रूप में एक साथ निवास रहना उनके आचरण तथा संयम के लिये बड़ा घातक सिद्ध हुआ। अब विहारों का शुद्ध तथा सात्विक वातावरण समाप्त हो गया और उनमें व्यभिचार तथा विलासिता का समावेश हो गया। इसका एक दुष्परिणाम यह भी हुआ कि धर्म-प्रचारकों का उत्साह समाप्त हो गया। जन-साधारण में उनकी प्रतिष्ठा समाप्त हो गई और अब वे श्रद्धा तथा सम्मान के स्थान पर घृणा की दृष्टि से देखे जाने लगे।

(१०) ईश्वरत्व की स्थापना—यद्यपि महात्मा बुद्ध एक पूर्ण मानव थे परन्तु उनमें ईश्वरत्व की स्थापना कर दी गई। ईश्वर के सम्बन्ध में बुद्ध जी मौन थे और इस प्रवृत्ति को उन्होंने कभी प्रोत्साहन नहीं दिया था। परन्तु हिन्दू धर्म से प्रभावित हो जाने के कारण इस धर्म में भी ईश्वरत्व की स्थापना हो गई और मूर्ति पूजा, तीर्थाटन, कर्मकाण्ड आदि बड़े धूम-धाम से होने लगे। फलतः इस धर्म में भी आडम्बर भी आ गये। अब इस धर्म तथा ब्राह्मण धर्म में कोई विशेष अन्तर नहीं रह गया। इस प्रकार बौद्ध-धर्म की सुधारात्मक प्रवृत्ति का अन्त हो गया और इसके स्थान को अनुकरणात्मक प्रवृत्ति ने ग्रहण कर लिया। फलतः इसकी पुरानी शक्ति समाप्त हो गई और इसमें जनता को आकृष्ट करने की क्षमता न रही।

ों को मध्यस्थता के लिये चुन कर उनकी एक छोटी सी कमेटी बना दी जाती थी। इस
ी का निर्णय सब को मान्य होता था। सभासद् अपना एक प्रमुख निर्वाचित कर लेते
। सभा के अधिवेशनों में सभापति के आसन को ग्रहण करता था। राज्य के सभी
ों का उत्तरदायित्व उसी के ऊपर होता था। राज-प्रमुख 'राजा' की उपाधि ग्रहण

पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। न्यायालय में निरपराध सिद्ध हो जाने पर न्यायाधीश अभियुक्त
तुरन्त मुक्त कर देते थे। निष्पक्ष निर्णय के लिये अपील की भी व्यवस्था की गई थी।
भियुक्त को कौंसिल से लेकर राजा तक अपील करने का अधिकार प्राप्त होता था। इस
ार इन प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में बड़ी चहल पहल रहती थी।

सामाजिक दशा—बौद्ध कालीन इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर
ें समाज का निम्नांकित संगठन दृष्टिगोचर होता है :—

जाति-व्यवस्था—बुद्ध काल के प्रारम्भ में समाज का संगठन जाति के आधार पर
ा गया था। भारत के पश्चिमी भाग में ब्राह्मणों का बड़ा प्रभाव था। ब्राह्मणों द्वारा
लाई हुई क्रियाओं तथा धार्मिक संस्कारों का मानना प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक
। ब्राह्मणों की विद्वत्ता तथा आध्यात्मिकता के कारण उनका समाज में बड़ा आदर
ता था। परन्तु भारत के पूर्वी भाग में ब्राह्मणों की सत्ता धीरे धीरे क्षीण हो रही
ी। इन देशों में क्षत्रियों की सत्ता स्थापित हो रही थी। यहाँ के क्षत्रिय ब्राह्मणों की सर्व-
ेष्ठता को मानने के लिये उद्यत न थे और अपने को उनके समकक्षी समझते थे और
पने को भी सत्य तथा धर्म के संरक्षक मानने लगे थे। इस काल में ऐसी धारणा लोगों की
ो चली थी कि जाति-पाँति का भेद-भाव बिल्कुल निरर्थक है परन्तु बौद्ध धर्म के प्रचार के
परान्त भी जाति व्यवस्था चलती गई और बुद्ध जी के उपदेश सामाजिक संगठन को
दल न सके। यहाँ तक कि बौद्ध भिक्षुओं के समाज में भी जाति-पाँति की विशुद्धता का

**आर्थिक दशा**—छठी शताब्दी ई० पू० की आर्थिक दशा का पर्याप्त ज्ञान हमें
ग्रन्थों से प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ तत्कालीन कृषि, व्यापार तथा कारोबार की दशा
पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। इन ग्रन्थों से हमें पता लगता है कि शासन की सब से
इकाई ग्राम था। गाँवों में लगभग तीस कुटुम्ब हुआ करते थे। सुरक्षा की दृष्टि से
निर्माण पास-पास होता था। अतएव गाँवों का आकार छोटा ही होता था। गाँवों के
ओर खेत, जंगल तथा चरागाह होते थे। इन चरागाहों तथा जंगलों पर सबका
नाधिकार होता था। गाँव के चारों ओर ग्राम-क्षेत्र थे जो सिंचाई की नालियों द्वारा
छोटे भागों में विभक्त रहते थे। प्रत्येक कुटुम्ब श्रम-जीवियों की सहायता से अपनी
करता था। यद्यपि प्रायः खेत छोटे छोटे होते थे परन्तु कहीं-कहीं बड़े-बड़े खेतों का भी
ख मिलता है। किसान अपनी भूमि का मालिक होता था। जागीरदारी अथवा
ंदारी की प्रथा न थी। राजा उपज का दशमांश किसानों से कर के रूप में लेता था।
धन के एकत्रित करने का उत्तरदायित्व ग्राम भोजक के ऊपर रहता था। कभी-कभी
ा किसी गाँव का कर किसी व्यक्ति अथवा संस्था के नाम लिख देता था। ग्राम-
जक का पद वंशानुगत होता था और कभी-कभी वह गाँव की कौंसिल द्वारा निर्वाचित
लिया जाता था। गाँव की कौंसिल भी ग्राम भोजक को अपने कर्तव्यों की पूर्ति में
[illegible] बकादि की नागरिकता तथा जन- [illegible] की
[illegible] नालियों तथा विश्राम-गृहों के निर्माण में
[illegible] यों भी सार्वजनिक हित के कार्यों में सहायता
[illegible] ही सरल तथा स्वावलम्बन का होता था।
ों में अपराध बहुत कम होते थे। कभी-कभी अनावृष्टि अथवा बाढ़ के कारण अकाल
आता था और ग्रामवासियों को घोर कष्ट का सामना करना पड़ता था। प्रत्येक गाँव
क प्रजा-तन्त्रात्मक इकाई होता था। कोई भी कृषक अपने क्षेत्र को गाँव की पंचायत की
नुमति के बिना न विक्रय कर सकता था और न बन्धक रख सकता था। गाँव वालों को
ार नहीं देनी पड़ती थी। गाँव के लोग न अत्यन्त धनी होते थे और न अत्यन्त निर्धन।

**नगर**—बौद्ध-ग्रंथों में बहुत कम नगरों का उल्लेख मिलता है। इस काल के प्रधान
गर वाराणसी, राजगृह, कौशाम्बी, श्रावस्ती, वैशाली, चम्पा, तक्षशिला, अयोध्या,
उज्जैन, मथुरा आदि थे। प्रायः नगरों की किलेबन्दी की जाती थी और गृह ईंटों तथा
पत्थर के बने होते थे। गरीबों के घर छोटे और साधारण होते थे परन्तु धनिकों के भवन
[illegible] होते थे। नागरिकों का जीवन अधिक से

। अथवा भागवत् धर्म को वैष्णव धर्म भी कहने लगे। यही वासुदेव-कृष्ण-विष्णु ान्तर में नारायण के नाम से पुकारे जाने लगे।

भागवत धर्म के उपदेश—भागवत धर्म की शिक्षायें भगवद्गीता में कथनोपकथन में उपलब्ध हैं जो 'महाभारत' का एक अंग है। गीता का आद्योपान्त अध्ययन परिलक्षित होती हैं :—

(१) गीता में दिये उपदेशों का मूल तत्व "कर्म-योग" है। कर्म-योग निष्काम कर्तव्य पालन को कहते हैं अर्थात् मनुष्य को अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिये परन्तु फल की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। कार्य अथवा कर्तव्य स्वयं लक्ष्य होना चाहिये। किसी लक्ष्य का साधन नहीं होना चाहिये। कर्म का फल अवश्य मिलता है परन्तु की प्राप्ति की भावना से प्रेरित होकर कर्म नहीं करना चाहिये। इस प्रकार गीता में वृत्ति तथा प्रवृत्ति के बीच के मार्ग के अनुसरण करने का उपदेश दिया गया है। न निष्क्रिय हो जाना उचित है और न फल की प्राप्ति की भावना से कार्य करना चाहिये न् निष्काम अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिये। परन्तु क्या बिना लक्ष्य के कार्य म्भव है ? कदापि नहीं। अतएव गीता में कर्म के दो लक्ष्य बतलाये गये हैं जिनके दो मार्ग बतलाये गये हैं। पहिला लक्ष्य "आत्म शुद्धि" का है। इसकी पूर्ति "ज्ञान ार्ग" से हो सकती है। आत्म शुद्धि से मनुष्य महान् हो जाता है अर्थात् महान् में विलुप्त ो जाता है। दूसरा लक्ष्य ईश्वर की सेवा है। जो कुछ किया जाता है वह ईश्वर के लिये जाता है। इस लक्ष्य की पूर्ति "भक्ति मार्ग" के अनुसरण करने से होती है। यह ार्ग ईश्वर के निकट ले जाता है और अन्त में मनुष्य ईश्वर में विलीन हो जाता है।

(२) गीता में अक्षर (नाश न होने वाला) तथा क्षर (नाश होने वाला) में विभेद ा गया है। महान् अगम्य तथा अपरिवर्तनशील है। वह असीम तथा सर्वव्यापी । विश्व के सभी प्राणियों में वह निवास करता है जिनसे उसका अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

(३) मनुष्य का व्यक्तित्व शरीर, मस्तिष्क तथा आत्मा के संयोग से बना है। इन तीनों में केवल आत्मा ही अमर है। आत्मा जन्म-मरण से मुक्त तथा अविनाशी है। जीव ुरुषोत्तम का ही एक अंश है।

(४) गीता के अनुसार ईश्वर में सत् तथा असत् दोनों निहित हैं। माया एक ईश्वरीय शक्ति है जिसका प्रयोग महान् अपनी इच्छानुसार करता है। माया तथा ईश्वर दोनों ही तथा एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं।

(५) गीता में पुनर्जन्मवाद के सिद्धान्त का अनुमोदन किया गया है। हमारे इस जन्म के कर्मानुसार हमारा आगामी जीवन निश्चित होता है। पुनर्जन्म से मनुष्य निर्मल होता जाता है और अन्त में मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

(६) गीता में अवतारवाद का भी उल्लेख है और कृष्ण जी को पुरुषोत्तम माना गया है। कृष्ण भगवान् ने स्वयं कहा है कि जब-जब धर्म का ह्रास होता है तब तब मैं जन्म लेता हूँ। इस प्रकार अजन्मा होकर भी ईश्वर धर्म की रक्षा के लिये जन्म लेता है।

(७) गीता में भिन्न-भिन्न मतों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। भगवान् कृष्ण ने कहा है, "मोक्ष के सभी मार्ग मुझ में आकर मिलते हैं।" गीता में मोक्ष के तीन मार्ग बतलाये गये हैं अर्थात् ज्ञान-मार्ग, कर्म-मार्ग तथा भक्ति मार्ग। इन तीनों मार्गों में भक्ति मार्ग सबसे अधिक सरल बतलाया गया है जो सबके लिये खुला है। ज्ञान-मार्ग सबसे अधिक कठिन तथा क्लेश युक्त बतलाया गया है।

(८) तापस, दान, यज्ञ, अहिंसा तथा सत्य-वचन की गीता में बड़ी प्रशंसा की गई है। [illegible] में व्यर्थ समझा गया है और इसके स्थान पर अपने आपको

(१) शैव धर्म वैष्णव धर्म से अधिक प्राचीन प्रतीत होता है क्योंकि शिव-लिंग की उपासना सैन्धव सभ्यता में भी होती थी और शिव की मूर्तियाँ मोहन-जोदड़ो की खुदाई में भी मिली हैं।

(२) यद्यपि इन दोनों देवताओं के उपासकों में काफी प्रतिद्वन्द्विता चलती थी और प्रत्येक दल अपने उपास्य देव को अधिक महान् तथा शक्तिशाली सिद्ध करने का प्रयत्न करता था परन्तु बहुत से ऐसे भी लोग थे जो दोनों को एक ही सत्ता के दो स्वरूप मानते थे।

**अन्य सम्प्रदाय**—यद्यपि जैन, बौद्ध, भागवत तथा प्रजापत इस युग के प्रमुख सम्प्रदाय थे परन्तु इनके अतिरिक्त और भी बहुत से छोटे-छोटे सम्प्रदाय थे जो अपना पृथक् अस्तित्व बहुत दिनों तक न रख सके और कालान्तर में इन्हीं चार बड़े-बड़े धर्मों में विलीन हो गये। बौद्ध ग्रन्थों में आजीवक, निग्रन्थ (जैन), परिव्राजक, अविरुद्धक, देव धर्मिक आदि का उल्लेख मिलता है। प्रजापति अथवा ब्रह्मा, सूर्य, श्री अथवा लक्ष्मी आदि की भी पूजा-उपासना की जाती थी। कहीं कहीं नाग तथा सूर्य की भी पूजा होती थी। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से देवी देवता थे जिन्हें लोग श्रद्धा की दृष्टि से देखते और पूजा करते थे।

**सारांश**—जो कुछ ऊपर वर्णन किया गया है उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह एक धार्मिक क्रान्ति का युग था और इसमें भिन्न भिन्न धार्मिक धारणाओं तथा धर्मों का उदय हुआ। लोग देवताओं तथा महापुरुषों को आदर की दृष्टि से देखने लगे और सत्य के अन्वेषण के लिये आतुर हो रहे थे। धार्मिक विषयों में लोग भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयोगों के लिये उद्यत थे। वैदिक काल के कर्म-काँड तथा उपनिषदों की कोरी कल्पना से ऊब कर लोग अपने अपने उपास्य-देव की भक्ति की ओर झुक रहे थे। जो लोग इनसे भी अधिक साहसी थे वे सन्त अथवा धर्म सुधारक की शरण में ज्ञान के लिये पहुँच रहे थे। परन्तु निरक्षर तथा अन्ध विश्वासी लोग अब भी पूर्ववत् छोटे-छोटे देवी-देवताओं की पूजा किया करते थे। परन्तु इस काल का सबसे बड़ा धार्मिक परिवर्तन बौद्ध तथा जैन धर्म का विकास और विष्णु तथा शिव का अग्र-गण्य देवता बन जाना तथा अन्य छोटे-छोटे सम्प्रदायों का इन्हीं चारों में विलुप्त हो जाना था। इस काल के अन्तिम भाग तक वैदिक काल के प्रमुख देवता इन्द्र, और ब्राह्मण काल के प्रधान देवता प्रजापति विलुप्त हो गये।

ोहित महागोविन्द ने, उसके समस्त राज्य को सात अलग भागों में विभक्त किया। राज्य तथा उनकी राजधानियाँ जो कोष्ठांकित हैं, निम्न लिखित हैं—

१—कलिंग (दन्तपुर), २—अस्मक (पोतन), ३—अवन्ति (माहिष्मती अथवा ाहिष्मती), ४—सोवीर (रोरुक), ५—अङ्ग (चम्पा), ६—विदेह (मिथिला), ७—काशी ाराणसी)।

बौद्ध तथा पौराणिक सूचियों में विशिष्ट समानता होते हुये भी, पर्याप्त एवं मुख्य वैभिन्य भी है। अतः प्रतीत होता है कि ये सूचियाँ मूल रूप में विभिन्न समयों में ङ्कित की गई थीं तथा उनके लेखकों का ज्ञान कितना विस्तृत था अथवा देश के विभिन्न ागों के प्रति उनका कितना ममत्व एवं सम्बन्ध था क्योंकि बौद्ध तथा जैन लेखकों ने ल्ल अथवा वज्जि की चर्चा की है जब कि पुराण लेखक इस विषय पर पूर्णतया मौन । अतः प्रतीत होता है कि ये दोनों सुप्रसिद्ध राज्य तत्कालीन प्रचलित प्रतिक्रियावादी ाह्मणधर्म के पूर्ण विरोधी थे। अतः पुराण लेखक ने अपनी तालिका में इनका नाम ङ्कित नहीं किया।

इन राज्यों का विशेष महत्त्व इसलिये है कि ये सर्व-सत्ता-सम्पन्न गण अथवा संघ ाज्य थे। इनमें प्रजातन्त्रात्मक अथवा कुलीनतन्त्रात्मक व्यवस्था थी। कोई भी पुराण, स समय में किसी ऐसे संघ या गण राज्य की तनिक भी चर्चा नहीं करता। परन्तु ई० . छठी शताब्दी की भारतीय राजनीति में ऐसे राज्यों का महत्व अत्यन्त विशिष्ट था योंकि अधिकांश बौद्ध ग्रन्थ, गौतम बुद्ध के समय में बहुत से ऐसे संघ या गण राज्यों ी स्थिति का अनावरण करते हैं। ये कपिलवस्तु के शाक्य, पावा तथा कुशीनारा के ल्ल, वैशाली के लिच्छवि, मिथिला के विदेह, रामगाम तथा देवदह के कोलिय, ल्लकप्प के बुली, केस के कालाम पिप्लीवन की मोरिय, सुंसुमार गिरि के र्ग। पाणिनि की अष्टाध्यायी से इन बौद्ध ग्रन्थों की प्रामाणिकता, अनुमोदित है जो र, आर० जी० भण्डारकर के अनुसार लगभग ७०० ई० पू० तथा ए० मैकडानेल अनुसार लगभग ५०० ई० पू० तक जीवित रहे।

पाणिनि ने अपने व्याकरण में दोनों प्रकार के राज्यों की चर्चा की है। प्रजातन्त्र के लिये उन्होंने 'संघ अथवा 'गण', राज्यों के लिये 'जनपद' शब्द का उपयोग किया है। पाणिनि द्वारा उद्धृत मुख्य प्रजातन्त्रात्मक गणों अथवा संघों में कुछ निम्नांकित हैं— ुद्रक (Greek Oxydrakai), मालव (Malloi) अम्बष्ठ(Abastanoi), हास्ति-ायन (Astakenoi), प्रकण्व (Parikanioi अथवा आधुनिक, फरगाना), मद्र, मधु मन्त (आधुनिक मोहमन्दस) आप्रीत, (Greek Aparytai=आधुनिक अफरीदिवस ासाती, (Ossadi) भग, शिबी (Sibai), आश्वायन (Greek Aspasioi) तथा अश्वकायन (Greek Assakenoi तथा उसकी राजधानी मास्कावती अथवा (Massaga)। इन राज्यों में से अधिकांश सिकन्दर के आक्रमण तक थे तथा इन्होंने उसका तीव्र प्रतिरोध भी किया था। जनपद अथवा राज्यों के विषय में पाणिनि ने

लेकर) बढ़कर थी।" परन्तु छठीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में काशी को कोशल की बढ़ती हुई राज्य लिप्सा का शिकार होना पड़ा और मगध साम्राज्य की अभिवृद्धि होने पर कोशल साथ काशी भी इसी में समाहित हो गया।

**वज्जि अथवा वृजि**—वृजि प्रदेश गङ्गा के उत्तर तथा हिमालय (नेपाल की तराई) के दक्षिण में स्थित था। आधुनिक बिहार प्रान्त के उत्तरी भाग को हम वृजि देश की स्थिति मान सकते हैं। पश्चिम में गण्डक नदी इसे 'मल्ल' तथा 'कोशल' से अलग करती थी। पूर्व में यह प्रदेश कोशी तथा महानन्दा के निकटवर्ती वनों तक फैला हुआ था। इस वृजि संघ में ८ गण्य राज्य थे जिनमें 'विदेह', 'लिच्छवि' "ज्ञात्रिक' तथा वृजि' संघ विशेष प्रसिद्ध थे। "अङ्गुत्तर निकाय" तथा "सूत्रकृताङ्ग" से हमें ज्ञात होता है कि "उग्र", "भोग", "ऐक्ष्वाक" तथा 'कौरव' गणों का सम्बन्ध भी ज्ञात्रिकों तथा लिच्छवियों से था।

'विदेह' प्रदेश की राजधानी 'मिथिला' थी। जो कनिंघम के अनुसार वर्तमान 'जनकपुर' (बिहार) के रूप में आज भी प्रसिद्ध है। 'लिच्छवि' संघ की राजधानी का नाम 'वैशाली' था जो सम्पूर्ण वृजि संघ की राजधानी थी। बिहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर जिले के आधुनिक 'बेसाढ़' में (जो गण्डक के पूर्व में है) आज भी वैशाली के भग्नावशेष प्राप्य हैं। सम्भवतः 'रामायण' में इसी वैशाली की ही 'विशाला' के रूप में प्रशंसा की गई है—

"विशालाम् नगरीं रम्यम् दिव्यम् स्वर्गोपमम् तदा"

"ज्ञात्रिकों" की राजधानी कुण्डपुर अथवा कुण्डग्राम थी जो वैशाली के निकट ही अवस्थित था। इसी संघ में 'महावीर" जिन) उद्भव हुआ था जिनके पिता का नाम सिद्धार्थ था। "वृजि" संघ की राजधानी भी "वैशाली" ही थी। शेष 'उग्र', 'भोग', 'कौरव' तथा 'ऐक्ष्वाकु' गणों की स्थिति अभी तक अज्ञात है। सम्भवतः वे गाँवों अथवा नगरों जैसे 'हस्तिग्राम' एवं 'भोग-नगर' आदि में रहते थे।

कुछ विद्वानों की राय में वृजि संघ के सर्व प्रसिद्ध गण "लिच्छवि" विदेशी थे। डा० स्मिथ के अनुसार ये लोग तिब्बत निवासियों से सम्बन्धित थे क्योंकि उनकी न्याय प्रणाली तथा शव-व्यवस्थापन-क्रिया तिब्बतियों से मिलती-जुलती है। पण्डित एस० सी० विद्याभूषण की राय में लिच्छवि शब्द की व्युत्पत्ति फारस के 'निसिबिस' नगर से हुई है। बहुत से विद्वानों ने इन सब के आ[illegible]

में अन्त में चेदि सम्राट 'कम-चैद्य' की प्रशंसा की गई है। 'चेतिय जातक' में चेदि शासकों की एक वंशावली गाथा के रूप में दी गई है जिसका प्रारम्भ 'मन्धाता' से किया गया है। इसी वंश में 'उपचर' नामक एक शासक थे जिनके पाँच पुत्रों ने 'हस्तिपुर', 'अश्वपुर', 'सिंहपुर', 'उत्तरपाञ्चाल' तथा 'दद्दारपुर' नामक नगर बसाये थे। सम्भवतः यही 'उपचर' महाभारत के 'उपरिचर' होंगे। 'महाभारत' में, 'दामघोष', 'शिशुपाल-सुनीथ', 'धृष्टकेतु' तथा 'शरभ' नामक शासकों की चर्चा आयी है जो कि सम्भवतः 'महाभारत' युद्ध के समय, चेदि' के सम्राट रहे होंगे। राय चौधरी के अनुसार "जातक तथा महाकाव्यों के ये विवरण पूर्णतया गाथा के रूप में हैं। अतः अधिक विश्वस्त प्रमाणों के अभाव में इन्हें सच्चे इतिहास के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।"

**कुरु**—'महासुतसोम-जातक' के अनुसार कुरु साम्राज्य का विस्तार लगभग ३१२ योजन था। बौद्ध पाली ग्रन्थों के अनुसार कुरु 6 शासक, युधिष्ठिर गोत्रीय थे। इनकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी (आधुनिक दिल्ली के निकट)। इस नगरी का विस्तार 'विधुरपण्डित जातक' के अनुसार सात योजन था। 'जातक' कथायें बहुत से कुरु शासक तथा राजकुमारों जैसे 'धनञ्जय-कोरव्य', 'कोरव्य', तथा 'सुतसोम' की चर्चा करती हैं परन्तु बिना किसी प्रकार के प्रमाण के, हम इनकी ऐतिहासिक स्थिति स्वीकार करने में हिचकते हैं।

जैन 'उत्तराध्यायनसूत्र' कुरु प्रदेश के एक शासक 'इषुकार' की चर्चा करता है जिसकी राजधानी भी 'इषुकार' ही के नाम से अभिहित था। अतः प्रतीत होता है, जैसा कि राय चौधरी ने राय दी है, सम्भवतः कुरु वंश के प्रमुख शासकों के कौशाम्बी स्थानान्तरण के पश्चात्, कुरु प्रदेश बहुत सी छोटी छोटी रियासतों में विभक्त हो गया होगा, जिनमें *'इन्द्रप्रस्थ' तथा 'इषुकार' रियासतें* मुख्य थीं। कुरु राजाओं की प्रथा गौतम बुद्ध के समय तक प्रचलित थी क्योंकि कुरु प्रदेश के किसी सामन्त के पुत्र 'रट्ठपाल' ने 'शाक्यमुनि' से दीक्षा ली थी। उसके दर्शन के लिए कुरुराज स्वयं पधारे थे। कालान्तर में कुरु प्रदेश प्रजातन्त्रात्मक संघ बन गया तथा अन्त में मगध की बढ़ती हुई शक्ति के समक्ष कुरु तथा समस्त उत्तरापथ को झुकना पड़ा।

**पाञ्चाल**—पाञ्चाल प्रदेश आधुनिक रुहेलखण्ड तथा मध्य दोआब में अवस्थित था। 'महाभारत', जातक' तथा 'दिव्यावदान' से हमें विदित होता है कि यह प्रदेश 'उत्तर पाञ्चाल' तथा 'दक्षिण पांचाल' दो भागों में विभक्त था। 'भागीरथी' (गङ्गा) दोनों की विभाजन रेखा थी। 'महाभारत' के अनुसार 'उत्तरपांचाल' की राजधानी 'अहिच्छत्र' अथवा 'छत्रवती' था (आधुनिक 'बरेली' जिले में 'आँवला' के निकट 'रामनगर') तथा दक्षिण पांचाल' का 'काम्पिल्य' था जो 'गंगा' से लेकर 'चम्बल' तक फैला हुई थी। 'कुरु' तथा 'दक्षिण पांचाल' में 'उत्तर पांचाल' के लिए सर्वदा संघर्ष चलता रहा। अतः कभी उत्तर पांचाल' को 'कुरु' की प्रधानता स्वीकार करनी पड़ती थी कभी "दक्षिण पांचाल' को। 'कुम्भकारजातक" के अनुसार कभी 'दक्षिण पांचाल' के शासक को 'अहिच्छत्र' अथवा 'छत्रवती' के राज-दरबार में जाना पड़ता था और कभी 'उत्तर पांचाल' अधिप का 'काम्पिल्य' को। अतः ज्ञात होता है कि 'उत्तर पांचाल' की शक्ति भी 'दक्षिण पांचाल' से कम न थी।

'कुम्भकारजातक' के अनुसार उत्तर-पांचाल' के एक सम्राट का नाम था 'दुर्मुख' जिसकी राजधानी 'अहिच्छत्र' न होकर 'काम्पिल्य' थी। ये कलिङ्ग शासक 'करण्डु', विदेहराज 'निमि' तथा गान्धार सम्राट 'नग्नजीत' के समकालीन थे। 'ऐतरेयब्राह्मण' के अनुसार यह सम्राट दिग्विजयी था। 'महा-उम्मग्गजातक', 'उत्तराध्यायनसूत्र तथा

'चेय' जनों का पूर्ण नाश 'महाभारत', 'पुराण' तथा 'जातक' के अनुसार ब्राह्मणों के ते अपमान-पूर्ण दुर्व्यवहार के कारण हुआ।

बौद्ध ग्रन्थों में शूरसेन सम्राट 'अवन्तिपुत्र' की चर्चा आयी है जो गौतम बुद्ध के य शिष्य महा-कच्छान के समकालीन थे। इन्हीं सम्राट के माध्यम से बौद्ध धर्म ने सेन प्रदेश में अपना पाँव जमाया। 'काव्यमीमांसा' में कुविंद नामक एक और सम्राट चर्चा शूरसेन शासक के रूप में आयी है। मेगस्थनीज के समय (द्वितीय सदी ई० पू०) शूरसेन विख्यात प्रदेशों में से एक रहा। यद्यपि उस समय यह मौर्य साम्राज्य के एक विख्य अंग के रूप में था।

अस्सक—(अश्मक) गोदावरी नदी के तट पर अवस्थित था। इसकी राजनगरी, तेवती', 'पातन' अथवा 'पोदना' के रूप में विख्यात थी जो अर्वाचीन निजाम हैदरा-द के बदहान नगर के भग्नावशेषों के रूप में सम्भवतः आज भी जानी जा सकती। 'सुत्तनिपात' तथा 'जातक' के अनुसार यह 'अस्सक-प्रदेश', मूलक तथ कलिङ्ग बीच स्थित था। 'सोनन्द-जातक' से हमें ज्ञात होता है कि 'अस्सक प्रदेश', अवन्ति दक्षिणी सीमा तक विस्तीर्ण था तथा मूलक एवं आस-पास के प्रदेश भी इसमें म्मिलित थे।

'वायु पुराण' में 'अस्सक' तथा 'मूलक' को 'इक्ष्वाकु वंशीय' स्वीकार किया गया है तथा महाभारत' के अनुसार राजर्षि 'अश्मक' ने 'पोदना' नामक नगरी की स्थापना की थी। महागोविन्द सुत्तन्त', 'ब्रह्मदत्त', अभिहित अश्मक-सम्राट की चर्चा करता है जो कलिङ्ग सम्राट 'सत्तभु', अवन्ति शासक 'वेस्सभु', सोवीर अधिपति 'भारत', विदेहराज रेणु', तथा काशी अधिप 'धतराष्ट्र' तथा अङ्गनृप 'धतरट्ठ' के समकालीन थे।

'अस्सक जातक' में यह वर्णित है कि एक समय 'पोतली' नगरी काशी साम्राज्य के अन्तर्गत थी तथा उसका अधिप 'अस्सक', काशिराज का सामन्त था। 'चुल कालिङ्ग-जातक' अस्सक सम्राट 'अरुण' तथा उनके मन्त्री 'नन्दिसेन' चर्चा करते हुए लिखता है कि उन्होंने कलिङ्ग सम्राट पर विजय प्राप्त किया था।

गान्धार—गान्धार आधुनिक पश्चिमी पाकिस्तान के लगभग पेशावर (पुरुपुर) एवं रावलपिंडी के बीच अवस्थित था। इसकी राजधानी थी तक्षशिला जो व्यापार एवं विद्या दोनों का विख्यात केन्द्र था। 'तेलपत्त' तथा 'सुसाम' जातक के अनुसार 'तक्षशिला' 'बनारस' से ७५० योजन की दूरी पर स्थित था।

'मत्स्य' तथा 'वायु' पुराण के अनुसार गान्धार शासक 'द्रुह्यु' वंशी स्वीकार किए गये हैं। 'ऋग्वेद' में भी इस शासक की चर्चा कई बार आयी है जो पौराणिक परम्परा से बिल्कुल मिलती है। कुम्भकारजातक', 'ऐतरेय' तथा 'शतपथ' ब्राह्मण में नग्नजीत [illegible] विदेहराज 'निमि', पाञ्चाल शासक [illegible] 'धतरट्ठ' का समकालीन था। जैन ग्रन्थों [illegible] है जो 'जातक' परम्परा के अनुसार [illegible] र गान्धार शासकों को ब्राह्मण धर्मा- [illegible] हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि [illegible] रखते थे। उदार थे, अतः ब्राह्मण परम्परा का अक्षरशः पालन न करके, अन्य धार्मिक सम्प्रदायों की यथोचित सहायता करते थे, एवं श्रद्धा रखते थे।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व के 'पूर्वार्द्ध' में गान्धार प्रदेश के शासक थे 'पुक्कुसाती' (पुष्करसारिन्) जिन्होंने अपने समकालीन सुप्रसिद्ध मगध सम्राट 'बिम्बिसार' के पास पत्र देते हुए एक दूत भेजा था तथा अवन्ति शासक प्रद्योत को युद्ध में पराजित किया

[ अवस्थित थे), पर भी अपना अधिकार जमा लिया। 'दीघ निकाय' तथा 'भद्दसाल' [जा]तक' इसके प्रमाण हैं।

'सुत्तनिपात' में बुद्ध भगवान् ने कहा है—हिमालय पर्वत से दक्षिण में कोशल के [नि]वासी रहते हैं जो अत्यन्त समृद्ध एवं वैभव सम्पन्न हैं। वे 'आदित्य' वंशी हैं तथा [ज]न्म से 'शाक्य' हैं। मेरा भी जन्म उसी परिवार में हुआ है परन्तु मुझे सांसारिक भोग वि[ला]स की लालसा नहीं है। मैंने इन्द्रिय जनित आनन्द का परित्याग कर दिया है।" इस उद्धरण से पूर्णतया यह स्पष्ट है कि कोशल सम्राट् आदित्य वंशी थे तथा उनका रक्त सम्बन्ध 'कपिल वस्तु' के शाक्यों से था।

यद्यपि पुराणों में 'इक्ष्वाकु' से लेकर बुद्ध के समकालीन शासकों की प्रसेनजित तक की वंशावली दी गई है परन्तु ऐतिहासिक परम्परा के विरुद्ध होने के कारण विश्वसनीय नहीं। सम्राट प्रसेन-जित् बौद्ध कालीन समस्त सम्राटों में विशेष उल्लेखनीय थे। मगध शासक अजातशत्रु से और प्रसेनजित से निरन्तर संघर्ष चलता रहा जिसकी चर्चा अगले अध्याय में की जावेगी।

महात्मा गौतम बुद्ध और कौशल शासक प्रसेनजित के बीच बहुत से वाद विवाद हुये हैं जिनसे प्रतीत होता है कि सम्राट ने भले ही बौद्ध धर्म स्वीकार न किया हो परन्तु गौतम बुद्ध के प्रति उनके हृदय में उत्कट श्रद्धा थी। जातकों से हमें पता चलता है कि प्रसेनजित् की प्रसिद्धि, शाक्यवंश तक, जिसमें महात्मा गौतम बुद्ध की उत्पत्ति हुई थी, पहुँची और उन्होंने शाक्यवंशीय कन्या से विवाह करने की इच्छा की। शाक्यों को अपने वंश का गौरव था। अतः इस प्रकार की दुरभिसन्धि में पड़ना उनके लिये एक [कु]टुम्ब का अपमान था, लेकिन इतने वैभवशाली एवं बलवान तथा पड़ोसी सम्राट को इनकार कर देना भी खतरे से खाली न था, अतः उन्होंने एक चाल खेला। एक शाक्य-गण मुख्य की प्रवीण, (दासी की) लड़की को शाक्य कुलोद्भवा कन्या के रूप में प्र[से]नजित को समर्पित किया गया। विवाहोपरान्त उस दासी कन्या से विडूडभ नामक एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ। परन्तु विडूडभ जब अपने ननिहाल गया तो उसे अपनी माँ के वास्तविक कुल ज्ञात हुआ। यह जानकर स्वभावतः प्रसेनजित् अत्यन्त क्रुद्ध हुआ एवं उसने रानी तथा विडूडभ दोनों की भर्त्सना की। परन्तु जब गौतम बुद्ध ने समझाया कि रानी का सम्बन्ध चाहे जिस कुल से हो, परन्तु पुत्र तो उसी वंश का है जो उसके पिता का है, तब उनकी आज्ञा स्वीकार कर सम्राट रानी एवं विडूडभ के प्रति प्रसन्न हुए।

[illegible] पक्षा [illegible] समय [illegible] पर [illegible] ह का [illegible] है। उसी समय जब कि सम्राट महात्मा गौतम बुद्ध से वाद-विवाद में व्यस्त थे, राजमन्त्री ने, जिन्हें सम्राट ने सारा अधिकार सौंप रक्खा था, विडूडभ को सम्राट घोषित कर दिया। अब प्रसेनजित साम्राज्य से हाथ धोकर मगध सम्राट अजातशत्रु से सहायता लेने के लिये 'राजगृह' की ओर बढ़े परन्तु श्रान्त-क्लान्त सम्राट जैसे ही नगरी के द्वार तक पहुँचे थे कि उनकी मृत्यु हो गई। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार सम्राट को इस मार्मिक एवं दयनीय अवस्था में प्राण त्यागना पड़ा। बहुत सम्भव है कि उनका सम्बन्ध बौद्ध धर्म से रहा हो और इसलिये उन्हें अपनी प्रजा से विलग हो कर ऐसी कारुणिक दशा में जानी पड़ी हो, यद्यपि कि बहुत से ग्रन्थ उसे ब्राह्मणों का महान् रक्षक स्वीकार करते

## अध्याय १८

# मगध-राज्य का उत्थान

**तत्कालीन राजनैतिक स्थिति**—मगध का क्रम-बद्ध इतिहास छठीं शताब्दी पू० से प्रारम्भ होता है। इन दिनों उत्तरी भारत छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था और ...की राजनैतिक एकता समाप्त हो गई थी। छोटे छोटे राज्यों के अतिरिक्त इन दिनों ...री भारत में १६ महाजनपद भी थे। इन राज्यों में दो प्रकार की शासन-व्यवस्थायें ...ई जाती थीं। कुछ राज्यों में राजतन्त्रात्मक व्यवस्था थी और कुछ में गणतन्त्रात्मक (प्रजातन्त्रात्मक) व्यवस्था पाई जाती थी। जिन राज्यों में राजतन्त्रात्मक व्यवस्था थी ...में मगध, कोशल, वत्स तथा अवन्ती अग्रगण्य थे। यह राज्य साम्राज्यवादी भावना ...ओत प्रोत थे। अतएव इनमें पारस्परिक संघर्ष चल रहा था और प्रत्येक राज्य अपने ...निक एवं कूटनीतिक बल से अपने साम्राज्य के विस्तार करने में संलग्न था। ऐसी दशा ...छोटे छोटे राज्यों का अस्तित्व सदैव खतरे में रहता था। अतएव आत्म रक्षा के लिये ...न राज्यों ने अपने संघ स्थापित कर लिये थे। इन संघों में वज्जि का संघ प्रमुख था। ...स संघ में ६ गण राज्य सम्मिलित थे। परन्तु शक्तिशाली राजतान्त्रिक राज्यों के ...सने अधिक दिनों तक इनका ठहरना कठिन था। इन राजतन्त्रों में सबसे अधिक शक्ति-...ली तथा महत्वाकांक्षी मगध का राज्य था जिसने बड़ी सफलतापूर्वक अपने पड़ोसियों ...े विरुद्ध युद्ध किया और विशाल साम्राज्य की स्थापना की। इस साम्राज्य पर बार्हद्रथ, ...शंक, शिशुनाग, नन्द तथा मौर्य वंशों ने क्रम से शासन किया। इन वंशों का परिचय ...ीचे दिया जायगा।

**मगध का गौरव**—प्राचीन काल में भारत के इतिहास में मगध का बहुत बड़ा महत्व ...था। आज-कल के बिहार राज्य के गया तथा पटना जिलों को मिलाकर मगध राज्य बना ...था। प्राचीन काल में गिरिव्रज इसकी राजधानी थी। पिछले अध्याय में यह बतलाया जा ...चुका है कि छठीं शताब्दी ई० पू० में मगध चार महाजनपदों में से एक था। मगध में बड़ी-बड़ी राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक क्रांतियाँ समय-समय पर होती रही हैं। अतएव प्राचीन भारत के इतिहास में मगध का एक विशेष स्थान है। बौद्ध-धर्म तथा जैन-

...संभवतः छठीं शताब्दी ई० पू० में इस वंश का अन्त हो गया। इसके उपरान्त मगध में प्रद्योत ...वंश ने शासन किया जिसके बाद शिशुनाग वंश का राज्य आरम्भ हुआ। इस वंश की नींव शिशुनाग नामक राजा ने डाली थी। कुछ विद्वानों के विचार में शिशुनाग का अर्थ है ...छोटा नाग। यदि यह धारणा ठीक मान ली जाय तो यह वंश नाग जाति का हो सकता

टक की कथा के अनुसार दर्शक की बहिन पद्मावती का विवाह कौशाम्बी के न के साथ हुआ था। दर्शक का राज्य-काल लगभग ५१८-४८३ ई० पू० माना परन्तु बौद्ध तथा जैन ग्रन्थ दर्शक को अजातशत्रु का पुत्र नहीं मानते। इन अनुसार अजातशत्रु का पुत्र तथा उत्तराधिकारी उदयभद्र अथवा उदायिन था।

यी—उदायी अजातशत्रु की भाँति विजेता तथा साम्राज्य-कामी था। उसका ल ४८३-४६७ ई० पू० माना जाता है। संभवतः अपने राज्य काल के दूसरे ही वर्ष वन्ति राज्य पर विजय प्राप्त कर वहाँ के राजा विशाखयूप को अपने अधीन कर इस घटना के १० वर्ष उपरान्त विशाखयूप की मृत्यु हो गई। तब उदायी ने अवन्ति न को अपने हाथों में ले लिया परन्तु अवन्ति तथा मगध के शासन को उसने अलग ा। अवन्ति का मगध राज्य में सम्मिलित होना इस युग की सबसे अधिक महत्व-टना थी। अब मगध उत्तरी भारत का सबसे अधिक विशाल तथा शक्तिशाली-य बन गया और अब उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी न रह गया। उदायी के राज्य काल री महत्वपूर्ण घटना पाटलिपुत्र की स्थापना थी जिसका भारतीय इतिहास में बड़ा त्वपूर्ण स्थान है। उसने सोन तथा गंगा नदियों के संगम पर कुसुमपुर नामक उसी स्थान पर बनवाया जहाँ अजातशत्रु के मन्त्रियों ने अवन्ति के राजा से भयभीत किलेबन्दी की थी। यही कुसुमपुर पाटलिपुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

उदायी के उत्तराधिकारी—उदायी के उपरान्त का इतिहास अन्धकारपूर्ण है।

अंग बन गया। कोशल राज्य का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया और कालान्तर में वह मगध
राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

लिच्छवि राजाओं के साथ सम्बन्ध—कोशल के पश्चात् अजातशत्रु को लिच्छवि
राजाओं से लोहा लेना पड़ा। इस युद्ध के कई कारण बतलाये जाते हैं। अजातशत्रु एक
महत्वाकांक्षी सम्राट् था। वह लिच्छवियों के प्रबल राज्य से भयभीत था और उनके
अस्तित्व को विनष्ट करने में ही अपना कुशल समझता था। लिच्छवि सम्राट् चेतक ने
अजातशत्रु के दो भाइयों हल्ल तथा वेहल्ल को जिन्होंने वैशाली में शरण ली थी लौटाने
से इन्कार कर दिया। इससे अजातशत्रु ने चेतक के साथ युद्ध करने का निश्चय किया।
युद्ध का एक और कारण बतलाया जाता है। वह यह कि लिच्छवियों ने एक रत्नों की
खानि के सम्बन्ध में अजातशत्रु को धोखा दिया था। अजातशत्रु यह जानता था कि
वृजिगण का जीतना स ... ... उसने युद्ध की पूरी तैयारी की। उसके
अमात्य सुनीध तथा ... ज-संघ पर विजय
प्राप्त करने के लिये ... ने मगध महामात्र
वस्सकार ब्राह्मण को ... वृजि-संघ में फू
उत्पन्न कर दे और उ ... वृजि-संघ के सा
दीर्घ-काल तक युद्ध ... हुआ परन्तु अन्त
विजय-श्री अजातशत्रु ... आधिपत्य स्थापि
हो गया। वैशाली पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् अजातशत्रु ने उत्तर के अन्य प्रदेश
पर विजय आरम्भ की और हिमालय पर्वत तक के सभी राजाओं ने उसका आधिप
स्वीकार कर लिया। इस प्रकार अंग, काशी, वैशाली तथा अन्य छोटे-छोटे राज्यों
अधिकार हो जाने से मगध उत्तरी भारत का सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य बन गया

अवन्ति के राजा के साथ प्रतिद्वन्दिता—अवन्ति भी इस काल का एक शक्ति
शाली राज्य था। वहाँ का राजा प्रद्योत बड़ा ही वीर तथा साहसी था। उसके पड़ोस
राजा उसका लोहा मानते थे और उससे भयभीत रहते थे। मगध की बढ़ती हुई शक्ति
को वह सहन न कर सका और उसके हृदय में अजातशत्रु के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हु
दोनों ही महत्वाकांक्षी राजा थे और दोनों ही साम्राज्य के भूखे थे। अब दोनों की सीम
एक दूसरे से स्पर्श करती थीं, अतएव दोनों की प्रतिद्वन्दिता और बढ़ गई। अजातश
ने प्रद्योत के भय से अपनी राजधानी राजगृह की किलेबन्दी आरम्भ करा दी। प
अजातशत्रु तथा प्रद्योत के संघर्ष का कुछ पता नहीं चलता। ५४५ ई० पू० में प्रद्योत
मृत्यु हो गई और दोनों की प्रतिद्वन्दिता का भी अन्त हो गया।
... के पश्चात् अजातशत्रु ने ३२ वर्ष तक शा

वि
जै
थ
ि
व
१

है। इस नाटक की कथा के अनुसार दर्शक की बहिन पद्मावती का विवाह कौशाम्बी
राजा उदयन के साथ हुआ था। दर्शक का राज्य-काल लगभग ५१८-४८३ ई० पू० मा
ाता है। परन्तु बौद्ध तथा जैन ग्रन्थ दर्शक को अजातशत्रु का पुत्र नहीं मानते।
न्थों के अनुसार अजातशत्रु का पुत्र तथा उत्तराधिकारी उदयभद्र अथवा उदायिन था

उदायी—उदायी अजातशत्रु की भांति विजेता तथा साम्राज्य-कामी था। उस

पूर्ण घटना थी। अब मगध उत्तरी भारत का सबसे अधिक विशाल तथा शक्तिशाल
साम्राज्य बन गया और अब उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी न रह गया। उदायी के राज्य-का
की दूसरी महत्वपूर्ण घटना पाटलिपुत्र की स्थापना थी जिसका भारतीय इतिहास में
ही महत्वपूर्ण स्थान है। उसने सोन तथा गंगा नदियों के संगम पर कुसुमपुर नाम
नगर उसी स्थान पर बनवाया जहाँ अजातशत्रु के मन्त्रियों ने अवन्ति के राजा से भयभी
होकर किलेबंदी की थी। यही कुसुमपुर पाटलिपुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

उदायी के उत्तराधिकारी—उदायी के उपरान्त का इतिहास अन्धकारपूर्ण है
पौराणिक कथाओं के अनुसार उदायी की मृत्यु के पश्चात् इस वंश में नन्दिवर्धन त
महानन्दिन नाम के दो राजा हुये। कहा जाता है कि महानन्दिन ने एक शूद्र स्त्री से विव
कर लिया था जिसके महापद्म अथवा महापद्मपति नन्द नामक पुत्र हुआ। इस प्रकार
से शूद्र वंश का आरम्भ होता है।

नन्दिवर्धन तथा महानन्दी प्रतापी सम्राट थे। वर्धन उपाधि नन्दी के गौरव को प्र
करती है। इसमें संदेह नहीं कि अवन्ति का राज्य नन्दिवर्धन के आधीन था। ऐसा प्रती
होता है कि अवन्ति की पृथक सत्ता कुछ काल तक पूर्ववत् बनी रही परन्तु कुछ समय
अवन्ति मगध-राज्य का एक प्रांत बन गया परन्तु बौद्ध-ग्रन्थों ने उदायी तथा नन्दिवर्ध
के बीच में तेरह और राजाओं का उल्लेख किया है। इन ग्रन्थों में महानन्दिन के स्थ
पर एक अन्य राजा का उल्लेख है। बौद्ध लेखकों के अनुसार उदायी के उपरान्त अनु
मुण्ड तथा नागदासक नाम के तीन पितृ-हन्ता सम्राट क्रम से हुये। नागदासक से जन
इतनी अप्रसन्न हुई कि उसे पदच्युत कर निर्वासित कर दिया और उसके स्थान

पुराणों में 'नवनन्द' का उल्लेख मिलता है। परन्तु श्री काशी प्रसाद जायस धारणा है कि यहाँ नव शब्द का अर्थ नौ नहीं वरन् नवीन है। इनके विचार में तथा उसके उत्तराधिकारी जो शूद्र जाति के थे नवीन नन्द कहलाते रहे होंगे। पुराणों में नव-नन्द का उल्लेख है। नन्दिवर्धन तथा महानन्दि पूर्व नन्द कह होंगे। क्षेमेन्द्र तथा सोमदेव ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य पूर्व नन्द का पुत्र य भी पूर्व-नन्द तथा नवीन-नन्द की धारणा ठीक प्रतीत होती है। परन्तु श्री र मजूमदार श्री जायसवाल से सहमत नहीं हैं। उनके विचार में 'नव' का अ है और महापद्म के पश्चात् नन्द-वंश में आठ और शासक हुये। श्री मजू के विचार में शिशुनाग वंश नन्द वंश से बिलकुल अलग था और शिशुना राजाओं के लिये नन्द शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता है। हमारे ग्रन्थों में केव नन्द वंश का उल्लेख मिलता है दो का नहीं, और सभी 'नव' का अर्थ नौ नवीन नहीं। क्षेमेन्द्र की कथा में पूर्वनन्द एक व्यक्ति विशेष का नाम है, का नहीं। पूर्वनन्द तथा योगनन्द में विभेद किया जाता है, पूर्वनन्द और न नहीं। इस प्रकार श्री जायसवाल के विचार में नन्द-वंश में केवल दो ही सम्राट् हु पद्म नन्द तथा धन नन्द परन्तु श्री मजूमदार जी के विचार में इस वंश में हुये अर्थात् महापद्म नन्द तथा उसके आठ उत्तराधिकारी जिनमें धन नन्द अन्ति था। धन नन्द के पास एक विशाल सेना थी। अतएव उसने जनता पर बहुत कर लगाना आरम्भ किया। इससे जनता में बड़ा असन्तोष फैला। चन्द्रगु चाणक्य नामक ब्राह्मण की सहायता से इस वंश का अन्त कर दिया।

**नन्द-वंश के पतन के कारण**—नन्द-वंश के राजाओं का शास प्रिय नहीं बन सका था। उनके प्रति जनता में बड़ा असन्तोष था। शूद्र जा होने के कारण तत्कालीन समाज महापद्म नन्द तथा उसके उत्तराधिकारियों समझता था और घृणा की दृष्टि से देखता था। नन्द राजाओं ने प्राचीन धा सामाजिक व्यवस्थाओं के विरुद्ध आचार व्यवहार किया था। इससे असन्तोष और भड़क उठी। इन राजाओं ने सम्भवतः प्राचीन धर्म को त्याग कर जै स्वीकार कर लिया था और उसे आश्रय प्रदान किया था। इन शासकों ने प राजाओं की नीति को त्याग कर असुर-विजयी राजाओं की नीति का अनुसरण और तत्कालीन राज्यों के उन्मूलन का प्रयत्न किया था। इन राजाओं ने श के अनुसार अपना राज्याभिषेक संस्कार भी नहीं करवाया था और ब्राह्मणों की दृष्टि से देखते थे। फलतः ब्राह्मण वर्ग नन्द वंश से अत्यन्त असन्तुष्ट था का भी असन्तोष ब्राह्मणों से कुछ कम न था क्योंकि महापद्म नन्द ने क्षत्रिय उन्मूलन का प्रयत्न किया था। उग्र सैनिक तथा लोभी आर्थिक नीति के कारण नन्दों से अप्रसन्न थी और उन्हें घृणा की दृष्टि से देखती थी। इन परिस्थितियों साम्राज्य का ध्वस्त हो जाना अवश्यम्भावी था। चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त के लिये अवसर था और उन्होंने इससे पूरा लाभ उठाया। चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त राज्य पर आक्रमण कर दिया और धन-नन्द को पराजित तथा वध कर नन्द अन्त कर दिया।

काल में ही मगध-साम्राज्य का एक अङ्ग बन गया था। शिशुनाग ने कोशल राज्य पर ... शिशुनाग के ... वह वर्ष तक

**शिशुनाग के उत्तराधिकारी**—शिशुनाग की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र कालाशोक राजगद्दी पर बैठा। कालाशोक के बाद उसके दस पुत्र क्रम से राज-सिंहासन पर बैठे जिनमें नवाँ नन्दिवर्धन था और दसवाँ पञ्चमक। एक बौद्ध-ग्रन्थ में कालाशोक के स्थान

... में स्थित कलिङ्ग देश पर उसने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। उत्तर की ओर कालाशोक ने अपने राज्य की सीमा काश्मीर तक बढ़ा ली। परन्तु उसने काश्मीर तथा पंजाब को अपने राज्य का स्थायी अङ्ग नहीं बनाया। कालाशोक ने पाटलिपुत्र के अतिरिक्त वैशाली

... वा महानन्दी भी एक प्रतापी ... उसकी मृत्यु के उपरान्त नन्द वंश का शासन आरम्भ हुआ।

**नन्द वंश**—इस वंश का संस्थापक महापद्मनन्द था। वह अन्तिम शिशुनाग राजा का उत्तराधिकारी था। पुराणों के अनुसार वह महानन्दी का ही शूद्रा से उत्पन्न पुत्र था परन्तु जैन अनुश्रुति के अनुसार वह एक नाई का पुत्र था। यूनानी लेखक कुर्टिस (Courtes) के मतानुसार वह एक नाई था परन्तु रानी उस पर आसक्त हो गई थी। फलत उसने राजा का बध कर दिया और राजकुमारों का अभिभावक बन गया। धीरे-धीरे उसने अपना प्रभुत्व बढ़ा लिया और अन्त में राजकुमारों को मार कर स्वयं राजा बन बैठा। उसका दूसरा नाम उग्रसेन भी था। पुराणों में महापद्म को सर्वक्षत्रान्तक अर्थात् सब क्षत्रियों का अन्त करने वाला कहा गया है। पौराणिक कथाओं के अनुसार वह भारतवर्ष का एकछत्र एकराट् था। महापद्म उसके अपार धन का और उग्रसेन उसकी विशाल सेना के परिचायक हैं। आर्य जाति के इतिहास में वह पहिला शूद्र राजा था। अतएव उसके वंश से प्रजा बड़ी असन्तुष्ट थी। महापद्म ब्राह्मण-धर्म का घोर विरोधी था और ब्राह्मणों से बड़ा द्वेष रखता था। राजा बन कर उसने वर्ण धर्म का उल्लङ्घन किया। इससे ब्राह्मण उससे बहुत ही अप्रसन्न थे। यद्यपि महापद्म शूद्र था परन्तु वह बड़ा ही शक्तिशाली तथा प्रतापी सम्राट था। यूनानी लेखकों के अनुसार उसके बेटे की सेना में दो लाख पैदल, बीस हजार सवार, दो हजार रथ और चार छः हजार हाथी थे। उसके कोष में अपार धन माना जाता था। इतनी बड़ी सेना और इतना बड़ा कोष एक सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित और धन-धान्य पूर्ण राजा का ही हो सकता था। अनेक लेखकों ने नन्द राजाओं के विशाल राज्य, अपार सम्पत्ति तथा महती सेना का वर्णन किया है। सम्भवतः प्रजा पर अत्याचार कर के ही यह अतुल सम्पत्ति सञ्चित की गई थी। प्रजा में इस वंश के प्रति असंतोष अवश्य रहा होगा। कुछ ही पीढ़ियों ... वंश के राज्य का अन्त हो गया। स्मिथ साहब ने इस वंश का राज्य-का... पू० निश्चित किया है।

**महापद्म नन्द के उत्तराधिकारी**—कहा जाता है कि

**कुरुष का भारतीय आक्रमण**—ईरान के आर्यों में पहिले तो मद्रों की सत्ता थी परन्तु कुछ समय उपरान्त पार्स सबसे अधिक शक्तिशाली हो गये। सातवीं शताब्दी ई० पू० में पार्स में हरवामनि नामक व्यक्ति ने एक राजवंश की स्थापना की। इसी वंश में कुरुष (Cyrus) नाम का एक दिग्विजयी सम्राट हुआ जिसने सम्पूर्ण ऐरान पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली। कुरुष का शासन-काल ५५९-५२९ ई० पू० माना जाता है। पश्चिम की ओर कुरुष ने थोड़े से में मिश्र तक तथा एशिया की अन्तिम यूनानी बस्तियों तक का सब प्रदेश जीत कर अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। पूर्व की ओर कुरुष ने बाख्त्री शकों तक मकों, पख्यों तथा थतगु लोगों के भारतीय प्रदेशों पर विजय प्राप्त कर ली। शकों का प्रदेश शकस्थान (सीस्तान) तथा मकों का मकरान था। पख्य आधुनिक पठान के पूर्वज थे। थतगु कोई अफगान कबीला था। हिन्दूकुश पर्वत तथा कुभा अथवा [illegible] निवास करती थी। उनकी राज- [illegible] प्राप्त की ओर कापिशी को नष्ट [illegible] प्रान्त पर आक्रमण कर दिया। परन्तु इस युद्ध में उसकी पराजय हुई और केवल सात साथियों के साथ वह बच कर भाग गया। कुरुष के उत्तराधिकारी काम्बूजीय प्रथम (Camlyses I), कुरुष द्वितीय (Cyrus II), काम्बूजीय द्वितीय (Camlyses II) पश्चिम में इतना व्यस्त थे कि पूर्व की ओर उन्होंने ने ध्यान नहीं दिया।

**दारयवहु (Darius) का आक्रमण**—कुरुष के उपरान्त इस वंश का सबसे अधिक प्रभुत्वशाली सम्राट विश्तास्प का पुत्र दारयवहु (Darius) हुआ। इसका शासन काल ५२१-४८५ ई० पू० माना जाता है। उसने अपने राज [illegible]

[illegible]

[illegible]—दारयवहु का उत्तराधिकारी क्षयार्ष (Xerxes) था। उसका राज्य काल ४८५-४६५ ई० पू० माना जाता है। उसने यूनान की पश्चिमी बस्तियों पर भी आक्रमण किया। उस समय उसकी सेना में गान्धार तथा सिन्धु के सैनिक तथा पंजाब के एक अन्य भाग के भाड़े के सैनिक थे। पारसी साम्राज्य ने उत्तर भारत को पश्चिमी एशिया, मिश्र, यूनान आदि देशों से जोड़ दिया। भारतवर्ष तथा यूनान का पहिला सम्पर्क सम्भवतः पारसी साम्राज्य के द्वारा ही हुआ। भारतवर्ष के कपास तथा सूती कपड़े इसी काल में सबसे पहिले यूनान में पहुँचे थे। साम्राज्य की सुरक्षा में भारत का व्यापार पश्चिमी देशों के साथ बहुत अच्छी तरह चलने लगा। पारसीयों का भारतीय साम्राज्य कब समाप्त हुआ इसका अन्वेषण नहीं हो सका है। परन्तु इतना पता लगाया गया है कि जब सिकन्दर महान् की मुठभेड़ फारस के राजा दारयवहु तृतीय से हुई थी तब भारतीय सैनिक दारयवहु की ओर से लड़े थे। अनुमान लगाया गया है कि भारत का उत्तरी-पश्चिमी भाग पारसीक सत्ता से पाँचवीं

# अध्याय १६

## विदेशियों के आक्रमण

**ईरान का भारत से सम्बन्ध**—ईरान का मूल रूप ऐर्यान है जिसका अर्थ है ऐर्यों अर्थात् आर्यों की भूमि। आरम्भ में ऐर्यान भारतवर्ष के पश्चिम हिन्दूकुश से मिले हुये प्रदेश का ही नाम था। किन्तु कालान्तर में ऐर्यान की जातियाँ दजला, फरात के सामी राज्यों की सीमा तक और आधुनिक कैस्पियन सागर तक फैल गईं और वह सम्पूर्ण प्रदेश ऐर्यान हो गया। ऐर्यान की एक जाति का नाम पार्स था। यह लोग फारस की खाड़ी पर निवास करते थे। वही आधुनिक फार्स प्रान्त है। जब पार्सों की प्रधानता हो गई तब सम्पूर्ण देश पारस कहलाने लगा।

आर्यावर्त तथा ऐर्यान में अत्यन्त प्राचीन काल से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। [illegible] अवेस्ता में [illegible] ने के पूर्व [illegible] के देवी [illegible] कुछ लोग प्राचीन अनेकेश्वरवादी बने रहे और कुछ लोग एकेश्वरवादी हो गये जिसे अहुर मज़्द कहने लगे। इस प्रकार देवों तथा असुरों के दो दल बन गये। देवताओं तथा असुरों में संघर्ष आरम्भ हो गया। जिन लोगों की यह धारणा है कि भारतवर्ष ही आर्यों का आदि देश था उनके विचार में इस देवासुर संग्राम में देवताओं की विजय हुई और असुर लोग

प्राचीन काल से रहा है। इधर हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो के अन्वेषण ने नया प्रकाश डाला है। मोहेनजोदड़ो के अवशेषों तथा दजला, फरात के कोठों के अवशेषों में बड़ी समानता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रागैतिहासिक काल से ही भारतीयों तथा ईरानियों में घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इस बात का तो निश्चित प्रमाण मिलता है कि सातवीं शताब्दी ई० पू० से भारतवर्ष, फारस तथा बेबीलोन में निरन्तर व्यापारिक सम्बन्ध चलता रहा।

**कुरुष का भारतीय आक्रमण**—ईरान के आर्यों में पहिले तो मदों की सत्ता बढ़ी परन्तु कुछ समय उपरान्त पार्स सबसे अधिक शक्तिशाली हो गये। सातवीं शताब्दी ई० पू० में पार्स में हखामनि नामक व्यक्ति ने एक राजवंश की स्थापना की। इसी वंश में कुरुष (cyrus) नाम का एक दिग्विजयी सम्राट हुआ जिसने सम्पूर्ण ऐरान पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली। कुरुष का शासन-काल ५५८-५२९ ई० पू० माना जाता है। पश्चिम की ओर कुरुष ने बावेरू व मिश्र तक तथा एशिया की अन्तिम यूनानी बस्तियों तक का सब प्रदेश जीत कर अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। पूर्व की ओर कुरुष ने बाख्त्री शकों तक मकों, पख्थों तथा थतगु लोगों के भारतीय प्रदेशों पर विजय प्राप्त कर ली। शकों का प्रदेश शकस्थान (सीस्तान) तथा मकों का मकरान था। पख्थ आधुनिक पठान के पूर्वज थे। थतगु कोई अफगान कबीला था। हिन्दूकुश पर्वत तथा [illegible]

(Cyrus II); काम्बूजीय द्वितीय (Cambyses II) पश्चिम में इतना व्यस्त थे कि पूर्व की ओर उन्होंने ने ध्यान नहीं दिया।

**दारयवहु (Darius) का आक्रमण**—कुरुष के उपरान्त इस वंश का सबसे अधिक प्रभुत्वशाली सम्राट विश्ताश्प का पुत्र दारयवहु (Darius) हुआ। इसका शासन काल ५२१-४८५ ई० पू० माना जाता है। उसने अपने एक जल सेनापति स्कुलाक्स को भारतवर्ष की ओर सिन्धु नदी के मार्ग के निरीक्षण के लिये भेजा था। स्कुलाक्स ने सम्पूर्ण सिन्ध नदी की यात्रा कर समुद्र के किनारे-किनारे मिश्र देश के तट तक पहुँच गया। इसके उपरान्त दारयवहु ने कम्बोज, गान्धार के पश्चिमी भाग तथा सिन्धु प्रदेश को जीत लिया। दारयवहु के साम्राज्य में २३ प्रान्त थे जिनमें गान्धार, कम्बोज तथा सिन्धु भी सम्मिलित थे। साम्राज्य के प्रान्तों में सब से अधिक आय सिन्धु प्रान्त से होती थी।

**दारयवहु के उत्तराधिकारी**—दारयवहु का उत्तराधिकारी क्षयार्ष (Xerxe[s]) था। उसका राज्य काल ४८५-४६५ ई० पू० माना जाता है। उसने यूनान की पश्चिमी बस्तियों पर भी आक्रमण किया। उस समय उसकी सेना में गान्धार तथा सिन्धु [के] सैनिक तथा पंजाब के एक अन्य भाग के भाड़े के सैनिक थे। पारसी साम्राज्य ने उत्त[र] भारत को पश्चिमी एशिया, मिश्र, यूनान आदि देशों से जोड़ दिया। भारतवर्ष तथ[ा] यूनान का पहिला सम्पर्क सम्भवतः पारसी साम्राज्य के द्वारा ही हुआ। भारतवर्ष [के] कपास तथा सूती कपड़े इसी काल में सबसे पहिले यूनान में पहुँचे थे। साम्राज्य [की] सुरक्षा में भारत का व्यापार पश्चिमी देशों के साथ बहुत अच्छी तरह चलने लगा। पारसीयों का भारतीय साम्राज्य कब समाप्त हुआ इसका अन्वेषण नहीं हो सका है परन्तु इतना पता लगाया गया है कि जब सिकन्दर महान् की मुठभेड़ फारस के रा[जा] दारयवहु तृतीय से हुई थी तब भारतीय सैनिक दारयवहु की ओर से लड़े थे। अनुमा[न] लगाया गया है कि भारत का उत्तरी-पश्चिमी भाग पारसीक सत्ता से पाँच[वीं]

शताब्दी ई० पू० के अन्तिम भाग में सम्भवतः ३३० ई० पू० में बिल्कुल स्वतन्त्र हो गया था।

**पारसीक आक्रमण का प्रभाव**—ईरानी आक्रमणों से पश्चिमोत्तर भारत की राजनैतिक दुर्बलता परिलक्षित हो गई। इन आक्रमणकारियों ने अन्य बाहरी महत्त्वाकांक्षी आक्रमणकारियों को भारत में प्रवेश करने का मार्ग दिखा दिया और भारत पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया। कालान्तर में यूनानी, शकों, हूणों, पह्लव आदि आक्रमणकारियों ने इसी मार्ग से भारत पर आक्रमण किया। राजनैतिक आक्रमण का एक यह परिणाम हुआ कि ईरानी साम्राज्य के समय बहुत से ईरानी, यूनानी, यूनानी सिपाही आदि भारत के पश्चिमोत्तर में आकर बस गये और जनता में उनका रक्त का मिश्रण हो गया। इनमें से कुछ तो पूर्ण भारतीय हो गये परन्तु अधिकांश पृथक् रहे। वे जिनकी सहानुभूति विदेशियों के साथ रहती थी और विदेशी आक्रमण के समय वह देश द्रोही सिद्ध होते थे। भारत तथा फारस के इस राजनैतिक सम्पर्क से दोनों देशों को लाभ हुआ। व्यापार की सुविधा के कारण दोनों देशों के व्यापार में बड़ी वृद्धि हुई। सम्भवतः फारस के विशाल तथा सुसंगठित शासन से भारतीयों में भी एकता के भाव उत्पन्न हुए और एक विशाल साम्राज्य स्थापित करने के लिये प्रोत्साहन मिला। फारस के शिलालेखों तथा भवन निर्माण के प्रादर्श का अनुकरण भारत में किया। चन्द्रगुप्त मौर्य तथा अशोक के काल में यह प्रभाव बिल्कुल स्पष्ट हो गया। कुछ विद्वानों के विचार में मौर्य शासकों के आचार-व्यवहार पारसीक ढंग के थे। परन्तु भारतवर्ष में पारसीक साम्राज्य का सबसे बड़ा चिह्न जो सात आठ सौ वर्षों तक चलता रहा वह था खरोष्ठी लिपि। यह लिपि दाहिने ओर से बाईं ओर को लिखी जाती थी। इसकी उत्पत्ति का वृत्तान्त दो चीनी ग्रन्थों में दो प्रकार से दिया गया है। एक ग्रन्थ में लिखा है कि इसे खरोष्ठ नामक एक आचार्य ने चलाया था और दूसरे ग्रन्थ में लिखा है कि यह भारत के पड़ोस के खरोष्ठ नामक देश की लिपि थी। आधुनिक विद्वानों का अनुमान है कि सम्भवतः यह प्राचीन पारसी की अरमइक लिपि से बनी है।

**सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व अथवा चौथी शताब्दी ई० पू० में भारत की दशा**—इस काल को भारत की राजनैतिक दशा पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर निम्नांकित चित्र दृष्टिगोचर होता है।—

**उत्तर-पूर्व की दशा**—*भारत युद्ध के उपरान्त भारतवर्ष में जो जनपदों के राजवंश थे उनका क्रमशः ह्रास होने लगा। इसमें से कुछ तो शैशुनाग वंश के शासन काल में* भारतीय इतिहास से विलीन हो गये थे और कुछ उसके बाद अपने अस्तित्व को खो बैठे। मिथिल अथवा विदेह वंश एक राज्य क्रान्ति में विनष्ट हो चुका था। काशी राज्य को कौशल ने हड़प कर लिया था। वीतिहोत्र वंश के स्थान पर प्रद्योत का वंश स्थापित होकर अपने अस्तित्व को खो बैठा था। हैहयवंश को सम्भवतः प्रद्योत ने ही मिटा दिया था। कलिङ्ग का राज्य मगध के अनुशासन में आ गया था। *शूरसेन अथवा मथुरा भी मगध राज्य में आ गया था। अश्मक के राजवंश को सम्भवतः नन्दवंश ने अन्त कर दिया था;* ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण कुन्तल प्रदेश अर्थात् उत्तरी कर्नाटक पर भी नन्दों ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। कौशाम्बी का पौरव वंश नन्द वंश अथवा महापद्म के समय में समाप्त हो चुका था। पांचाल देश की भी स्वतन्त्रता विनष्ट हो चुकी थी। कोशल तथा कुरु के राजवंशों का भी मगध ने अन्त कर दिया था। *इस प्रकार मगध एक* विशाल साम्राज्य हो गया था।

**उत्तर पश्चिम की दशा**—ऐसा प्रतीत होता है कि भारत का पश्चिमोत्तर प्रदेश अभी मगध राज्य के अधीन नहीं हुआ था। चौथी शताब्दी ई० पू० के मध्य में भारतवर्ष

का सीमांत प्रदेश छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों में विभक्त हो गया था। काबुल नदी के उत्तर के
पहाड़ी प्रदेश में जिसमें कुनर तथा स्वात की नदियाँ बहती हैं अश्वक लोग निवास करते
थे। यहीं कहीं पर्वतीय प्रदेश में न्यासा का नगर था जिसकी स्थापना यूनानियों ने की थी।
गान्धार प्रदेश सिन्ध नदी द्वारा दो भागों में विभक्त कर दिया गया था। नदी के पश्चिम
की ओर पुष्कलावती का साम्राज्य था जो आधुनिक पेशावर के जिले में था। नदी के पूर्व
की ओर तक्षशिला का राज्य था जो आधुनिक रावलपिण्डी के जिले में था। तक्षशिला
एक समृद्धिशाली राज्य था। इसकी शासन व्यवस्था बड़ी अच्छी थी और इसके नियम य
न्यायपूर्ण थे। इसकी राजधानी की प्रशंसा इतिहासकारों ने मुक्त-कण्ठ से की है। य
नगर एशिया तथा भारत के बीच का एक महान् व्यापारिक केन्द्र था। इसके हाटों क
प्रशंसा सभी सभ्य देशों में होती थी। यह नगर न केवल व्यापार का ही विशाल केन्द्र थ
[illegible] प्रसिद्ध विश्
[illegible] , काशी आदि
[illegible] व-विद्यालय
[illegible] बौद्ध ग्रन्थों
पता चलता है कि इस शिक्षा केन्द्र में वेद, वेदांग, धनुर्वेद, आयुर्वेद, चित्रकला, शिल
आदि विद्याओं तथा कलाओं का ज्ञान कराया जाता था। इस विश्व-विद्यालय में साहित्य
विज्ञान तथा कला कौशल के अठारह विषयों की शिक्षा दी जाती थी। विद्वानों का कहन
है कि पाणिनि जैसे धुरन्धर वैयाकरण तथा चाणक्य जैसे राजनीति-पण्डित को इस
विश्वविद्यालय में शिक्षा मिली थी। चिकित्सा शास्त्र ने भी इसके आश्रय में बड़ी उन्नति
कर ली थी। आत्रेय तथा जीवक इस विश्व-विद्यालय के विश्रुत आयुर्वेदज्ञ हुये हैं। या
के आयुर्वेदज्ञ साँप के काटने की बड़ी अच्छी दवा करते थे। चीन का एक राजकुमार अप
नेत्र-पीड़ा की औषधि कराने के लिये तक्षशिला आया था। कहा जाता है कि महाभार
का पाठ सर्व-प्रथम इसी नगर में हुआ था। तक्षशिला का शासक आम्भी था।

तक्षशिला के ठीक ऊपर पर्वतीय प्रदेश में उरशा तथा अभिसार के राज्य थे। उर
हजारा जिले में और अभिसार पुञ्च तथा नौशेरा में स्थित था। तक्षशिला के दक्षिण
पुरु अथवा पौरव के दो राज्य थे। इनमें से एक को बड़े पोरस का राज्य और दूसरे को छो
पोरस का राज्य कहते थे क्योंकि यहाँ पर बड़े पोरस का भतीजा राज्य करता था। ब
पोरस का राज्य झेलम तथा चिनाव नदियों के बीच में स्थित था और छोटे पोरस
राज्य चिनाव तथा रावी नदियों के बीच में था। पौरव राज्य की सीमा पर ग्लौकनक

था। उसकी तलवार शत्रुओं का विनाश उसी प्रकार करती थी जिस प्रकार वीर छत्रपति शिवाजी की अथवा महाराज छत्रसाल की। सिकन्दर बड़ा बलवान्, वीर, साहसी, उत्साही तथा महत्वाकांक्षी था। घोर से घोर विपत्ति पड़ने पर भी वह धैर्य को नहीं छोड़ता था और अपने गन्तव्य से विचलित न होता था। उसने बाल्यावस्था में ही विश्व विजय की

[illegible]

मकदूनी सैनिकों तथा अपने अधीनस्थ यूनान के भाड़े के सैनिकों की एक विशाल सेना प्रस्तुत की। उसके सामने ईजियन सागर तथा नील नदी से लेकर बाख्त्री तथा हिन्दूकुश तक फारस का विशाल साम्राज्य था। सबसे पहिले उसकी दृष्टि इसी साम्राज्य पर पड़ी

[illegible]

**सिकन्दर का भारत में प्रवेश**—विजयी सिकन्दर ने मार्ग में दुर्गों का निर्माण [illegible] में भारत [illegible] निस्तान [illegible] किया। [illegible] छोड़ कर [illegible] आ डटा। [illegible] दुर्ग की स्थापना की। इस दुर्ग में भी सिकंदर ने अपनी सेना की एक टुकड़ी को छोड़ दिया। अपनी शेष सेना के साथ पंजशीर नदी के मार्ग से वह बाख्त्री पहुँचा जो हिन्दूकुश पर्वत के उस पार था। यहाँ पर पारसीक साम्राज्य की अवशिष्ट शक्ति को सिकन्दर ने समाप्त कर दिया। अब बाख्त्री के परे सीर नदी तक का प्रदेश जो आजकल बोखारा समरकन्द कहलाता है सिकन्दर के आधीन हो गया।

**सिकन्दर की भारतीय विजय**—पोरस से लोहा लेने के पूर्व निम्न लिखित राजाओं ने सिकन्दर की आधीनता स्वीकार कर ली।

**शशि गुप्त तथा आम्भि का नतमस्तक होना**—हिन्दूकुश के उत्तर की ओर एक पहाड़ी राज्य था। इसका शासक एक भारतीय सरदार था जिसका नाम शशि गुप्त था। बाख्त्री के युद्ध में ईरानियों की ओर से वह भी लड़ा था। ईरानियों की पराजय के उपरांत शशिगुप्त अपनी सेना सहित सिकन्दर से जा मिला। इसी समय तक्षशिला के राजा आम्भि ने सिकन्दर के पास अपना राजदूत भेजा और बिना युद्ध किये ही उसकी आधीनता स्वीकार कर ली। यद्यपि बहुत से इतिहासकारों ने लिखा है कि इस कायरता के कार्य से आम्भि ने भारत के उज्ज्वल नाम को कलंकित किया परन्तु हो सकता है कि आम्भि के तर्क ने उसकी शूरता को प्रभावित कर लिया हो। सिकन्दर की विशाल सेना का सामना करना आम्भि के खिले खेल न था। यह निश्चय था कि आम्भि की पराजय होगी और अत

ओर (ora) नाम के दुर्गों पर भीषण युद्ध के उपरान्त अपना अधिकार स्थापित किया। बजिर को आजकल बीरकोट कहते हैं जो स्वात नदी के बायें तट पर स्थित है। ओर को आजकल उदेग्राम कहते हैं जो बीरकोट से १० मील ऊपर है।

पुष्करावती पर विजय—सिकन्दर की दूसरी सेना को भी पग-पग पर भयङ्कर शत्रुओं का सामना करना पड़ता था। तक्ष-शिला का राजा आम्भी सिकन्दर के सेनापतियों के साथ था। पुष्करावती (पश्चिमी गान्धार) के राजा अस्ती (Astes) ने एक महीने तक यूनानियों का बड़ी वीरता के साथ सामना किया परन्तु अन्त में उसकी पराजय हुई। उधर सिकन्दर भी अपनी सेना के साथ पुष्करावती में आ पहुँचा। उसने पुष्करावती के दुर्ग को आम्भी के एक अनुयायी सञ्जय को सौंप दिया। यद्यपि अस्सकेन लोग कई दुर्गों में पराजित हो चुके थे परन्तु वे अब भी सिन्धु नदी के किनारे अओर्नास (Aornos) अथवा अवर्ण नामक अभेद्य दुर्ग में अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करते रहे। घोर संघर्ष के उपरान्त सिकन्दर ने इस दुर्ग पर भी विजय प्राप्त कर ली और शशिगुप्त को वहाँ का सेनापति बना दिया।

आम्भी में सिकन्दर का स्वागत—३२६ ई० पू० वसन्त ऋतु के आरम्भ में सिकन्दर ने ओहिन्द नामक स्थान पर जो अटक से कुछ ही मील ऊपर है सिन्धु नदी को पार किया। नदी के पार तक्षशिला का राज्य था जहाँ आम्भी शासन करता था। उसने पहिले से ही सिकन्दर से मैत्री कर ली थी और उसे कई बार आमन्त्रित कर चुका था। अब उसने सिकन्दर का बड़े समारोह के साथ स्वागत किया और उसे भिन्न-भिन्न प्रकार के उपहार दिये। इससे सिकन्दर बहुत प्रसन्न हुआ और कुछ अपने उपहार मिला कर लौटा दिया। आम्भी ने अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिये सिकन्दर को ५००० सैनिक प्रदान किये।

अभिसार का नत-मस्तक होना—झेलम तथा चिनाब नदियों के बीच के पर्वतीय प्रदेश में अभिसार का राज्य था। सम्भवतः सिन्धु तथा झेलम के बीच का पर्वतीय प्रदेश जो उरशा कहलाता था अभिसार के अधीन था। अभिसार के अन्तर्गत आधुनिक पुन्छ तथा नौशेरा के ज़िले आते हैं। यह सोच कर कि सिकन्दर के विरुद्ध युद्ध करना बेकार है अभिसार तथा अन्य छोटे छोटे राज्यों ने सिकन्दर की आधीनता स्वीकार कर ली और उसके मित्र बन गये।

सिकन्दर का पोरस के साथ संघर्ष—वितस्ता (झेलम) नदी के इस पार कैकय देश का राजा पुरु अथवा पोरस था। जब सिकन्दर तक्षशिला में था तब उसने अपना राजदूत पोरस के पास भेजा था कि वह उसकी आधीनता स्वीकार कर ले। वीर पोरस ने [illegible] स्वागत करेगा। [illegible] का मत है कि [illegible]। परन्तु अन्य विद्वानों का कहना है कि नन्दन नामक पर्वतीय मार्ग द्वारा हरनपुर गाँव के निकट वह वितस्ता के दाहिने किनारे पर पहुँचा था। जब सिकन्दर वितस्ता के तीर पर आया तब उसने देखा कि पोरस अपनी विशाल सेना के साथ उसका विरोध करने के लिये पहिले से ही आ डटा है। इस समय नदी में बाढ़ आ गई थी। अतएव उसका पार करना एक दुष्कर कार्य था। कुछ काल तक सिकन्दर अपनी सेना का भिन्न-भिन्न दिशाओं में सञ्चालन कर अपने विरोधी की दृष्टि को इधर उधर आकर्षित करता रहा जिससे उसे यह पता न चले कि वास्तव में सिकन्दर किस स्थान पर नदी को पार करना चाहता है। [illegible] के पड़ाव के १७ मील ऊपर नदी का मोड़ था। यहाँ पर नदी के मध्य में एक [illegible] जंगल से ढका था। एक दिन रात के अँधेरे में जब भयंकर आँधी चल

यों की भक्ति, सहयोग
ायी साम्राज्य स्थापित
एवं शत्रुओं को सन्तुष्ट
का अनुसरण करना आवश्यक हो गया। सिकन्दर की यह नीति कोई

पर फिसलने लगे थे। ऐसी दशा में रथों का सञ्चालन असंभव सा हो गया। घोड़ों के फिसलने लगे थे और भारी बोझ के कारण रथों के पहिये कीचड़ में धसने लगे। साथ

ानया के तीक्ष्ण बाणों के आघात से वे उन्मत्त हो गये और भेड़ों की तरह पोरस की पर टूट पड़े और उसे रौंद डाला। इसके अतिरिक्त भारतीय सेना बड़ी विशाल थी प्रकृति के प्रतिकूल हो जाने से उसका संचालन ठीक से न हो सका। इसके विरुद्ध न्दर की सुशिक्षित तथा अनुभवी घुड़सवारों की सेना का सञ्चालन अधिक द्रुतगति से सकता था। सिकन्दर एक महान् सेनानायक भी था। उसकी गणना विश्व के सर्वोत्कृष्ट ायकों में होती थी। वह उच्चकोटि का रण-पण्डित था और यूरोप के उत्तम से उत्तम ाओं को उसने प्रयोग किया था। उसने अपने यूरोपीय आधार से सदैव अपना ाके बनाये रक्खा जिससे उसे रसद के अभाव का बहुत कम अनुभव होता था। भारत छोटे-छोटे राज्य आपस में लड़ रहे थे। अतएव यह लोग सङ्गठित होकर शत्रु के विरुद्ध चा न बना सके वरन् यह लोग सिकन्दर से ही मिल गये और उसकी सहायता करने े। इन्हीं कारणों से पोरस की पराजय हुई थी।

**सिकन्दर की अन्य विजय**—इधर सिकन्दर की सेना नये राज्यों पर विजय करने में व्यस्त थी इधर विजित देशों में विद्रोह तथा विप्लव की सूचनायें आने ीं। हरउवती तथा गुवास्तु में दो विप्लव हो चुके थे। इन विद्रोहों के दबाने के लिये न्दर को सेनायें भेजनी पड़ी थीं। परन्तु इन विद्रोहों से सिकन्दर की विजय प्रगति ी न हुई। अब सिकन्दर ने ग्लुकुकायन (Glaus[illegible]ika) नामक राज्य पर आक्रमण रम्भ कर दिया। यह एक संघ राज्य था। सिकन्दर ने इसके सैंतीस नगरों पर विजय त कर ली और उन्हें पोरस को दे दिया। मद्रक देश में पोरस का भतीजा छोटा पोरस ासन करता था। उसने बिना युद्ध किये ही पोरस की अधीनता स्वीकार कर ली। इरा- ी अथवा रावी नदी के पूर्व में कठ (Kathaioi) जाति शासन करती थी। यह ाकल मार्थि के नाम से प्रसिद्ध है। कठ एक वीर तथा स्वतन्त्रता प्रेमी ज ाों का एक संघ राज्य था। स्ट्राबो से पता चलता है कि कठों में सुन्दरता ादर होता था और सबसे अधिक सुन्दर व्यक्ति राजा चुना जाता था। इस

(८) सिकन्दर के लौटने का एक यह भी कारण था कि पीछे के जीते हुये प्रदेशों में विद्रोह हो रहे थे।

(९) ठंडे देश से आने वाले यूनानियों के लिये पंजाब की उष्ण जलवायु असह्य थी।

(१०) इसके अतिरिक्त जब सिकन्दर की सेना ने विपाशा (व्यास) की ओर प्रस्थान किया था तब आश्चर्यजनक सूचनायें पूर्वीय भारत के विषय में उन्हें प्राप्त हुई थीं। उन्होंने ऐसी कथायें सुनी थीं कि पूर्व में बड़ी विस्तृत मरुभूमि है और ऐसी नदियाँ हैं जिनका पार करना असम्भव है। यूनानियों ने यह भी सुना था कि गंगा नदी के उस पार गंगारिदे (Gangaridae) तथा प्रेसी (Prasii) नामक दो विशाल राष्ट्र हैं जिनके राजा के पास अत्यन्त विशाल सेनायें हैं और जो सिकन्दर से युद्ध करने के लिये उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। प्लूटार्क का कहना है कि इन दो राष्ट्रों के राजाओं के पास ८० हजार घोड़े, दो लाख पैदल, आठ हजार रथ, और छः हजार हाथी थे जो सिकन्दर से लोहा लेने के लिये उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। यद्यपि इन कथाओं को सुन कर सिकन्दर की इन पर विजय प्राप्त करने की उत्कण्ठा अवश्य तीव्र हो गई होगी परन्तु उसके सैनिकों ने टस से मस न किया। यद्यपि सिकन्दर ने अपने सैनिकों को विश्वास दिलाने तथा इन कथाओं को काल्पनिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया परन्तु अपने सैनिकों को प्रोत्साहित करने के उसके सभी प्रयत्न विफल रहे। वह तीन दिन तक अपने तम्बू से नहीं निकला। अन्त में उसने स्वदेश को लौट जाने का निश्चय किया परन्तु अपनी प्रगति की अन्तिम सीमा पर वह एक स्मारक चिन्ह निर्मित करना चाहता था। अतएव उसने यूनानी देवताओं के लिये बारह विशाल पत्थर की वेदियाँ बनवाईं और देवताओं को बलि दिया। उसने प्रार्थना की कि उसकी सेना सुरक्षित घर पहुँच जाय।

**सिकन्दर का लौटना**—सिकन्दर ने अपनी विशाल सेना के साथ चिनाव नदी की ओर प्रस्थान किया और मार्ग में बिना किसी दुर्घटना के वह चिनाब के तट पर पहुँच गया। यहाँ पर उसने नदी के मार्ग से समुद्र तट तक पहुँचने की तैयारी आरम्भ कर दी। यहां पर अभिसार के शासक के उपहार उसे मिले। उसने अभिसार के राजा को अपना क्षत्रप नियुक्त कर दिया और उरशा (Ursa) अथवा अशकेश (Arsakes) के राजा को उसके अधीन कर दिया। अब सिकन्दर ने झेलम नदी की ओर कूच किया और उसके तट पर पहुँच कर सम्भवतः उसी स्थान पर अपनी छावनी डाली जहाँ पहिले पोरस की थी। यहाँ पर नदी के मार्ग से जाने के लिये कई सप्ताह तक तैयारियाँ होती रहीं। अक्टूबर ३२६ ई० पू० में तैयारी समाप्त हो गई। परन्तु प्रस्थान करने के पूर्व उसने एक सभा की और पोरस को झेलम तथा व्यास नदियों के बीच की सम्पूर्ण विजित भूमि का शासक बना दिया। कहा जाता है कि इसके अन्तर्गत कुल सात राष्ट्र थे। इसी अवसर पर सिकन्दर ने पोरस की तक्षशिला के राजा से मैत्री कराई थी जिससे वह बड़ी घृणा करता था। तक्षशिला का राजा सिन्धु तथा झेलम नदियों के बीच की भूमि का शासक मान लिया गया।

**सौभूत की पराजय**—अब सिकन्दर अपने विशाल बेड़े के साथ झेलम के मार्ग से चला। उसने सेनापतियों को आज्ञा दी कि वे झेलम तथा सिन्ध नदियों के बीच के पर्वतीय प्रदेश के सौभूति नामक राजा की राजधानी पर विजय प्राप्त कर लें। सौभूति ने निर्विरोध सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली। सिकन्दर के दो सेनापति बेड़े की रक्षा के लिये नदी के दोनों किनारों से और एक पीछे-पीछे विशाल सेनाओं के साथ चलते थे। तीन दिन तक यात्रा करने के उपरान्त एक स्थान पर पड़ाव डाल दिया गया। दो दिन विश्राम करने के उपरान्त फिर प्रस्थान किया गया। अब वह सेनापति जो पीछे-पीछे

सिकन्दर को बहुत तंग किया। यह लोग उन लोगों की निन्दा करते थे जिन्होंने सिकंदर क आधीनता स्वीकार कर ली थी। परन्तु सिकन्दर ने इस राज्य को नष्ट कर डाला और इसके नेताओं के मृतक शरीर को खुले मार्गों में टंगवा दिया।

सिकंदर का पातन में प्रवेश—अन्त में सिकन्दर ने पातन अथवा पातनप्रस्थ नामक स्थान पर अपनी विशाल सेना के साथ पदार्पण किया। पातन सम्भवतः उस स्थान पर था जहां से सिन्ध नदी दो भागों में विभाजित होती है और जहां आधुनिक हैदराबाद स्थित है। पातन में दो भिन्न-भिन्न वंशों के राजा तथा एक सभा शासन करती थी। यह लोग स्वतन्त्रता के बड़े प्रेमी थे। परन्तु यह भी जानते थे कि सिकन्दर जैसे शक्तिशाली शत्रु का सामना करना भी उनके लिये कठिन है। अतएव अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये वे लोग देश छोड़ कर भाग गये। सिकन्दर ने निर्विरोध पातन में प्रवेश किया और उसकी किलेबन्दी करना तथा वहां पर छावनियां बनवाना आरम्भ कर दिया।

सिकंदर का भारत से प्रस्थान तथा मृत्यु—लगभग ३२५ ई० पू० में सितंबर महीने के आरम्भ में सिकन्दर ने घर के लिये प्रस्थान कर दिया। उसने अपनी सेना को दो भागों में विभक्त कर दिया। एक सेना उसके जल सेनापति नियार्क (Nearchos) की अध्यक्षता में सामुद्रिक मार्ग से चल पड़ी और मलान अन्तरीप को पार कर भारत की सीमा से आगे बढ़ गई। दूसरी सेना सिकन्दर की अध्यक्षता में स्थल-मार्ग से बलूचिस्तान के दक्षिणी किनारे से एकरान होती हुई हिंगोल नदी को पार कर भारतीय सीमा से आगे निकल गई। इस सेना का एक अंश क्रेटर की अध्यक्षता में बोलन के पर्वतीय मार्ग से पहिले ही भेजा जा चुका था। सब से कठिन मार्ग से सिकन्दर ने स्वयम् प्रस्थान किया था। उस मार्ग में घोर आपत्तियों का सामना करना पड़ा। अन्त में वह बेबिलान (Babylon) पहुँचा। वहीं पर ३२३ ई० पू० में उसका परलोकवास हो गया।

साम्राज्य का छिन्न-भिन्न होना—सिकन्दर ने जिन देशों पर विजय प्राप्त की थी उन्हें वह अपने साम्राज्य का स्थायी अंग बनाना चाहता था। परन्तु वह भी जानता था कि ऐसे विशाल साम्राज्य का शासन उन दिनों एक केन्द्र से करना असंभव था क्योंकि आवागमन के साधनों में बड़ी कमी थी। अतएव भारत में उसने भारतीयों की सहायता से अपनी सत्ता को स्थायी बनाने का प्रयत्न किया था। झेलम नदी के पश्चिम के प्रदेशों में उसने पारसीक तथा यूनानी गवर्नरों की अधीनता में बहुत से क्षत्रप स्थापित किये। कभी कभी भारतीय सामन्त भी इनकी सहायता किया करते थे। शशिगुप्त तथा आम्भी ने इनकी बड़ी सहायता की थी। झेलम नदी के पूर्व के प्रदेशों में उसने भारतीय सामन्त नियुक्त कर दिये थे। इनमें पौरव तथा अभिसार के राजा सर्व प्रधान थे। कई स्थानों में उसने यूनानी गवर्नर भी नियुक्त किये थे। सिन्ध के ऊपरी भाग के प्रदेश में उसने फिलिप को और सिन्ध में पीथन (Peithon) को गवर्नर नियुक्त किया था। उसने बहुत से नये तथा पुराने न[illegible]रों में यूनानी सेनायें रक्खी थीं। परन्तु सिकन्दर के प्रस्थान करते ही विप्लव आरम्भ हो गया। वाहीक में घोर उपद्रव आरम्भ हो गया। वास्तव में उसके मरने के बाद उसके विशाल साम्राज्य को एक छत्रछाया में रखने योग्य कोई शक्ति [illegible] उसका विशाल साम्राज्य उसके सेनापतियों में विभक्त हो गया जो परस्पर लड़ने [illegible] काल में [illegible] हो गया।

[illegible] गया। मकदूनिया के उत्तर पश्चिम में [illegible]श्चिम में एक तीसरा राजवंश शासन [illegible] नामक सेनापति शासन करने लगा

और तीन शताब्दी तक उसी के वंशजों ने वहाँ शासन किया। काबुल तथा सीरिया
सेल्यूकस को मिला। इस प्रकार सिकन्दर का विशाल साम्राज्य उसके मरने के उपरान्त
छिन्न भिन्न होने लगा।

## सिकन्दर के आक्रमण का प्रभाव

**सिकन्दर के आक्रमण का प्रभाव**—सिकन्दर के आक्रमण के परिणाम के
विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि सिकन्दर
आक्रमण एक आंधी की भाँति आया और एक बगोले की तरह चला गया। अ
इसका कोई प्रत्यक्ष तथा स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु अन्य विद्वानों की धारणा है
यह एक ऐसा महान् घटना थी कि भारतीय इतिहास पर इसका प्रत्यक्ष तथा अप्र
स्थायी तथा अस्थायी प्रभाव पड़े बिना न रहा। अब इन दोनों विचार-धाराओं का अल
अलग विश्लेषण करना आवश्यक है।

**सिकन्दर के आक्रमण का कोई प्रत्यक्ष तथा स्थायी प्रभाव नहीं**—
सिकंदर का भारतीय आक्रमण भारत के इतिहास में एक घटना मात्र है और सिकन्दर
भारतीय इतिहास के पृष्ठों पर उल्का की भांति प्रकट हुआ था जो क्षणिक समय के लिये
उद्दीप्यमान् होता है और फिर क्षितिज में विलीन हो जाता है। सिकन्दर के उपनिवेशों
की जड़ें भारत में न जम सकीं। भारत का यूनानीकरण न हो सका। रक्त पूर्ण युद्ध
के भयावह चिह्नों के अतिरिक्त वह भारत में और कुछ न छोड़ गया। भारतवासी उसके
आक्रमण की ओर से उदासीन ही रहे और उसकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। भारत
के बहुत से भागों में तो लोगों को उसके आक्रमण का पता तक नहीं चला। वास्तव में
सिकन्दर के आक्रमण का कोई प्रत्यक्ष तथा स्थायी राजनैतिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक
अथवा सामाजिक प्रभाव नहीं पड़ा।

इस सम्बन्ध में डा० स्मिथ ने लिखा है, "भारतवर्ष अपरिवर्तित रहा। युद्ध का घाव
र ही पूरा हो गया। जैसे सन्तोषं बैलों तथा उनसे अक्षुण्ण सन्तोषी किसानों ने अपने
ने अवरुद्ध कार्यों को आरम्भ किया वैसे ही विनष्ट क्षेत्र फिर लहलहाने लगे और वह
र जहाँ असंख्य प्राणियों की हत्या हुई थी फिर असंख्य प्राणियों से परिपूर्ण हो गये
की कोई सीमा नहीं होती सिवाय उस सीमा के जो मनुष्य की निर्दयता से—
भी अधिक प्रकृति के निर्दयी कार्यों से निर्धारित की जाती है। भारत पर यू
का प्रभाव नहीं पड़ा। भारत अपनी भव्य विलगता का जीवन व्यतीत करता र
ही यूनानी तूफान के आगमन को भूल गया। हिन्दू, बौद्ध अथवा जैन वि
य लेखक ने सिकन्दर अथवा उसके कार्यों का लेशमात्र संकेत नहीं किया है।"
स सम्बन्ध में डा० राधा कुमुद मुकर्जी ने लिखा है, "सिकन्दर के भारतीय आ
भाव तथा परिणाम का कभी-कभी अधिक मूल्यांकन किया जाता है। इसमें स
कि यह साहसी कार्य अत्यन्त प्रशंसनीय था परन्तु इसे एक महान् सामरिक सफ
जा सकता क्योंकि उसे हिन्दुस्तान के किसी भी महान् राष्ट्र का सामना
पड़ा था। अतएव वास्तव में यूरोप तथा एशिया के रण कौशल की कभा
परीक्षा नहीं हुई जैसी कि कुछ विद्वानों का धारणा है। सिकन्दर का आक्रम
तिक दृष्टिकोण से भी सफल नहीं रहा क्योंकि इसके फल स्वरूप पंजाब मेसीडोनि
लोगों के अधिकार में स्थायी रूप से नहीं आया। जनता के साहित्य, जीवन अथवा सा
पर इसकी कोई छाप नहीं पड़ी। विदेशी अधिकार का जो कुछ अवशिष्ट था वह भं
के भारत से लौट जाने और ३२३ ई० पू० में उसकी मृत्यु हो जाने के बाद उस
के युद्ध में समाप्त हो गया जिसे भारतीय नेता चन्द्रगुप्त मौर्य ने जो लगभग
व पंजाब का शासक बन गया सफलतापूर्वक किया था।......वास्तव में
स्थिति की स्वाभाविक कठिनाइयों के कारण [illegible]

कोई अवसर न था। किसी भी दशा में पंजाब तथा सिन्ध को अपने विश्व साम्राज्य में सम्मिलित करने का उसका स्वप्न विफल होना अवश्यम्भावी था। आवागमन के साधनों के अभाव के कारण युद्ध आधार से इतनी दूर स्थित भूमि में युद्ध करना साध्य नहीं था।...... अपने साम्राज्य के केन्द्र से इतनी दूर की विजयों को सिकन्दर सुदृढ़ नहीं बना सकता था।"

जो विद्वान् इस मत के पक्ष में हैं कि सिकन्दर के आक्रमण का कोई प्रत्यक्ष तथा स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा वे अपने मत के अनुमोदन में निम्न-लिखित तर्क उपस्थित करते हैं:—

(१) सिकन्दर लगभग १९ महीने तक भारत में रहा और उसका यह पूरा समय भीषण संग्राम करने में व्यतीत हुआ था। अतएव इस लघु-काल में जो युद्ध करने में व्यतीत हुआ था भारत पर राजनैतिक तथा सामाजिक प्रभाव न पड़ना स्वाभाविक ही था। युद्धकालीन स्थिति में दो प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र एक दूसरे से केवल युद्ध-कला ही सीख सकते हैं।

(२) सिकन्दर ने भारत के बहुत ही थोड़े से भाग पर विजय प्राप्त की थी। वह केवल गान्धार तथा सिन्धु की घाटी को ही अपने साम्राज्य में मिला सका था। अतएव सिकन्दर का आक्रमण भारत के सीमान्त प्रदेश पर एक धावा मात्र था। इससे सिकन्दर की केवल आत्माभिमान तथा महत्वाकांक्षा की ही भावना सन्तुष्ट हुई। जिन प्रान्तों को सिकन्दर ने जीता था वहाँ से भी यूनानी आक्रमण का प्रभाव सिकन्दर की मृत्यु के दो ही तीन वर्ष बाद समाप्त हो गया क्योंकि यह प्रान्त स्वतन्त्र हो गये और यूनानियों को वहाँ से मार भगाया।

(३) सिकन्दर के आक्रमण का सैनिक दृष्टि-कोण से भी कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। सिकन्दर अपने रण-कौशल से भारतीयों को अधिक प्रभावित न कर सका क्योंकि जो विजय उसने प्राप्त की थी उसे वह भीषण संग्राम के उपरान्त बड़ी कठिनता से प्राप्त कर सका था। जब पोरस के छोटे से राज्य पर विजय प्राप्त करने में उसे इतनी कठिनाई पड़ी तब मगध आदि जैसे विशाल साम्राज्यों पर वह कैसे विजय प्राप्त कर सकता था। जो विजय सिकन्दर ने प्राप्त की थी उसे सर्वत्र उसने अपने ही बाहु बल से नहीं प्राप्त की थी वरन् उसे भारतीय राजाओं की सहायता लेनी पड़ी थी। ऐसी दशा में सिकन्दर भारत के सैनिकों को अधिक प्रभावित न कर सका। भारतीयों ने अपनी रण-कला में कोई परिवर्तन नहीं किया। वह पूर्ववत् हस्ति-सेना का प्रयोग करते रहे और अपनी प्राचीन व्यवस्था को जारी रक्खा।

(४) सिकन्दर का आक्रमण ऐसा महत्वहीन था कि लोगों ने इसकी ओर विशेष ध्यान ही नहीं दिया और तत्कालीन भारत के किसी भी लेखक ने किसी भी ग्रन्थ में इस आक्रमण का उल्लेख नहीं किया है। इसका कारण यह था कि भारतीयों के दृष्टिकोण से यह एक नगण्य घटना थी क्योंकि इससे भारत का केवल पश्चिमोत्तर भाग स्पृष्ट हुआ था, उसका हृदय अस्पृष्ट ही रहा।

(५) भारतवासी रूढ़िवादी तथा अपरिवर्तनशील होते हैं। उन्होंने अन्य बातों को कौन कहे रण कला के भी यूनानियों से सीखने का प्रयत्न नहीं किया। भारतीयों की अपनी ही सभ्यता तथा संस्कृति ऐसी उच्च-कोटि की थी कि उनका यूनानियों की ओर आकृष्ट होना सम्भव न था।

(६) यूनानियों ने भारत में भीषण ताण्डव-नृत्य किया था। उन्होंने स्त्रियों, पुरुषों तथा बच्चों में कोई विभेद न कर असंख्य प्राणियों का हत्याकाण्ड किया था। अतएव यह कहा जा सकता है कि यूनानी बर्बरता में अपने परवर्ती आक्रमणकारी तैमूर लंग तथा

हुआ।" श्री मजूमदार जी ने लिखा है, "उन सामुद्रिक तथा साहसिक यात्राओं के कारण जिनकी सिकन्दर ने आयोजना की थी उसके समकालीन लोगों का भौगोलिक ज्ञान अधिक विस्तृत हो गया और व्यापार तथा सामुद्रिक यात्राओं के लिये नये-नये मार्ग तथा आवागमन के साधन खुल गये। वह उपनिवेश जो विजेता ने भारत के सीमान्त प्रदेश में स्थापित किये थे मौर्यों द्वारा बिल्कुल विनष्ट नहीं किये गये। यवन पदाधिकारी मगध के महान् सम्राट की सेवायें करते रहे और जब मगध का सूर्यास्त होने लगा, तब साहसी यवनों ने उत्तर-पश्चिम में अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। यदि कालान्तर में यूनानियों ने बौद्ध तथा भागवतों से धर्म तथा दर्शन में शिक्षा प्राप्त की तो भारतीयों ने यूनानी मुद्रा का अनुकरण किया, यूनानी ज्योतिषियों का आदर किया और यूनानी कला की प्रशंसा की। यह सब इसी से सम्भव हुआ है कि सिकन्दर ने यूनानियों की छोटी छोटी टुकड़ियों को पश्चिमी तथा मध्य एशिया में और सिन्धु तथा चिनाब नदियों के किनारे छोड़ने की नीति का अनुसरण किया था।" डॉ० राम शङ्कर त्रिपाठी ने लिखा है कि सिकन्दर के आक्रमण से भारतीयों को यह मालूम हो गया कि उनके सैनिक संगठन तथा युद्ध कला में बड़ी दुर्बलतायें थीं और एक सुशिक्षित तथा सुव्यवस्थित छोटी सी सेना भयंकर आपत्ति में भी आश्चर्यजनक कार्य कर सकती थी। इस सम्बन्ध में प्रो० राधा कुमुद मुकर्जी ने लिखा है, "परन्तु भारतीय राजनीति पर सिकन्दर के आक्रमण का एक दूसरी प्रकार से प्रभाव पड़ा। इसने राजनैतिक एकता के स्थापित करने में सहायता प्रदान की जिसकी देश को बड़ी आवश्यकता थी। अब छोटे-छोटे राज्य बड़े-बड़े राज्यों यथा पोरस के तथा अभिसार अथवा तक्षशिला में सम्मिलित हो गये। इस प्रकार भारतीय साम्राज्य के लिये मार्ग तैयार हो गया जिसे थोड़े ही दिन बाद चन्द्रगुप्त मौर्य ने स्थापित किया।........सिकन्दर के आक्रमण का केवल यही स्थायी परिणाम हुआ कि इसने भारत तथा यूनान के बीच आवागमन का मार्ग खोल दिया और दोनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध के लिये मार्ग तैयार हो गया। प्रो० के० ए० नीलकान्त शास्त्री ने सिकन्दर के आक्रमण पर प्रकाश डालते हुये लिखा है, "परन्तु आक्रमण स्वयं, यद्यपि यह दो वर्ष से कम तक रहा, एक ऐसी महान् घटना थी कि चीजें जैसे थीं वैसे न रह सकीं। इसने इस बात को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित कर दिया कि एक दृढ़ प्रतिज्ञ शत्रु की संयम शक्ति की समानता स्वतन्त्रता का उत्कट जनपूर्ण प्रेम नहीं कर सकता।.....इसने सिन्धु नदी के पास की वीर जातियों को दुर्बल तथा छिन्न-भिन्न कर दिया और इस प्रकार मौर्य शासन के सरलतापूर्वक विस्तार के लिये मार्ग तैयार कर दिया। इसने इस बात को प्रदर्शित कर दिया कि भारतीय शासकों को अधिक सुदृ

(१) इस आक्रमण के परिणाम स्वरूप सीमान्त प्रदेश, पश्चिमी पंजाब तथा सिंध में स्थायी रूप से यूनानी सत्ता स्थापित हो गई जिसके फल-स्वरूप यवनीय शासन-व्यवस्था का श्रीगणेश हुआ। परन्तु सिकन्दर की मृत्यु के उपरान्त इस यूनानी शासन-प्रणाली तथा उनके केन्द्रों का विनाश हो गया और परवर्ती मौर्य शासन-व्यवस्था पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

(२) अपनी भारतीय विजय-यात्रा की अवधि में सिकन्दर ने बहुत से स्कन्धा[illegible] तथा नगर स्थापित किये थे जिनका अस्तित्व उसकी मृत्यु के उपरान्त भी बहुत दिनों तक बना रहा और जिनके द्वारा यूनानी जीवन का क्षीण प्रभाव अपने सीमित क्षेत्र में भारत पर पड़ता रहा।

(३) इस आक्रमण से पश्चिमोत्तर भारत की राजनैतिक तथा सैनिक दुर्बलतायें [illegible] हो गईं। उन्होंने अपनी आँखों देखा कि किस प्रकार छोटे-छोटे राज्य एक संगठित विदे[illegible] शक्ति के सामने पराजित हो जाते हैं।

(४) सिकन्दर के आक्रमण के परिणाम स्वरूप यूनानियों ने पश्चिमोत्तर प्रदेश में एक संगठित राज्य स्थापित कर दिया और भारतीयों को राजनैतिक एकता का पाठ पढ़ाया।

(५) सिकन्दर के आक्रमण ने पश्चिमोत्तर प्रदेश के राज्यों को जीर्ण-शीर्ण बना दिया था। इससे कालान्तर में चन्द्रगुप्त मौर्य के लिये इस प्रदेश में अपनी सत्ता स्थापित करना अत्यन्त सरल कार्य हो गया।

(६) इस आक्रमण से भारतीयों ने यह भी पाठ सीखा कि इनका सैन्य संग[illegible] [illegible]ए कौशल अपर्याप्त तथा दोष-पूर्ण है और सुशिक्षित तथा संयत सेना अल्पसंख्य[illegible] [illegible] भी जय लक्ष्मी प्राप्त कर सकती है।

सारांश यह है कि यूनानी आक्रमण ने अप्रत्यक्ष रूप में भारतीय एकता तथा [illegible] एकता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया।

ऐतिहासिक लाभ—सिकन्दर के आक्रमण से प्राचीन भारत के इतिहास के [illegible] [illegible]हासकारों को बड़ी सहायता मिली है। इस आक्रमण के निम्नलिखित ऐतिहासि[illegible] [illegible]न बतलाये गये हैं :—

(१) सिकन्दर के आक्रमण की तिथि ने प्राचीन भारत के तिथि-क्रम की बहुत सी ग्रंथियों को सुलझा दिया है। सिकन्दर के आक्रमण की निश्चित तिथि (३२६ ई० पू०) का हमें ज्ञान है। इसके पूर्व की कोई भी तिथि निश्चित तथा विश्वस्त और विवाद-शून्य नहीं है। इस तिथि ने भारत के क्रमागत इतिहास के लिखने में बड़ी सहायता पहुँचाई है।

(२) सिकंदर के साथ बहुत से विद्वान् लेखक भी भारत आये थे। इन लोगों ने भार[illegible] की तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दशा का वर्णन किया है। यद्यपि इन विद्वानों की रचनायें अब उपलब्ध नहीं हैं परन्तु उनके परवर्ती लेखकों की रचनाओं में यह तथ्य उद्धरण के रूप में प्राप्त होते हैं। इन तथ्यों से प्राचीन भारत के इतिहास के निर्माण में बड़ी सहायता मिली है।

यातायात तथा वाणिज्य पर प्रभाव—सिकंदर के आक्रमण का यातायात तथा वाणिज्य-व्यवसाय पर भी निम्नांकित प्रभाव पड़ा :—

(१) यद्यपि यूनान तथा भारत सिकंदर के आक्रमण के पहिले ही से एक दूसरे से परिचित थे और जल तथा स्थल दोनों मार्गों से एक दूसरे देश के यात्री तथा व्यापारी आते जाते थे परन्तु सिकंदर के आक्रमण से यह सम्बन्ध और अधिक घनिष्ट तथा प्रत्यक्ष हो गया। इस आक्रमण के परिणाम स्वरूप कम से कम चार व्यापारिक मार्ग, एक सामुद्रिक तथा तीन स्थल के खुल गये। वह स्थल-मार्ग जो काबुल, बलूचिस्तान में मुल्तान होते तथा जेड्रोसिया से होकर आते थे अत्यन्त लाभ दायक सिद्ध हुये। इस प्रकार

[illegible] र्थक्य की दीवार समाप्त हो गई

[illegible] में अत्यन्त घनिष्ठ व्यापारिक

[illegible] धिक संख्या में आने और यहाँ
र बस जाने से व्यापारिक सम्बन्ध को बड़ा प्रोत्साहन मिला। यद्यपि यूनानियों का
ारतीय साम्राज्य शीघ्र ही समाप्त हो गया परन्तु उनका साम्राज्य इसके बाद भी भारतीय
ीमा को बहुत दूर तक स्पर्श करता रहा। फलतः इस व्यापारिक सम्बन्ध में कोई शिथि-
लता नहीं आने पाई।

(३) चूँकि समस्त पश्चिमी एशिया में यूनानियों का सुसंगठित तथा विस्तृत साम्राज्य
फैला था अतएव यह आवागमन का मार्ग अत्यन्त सुरक्षित तथा सुगम बन गया।
फलतः जल-मार्ग की अपेक्षा स्थल-मार्ग का महत्व बहुत बढ़ गया।

(४) यूनान तथा भारत में घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण
[illegible]
हुये अश्वारोहियों की मूर्तियाँ अंकित हैं।

सांस्कृतिक प्रभाव—सिकन्दर के आक्रमण का अप्रत्यक्ष रूप में भारतीय संस्कृति
पर भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव निम्न लिखित क्षेत्रों में परिलक्षित
होता है :—

(१) भारतीय ज्योतिष पर यूनानियों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

(२) यूनानी दार्शनिक पैथागोरस के पुनर्जन्मवाद, आत्मा आदि के सिद्धान्तों पर
भारतीय दर्शन की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है।

(३) यूनानी साम्राज्य भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर दीर्घ-काल तक अपना अस्तित्व
बनाये रक्खा जिसके परिणाम स्वरूप कालान्तर में कला के क्षेत्र में एक नवीन शैली का
जन्म हुआ जिसे गान्धार शैली कहते हैं। इस शैली की विशेषता यह है कि इसमें वस्तु
तो भारतीय है परन्तु उसकी बनावट, सजावट तथा विधि यूनानी है।

(४) भवनों के आकार-प्रकार, अलंकृत करने तथा सजावट में भी कुछ काल तक यूनानी
प्रभाव परिलक्षित होता रहा।

(५) मुद्रा-निर्माण में भारतीयों ने बहुत बड़े अंश में यूनानियों का अनुकरण
किया था। भारतीयों की प्राचीन मुद्रायें पंचमार्क की होती थीं जिनका आकार तथा तौल
अनियमित होता था। यूनानियों ने इनके स्थान पर सुन्दर कलात्मक शैली तथा चिह्न से
अंकित नियमित ढंग की मुद्रायें चलाईं जिनका अनुकरण बहुत दिनों तक भारत में
होता रहा।

इस काल में व्यापार तथा व्यवसाय, साहित्य तथा कला और विज्ञान तथा दर्शन की बड़ी उन्नति हुई जिससे भारत का मस्तक उन्नत हुआ।

**विदेशियों का निष्क्रमण**—इस युग की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना यह भी थी जो विदेशी भारत में प्रविष्ट हो आये थे और यहाँ पर अपनी सत्ता स्थापित कर लिये उन्हें देश से निकाल दिया गया। विदेशियों के निष्क्रमण का श्रेय चन्द्रगुप्त मौर्य को प्राप्त है।

**मौर्य कालीन इतिहास के साधन**—मौर्य काल का इतिहास जानने के लिये अनेक साधन उपलब्ध हैं। इनमें से निम्नलिखित प्रधान हैं—

**यूनानी ग्रन्थ**—इस युग का इतिहास जानने का एक उत्तम साधन यूनानी ग्रन्थ तथा लेख हैं। सिकन्दर के आक्रमण के समय तथा उसके उपरान्त भारत में प्रवेश करने वाले यूनानी विद्वानों के लेख तत्कालीन इतिहास पर बहुत अधिक प्रकाश डालते हैं। इनमें मेगेस्थनीज का भारतीय वर्णन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। मेगेस्थनीज सेल्यूकस का राजदूत था और चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में भारत आया था। यद्यपि भारत-वर्ष मेगेस्थनीज का ग्रन्थ लुप्त हो गया है परन्तु उसके अंश उद्धरण के रूप में उपलब्ध हैं। मेगेस्थनीज का विवेचनात्मक दृष्टिकोण नहीं था। अतएव दूसरों द्वारा प्राप्त झूठी सूचनाओं के कारण मेगेस्थनीज में कहीं-कहीं मिथ्या-भाषण का आभास मिलता है। मेगेस्थनीज ने पाटलिपुत्र का विस्तृत वर्णन किया है। उसके लेखों से मौर्य शासन व्यवस्था, राजसभा के संगठन तथा आचार-व्यवहार का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है। मेगेस्थनीज द्वारा रचित ग्रंथ का नाम 'इण्डिका' था। इसमें चार भाग थे। परन्तु इनमें से एक भी अब उपलब्ध नहीं है। स्ट्रैबो, एरियन, प्लिनी आदि प्राचीन लेखकों ने मेगेस्थनीज के इन ग्रन्थों का प्रयोग किया था। कई स्थानों पर यूनानी लेखक की यह भूल का है कि जनश्रुतियों को उसने ऐतिहासिक तथ्य मान लिया है। इसके अतिरिक्त उसे जो सूचनायें प्राप्त हुई थीं वे अन्य लोगों के द्वारा प्राप्त हुई थीं। अतएव इनमें अतिशयोक्ति की सम्भावना हो सकती है। सम्भवतः मेगस्थनीज अधिक काल तक भारत में नहीं रहा। अतएव वह जनता के अधिक निकटवर्ती सम्पर्क में न आ सका होगा और उसे जनता के रीति-रिवाजों तथा उनकी संस्थाओं का पूरा ज्ञान न प्राप्त हुआ होगा। अतएव मेगेस्थनीज के लेख केवल अन्य साधनों के परिपूरक मात्र हैं।

**कौटिल्य का अर्थशास्त्र**—मौर्यकालीन इतिहास जानने का दूसरा साधन कौटिल्य का 'अर्थ-शास्त्र' है। कौटिल्य एक नीति निपुण ब्राह्मण तथा चन्द्रगुप्त का विश्वास-पात्र मन्त्री तथा सहायक था। उसे विष्णुगुप्त तथा चाणक्य भी कहते हैं। वह एक राजनैतिक दार्शनिक था। कूटनीतिज्ञता उसमें उच्च-कोटि की थी। कौटिल्य के राजनैतिक विचारों का अनुसरण बहुत काल तक राजनीतिज्ञों तथा सम्राटों ने किया है। एक विद्वान् ने तो अर्थ-शास्त्र के विषय में लिखा है कि यह अमृत है जो राजनैतिक बुद्धि रूपी समुद्र को मथ कर निकाला गया है। अर्थशास्त्र सामाजिक वैभव का विज्ञान है। चूँकि सामाजिक वैभव अधिकांश में राजनैतिक व्यवस्था पर निर्भर रहता है अतएव अर्थशास्त्र में राजनैतिक तथा शासन व्यवस्था का भी वर्णन है। इस ग्रन्थ में राजनीति के मौलिक सिद्धान्तों का वर्णन है। इसके अन्तर्गत राज्य के भिन्न-भिन्न अवयव राजा के गुण तथा उसके कर्तव्य मन्त्रिगण तथा अन्य राज्य के पदाधिकारियों, शासन के भिन्न-भिन्न विभाग, न्याय, विधि, राज्य के आय के साधन तथा उनका व्यय और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध सभी आ जाते हैं। इस ग्रंथ से भारत की उस काल की दशा पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है, जब मेगस्थनीज भारत आया था। यह ग्रन्थ इस बात की शिक्षा देता है कि अन्त भला तो सब भला और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये उचित तथा अनुचित सभी साधनों का प्रयोग किया

ा ग्रन्थ जो चन्द्रगुप्त का तुच्छ-कुल का बतलाता है और नन्द-वंश से सम्बन्धित
ा है 'मुद्राराक्षस' है। परन्तु 'मुद्राराक्षस' भी 'बृहत्कथा' के ही आधार पर लिखा

[illegible] गया है अतएव
से यही अनुमान निकालना चाहिये कि मौर्य लोग क्षत्रिय थे।

**मौर्य शूद्र थे?**—यूनानी लेखक जस्टिन के मतानुसार तथा पुरातन हिन्दू ग्रंथों के ुसार चन्द्रगुप्त नन्द वंश का युवराज था। 'मुद्राराक्षस' नाटक में चन्द्रगुप्त को न केवल ं पुत्र वरन् नन्दन्वय भी कहा गया। इस ग्रंथ में चन्द्रगुप्त को वृषल (शूद्र) तथा ुहीन कहा गया है। इस ग्रंथ के अन्त में भी चन्द्रगुप्त को मौर्य-पुत्र तथा नन्द वंश कहा गया है। क्षेमेन्द्र तथा सोमदेव ने भी उसे पूर्व नन्द सुत बतलाया है। 'विष्णु ाण के टीकाकार ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त नन्द की मुरा नामक स्त्री का पुत्र था। इसी इस वंश का नाम मौर्य पड़ा। 'मुद्राराक्षस' के टीकाकार ढुण्ढिराज ने लिखा है कि ्द्रगुप्त, मौर्य नामक व्यक्ति का पुत्र था जो नन्द राजा सर्वार्थसिद्ध की स्त्री मुरा के पेट से त्पन्न हुआ था जो एक शूद्र कन्या थी।

**मौर्य शूद्र नहीं थे**—आधुनिक अनुसन्धानों से पता लगा है कि मौर्य लोग शूद्र नहीं [illegible] जों में सुधारवादी [illegible] इसके अतिरिक्त [illegible] से परम्परावादी ्दू लेखकों ने मौर्यों को व्रात्य (वैदिक धर्म से पतित), वृषल (शूद्र) तथा कुल-ीन कहा है। कुछ विद्वानों के विचार में यहाँ वृषल का तात्पर्य वृषर अर्थात् राजाओं में धान और कुलहीन का तात्पर्य साधारण स्थिति से है क्योंकि चन्द्रगुप्त साधारण स्थिति ी ही राज-पद पर पहुँचा था। जो विष्णु पुराण के टीकाकार ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त ुरा नामक निम्न-वंश की स्त्री से उत्पन्न हुआ था जो राजा नन्द की स्त्री थी निराधार प्रतीत ोता है क्योंकि मुरा से मौरेय शब्द बनेगा मौर्य नहीं। मौर्य शब्द तो पुल्लिंग मुर े बन सकता है जिसे महर्षि पाणिनि ने 'गणपाठ' में एक गोत्र बतलाया है। अतएव ्याकरण के नियम से यह कथन गलत सिद्ध हो जाता है। यूनानी लेखकों का यह कथन के चन्द्रगुप्त साधारण कुल में उत्पन्न हुआ था राज्य प्राप्त करने के पूर्व की उसकी साधा-ण स्थिति का द्योतक है न कि उसके शूद्र अथवा नीच कुल में जन्म लेने का। उपरोक्त तर्कों से यही सिद्ध होता है कि मौर्य लोग शूद्र अथवा निम्न-वंश के नहीं थे।

**मौर्य का मोर पक्षियों से सम्बन्ध?**—'परिशिष्टपर्वन' में लिखी हुई जैन अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त एक गाँव के प्रधान की कन्या का पुत्र था। चूँकि इस गाँव में मयूर पोषक निवास करते थे अतएव चन्द्रगुप्त तथा उसके वंशज मौर्य कहलाये। एलियन (Aelian) से हमें पता चलता है कि पाटलिपुत्र में राज प्रासाद के पार्कों में पालतू मोर रक्खे जाते थे। सर जान मार्शल ने लिखा है कि साँची में पूर्वी फाटकों को मयूर चित्रों से सुशोभित किया गया है। जैनियों के 'कल्प-सूत्र' ने एक मौर्य पुत्र को काश्यप गोत्र का बतलाया है जिससे स्पष्ट है कि मौर्य अंग उच्च-वर्ण के थे। बौद्ध अनुश्रुतियाँ भी मौर्य वंश तथा मयूर के सम्बन्ध की परिपुष्टि करती हैं।

**मौर्य क्षत्रिय थे**—बौद्ध ग्रंथ 'महावंश' ने चन्द्रगुप्त को मौर्य वंश का बतलाया है। इसके अनुसार चन्द्रगुप्त मोरिय वंश का क्षत्रिय था। इस ग्रंथ में लिखा है "मोरियानं खत्तियानं वंसे जातं सिरिधरं, चन्द्रगुत्तोति-पञ्ञातं चणक्को ब्राह्मणो ततो।" मोरिय वंश

अशोक के उत्कीर्ण लेखों के अकाट्य प्रमाणों पर आधारित है। सीलोनी-गाथा महावंश के अनुसार अशोक के राज्यारोहण और बिन्दुसार की मृत्यु के बीच ४ वर्ष का अन्तर माना गया है। अतः २६९ ई० पू० अशोक के राज्याभिषेक की तिथि हम स्वीकार कर सकते हैं।

बौद्ध परम्परायें भी उपरोक्त तिथि का अनुगमन करती हैं। महात्मा गौतम बुद्ध के परिनिर्वाण के विषय में विद्वानों में परस्पर मतभेद है और यही तिथि वह आधार शिला है जिसके आधार पर हम चन्द्रगुप्त तथा अशोक की वास्तविक तिथि जान सकते हैं। सीलोनी गाथा महावंश के अनुसार गौतम बुद्ध का परिनिर्वाण ५४४ ई० पू० में हुआ तथा चीन के कैन्टन नगर की परम्परा के अनुसार ४८६ ई० पू० गौतम बुद्ध के परिनिर्वाण की तिथि निश्चित की जाती है जो कि "बिन्दु-रेकार्ड" (Dotted Record) पर आधारित है जिसे संघभद्र ने चीन पहुँचाया था। यह कहा जाता है कि चीन के कैन्टन नगर में एक 'बिन्दु रेकार्ड' की व्यवस्था की गई थी जिसका प्रारम्भ गौतम बुद्ध के महा परिनिर्वाण तिथि से किया गया था और उसमें प्रतिवर्ष नियमित रूप से एक बिन्दु और जोड़ा जाता था। कैन्टन की यह परम्परा ईसा की ४८६ ई० तक चलती रही तथा जब समस्त बिन्दु गिने गये तो उनकी संख्या ९७५ ज्ञात हुई। इसके अनुसार ४८६ ई० पू० गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण का समय निर्धारित किया गया है। कैन्टन परम्परा तथा अन्य तत्कालीन चीनी एवं चोल प्रमाणों के आधार पर गीगार तथा कुछ और विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ५४४ ई० पू० अपेक्षाकृत नवीनतम आविष्कार है तथा ४८३ ई० पू० गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण की निश्चित तिथि है। यह तिथि कैन्टन परम्परा से लगभग मिलती जुलती है।

अन्य सीलोनी गाथा 'दीप वंश' के अनुसार गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण तथा अशोक के राज्यारोहण के बीच २१८ वर्षों का अन्तर है।

"द्वे शतानि चवर्षाणि अष्टदश वर्षाणिच।
सम्बुद्धे परिनिभु ते 'अभिषिक्तो प्रियदर्शनो॥" (दीप वंश)

हेम चंद्र राय चौधरी के अनुसार, "यद्यपि 'प्रिय दर्शन' की उपाधि सामान्यतया अशोक के लिये ही व्यवहृत की गई है परन्तु इसका उपयोग उसके पितामह चन्द्रगुप्त के लिये भी मुद्राराक्षस के छठें अङ्क में किया गया है। यदि यह उपाधि चंद्रगुप्त के लिये

[illegible]

हुये विद्वान् लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि "सिंहलीय परम्परा के

[illegible]

का समय न होकर बिन्दुसार के राज्यारोहण की तिथि है जिसे बाद में गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण से सम्बद्ध कर दिया गया।"

चीनी शासक मेघवर्ण द्वारा समुद्रगुप्त के पास तथा भारतीय शासक कस्सप (क्या + पे) द्वारा ५२० ई० में चीन भेजे गये राजदूतों के विवरण भी ४८६ ई० पू० को ही गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण की मूल तिथि स्वीकार करते हैं। अतः गीगार की तिथि जिसकी

पुष्टि के लिये कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं है, गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण की वास्तविक तिथि स्वीकार नहीं की जा सकती। इसी प्रकार एल० डी० स्वामी कानू पिलाई की तिथि मङ्गल १ अप्रैल ४७८ ई० पू० को हम सत्य एवं यथार्थ तिथि से विभिन्न नहं रखते हैं। उपरोक्त सभी प्रमाणों के आधार पर ४८६ ई० पू० को हम महापरिनिर्वाण की वास्तविक एवं निर्विवाद तिथि मान सकते हैं।

एक दूसरी समस्या हमारे सामने खड़ी हो उठती है। वह यह है कि जैन परम्परा के अनुसार महावीर का देहान्त ५२८ ई० पू० में हुआ। यदि हम जैन तथा बौद्ध परम्पराओं को प्रमाणित मानें तो हमें ज्ञात होता है कि दोनों एक दूसरे से कुछ ही वर्ष इधर उधर (पूर्व या पश्चात्) मरे थे। अतः ४८६ ई० पू० तथा ५२८ ई० पू० की परस्पर तुलनात्मक समीक्षा करने पर ये दोनों एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत ठहरती हैं। इसलिये यदि हम ... ० पू० का महावीर ... के उचित व्यवधान ...

अतः बौद्ध, जैन, पौराणिक तथा यूनानी समस्त सापेक्ष्यों की समन्वयात्मक समीक्षा के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ४८६ ई० पू० गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण की निश्चित तिथि है। अशोक के राज्यारोहण तथा महापरिनिर्वाण के बीच २१८ वर्षों का अन्तर (दीप वंश की सिंहली परम्परा के अनुसार) ऊपर अंकित किया जा चुका है। अतः २६१ ई० पू० को हम अशोक के राज्याभिषेक की तिथि स्वीकार कर सकते हैं जिसकी ... उसके उत्कीर्ण लेखों पर आधारित है। ... पू० है जिसे उसने अपने राज्यारोहण ... की प्रामाणिकता का आधार यह शिलालेख स्वयं है, जो अपने महत्वपूर्ण तिथि-क्रम तालिका के लिये सुप्रसिद्ध है। राधा कुमुद मुकर्जी के शब्दों में "भारतीय इतिहास गगन अंधकारमय तिथि-क्रम-सूचियों में अशोक के १३वें शिलालेख का महत्व (तिथि क्रम-तालिका की दृष्टि से) अद्वितीय है।" अशोक अपने इस लेख में पाँच अति प्रसिद्ध यूनानी सम्राटों की चर्चा करता है जो उसके समकालीन थे तथा जिनसे सद्भावना मिशन द्वारा उसका मैत्री सम्बन्ध था। शिलालेख की तिथि, जिसका प्रसंग विदेशी शासकों से सम्बद्ध है, यथासम्भव वह समय होगा जब कि सभी शासक जीवित रहे होंगे और अशोक को यह ज्ञात भी रहा होगा। अतः ... सभी शासक पूर्व ... अथवा अशोक से ... हैं, वे हैं—

(१) अन्तियोक—एण्टियोकस द्वितीय थियोस, बेबीलोनिया तथा फारस का शासक (२६१ २४६ ई० पू०)।

(२) तुरुमय—टाल्मी द्वितीय फिलाडेल्फस, मिश्र सम्राट, राज्य काल (२८५ २४७ ई० पू०)।

(३) अन्तिकिनि—एण्टिगोनस, गोनटस, मेसिडोनिया का शासक, (२७७-२४० ई० पू०)।

अधोलिखित दो की तिथियाँ अनिश्चित हैं—

(४) मक—मेगस स इरिनि का सम्राट। जिसकी तिथि बेलोच तथा गेयर दोनों के अनुमानों के आधार पर ३००-२५० ई० पू० निश्चित की जा सकती है—

(५) अलिक सुन्दर—भारत परिचय तथा राजकाज दोनों विशारदतर विद

है। आप कारिथ के शासक अलेक्जेंडर अथवा इपिरस के अधिपति अलेक्जेंडर दोनों में से एक हो सकते हैं। राधाकुमुद मुकर्जी के शब्दों में "इन दोनों अलेक्जेंडरों में से, इपिरस के सम्राट अलेक्जेंडर का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली तथा महत्त्वपूर्ण था जो बलात् अशोक के ध्यान को आकर्षित कर सकता था क्योंकि वह सुप्रसिद्ध इपिरस अधिपति पाइरस (Pyorrhus) का सुपुत्र था जो मेसिडोनिया के शासक एन्टिगानस गोनटस का प्रतिद्वन्दी था। कारिंथ का अलेक्जेंडर केवल एक स्थानीय सामन्त की भाँति था 'जिसका सम्बन्ध न तो किसी उच्चवंश से था, न उसके पास कोई गौरवपूर्ण सैनिक शक्ति थी तथा जो अन्त तक केवल एक छोटे से द्वीप और एक नगर का ही निरंकुश शासक बना रहा।" एशिया कोचक में बहुत से ऐसे छोटे छोटे शासक थे जिनकी स्थिति कारिंथ के अलेक्जेंडर के समान थी या बढ़कर थी जिनकी चर्चा अशोक को अवश्य करनी चाहिये थी। उदाहरण स्वरूप पेरेगमन का युमेनस (२६२-२४० ई० पू०) अथवा बैक्ट्रिया के डाइयोटेडस (जो भारत से अधिक निकट है) का नाम लिया जा सकता है। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इपिरस का अलेक्जेंडर ही अशोक की चर्चा का यथार्थ पात्र है जो २५५ ई० पू० तक जीता रहा।

यदि हम इन सभी पाँचों शासकों के राज्य कालों का तुलनात्मक समीक्षा करते हैं तो २५५ ई० पू० की तिथि ऐसी ज्ञात होती है, जब तक कि सभी शासक जीवित थे। इस प्रकार हम सिद्ध कर सकते हैं कि तेरहवें शिलालेख में इन सम्राटों की जो चर्चा की गई है, वह अवश्य ही २५५ ई० पू० के पूर्व ही अङ्कित की गई होगी। डा० राधा कुमुद मुकर्जी ने अपने "Chandra Gupta Maury and his Times" में हेग (हालैण्ड) के विख्यात प्रोफेसर पी० एच० एल एगेरमाण्ट को उद्धृत किया है जिन्होंने विद्वतापूर्ण गणनाओं द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यूनानी सम्राटों की मृत्यु के समाचार के पाटलिपुत्र अर्थात् अशोक के पास पहुँचने में अधिक से अधिक ४ या ५ महीने का समय लगता रहा होगा। अतः शिलालेख में एक वर्ष के व्यवधान की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। आप ने पर्याप्त वाद-विवाद के पश्चात् इपिरस के अलेक्जेंडर तथा साइरिनि के मगस की तिथि निश्चित की है। उन दोनों में से पूर्व शासक २५५ ई० पू० तथा उत्तर, २५० ई० पू० तक जीवित रहे, इस निष्कर्ष को हमने यहाँ अपनाया है। अतः यदि अशोक के तेरहवें शिलालेख की तिथि २५६ ई० पू० निश्चित है, तो इसलिए कि इसे (अशोक के) राज्याभिषेक के १३वें वर्ष में अङ्कित किया गया था, राज्यारोहण की तिथि हम २६९ ई० पू० सिद्ध कर सकते हैं जो चन्द्रगुप्त की अनुमानित तिथि ३२२ ई० पू० में में उससे तथा बिन्दुसार के राजकाल के, पुराणों द्वारा अङ्कित तिथि के घटा देने पर (५१ तथा ४ वर्ष का व्यवधान सिंहली परम्परा के अनुसार) ठीक आ उतरता है। अतः पौराणिक तथा बौद्ध, भारतीय एवं विदेशी अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय और बहिर्राष्ट्रीय दोनों के आधार पर अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ३२२ ई० पू० ही चन्द्रगुप्त की वास्तविक राज्याभिषेक की तिथि हो सकती है।

इन सभी पर्याप्त एवम् विस्तृत प्रमाणों के होते हुए भी विद्वानों में परस्पर मतैक्य नहीं है। श्री एन० के० भट्टशाली, कुछ जैन ग्रन्थों में विशेषकर हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व के आधार पर इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि ३१३ ई० पू० चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक की तिथि है। परिशिष्टपर्व के अनुसार—

एवं च महावीरमुक्तेर्वर्षे शतेगते।

- पंचपंचाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः अर्थात् महावीर के निर्वाण (४६८ ई० पू०) के १५५ वर्ष के पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य शासक हुए। इस प्रकार ३१३ ई० पू० जैन परम्परा के अनुसार चन्द्रगुप्त की तिथि मानी जाती है। केवल परिशिष्टपर्व ही नहीं वरन्

प्राय जैन ग्रंथ जैसे मेरुतुङ्ग के "विचार श्रेणि" "त्रिलोकप्रज्ञप्ति पारख" एवं "परिशिष्ट पर्वन" की गणना के अनुसार भी चन्द्रगुप्त की तिथि ३१२ ई० पू० ही ठहरती है। परन्तु जैसा कि रायचौधरी ने अपनी पुस्तक (History of Ancient India Page 295) की पादटिप्पणी में निर्देश किया है कि यद्यपि ३१२ ई० पू० चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक की तिथि शुद्ध गणना के आधार पर अनुमानित है, परन्तु यह तिथि उसके अवन्ति अथवा मालवा के विजय का निर्देश करता है, क्योंकि उस स्थान में जिसे तिथिक्रमतालिका वर्णित है, अवन्ति शासक पालक के अनुवर्ती शासकों में चन्द्रगुप्त मौर्य की चर्चा की गई है तथा यह तिथि अति प्राचीन सीलोनी परम्परा एवं अशोक के १३वें शिलालेख के भी विरुद्ध ठहरती है। अतः किसी भी दशा में ३१२ ई० पू० चन्द्रगुप्त का समय स्वीकार नहीं किया जा सकता।

डा० हेमचन्द्र रायचौधरी ने ३२४ ई० पू० चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि स्वीकार की है। आपका कहना है कि सीलोनी गाथा महावंश के अनुसार गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण के १६२ वर्ष पश्चात चन्द्रगुप्त शासनारूढ़ हुआ। अतः ४८६ ई० पू० महापरिनिर्वाण की तिथि स्वीकार करने पर हमें ज्ञात होता है कि ३२४ ई० पू० ही चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्याभिषेक की तर्क सम्मत तिथि है। काशी प्रसाद जायसवाल ने ३२५ ई० पू० चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि माना है। इन दोनों तिथियों के विरुद्ध हमें केवल यही कहना है कि ये यूनानी लेखकों के प्रमाणों के विरुद्ध ठहरती हैं तथा उस समय पंचनद पर यूनानियों का अधिकार था और यही नहीं स्वयं सिकन्दर महान् भी जीवित था। डा० रमाशंकर त्रिपाठी ने ३२१ ई० पू० चन्द्रगुप्त की तिथि स्वीकार किया है। डा० स्मिथ तथा डा० राधाकुमुद मुकर्जी ३२२ ई० पू० चन्द्रगुप्त की तिथि प्रमाणित करते हैं। अतः इन दोनों में से कोई भी तिथि जो अधिक तर्क संगत, न्याय संगत एवं प्रमाण संगत हो हम चन्द्रगुप्त की वास्तविक राज्यारोहण तिथि स्वीकार कर सकते हैं। अब तक के सारे ऐतिहासिक शोध मूल तथा इन्हीं दोनों तिथियों तथा इन्हीं प्रमाणों पर आधारित हैं।

**चन्द्रगुप्त की विजय**—चन्द्रगुप्त एक अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी तथा साम्राज्यवादी व्यक्ति था। उसने निम्न-लिखित प्रदेशों पर विजय प्राप्त करके एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की :—

**पंजाब पर विजय**—चन्द्रगुप्त ने अपनी विजय पंजाब प्रदेश से आरम्भ की। चूंकि पंजाब को वह अपने राज्य का एक अंग बनाना चाहता था अतएव उस प्रान्त में विदेशियों की उपस्थिति उसके लिये असहनीय थी। पंजाब में अपनी सत्ता स्थापित करने के उपरांत सिकन्दर भारत से चला गया था। उसकी मृत्यु के बाद भारतीयों ने यवनों के विरुद्ध विप्लव कर दिया। चन्द्रगुप्त ने भारतीयों को यूनानियों के विरुद्ध खूब भड़काया [illegible] जस्टिन ने लिखा है कि जिस [illegible] करने जा रहा था उस समय एक [illegible]

[illegible] था उसका नेता चन्द्रगुप्त ही था। यूनानियों का सरदार [illegible] छोड़ कर भाग गया और जो यूनानी सैनिक तथा अफसर भारत में रह गये थे वे तलवार के घाट उतार दिये गये। इस प्रकार ३१६ ई० पू० में चन्द्रगुप्त ने सम्पूर्ण पंजाब पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

**मगध राज्य पर विजय**—इसके बाद चन्द्रगुप्त पूर्व की ओर बढ़ा और कुछ ही [illegible] की घाटी के सम्पूर्ण प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। अब

एक विशाल सेना लेकर ३१४ ई० पू० में चन्द्रगुप्त ने मगध राज्य पर आक्रमण कर दिया। कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त का पहिला प्रयत्न सफल न हुआ। परन्तु दूसरी बार उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। नन्द सेना का सेनापति भद्रशाल था। उसकी सेना पराजित हुई और उसका भयानक हत्याकाण्ड हुआ। इस प्रकार पाटलिपुत्र की राजसत्ता चन्द्रगुप्त के हाथ में आ गई और सम्पूर्ण उत्तरी भारत में उसका एकछत्र राज्य स्थापित हो गया। ३१२ ई० पू० में चन्द्रगुप्त पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठ गया और उसने महापद्म के वंश का अन्त कर दिया।

मलयकेतु के विद्रोह का दमन—उत्तरी भारत पर विजय प्राप्त करने के पूर्व ही चन्द्रगुप्त ने पर्वतक नामक प्रधान से मैत्री कर ली थी। पर्वतक हिमालय पर्वत के कुछ जिला में शासन करता था। मगध पर जिस समय चन्द्रगुप्त को विजय प्राप्त हुई उसके बाद ही पर्वतक की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र मलयकेतु राजा हुआ। मुद्राराक्षस नाटक से हमें पता चलता है कि मलयकेतु ने नन्दराज के मन्त्री राक्षस तथा पाँच अन्य सामन्तों की सहायता से चन्द्रगुप्त के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया परन्तु चन्द्रगुप्त के मन्त्री चाणक्य ने अपनी कूटनीति से विरोधियों में फूट उत्पन्न कर दी। इससे मलयकेतु निर्बल हो गया और उसने चन्द्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर ली।

दक्षिण भारत पर विजय—उत्तरी भारत पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त चन्द्रगुप्त ने दक्षिण भारत पर भी अपनी विजय-पताका फहराने का साहस किया। महाक्षत्रप रुद्र दामन के जूनागढ़ के अभिलेख से पता चलता है कि सौराष्ट्र पर चन्द्रगुप्त का अधिकार था। सम्भवतः ३१२ ई० पू० में मालवा उसके अधिकार में आया था और पुष्पगुप्त वैश्य राष्ट्रीय वहाँ के प्रबन्ध के लिये नियुक्त किया गया था जिसने सुदर्शन झील का निर्माण करवाया था। इससे यह निश्चित है कि मालवा (अवन्ति) तथा काठियावाड़ उसके राज्य के अन्तर्गत थे। प्लूटार्क के कथनानुसार चन्द्रगुप्त ने छः लाख सेना के साथ सम्पूर्ण भारत पर विजय प्राप्त कर ली थी। यदि हम इस कथन को अतिशयोक्ति भी मान लें तो भी इससे यह अनुमान निकलता है कि चन्द्रगुप्त ने दक्षिण भारत के एक बहुत बड़े भाग पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। जस्टिन के कथनानुसार भी दक्षिण भारत उसके अधिकार में था। बौद्ध ग्रन्थ 'महा-वंश' से हमें पता चलता है कि चन्द्रगुप्त ने सम्पूर्ण जम्बूद्वीप पर शासन किया था। तामिल अनुश्रुतियों के अनुसार मौर्यों का राज्य तिन्नेवेली (Tinn Velly) जिले में पोदियिल (Podiyil) पहाड़ी तक फैला था। परन्तु कुछ इतिहासकारों का कहना है कि यह मौर्य कोनकन के थे मगध के नहीं। यदि चन्द्रगुप्त ने इस प्रदेश को जीता भी था तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसने वहाँ से अपनी सत्ता हटा ली थी क्योंकि अशोक के राज्य की सीमा वहाँ तक नहीं थी। अशोक के लेखों से पता चलता है कि पाण्ड्य राज्य जिसमें तिन्नेवेली का जिला सम्मिलित था अशोक के साम्राज्य की सीमा पर था। मैसूर के कुछ लेखों से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त का राज्य उत्तरी मैसूर तक फैला था। एक शिलालेख से यह पता चलता है कि शिकारपुर तालुक में नागखण्ड बुद्धिमान् चन्द्रगुप्त की रक्षा में था। अशोक के शिलालेखों से पता चलता है कि उसका राज्य मैसूर में चितलद्रुग (Chitaldrug) जिले तक फैला था। सारांश यह [illegible] था।

[illegible]यूकस निकातोर

[illegible] से पता चलता है कि जिस समय चन्द्रगुप्त भारत का स्वामी बन गया था उस समय सिकन्दर का सेनापति सेल्यूकस अपने भावी साम्राज्य के निर्माण में संलग्न था। थोड़े ही समय में अपने प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित कर पश्चिमी तथा मध्य एशिया पर उसने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। यूनानी

था और उसकी सुरक्षा के लिये नारी संरक्षिकायें होती थीं। केवल चार अवसरों पर सम्राट प्रासाद के बाहर निकलता था अर्थात् युद्ध के समय, न्यायाधीश का पद ग्रहण करने के लिये, बलि देने के लिये तथा आखेट के लिये।

**राज-दरबार तथा आमोद-प्रमोद का वर्णन**—चन्द्रगुप्त का राज-दरबार बड़ी सज धज तथा ठाट-बाट से लगता था। सोने चाँदी के सुन्दर बर्तन, जड़ाऊ मेज तथा कुर्सियाँ और कीनख्वाब के बारीक वस्त्र दर्शकों की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर देते थे। सम्राट मोती की मालाओं से सुसज्जित पालकी तथा सुवर्ण झूलों से विभूषित हाथी पर बैठकर राज-प्रासाद के बाहर जाता था। सम्राट को आखेट का बड़ा चाव था। सम्राट के आखेट के लिये बड़े बड़े वन सुरक्षित रक्खे जाते थे। राजा को पहलवानों के दंगल, घुड़दौड़, पशुओं के युद्ध आदि के देखने का बड़ा चाव था और इन्हीं में वह अपना

[illegible]

सदस्य शिल्प तथा उद्योग धन्धों का निरीक्षण तथा प्रबन्ध करते थे। कारीगरों की मजदूरी निश्चित करना, कारखाने वालों के कच्चे माल का निरीक्षण करना, अच्छी वस्तुओं के उपभोग पर ध्यान रखना, उचित पारिश्रमिक के बदले कारीगरों से अच्छा काम लेना तथा कारीगरों की रक्षा का प्रबन्ध करना इत्यादि इस विभाग के प्रधान कर्तव्य थे। यदि कोई कारीगरों का अंग-भंग कर देता था तो उसे प्राण-दण्ड दिया जाता था।

(२) विदेशी यात्री समिति—दूसरी उप-समिति वैदेशिक विभाग की थी। इसका

[illegible]

उनकी अन्त्येष्टि क्रिया आदि का प्रबन्ध करता था। मरने पर विदेशियों की सम्पत्ति तथा उनकी रियासत की आय उनके उत्तराधिकारियों को भेज दी जाती थी।

(३) जन गणना समिति—तीसरी उपसमिति जन संख्या विभाग की थी। यह समिति जन्म मरण का हिसाब रखती थी। इससे करों के वसूल करने में बड़ी सुविधा होती थी।

(४) वाणिज्य समिति—चौथी उप समिति वाणिज्य विभाग की थी। इसके अधीन वाणिज्य व्यवसाय का प्रबन्ध था। नाप तौल का निरीक्षण करना, विक्रय की वस्तुओं का भाव निश्चित करना और बाटों तथा माप का समुचित प्रबन्ध करना इस विभाग का कर्तव्य था। व्यापारियों को व्यापार करने के लिये सरकारी आज्ञा-पत्र लेना पड़ता था और इसके लिये कर देना पड़ता था। यदि कोई व्यापारी एक से अधिक व्यापार करता था तो उसे दूना कर देना पड़ता था।

(५) उद्योग समिति—पाँचवाँ विभाग वस्तु निरीक्षक विभाग कहलाता था। यह

उप-समिति कारखानों में बनी हुई वस्तुओं की देख-भाल का प्रबन्ध करती थी। बेचने वाले नई तथा पुरानी वस्तुओं को मिला नहीं सकते थे। मिलावट करने वालों को कठोर दण्ड दिया जाता था। राज्य की आज्ञा रहती थी कि पुरानी तथा नई वस्तुओं को अलग-अलग रक्खा जाय। पुरानी वस्तुओं का विक्रय राजाज्ञा के बिना नहीं हो सकता था। ऐसा करना नियम विरुद्ध तथा दण्डनीय समझा जाता था।

(६) कर-समिति—छठीं उप समिति कर-विभाग की थी। यह समिति विक्रय की हुई वस्तुओं के मूल्य का दशमांश कर के रूप में वसूल करती थी। कर अथवा चुङ्गी देने वालों के बेईमानी करने पर उन्हें प्राण दण्ड दिया जाता था।

यद्यपि उपरोक्त नगर सभा का उल्लेख पाटलिपुत्र के ही विषय में उपलब्ध हुआ है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि तक्षशिला, उज्जैन आदि सभी बड़े नगरों में इसी प्रकार की व्यवस्था की गई थी।

**चन्द्रगुप्त का शासन प्रबन्ध**—चन्द्रगुप्त ने अपने बाहु-बल से एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। सेल्यूकस के सन्धि पत्र से पता चलता है कि उत्तर-पश्चिम में चन्द्रगुप्त का राज्य फारस की सीमा तक फैला था। सिन्ध तथा गंगा की घाटी का सम्पूर्ण प्रदेश उसके साम्राज्य में सम्मिलित था जैसा कि रुद्रदामन के अभिलेख से प्रकट है, पश्चिम में उसकी सत्ता काठियावाड़ तक स्थापित हो गई थी। पूर्व में उसका राज्य बंगाल तक विस्तृत था। दक्षिण भारत के कुछ भाग पर भी चन्द्रगुप्त की राजसत्ता स्थापित हो गई थी। वास्तव में चन्द्रगुप्त कलिङ्ग, आन्ध्र तथा तामील प्रदेश को छोड़कर सम्पूर्ण भारत का अधिनायक हो गया और अफगानिस्तान तथा बलूचिस्तान उसके साम्राज्य के अन्तर्गत थे। परन्तु इस सम्पूर्ण विशाल साम्राज्य पर चन्द्रगुप्त स्वयम् प्रत्यक्ष रूप से शासन नहीं करता था। कुछ राज्य चन्द्रगुप्त के संरक्षण मात्र में थे और उनकी अलग शासन व्यवस्था थी। महामन्त्री कौटिल्य ने भी कुछ संघों का उल्लेख किया है जैसे लिच्छवि, वृज्जि, मल्ल, कुरु, पाँचाल आदि। इन संघों के प्रधान राजा कहलाते थे। परन्तु काम्बोज तथा सुराष्ट्र के संघों में राजा नहीं थे। इनके प्रधान राष्ट्रीय कहलाते थे। उपरोक्त संघों के प्रधान चन्द्रगुप्त के प्रतिनिधि के रूप में शासन करते थे। इन संघों के अतिरिक्त और भी बहुत से ऐसे राज्य थे जिनका शासन स्थानीय राजाओं द्वारा होता था। यह राजा चन्द्रगुप्त की आधीनता में शासन करते थे। शेष साम्राज्य पर चन्द्रगुप्त प्रत्यक्ष रूप से शासन करता था।

**सम्राट्**—शासन का प्रधान सम्राट् ही होता था और सेना, न्याय, कानून-निर्माण तथा शासन सम्बन्धी सभी कार्य उसके नियन्त्रण में होते थे। राजा ही साम्राज्य का प्रधा[illegible] माना जाता था परन्तु अब वह देवता नहीं माना जाता था वरन् मनुष्य मात्र के रूप [illegible]

सम्राट के अधिकार अत्यन्त व्यापक थे। उसे कानून निर्माण, शासन, न्याय तथा सेना की सुव्यवस्था करनी पड़ती थी। अपने सेनापति की परामर्श से वह युद्ध की व्यवस्था करता था। न्यायालय में वह न्याय करने के लिये भी बैठता था और दिन भर इसी काय में तल्लीन रहता था। कौटिल्य ने अपने "अर्थ शास्त्र" में लिखा है, "जब सम्राट न्यायालय में होगा तथा वह अपने प्रार्थियों से द्वार-पर प्रतीक्षा न करवायेगा क्योंकि जब सम्राट अपने को अपनी प्रजा के लिये अगम्य बना देता है और अपने कार्य अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों को सौंप देता है तो निस्सन्देह कार्य में गड़बड़ी पैदा हो जाती है। इससे जनता में असन्तोष फैलता है और सम्राट अपने वैरियों का शिकार बन जाता है। अतएव वह देवताओं, धर्म विरोधियों, वेद-वेत्ता ब्राह्मणों, पशुओं, पवित्र स्थानों, अल्प-वयस्कों, वृद्धों, दुखियों, असहायों तथा स्त्रियों सम्बन्धी मामलों को स्वयं देखेगा। इनमें जो अधिक आवश्यक होंगे उन्हें वह पहिले करेगा। सभी आवश्यक बातों को सम्राट तुरन्त सुनेगा।" चंद्रगुप्त अपने नीति-निपुण मन्त्री के आदेश का निश्चय ही अनुसरण करता रहा होगा। 'अर्थ-शास्त्र' में सम्राट को धर्म का प्रवर्तक कहा गया है। अतएव सम्राट धर्म व्यवहार के अनुसार शासन करता था। सम्राट के शासन सम्बन्धी कार्यों में पहरेदारों की नियुक्ति, आय व्यय के चिट्ठे को देखना; मंत्रियों, पुरोहितों तथा निरीक्षकों की नियुक्ति करना, मन्त्रि-परिषद् से पत्र-व्यवहार करना, गुप्त सूचनायें प्राप्त करना, राजदूतों का स्वागत करना आदि प्रधान थे। राज्य की नीति को सम्राट स्वयं निर्धारित करता था और अपने पदाधिकारियों तथा अपनी प्रजा के पथ-प्रदर्शन के लिये वह अपनी आज्ञायें घोषित करता था। सुदूरस्थ पदाधिकारियों के ऊपर गुप्तचरों तथा निरीक्षकों द्वारा सम्राट नियन्त्रण रखता था।

**मन्त्रिन्**—कौटिल्य का कहना है कि सम्राट को सहायकों की बड़ी आवश्यकता है क्योंकि एक पहिये की गाड़ी कभी चल नहीं सकती। अतएव सम्राट को चाहिये कि वह सचिवों को नियुक्त करे और उनकी परामर्श पर ध्यान दे। यह सचिव बुद्धि तथा विवेक में समाज में सर्वोच्च स्थान रखते थे। यह सचिव कई श्रेणी के होते थे। इनमें सब से ऊँचा स्थान मन्त्रिन् का होता था। अशोक के समय में सम्भवतः यही लोग महामात्र कहलाने लगे थे। मन्त्रिन् के पद पर केवल ऐसे ही लोग नियुक्त किये जा सकते थे जो किसी प्रलोभन में नहीं आ सकते थे और जिनकी पूर्ण परीक्षा ली जा चुकी है। इन लोगों को राज्य में सब से अधिक वेतन मिलता था। प्रत्येक मन्त्रिन् का वार्षिक वेतन ४८००० पण होता था। यह लोग उन आमात्यों की परीक्षा करने में सम्राट की सहायता करते थे जो साधारण विभाग में कार्य करते थे। शासन के सभी कार्यों के करने के पूर्व सम्राट तीन अथवा चार मन्त्रियों की परामर्श ले लिया करता था। अत्यधिक अर्थात् अत्यन्त आवश्यक कार्यों में मन्त्रिन् तथा मन्त्रि परिषद् दोनों को बुलाया जाता था। मंत्रिन् राजकुमारों पर भी कुछ नियन्त्रण रखते थे। यह लोग सम्राट के साथ रण-क्षेत्र में भी जाते थे और सैनिकों को प्रोत्साहन देते थे, चूंकि मंत्रिणः शब्द का प्रयोग किया गया है अतएव स्पष्ट है कि मन्त्रियों की संख्या एक से अधिक होती थी। एक मंत्री प्रदेशी कहलाता था जो दुष्टों को नष्ट करने तथा देश को शांति प्रदान करने में सम्राट की सहायता करता था।

**मन्त्रि परिषद्**—मन्त्रिन् के अतिरिक्त एक मन्त्रि-परिषद् भी होती थी। मन्त्रि-परिषद् [illegible] ...टि का था। इनका वार्षिक वेतन केवल १२०० पण ... साधारण [illegible] रों पर सम्राट इनको परामर्श नहीं लेता ...यक कार्यों में मंत्रिण के साथ बुलाये ... के ... यें करता था। जब सम्राट राजदूतों

विशाल सेना का प्रबन्ध एक मण्डल को सौंपा गया था। इस मण्डल में कुल ३० सदस्य होते थे। मण्डल का कार्य ६ विभागों में विभक्त था। प्रत्येक विभाग में ५सदस्य होते थे। प्रत्येक विभाग का एक अध्यक्ष होता था। पहिला विभाग जल सेना का प्रबन्ध करता था। इस विभाग के सदस्य जल-सेनापति की सहायता से जल सेना को हर प्रकार की सुविधा देने का प्रयत्न करते थे। जल-सेना सम्भवतः वही है जिसे 'अर्थ शास्त्र' में नवाध्यक्ष कहा गया है। जहाजों से सम्बन्धित सभी कार्य इस पदाधिकारी को करना पड़ता था।

[illegible]

दूसरा विभाग सेना को हर प्रकार की आवश्यक सामग्री तथा रसद भेजने का प्रबन्ध करता था। साईसों, घसियारों तथा बाजा बजाने वालों का प्रबन्ध इसी विभाग को करना पड़ता था। इस विभाग के लोग बैलगाड़ियों के निरीक्षकों की सहायता से कार्य करते थे जो 'अर्थ-शास्त्र' में गोध्यक्ष के नाम से पुकारा गया है। बैलगाड़ियों का प्रयोग युद्ध की सामग्री भेजने के लिये किया जाता था। तीसरा विभाग पैदल सेना को हर प्रकार की सुविधा देने

[illegible]

प्रबन्ध करता था। इसका निरीक्षक अश्वाध्यक्ष कहलाता था। प्रत्येक अश्वारोही के पास दो भाले होते थे। कम्बोज तथा सिन्ध के घोड़े सबसे अच्छे समझे जाते थे। पाँचवाँ विभाग हस्ति-सेना को हर प्रकार की सुविधा देता था। इसके निरीक्षक सम्भवतः हस्त्यध्यक्ष कहलाता था। पीलवान को मिला कर प्रत्येक हाथी पर चार आदमी बैठते थे। छठीं विभाग रथ-सेना को हर प्रकार की सुविधा देता था। इसका निरीक्षक रथाध्यक्ष कहलाता था। सारथी को मिला कर प्रत्येक रथ में तीन आदमी बैठते थे। कौटिल्य के कथनानुसार सेना के साथ एक चिकित्सा-विभाग भी होता था। युद्ध के समय चिकित्सक अपने साथ औषधि, पथ्य, भोजन तथा अन्य चिकित्सा के सामान तैयार रखते थे। चन्द्रगुप्त की सेना स्थायी थी और उसे राज्य की ओर से वेतन तथा अस्त्र शस्त्र मिलता था। घोड़ों तथा हाथियों के लिये सरकारी अस्तबल होते थे और अस्त्र-शस्त्र बनाने का सरकारी कार्यालय भी होता था।

**नगर का प्रबन्ध**—नगर का प्रधान प्रबन्धक नगराध्यक्ष कहलाता था। कौटिल्य ने अपने 'अर्थ-शास्त्र' में उसे पौर व्यवहारिक के नाम से पुकारा है जो राज्य का एक उच्च [illegible] यों होती थी और प्रत्येक [illegible] गाध्यक्ष, शुल्काध्यक्ष आदि [illegible] पहुँचाते थे। पहिला [illegible] शियों की देख भाल करती थी, तीसरी समिति जन्म मरण का हिसाब रखती थी, चौथी समिति व्यापार का प्रबन्ध करती थी, पाँचवीं समिति व्यापारियों की बनी हुई वस्तुओं के विक्रय का प्रबन्ध करती थी और छठीं समिति कर अथवा चुङ्गी वसूल करती थी। सामूहिक रूप से नगर की समितियों के सदस्य नगर की सुव्यवस्था के लिये उत्तरदायी होते थे।

**न्याय-विधान**—चन्द्रगुप्त के समय में न्याय का विधान बहुत अच्छा था। सम्राट् स्वयम् सबसे बड़ा न्यायाधीश होता था। राजा के न्यायालय के अतिरिक्त नगरों तथा जनपदों के लिये अलग न्यायालय होते थे। नगरों के न्यायाधीश 'व्यवहारिक महामात्र' और जनपदों के न्यायाधीश 'राजुक' कहलाते थे। यूनानी लेखकों ने ऐसे भी न्यायाधीशों

त थी। चूंकि कलिङ्ग पर अशोक ने विजय प्राप्त की थी अतएव ऐसा प्रतीन होता है कि चन्द्रगुप्त के समय केवल शेष ही चार प्रांत थे। सुदूरस्थ प्रान्तों के प्रबन्ध के लिये राजकुमारों को नियुक्त किया जाता था। कौटिल्य के कथनानुसार प्रत्येक राजकुमार का वार्षिक वेतन १२००० पण होता था। प्राच्य तथा मध्य-देश के प्रांतों का प्रबन्ध सम्राट् अपने महामात्रों की सहायता से स्वयम् करता था। यह महामात्र पाटलिपुत्र, कौशाम्बी आदि जैसे बड़े-बड़े नगरों में रहते थे। सुराष्ट्र का प्रबन्धक पुष्यगुप्त नामक वैश्य था। वह चन्द्रगुप्त का राष्ट्रीय था। इन प्रांतों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भूभाग थे जिन्हें पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी। एरियन ने ऐसे नगरों का उल्लेख किया है जहां पर प्रजातन्त्र सरकार थी।

**ग्राम शासन**—चन्द्रगुप्त के समय में गांवों का शासन किस प्रकार होता था इसका ज्ञान हमें कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र से होता है। गाँव का शासन तथा न्याय ग्रामीक किया करता था। अपने इन कार्यों को ग्रामीक ग्राम-वृद्धों की सहायता से किया करता था। चन्द्रगुप्त के समय में ग्रामीक का पद अवैतनिक हुआ करता था और वह ग्राम वासियों द्वारा चुन लिया जाता था। प्रत्येक गांव में राजा का एक भृत्य होता था जिसे ग्राम भृतक कहते थे। ग्रामीक के ऊपर गोप होता था जिसके नियन्त्रण में ५ से १० गांव तक हुआ करते थे। स्थानीक का पद गोप से भी अधिक ऊँचा होता था। उसके नियन्त्रण में जनपद अथवा जिले का चौथाई भाग होता था। इन पदाधिकारियों के कार्यों का निरीक्षण समहर्ता प्रदेश्वी की सहायता से करता था। गांवों का प्रबन्ध अत्यन्त संतोषजनक था। किसानों को किसी प्रकार की क्षति नहीं होने पाती थी और निर्विघ्न अपने कार्य में लगे रहते थे।

**आय व्यय**—चन्द्रगुप्त का साम्राज्य अत्यन्त विस्तृत था और उसके पास एक विशाल सेना थी। उसका शासन बड़ा ही सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित था। अतएव सेना तथा शासन पर उसे अपार धन व्यय करना पड़ता था। यह धन कई साधनों से प्राप्त होता था। गाँवों से धन प्राप्त करने के दो साधन थे अर्थात् 'भाग' तथा बलि'। भाग 'भूमि का छठाँ भाग था। कभी-कभी सम्राट चौथाई भाग ले लेता था, परन्तु कभी-कभी वह केवल आठवाँ भाग लेता था। बलि नामक कर 'भाग' के अतिरिक्त होता था। परन्तु कुछ भूमि इस कर से मुक्त रहती थी। यूनानी लेखकों के कथनानुसार किसानों को उपज के चौथाई भाग के अतिरिक्त भूमि-कर भी देना पड़ता था क्योंकि भारतवर्ष में सारी भूमि सम्राट की समझी जाती थी। भूमि-कर के वसूल करने के लिए एक पदाधिकारी होता था जो अग्रम (Agronomoj) कहलाता था। व्यापारियों से भी सम्राट को कर तथा सेवा प्राप्त होती थी। किसानों से पशु भी सम्राट को उपहार के रूप में प्राप्त होते थे। नगरों में विक्रय मूल्य का दशमांश सम्राट को प्राप्त होता था। जुर्माने से भी सम्राट को कुछ धन मिल जाया करता था। इसके अतिरिक्त जन्म-मरण कर भी नगरों से सम्राट को मिलता था।

आय का बहुत बड़ा भाग सेना पर व्यय किया जाता था। शिल्पकारों की सहायता भी राज कोष से की जाती। बहेलियों तथा चरवाहों को जंगली पशु-पक्षियों के भगाने के बदले में राज्य की ओर से अन्न दिया जाता था। दार्शनिकों की भी सहायता राज्य की ओर से की जाती थी। सड़कों के निर्माण में भी बड़ा धन व्यय किया जाता। चन्द्रगुप्त के काल में सड़कों की बड़ी सुन्दर व्यवस्था की गई थी। आचार्य कौटिल्य ने 'राज-पथ' तथा वाणिक पथ' का उल्लेख किया है। यूनानियों के कथनानुसार एक सड़क पाटलिपुत्र से

... ने भी ... किसी सम्राट ने
... था। दिल्ली
... राज्य सीमा
... म्राटों को भी
... र साधनों के
... । आज कल
... अफगानिस्तान
... को भारत से
... जिस समय
चन्द्रगुप्त ने अपनी विजय आरम्भ की उस समय भारत की राजनैतिक एकता समाप्त हो गई थी और भारत कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। फलतः उसमें विदेशियों के आक्रमणों के रोकने की शक्ति न थी। चन्द्रगुप्त ने दिग्विजय करके भारत की राजनैतिक एकता को स्थापित किया। उसने सम्पूर्ण भारत में अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित किया और एक ऐसी प्रबल सेना का निर्माण किया कि न केवल उस समय में वरन् उसके उत्तराधिकारियों के समय में भी बहुत दिनों तक भारत विदेशी आक्रमणों के भय से मुक्त रहा। उसने न केवल उत्तरी भारत पर अपनी विजय पताका फहराई वरन् दक्षिणी भारत के भी एक बहुत बड़े भाग पर अपना अधिकार स्थापित किया। परन्तु उन दिनों आवागमन के साधनों में बड़ी कमी थी और उत्तर से दक्षिण का शासन करना सम्भव न था। अतएव चन्द्रगुप्त ने दक्षिण के राज्यों को स्वायत्त शासन प्रदान कर दिया था। इससे उसका दूरदर्शिता तथा राजनीतिज्ञता का परिचय मिलता है।

महान् शासक—चन्द्रगुप्त न केवल एक महान् विजेता था वरन् वह उच्चकोटि का शासनकर्ता भी था। उसमें संगठन करने की बहुत बड़ी शक्ति थी। उसके सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित राज्य का निष्कण्टक उपभोग उसके पुत्र बिन्दुसार तथा उसके पौत्र अशोक ने किया। उसने ऐसी शासन व्यवस्था की थी कि वह स्थायी बन गई और अन्य सम्राटों के लिये अनुकरणीय बन गई। उसने अपनी प्रजा को शान्ति तथा समृद्धि प्रदान की। व्यापार तथा कृषि की उसके काल में बड़ी उन्नति हुई। मुद्राराक्षस के रचयिता विशाखदत्त ने उसे देवता माना है जो शांति तथा सुख प्रदान करने के लिये स्वर्ग से आया था। विदेशी लेखकों में केवल जस्टिन ने चन्द्रगुप्त को निर्दयी बतलाया है परन्तु मेगेस्थनीज ने, जिसके आधार पर जस्टिन ने लिखा है, चन्द्रगुप्त के शासन की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। यद्यपि चन्द्रगुप्त का न्याय विधान अत्यन्त कठोर था परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों के यह व्यवस्था अनुकूल ही थी। यदि दण्ड विधान कठोर न होता तो

पर विजय प्राप्त की अथवा नहीं परन्तु इतना तो निश्चय है कि वह न केवल सम्पूर्ण उत्तरी भारत का शासक था वरन् दक्षिण भारत भी उसके अधीन था।

**विदेशों से सम्बन्ध**—बिन्दुसार का विदेशों के साथ मित्रता का व्यवहार था। विशेषकर यवन देशों से उसका घनिष्ट सम्बन्ध था। उसकी राज-सभा में पश्चिमी एशिया सम्राट ऐन्टियोकस ने अपने राजदूत डेईमेकस को भेजा था। मिश्र के राजा टोलेमी ने डायोनीसियस नामक राजदूत को बिन्दुसार की राज सभा में भेजा था।

**बिन्दुसार का परिवार**—बिन्दुसार के कई पुत्र तथा कन्यायें थीं। उसके पुत्रों में अशोक बड़ा वीर तथा योग्य था। अपने पिता के शासन-काल में वह क्रम से तक्षशिला तथा उज्जैन का गवर्नर रह चुका था। जन अनुश्रुति से पता चलता है कि अपने पिता की रुग्णावस्था का समाचार सुनकर अशोक उज्जैन से पाटलिपुत्र चला आया। पिता की मृत्यु हो जाने पर उसका अपने भाइयों से राज्य के लिये संघर्ष प्रारम्भ हो गया। 'दिव्यावदान' में अशोक के दो भाइयों का उल्लेख मिलता है अर्थात् सुशिमा तथा विगतशोक। सिंहल द्वीप की अनुश्रुति में भी अशोक के दो भाइयों सुमन तथा तिष्य का उल्लेख मिलता है। यह उपरोक्त दोनों भाइयों के ही नाम थे। सुशिमा अथवा सुमन बिन्दुसार का सबसे बड़ा पुत्र और अशोक का सौतेला भाई था। विगतशोक अथवा तिष्य बिन्दुसार का सबसे छोटा पुत्र और अशोक का सहोदर भाई था। अशोक के एक और भाई का नाम महेन्द्र था। २७३ ई० पू० में बिन्दुसार का स्वर्गवास हो गया और चार वर्ष के उपरान्त अशोक वर्धन पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर बैठा।

---

था। अतएव डा० स्मिथ की धारणा है कि अशोक को राजसिंहासन के लिये संघर्ष अवश्य करना पड़ा था और सम्भवतः उसका संघर्ष उसके बड़े भाई सुसीम से हुआ था परन्तु डा० जायसवाल का कहना है कि उन दिनों राज्याभिषेक के समय युवराज की अवस्था २५

[illegible]

चलता है कि विचित्रवीर्य का राज्याभिषेक बाल्यकाल में ही हो गया था। डा० स्मिथ के मतानुसार सिंहलद्वीप की यह अनुश्रुति कि अशोक ने अपने सौ भाइयों में से ९९ को मार कर सिंहासन प्राप्त किया था बिल्कुल कपोल-कल्पित प्रतीत होती है क्योंकि अशोक के शासन काल के सत्रहवें तथा अठारहवें वर्ष भी उसके कई भाई-बहिन जीवित थे और उनके परिवार की वह बड़ी चिन्ता किया करता था। डा० भण्डारकर सिंहली अनुश्रुति का विश्वास नहीं करते क्योंकि वे किसी ऐसी बात को मानने के लिये उद्यत नहीं हैं जिसका आधार केवल दन्त कथा हो। सुसीम की मृत्यु के विषय में यह सम्भव हो सकता है कि अशोक ने उसे परास्त कर राज्य प्राप्त किया था। परन्तु ९९ भाइयों के वध की कथा बिल्कुल मनगढ़न्त प्रतीत होती है। सम्भवतः बौद्धों ने यह प्रदर्शित करने के लिये कि अशोक जैसा निर्दयी तथा दुश्चरित्र व्यक्ति भी बौद्ध-धर्म को स्वीकार करके दयावान् तथा चरित्रवान् बन गया इस कथा का आविष्कार किया था। परन्तु डा० स्मिथ का यह कथन सत्य है कि अशोक के शासन काल के प्रथम चार वर्ष अन्धकारमय हैं और इस काल के इतिहास का अन्वेषण करना निरर्थक है। राजसिंहासन पर बैठने के उपरान्त अशोक ने देवानाम्प्रिय की उपाधि ली। वह प्रायः प्रियदर्शी कहा जाता है। कहीं कहीं उसे धर्माशोक भी कहा गया है। कुमारदेवी के सारनाथ के शिला-लेख में उसे धर्माशोक ही कहा गया है।

**कारमीर तथा कलिङ्ग विजय**—ऐसा प्रतीत होता है कि अपने शासन काल के प्रथम तेरह वर्षों में अशोक ने उस नीति का अनुसरण किया जिसका उसके पूर्वजों ने सेल्यूकस के साथ युद्ध करने के उपरान्त किया था अर्थात् विदेशों के साथ मैत्री भाव रखना और भारत में राज्य का विस्तार करना। उसने यवन राज्यों में अपने राजदूत भेजे और उनके राजदूतों का स्वागत किया। उसने यवन पदाधिकारियों को राज्य की सेवा में नियुक्त किया था। इनमें एक का नाम तुशास्फ था। अशोक की आन्तरिक नीति राज्य परिवर्धन की थी। जब वह राजकुमार था तभी उसने तक्षशिला के विद्रोह का दमन किया था और खास अथवा खास देश पर विजय प्राप्त की थी। अपने शासन के प्रारम्भिक काल में अशोक ने अपने पूर्वजों की साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण करना आरम्भ किया। भारत के प्राचीन राजाओं की परम्परा के अनुसार उसका भी राजनैतिक आदर्श दिग्विजय का था। फलतः भारत के जो प्रान्त अभी मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं थे उन पर आक्रमण करने का उसने संकल्प किया।

**कारमीर विजय**—कल्हण की राजतरङ्गिणी से हमें ज्ञात होता है कि सर्व प्रथम अशोक ने कारमीर पर आक्रमण किया था। कारमीर के इतिहास में अशोक मौर्य वंश का प्रथम सम्राट माना गया है। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार के समय में कारमीर मौर्य-साम्राज्य के बाहर था।

**कलिंग विजय**—अपने शासन काल के तेरहवें और राज्याभिषेक के नवें वर्ष उसने कलिङ्ग राज्य पर आक्रमण कर दिया। पुराणों के अनुसार कलिंग राज्य की उत्तरी सीमा पर वैतरणी नदी, पश्चिमी सीमा पर अमर कण्टक पर्वत और दक्षिणी सीमा पर महेन्द्रगिरि थे। नन्द राजाओं के काल में कलिंग मगध साम्राज्य का एक भाग था। परन्तु नन्द वंश

[illegible] यह एक नये युग का आरम्भ करता है। यह युग [illegible] का, सामाजिक प्रगति का, धार्मिक प्रचार का, राजनैतिक अवरोध का और सैनिक ह्रास का। इस काल से सेना के प्रयोग के अभाव के कारण साम्राज्यवादी मगध के सैनिक उत्साह का उत्तरोत्तर विनाश होता गया। आध्यात्मिक विजय अथवा धर्म विजय का युग आरम्भ होने वाला था।"

**अशोक की विदेशी नीति**—कलिंग युद्ध के उपरान्त अशोक की विदेशी नीति [illegible]

[illegible]

ग्लानि की बात होगी। इसके अतिरिक्त यदि उसे कोई क्षति भी पहुँचायेगा तो जहाँ तक सम्भव हो सकता है सम्राट् उसे भी सहन करेगा। कलिंग के पहिले शिलालेख में अशोक ने अपनी विदेशी नीति की घोषणा इस प्रकार की थी कि अविजित अमित्रों को उससे डरना नहीं चाहिये, उन्हें उसका विश्वास करना चाहिये और उन्हें उसके द्वारा सुख प्राप्त होगा, दुःख नहीं। अब सम्राट के विचार में वास्तविक विजय धर्म की थी। अतएव अब भेरि घोष के स्थान पर धर्म घोष की गूँज सुनाई देगी और दिग्विजय के स्थान पर धर्म-विजय का प्रयत्न किया जायगा।" अशोक ने यह निश्चय न केवल अपने ही तक सीमित रक्खा वरन् अपने पुत्र तथा पौत्र को भी यह उपदेश दिया कि वे युद्ध न करें—"पुत्र प्रपौत्र मे असु नवम् विजयम् मा विजेतव्यम्।" अशोक की इस नीति का प्रभाव उसकी मृत्यु के उपरान्त दृष्टिगोचर होने लगा। यदि बिम्बिसार का काल मगध साम्राज्य के उत्थान का काल था तो अशोक का काल उसके अधःपतन का। बिम्बिसार के समय से कलिंग-युद्ध तक का काल मगध साम्राज्य के विस्तार का काल था। इस काल में उसका विस्तार हिन्दूकुश पर्वत से लेकर तमील राज्य की सीमा तक हो गया था। परन्तु कलिंग-युद्ध के उपरान्त उसका ऐसा ह्रास आरम्भ हुआ कि धीरे-धीरे उसकी सीमा घटने लगी और कालान्तर में वह घट कर उतना ही बड़ा रह गया जितना बिम्बिसार की साम्राज्य विजय के पूर्व था।

किया था। यह एक नये युग का आरम्भ करता है। वह युग है शांति का, सामाजिक उन्नति का, धार्मिक प्रचार का, राजनैतिक अवरोध का और सैनिक ह्रास का। इस काल में सेना के प्रयोग के अभाव के कारण साम्राज्यवादी मगध के सैनिक उत्साह का उत्तरोत्तर विनाश होता गया। आध्यात्मिक विजय अथवा धर्म विजय का युग आरम्भ होने वाला था।"

**अशोक की विदेशी नीति**—कलिंग युद्ध के उपरान्त अशोक की विदेशी नीति में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। इस युद्ध के भीषण हत्याकाण्ड का उसके हृदय पर ऐसा प्रभाव पड़ा था कि उसने यह निश्चय कर लिया था कि वह राज्य विस्तार की नीति को त्याग देगा और भविष्य में कभी युद्ध न करेगा। युद्ध के स्थान पर वह सबसे मैत्री स्थापित करेगा और राज्य विजय के स्थान पर धर्म विजय करेगा। कलिंग-युद्ध के उपरान्त अशोक ने यह घोषणा की थी, "कलिंग युद्ध में जितने व्यक्ति मारे गये थे, मरे थे अथवा बन्दी बना लिये गये थे उनके शतांश अथवा सहस्रांश का भी यदि वैसा ही भाग्य रहा तो सम्राट् के लिये ग्लानि की बात होगी। इसके अतिरिक्त यदि उसे कोई क्षति भी पहुँचायेगा तो जहाँ तक सम्भव हो सकता है सम्राट् उसे भी सहन करेगा। कलिंग के पहिले शिलालेख में अशोक ने अपनी विदेशी नीति की घोषणा इस प्रकार की थी कि अविजित जातियों को उससे डरना नहीं चाहिये, उन्हें उसका विश्वास करना चाहिये और उन्हें उसके द्वारा दुःख नहीं। अब सम्राट के विचार में वास्तविक विजय [illegible]

# २५० ई० पू० का भारत

अशोक का साम्राज्य उत्तर-पश्चिम में हिन्दुकुश पर्वत तक जिसके अन्तर्गत सिन्ध, बलूचिस्तान का अधिकांश भाग तथा अफ़गानिस्तान थे उत्तर में हिमालय पर्वत तक पूर्व में बंगाल तक, दक्षिण-पूर्व में कलिङ्ग तक और दक्षिण में १४ अक्षांश उत्तर तक फैला था।

पतिवेदका, वचभूमिका, लिपिकार, दूत, आयुक्त तथा कारणक। अब इनके कर्तव्यों का संक्षिप्त वर्णन कर देना आवश्यक है।

महामात्र—साम्राज्य के प्रत्येक जिले तथा नगर में महामात्रों का वर्ग रहता था। अशोक के शिला लेखों से पता चलता है कि पाटलिपुत्र, कौशाम्बी, तोसली, समापा, सुवर्णगिरि तथा इसिल में महामात्र नियुक्त थे। कलिंग के शिला-लेख में 'नगलक' तथा 'नगल वियोहलक' महामात्रों का उल्लेख मिलता है। यह रायचौधरी के विचार में 'अर्थशास्त्र' के 'नागरक' तथा 'पौर व्यवहारिक' हैं। इसी प्रकार पहिले स्तम्भ लेख में 'अन्त महामात्र' का उल्लेख मिलता है जो 'अर्थशास्त्र' का 'अन्तपाल' है। बारहवें शिला-लेख में 'इथिझक' महामात्र का उल्लेख है जिसका तात्पर्य 'स्त्री अध्यक्ष' से है जो स्त्रियों की सुरक्षा का प्रबन्ध करता था। इससे ऐसा मालूम होता है कि भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये भिन्न-भिन्न महामात्र होते थे।

राजुक—महामात्र के नीचे राजुक होता था। डा० स्मिथ के विचार में राजुक भी

[illegible]

थी। आखेट का भी प्रबन्ध इस पदाधिकारी को करना पड़ता था। नियम भंग करने वालों को वह दण्ड भी दे सकता था। 'अर्थशास्त्र' में चोर रज्जुक का भी उल्लेख मिलता है।

प्रादेशिक—प्रदेशिक अथवा प्रादेशिक के विषय में विद्वानों में मत-भेद है। कुछ

[illegible]

युत अथवा युक्त—'युत' अथवा 'युक्त' का पद अत्यन्त प्राचीन है। मनु जी के कथनानुसार युक्त लोग खोई हुई सम्पत्ति के पुनः प्राप्त हो जाने पर उसकी रक्षा का प्रबन्ध करते थे। 'अर्थ-शास्त्र' से भी पता चलता है कि यह लोग राज-सम्पत्ति का प्रबन्ध करते थे। कुछ विद्वानों के विचार में युत महामात्रों के कार्यालय मन्त्री होते थे और राजा की आज्ञाओं का संकलन करते थे।

पुलिश तथा अन्य कर्मचारी—'पुलिश' कुछ विद्वानों के विचार में 'अर्थशास्त्र' का

[illegible]

सार दूत तीन प्रकार के होते थे अर्थात् निसृष्टार्थ (अपरिमित शक्ति का), परिमितार्थः तथा शासनहार। 'आयुक्त' नामक पदाधिकारी का उल्लेख केवल कलिंग के शिलालेख में मिलता है। मौर्य काल के बाद वह गाँव के पदाधिकारी माने जाते थे। परन्तु गुप्तकाल में
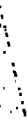
ही प्रत्येक वर्ष गाँठ को अशोक बहुत से कैदियों को मुक्त भी किया करता था। सम्राट् ने स्वयम् पशुओं का आखेट त्याग दिया था।

लोक-कल्याण के कार्य—लोक-कल्याण के बहुत से कार्य अशोक ने किये थे। इसने न केवल मानवों वरन् पशुओं के लिये भी औषधालय बनवाये थे। औषधि की सुविधा के लिये जड़ी बूटियों के लगवाने का प्रबन्ध रहता था। सड़कों के किनारे राज्य की ओर से कुएँ खुदवाये गये थे। पानी में उतरने के लिये सीढ़ियाँ बनवाई गई थीं। आम तथा वट-वृक्षों को राज्य की ओर से लगवाया जाता था जिससे मनुष्य तथा पशु उनकी छाया में विश्राम करें। सम्राट्, रानी तथा राजकुमारों की अलग-अलग दानशालायें होती थीं। दान वितरण का कार्य मुख्यों को सौंपा गया था। इस प्रकार अशोक ने एक अत्यन्त सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित शासन की स्थापना की।

अर्द्ध-सभ्य जातियों के साथ उदार व्यवहार—सीमान्त प्रदेश की अर्ध-सभ्य तथा सामरिक प्रवृत्ति की जातियों के साथ अशोक ने दण्ड तथा कठोरता की नीति का अनुसरण नहीं किया। इसके विपरीत सम्राट् ने उनके साथ उदारता तथा दया का व्यवहार किया और उनके सहयोग के प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इन पिछड़ी हुई जातियों की भौतिक तथा नैतिक उन्नति के लिये अशोक ने यथाशक्ति प्रयत्न किया।

**अशोक का धर्म**—अशोक के धर्म की विवेचना करने के पूर्व तत्कालीन धार्मिक संगठनों तथा सामाजिक व्यवहारों पर कुछ प्रकाश डाल देना आवश्यक है। उस समय भारत में चार धार्मिक सम्प्रदाय थे। पहिला सम्प्रदाय देव उपासकों का था जो बलिदान तथा यज्ञों में विश्वास करता था। ब्राह्मण इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। इसे हम हिंसा धर्म भी कह सकते हैं क्योंकि इसमें पशुओं के बलि की प्रथा थी। दूसरा धार्मिक सम्प्रदाय आजीविकों का था। इसका प्रवर्तक गोशाल मक्खलिपुत्त था जिसका जन्म श्रावस्ती के पास हुआ था। वह पहिले महावीर स्वामी का शिष्य था परन्तु मतभेद हो जाने के कारण वह उनका घोर विरोधी हो गया था। आजीविक लोग पुरुष कार्य अथवा पुरुष पर क्रम में विश्वास नहीं करते। वे भाग्य अथवा नियति को सर्वशक्तिमान् मानते हैं और मनुष्य केवल नियति के हाथ का खिलौना है। तीसरा सम्प्रदाय निर्ग्रन्थों अर्थात् जैनियों का था। यह लोग महावीर स्वामी अथवा वर्धमान् के अनुयायी थे। यह लोग कर्म में विश्वास करते थे और तपस्या तथा अहिंसा को बड़ा महत्व देते थे। चौथा सम्प्रदाय बौद्धों का था। गौतम बुद्ध, शाक्य मुनि इस धर्म के प्रवर्तक थे। जैन धर्म की भाँति यह भी अहिंसा धर्म था परन्तु तपस्या में इसका विश्वास नहीं था। कर्म और आचरण की प्रधानता को यह धर्म भी मानता था। तर्क इस धर्म की गवेषणा का प्रधान आधार था। अशोक के समय की सामाजिक दशा बड़ी शोचनीय थी। पशुओं की हिंसा उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। ब्राह्मणों तथा श्रमणों के साथ सद्व्यवहार नहीं होता था। इसी प्रकार सम्बन्धियों के साथ बड़ा दुर्व्यवहार किया जाता था। सम्राट् लोग विहार यात्रा के लिये जाया करते थे और पशुओं का शिकार कर आमोद किया करते थे। रुग्ण हो जाने पर, पुत्र तथा कन्या के विवाह के अवसर पर सन्तानोत्पत्ति के समय तथा यात्रा-गमन के समय माँगलिक आचार किये जाते थे। स्त्रियाँ बहुत से निष्फल आचार व्यवहार किया करती थीं। ऐसे ही वायु-मण्डल में अशोक का बाल्य काल व्यतीत हुआ था।

भोजनालय में प्रतिदिन सहस्रों पशुओं की हत्या शोरबा बनाने के लिये होती थी। अशोक,

पने ही धर्म का आदर करता है और अन्य धर्मों की निन्दा करता है वह वास्तव में
पने ही सम्प्रदाय को बहुत बड़ी क्षति पहुँचाता है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में वह मेल-
ल चाहता था और धार्मिक सहिष्णुता का कट्टर पक्षपाती था। बौद्ध-धर्म में भी वह
त-भेद नहीं चाहता था और इस मत भेद को दूर करने का उसने प्रयत्न भी किया था।
१० हेमचन्द्रराय चौधरी ने अशोक की धार्मिक-धारणा की समीक्षा इस प्रकार की है।
द्यपि बुद्ध जी की शिक्षाओं में उसका अटल विश्वास था, वह पवित्र बौद्ध स्थानों पर
जा करने की उपयोगिता को मानता था, बौद्ध संघ के भी वह सम्पर्क में रहता था और
से संगठित भी रखने का प्रयत्न किया था परन्तु वह अपने साम्प्रदायिक विचारों को
सरों पर लादना नहीं चाहता था। वह केवल ऐसी संस्थाओं तथा प्रथाओं को समाप्त
रना चाहता था जो नीति तथा सद्व्यवहार के विरुद्ध थीं। वह लोगों को सम्बोधि अथवा
नेर्वाण की आशा नहीं दिखाता था वरन् स्वर्ग तथा देवताओं से मिलने की। सभी लोग,
छोटे तथा बड़े स्वर्ग की प्राप्ति कर सकते हैं और ईश्वर से मिल सकते हैं परन्तु मङ्गल
द्वारा नहीं बल्कि पराक्रम द्वारा, प्राचीन नियमों का पालन करके, माता-पिता तथा वृद्धों
का आदर करके, जीवों पर दया करके, सत्य बोल कर और अच्छे आचरण का पालन
करके। शिष्य को गुरु की आज्ञा का पालन करना चाहिये। सभी को अपने सम्बन्धियों
का आदर करना चाहिये। भृत्यों तथा दासों के साथ भी सद्व्यवहार करना चाहिये।
इन्द्रिय निग्रह, मस्तिष्क की पवित्रता, कृतज्ञता, भक्ति, दया, दान, सत्कर्म, सत्य, शुद्धता
आदि अशोक के धार्मिक सिद्धान्त थे।

अशोक का धर्म—जैसा ऊपर बतलाया गया है अशोक का धर्म कोई संकीर्ण
अथवा साम्प्रदायिक धर्म न था। बौद्ध धर्म का अनुयायी होते हुये भी अपने व्यक्तिगत
धर्म को किसी पर लादने का उसने प्रयास नहीं किया। उसने अपने अभिलेखों में कहीं
भी बौद्ध-धर्म के चार आर्य सत्यों, अष्टांगिक मार्ग तथा निर्वाण का उल्लेख तक नहीं
किया। वास्तव में जिस धर्म का स्वरूप उसने संसार के समक्ष उपस्थित किया वह सभी
धर्मों से सम्मानित नैतिक सिद्धान्तों तथा आचरणों का संग्रह है। उसने जीवन को सभी

[illegible]

सम्बन्धियों, मित्रों, वृद्धों तथा आत्मा के प्रति दान, दया तथा उचित व्यवहार को उसने
उत्तम तथा सराहनीय बतलाया है। (३) मनुष्य को अपनी भावनाओं की शुद्धता तथा
पवित्रता के लिये साधुता अथवा बहु-कल्याण दया, दान, सत्य, संयम, कृतज्ञता, दृढ़-
भक्ति, शौच तथा माधुर्य आदि गुणों का आचरण करना चाहिये। (४) सेवकों तथा
श्रमिकों के साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिये। (५) अल्प-व्यय तथा अल्प संग्रह करना
चाहिये। (६) निषेधात्मक आदेशों में उसने कम से कम पाप करने पर बल दिया और
इसके लिये निष्ठुरता, क्रोध, अभिमान, ईर्ष्या आदि दुर्गुणों से दूर रहने का उपदेश दिया
था। धार्मिक भावना तथा आचरण के विकास के लिये उसने समय-समय पर आत्म-
निरीक्षण की आवश्यकता पर विशेष बल दिया।

अशोक के धर्म की विशेषतायें—उपरोक्त कथित अशोक के आदर्शों तथा

धर्म-विजय से भारत के मस्तक को समुन्नत किया और भारत की ... प्रचार किया।

## धर्म प्रचार के उपाय

धर्म प्रचार के उपाय—अशोक केवल धर्म-निष्ठ तथा ... वरन् उसमें धर्म-प्रचार की बहुत प्रबल मनोवृत्ति भी थी। सौभाग्य से ... के कार्यान्वित करने में अनेक व्यक्तियों की सहायता भी प्राप्त हो गई थी। ... ऐसी निष्ठा, लगन तथा उत्साह था कि इन्होंने एक स्थानीय धर्म को ... दिया। प्रथम लघु-शिला-लेख में अशोक का कहना है कि उसके सक्रिय ... अथक परिश्रम के कारण वर्ष भर में पूर्ण जम्बूद्वीप में जो मनुष्य देवता ... उनसे युक्त हो गये। अपने धर्म के प्रचार के लिये अशोक ने निम्नलि... अवलम्ब लिया :—

(१) सम्राट् का वैयक्तिक प्रभाव—कलिंग युद्ध के भीषण हत्याक... अशोक ने बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया था और इसे राज धर्म बना दि... स्वयं एक सच्चे भिक्षु की भांति जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया। इसका ... के ऊपर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा और वह बौद्ध धर्म की ओर झुकने लगी।

(२) मठों का निर्माण तथा उनकी सहायता—देश के विभिन्न भागों ... ने अनेक मठों का निर्माण करवाया और उनकी पूरी सहायता की। इन मठों में ... संख्या में भिक्षु भिक्षुणियाँ तथा धर्मोपदेशक निवास करते थे जो सदैव धर्म के ... तथा प्रचार में संलग्न रहा करते थे। ऐसी सुव्यवस्था में धर्म का प्रचार अवश्यम्भावी ... दिया।

(३) बौद्ध-धर्म को राज-धर्म बनाना—अशोक ने बौद्ध-धर्म को राज-... स्वीकार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि अशोक के उत्तराधिकारियों ने भी इस ... सहायता, सहानुभूति तथा संरक्षण प्राप्त हो जाने के कारण बौद्ध धर्म का बड़ी द्रुत... प्रचार हुआ। इस प्रकार बौद्ध-धर्म बहुत दिनों तक राज धर्म बना रहा।

(४) धर्म-विभाग की स्थापना—अपने धर्म के प्रचार के लिये अशोक ने ... धर्म-विभाग की स्थापना की। इस विभाग के प्रधान पदाधिकारी धर्म-महामात्र कहला... । इन धर्म महामात्रों को यह आदेश रहता था कि प्रजा की नैतिक तथा आध्यात्मि... ...ति का वे अधिक से अधिक प्रयास करें। धर्म-महामात्र घूम-घूम कर अशोक के धर्म का ... प्रचार करते थे।

(५) धार्मिक प्रदर्शन—अपने धर्म के प्रचार के लिये अशोक ने धार्मिक प्रदर्शन ... की व्यवस्था की थी। स्वर्ग में पुण्यात्माओं द्वारा भोगे जाने वाले अनेक आनन्दों तथा ... कि दृश्य जनता के सम्मुख रक्खे गये यथा विमान-प्रदर्शन, अग्नि-स्कंध प्रदर्शन ... ...र्शन आदि। अशोक की यह धारणा थी कि इन प्रदर्शनों से प्रभावित होकर ... ...जा धर्म-निष्ठ तथा धर्म-परायण हो जायगी और वह धर्माचरण में अनुरक्त ... ।

धर्म-यात्रा की व्यवस्था—अशोक ने अपने धर्म के प्रचार का ऐसा दृ... ...लिया था कि उसने अपनी विहार-यात्रायें बन्द कर दी और इनके स्थान पर ... ...ए.पू. में आरम्भ की। अशोक ने आखेट तथा मनोरंजन को तिलांजलि दे दी ... ...प्रचार में वह तन-मन-धन से संलग्न हो गया। उसने सभी भौतिक सुखों ... ...दी पर बलि कर दी। इस प्रकार अशोक ने अपने आचरण तथा दर्शन द्वारा ... ...प्रति अनुरक्ति उत्पन्न कर दी।

...भाषण की व्यवस्था—अपने धर्म के प्रचार के लिये अशोक ने धर्म-... ...व्यवस्था की थी। इनमें धार्मिक विषयों पर भाषण हुआ करते थे। ...

(१४) बौद्ध संगीति आह्वाहन—अशोक ने अपने शासन काल में तीसरी बौद्ध
संगीति बुलाई थी। इस संगीति में बौद्ध धर्म ग्रन्थों का संशोधन किया गया था तो
बौद्ध संघ में जो दोष आ गये थे उनके निराकरण का प्रयत्न किया गया। इन प्रयत्नों
तथा सुधारों से बौद्ध-धर्म में जो शिथिलता आ रही थी वह दूर हो गई और उसे
अग्रसर होने के लिये नव जीवन आ गया।

(१६) पाली में बौद्ध धर्म ग्रन्थों के लिखने की व्यवस्था—अशोक के प्रयत्न
से बौद्ध ग्रन्थों की रचना पाली भाषा में की गई जो जन-साधारण की तथा आनन्द
प्रिय भाषा थी। चूँकि इस भाषा को साधारण लोग भी सरलता से समझ लेते थे
अतएव इससे बौद्ध धर्म के प्रचार में बड़ा योग मिला।

अशोक के अभिलेख तथा उनका महत्व—अशोक के अभिलेखों को दो
भागों में विभक्त किया जा सकता है अर्थात् शिलालेख तथा स्तम्भ-लेख। शिलालेख
स्तम्भ-लेख से अधिक प्राचीनतर हैं। शिला-लेख सीमान्त प्रदेशों में पाये जाते हैं परन्तु
स्तम्भ-लेख आन्तरिक प्रान्तों में पाये जाते हैं। डा० विन्सेन्ट स्मिथ ने अशोक के अभि
लेखों को तिथि-क्रमानुसार आठ भागों में विभक्त किया है।

(१) लघु-शिला-लेख—इनकी तिथि २५८ अथवा २५७ ई० पू० है। यह शिल
लेख दो प्रकार के हैं अर्थात् नं० १ तथा २। दो नम्बर के शिला-लेख मैसूर के चित
दु ग जिले में सिद्धपुर, जतिंग, रामेश्वर तथा ब्रह्मगिरि नामक स्थानों में पाये जाते हैं।
१ शिला-लेख उपरोक्त स्थानों के अतिरिक्त जबलपुर जिले में रूपनाथ नामक स्थान प
आरा जिले के सहसराम नामक स्थान पर, जयपुर के निकट वैराट नामक स्थान में
निजाम राज्य में मस्की, गविमठ, पल्कीगुण्ड तथा इर्रागुडी स्थानों में मिलते हैं।
अभिलेखों से सम्राट के व्यक्तिगत इतिहास तथा धर्म के लक्षणों का पता चलता है।

(२) भाब्रू शिला-लेख—यह शिला लेख जयपुर राज्य में वैराट के निकट
डा० स्मिथ ने इसकी वही तिथि बतलाई है जो लघु शिला लेखों की है। इसमें बौद्ध
ग्रंथों से लिये गये सात ऐसे उद्धरण हैं जिन्हें अशोक चाहता था कि उसकी प्रजा पढ़े
उनके अनुसार आचरण करे।

(३) चतुर्दश शिला-लेख—इन शिला-लेखों का पता पेशावर जिले में शाह
गढ़ी नामक स्थान पर, हजारा जिले के मनसेहरा स्थान पर, गिरनार में जूनागढ़ के
बम्बई प्रान्त के थाना जिले में सोपारा स्थान पर, देहरादून जिले में कलसी स्थान
पुरी जिले में धौली स्थान पर, गन्जाम जिले में जौगढ़ स्थान पर और निजाम के रा
इर्रागुडी नामक स्थान पर लगाया गया है। इन शिला-लेखों की तिथि २५७
२५६ ई० पू० है। इनमें अशोक के नैतिक तथा राजनैतिक विचार अङ्कित किये गये
इनमें तेरहवाँ शिला-लेख सबसे अधिक लम्बा तथा महत्वपूर्ण है। कलिंग यु
उपरान्त सम्राट् के हृदय में जो ग्लानि उत्पन्न हुई थी वह इसी शिला-लेख में
मिलती है।

(४) दो कलिंग शिला-लेख—यह शिला-लेख धौली और जौगढ़ नामक स
पर पाये जाते हैं। यह शिला लेख २५६ ई० पू० के हैं। इनमें उन सिद्धान्तों का उ
है जिनके अनुसार कलिंग के विजित प्रांत तथा सीमान्त प्रदेश के अविजित लोगों के
व्यवहार किया जाना चाहिये था।

(५) तीन गुहा लेख—यह गया के नि
... सम्राट् के उन दानों का उल्लेख है

(७) सप्त स्तम्भ लेख—यह स्तम्भ ६ स्थानों में पाये जाते हैं। दो स्तम्भ दिल्ली । इनमें से एक मेरठ और दूसरा अम्बाले के पास टोपरा नामक स्थान से दिल्ली

या गया था।

**अभिलेखों का महत्व**—अशोक के अभिलेखों का ऐतिहासिक दृष्टि-कोण से बड़ा महत्व है। इन अभिलेखों से हमें निम्न-लिखित विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है.—

(१) अशोक के साम्राज्य का विस्तार—अशोक के शिला लेखों से हमें इस बात पता चलता है कि सुदूर दक्षिण के अतिरिक्त सम्पूर्ण भारत उसके साम्राज्य में सम्मिलित था।

(२) अशोक का अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध—अशोक के शिला-लेखों से पता चलता है कि उसने मिस्र, मीरिया, सिरीन, एपिरस तथा अन्य स्थानों में अपने दूत भेजे थे। भारत के बाहर के अधिकांश राज्यों के साथ अशोक की मैत्री थी।

(३) अशोक के धर्म का ज्ञान—इन शिला-लेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है अशोक का धर्म क्या था। गुरु-जनों तथा वृद्धों का आदर-सत्कार करना, सत्य-भाषण सदाचरण, जीवों पर दया आदि इस धर्म के प्रधान अङ्ग थे।

(४) अशोक के चरित्र तथा कार्यों का ज्ञान—अशोक के अभिलेख उसके चरित्र तथा कार्यों पर बहुत बड़ा प्रकाश डालते हैं। इनमे हमें पता चलता है कि किस प्रकार उसने कलिंग का युद्ध किया, किस प्रकार उसे ग्लानि उत्पन्न हुई और भविष्य में उसने युद्ध न करने का निश्चय किया, किस प्रकार उसने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया

शासन-व्यवस्था का भी पता चलता है क्योंकि इनमें उसके काल की प्रमुख घटनायें तथा उसकी सफलतायें अङ्कित हैं।

**अशोक के स्मारक**—अशोक एक महान् निर्माता था। उसने अनेक स्तूप तथा स्तम्भ बनवाये थे और नगर बसाये थे। स्तूप किसी महात्मा की समाधि पर अथवा किसी

के दो प्रधान लक्ष्य बना लिये अर्थात् बौद्ध-धर्म का प्रचार तथा अपनी प्रजा की भौतिक नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति। अतएव अशोक को अत्यन्त भद्र मनुष्य कहना सर्वथ सत्य है।

भिक्षु तथा धर्म-प्रचारक के रूप में—कलिंग युद्ध के उपरान्त अशोक बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया था और बौद्ध-सङ्घ में सम्मिलित हो गया था। वह यदा-कदा भिक्षुओं के वस्त्र भी धारण कर लिया करता था। कलिंग युद्ध के पूर्व अशोक सम्भवतः ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था और यज्ञ, हिंसा आदि से उसे घृणा न थी। परन्तु कलिंग के युद्ध ने उसे सच्चा बौद्ध बना दिया। उसने बौद्ध धर्म के प्रचार का आजन्म भगीरथ प्रयास किया। धर्म के प्रचार तथा उसके सिद्धान्तों एवं आदर्शों के कार्यान्वित करने को उसने अपने जीवन का प्रधान लक्ष्य बना लिया। उसने अनेक मठों का निर्माण कराया और उन्हें हर प्रकार की सहायता प्रदान की। अपनी प्रजा के पथ-प्रदर्शन के लिये उसने

[illegible]

[illegible] था। इस प्रकार अशोक बौद्ध-धर्म का अथक अनुयायी, भद्र भिक्षु तथा प्रवीण प्रचारक था। उसने

[illegible]

दर्शी", "विरुद" आदि उपाधियों को सार्थक बनाती हैं। परन्तु अशोक की महानता उसकी धर्म निष्ठा तथा धर्म परायणता में ही नहीं पाई जाती, उसकी महानता उसके [illegible] होती है। अशोक [illegible] धार्मिक सहिष्णुता [illegible] सिद्धान्तों तथा आचरणों का संग्रह था। इस धर्म में आचरण की सभ्यता तथा कर्मों की शुद्धता पर जोर दिया गया था फलतः अशोक की उदारता तथा सहायता से कोई भी धर्म अथवा सम्प्रदाय वंचित

[illegible]

शासक के रूप में—अशोक की गणना विश्व के भद्रतम तथा महानतम सम्राटों में होती है। वह सदैव अपनी प्रजा के हित-चिन्तन में संलग्न रहता था और अपने साम्राज्य में उसने ऐसी व्यवस्था की थी जिससे छोटे बड़े, धनी-निर्धन सभी को समान रूप से न्याय प्राप्त हो सके। न्याय के कार्य में सम्राट् स्वयं बड़ी दिलचस्पी लेता था और हर समय प्रजा की शिकायतों को सुनने के लिये उद्यत रहता था। उसने अपनी प्रजा की न केवल भौतिक उन्नति की वरन् धर्म महामात्रों की नियुक्ति कर उसकी नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति की पूरी व्यवस्था कर दी थी। वह अपनी प्रजा को सभी प्रकार से सुख प्रदान करने के चिन्तन में संलग्न रहता था और उसके जीवन को समुन्नत बनाने

विकेन्द्रीकरण की नीति का अनुसरण किया गया था और राज्य को अनेक इकाइयों में विभक्त कर दिया गया था। स्थानीय स्वराज्य की पूर्ण व्यवस्था थी और सरकारी कर्मचारियों को प्रजा की स्थिति तथा आवश्यकताओं का समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिये दौरा करना पड़ता था। सुव्यवस्थित तथा सुसङ्गठित शासन-व्यवस्था का ही यह परिणाम था कि अशोक के काल में प्रजा सुखी तथा धन धान्य पूर्ण थी और कोई आन्तरिक उपद्रव अथवा विप्लव नहीं हुआ।

(३) युद्ध विराम का युग—अशोक का काल शान्ति तथा सद्भावना का युग माना जाता है। यद्यपि अशोक ने आरम्भ में अपने पूर्वजों की साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया था और काश्मीर तथा कलिंग पर आक्रमण कर उन्हें अपने अधिकार में कर लिया था परन्तु कलिंग का युद्ध अशोक का अन्तिम युद्ध था। इसके बाद उसके साम्राज्य में फिर कभी भेरि-घोष नहीं सुनाई दिया। इसके स्थान पर अब गगन भेदी धर्म-घोष निनादित होने लगा। अपनी धर्म-विजय में सम्राट् को युद्ध-विजय से भी अधिक सफलता प्राप्त हुई। यद्यपि उसके पार्थिव राज्य का विस्तार रुक गया परन्तु उसके प्रभुत्व तथा गौरव का विस्तार द्रुत गति से बढ़ने लगा और विश्व-व्यापी हो गया।

(४) पूर्ण शान्ति, सुव्यवस्था तथा सुरक्षा का युग—अशोक का शासन-काल पूर्ण शान्ति, सुव्यवस्था तथा सुरक्षा का युग था। अपनी प्रजा की वाह्य-आक्रमणों तथा आन्तरिक उपद्रवों से रक्षा करना वह अपना परम धर्म समझता था। अतएव एक अत्यन्त विशाल तथा सुसज्जित एवं सुशिक्षित सेना की व्यवस्था कर अशोक ने अपनी प्रजा को वाह्य-आक्रमण के भय से मुक्त कर दिया था। यही नहीं सीमान्त के निकटस्थ राज्यों के साथ मैत्री तथा सद्भावना स्थापित कर व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सहयोग का भी मार्ग उसने परिष्कृत कर दिया था।

(५) राष्ट्र निर्माण का युग—अशोक के शासन-काल में राष्ट्र-निर्माण के भी अनेक कार्य हुये। उसने राष्ट्र की एकता तथा संगठन के लिये संपूर्ण साम्राज्य में एक राष्ट्र-भाषा का प्रयोग किया। इस तथ्य की पुष्टि उसके अभिलेखों में प्रयुक्त पाली भाषा से होती है।

[illegible]

नैतिक एकता की चेतना को सक्रियता प्रदान कर दी। अशोक ने अन्य कई प्रकार से एकता

[illegible]

का युग माना गया है। इस [illegible]
का युग होने के कारण धन [illegible]
केवल भौतिक उन्नति का ही [illegible] तथा
आध्यात्मिक उन्नति का भी भगीरथ प्रयास किया था।

(७) धार्मिक स्वतन्त्रता का युग—अशोक का शासन काल पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता का युग था। सभी धर्मों तथा सम्प्रदायों को अपने मत के अनुगमन तथा प्रचार की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी और सभी को राज्य का आश्रय तथा संरक्षण प्राप्त था। यद्यपि अशोक ने व्यक्तिगत रूप में बौद्ध धर्म का आलिङ्गन कर लिया था परन्तु उसका धार्मिक दृष्टि-

धर्माचार्यों तथा धर्म-प्रचारकों ने भारतीय संस्कृति और सभ्यता तथा इस पुण्य भूमि की धर्म ध्वजा को विदेशों में फहरायी थी और शान्ति तथा सद्भावना के सन्देश को विश्व के कोने-कोने में पहुँचाया था। इसी सन्देश को भारतीय नेता आज भी विकीर्ण कर रहे हैं। अतएव अशोक के काल को भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहना उचित ही है।

**अशोक का इतिहास में स्थान**—अशोक का नाम न केवल भारत के वरन् विश्व के इतिहास-गगन में सूर्यवत् देदीप्यमान रहेगा। डा० राय चौधरी के विचार में अशोक में चन्द्रगुप्त की प्रतिभा तथा अकबर की निष्पक्षता विद्यमान थी। डा० स्मिथ के शब्दों में वह महत्त्व सम्राट् था। उसकी प्रजा उसे सन्तानवत् प्रिय थी और उसकी भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का वह अहर्निश प्रयत्न करता था। प्रजा की दशा को जानने के लिये उसने प्रतिवेदकों की नियुक्ति की थी। अशोक ने यह प्रबन्ध किया था, "हर समय चाहे मैं भोजन करता हूँ, चाहे [illegible]

[illegible] थी जिसको उसके सतत् विजयी पितामह ने भी विजय न किया था साथ ही साथ पण्डित महात्माओं के संघ के साथ धार्मिक सिद्धान्तों तथा अनुशासन पर वाद-विवाद कर सकता था। उस राजनीतिज्ञ में जो ऐसे युद्ध की कठिनाइयों तथा समाघात से साम्राज्य को खो सकता था जिसमें सैकड़ों हजारों मनुष्यों के प्राण गये थे और निर्वासित होना पड़ा था साथ ही साथ ऐसी धर्म-प्रचार की क्षमता थी जिसका कार्य-क्षेत्र तीन महाद्वीपों में विस्तृत था और उसने गंगा की घाटी के एक स्थानीय सम्प्रदाय को विश्व के महान् धर्म में परिवर्तित कर दिया।" स्वयं बौद्ध होते हुये भी अशोक सब पन्थों को सम-दृष्टि से देखता था और सब का आदर करता था। अशोक की यह इच्छा थी कि [illegible] र्मिक [illegible] न की [illegible] ा था [illegible] र एक [illegible] तथा श्रमणों को स्वर्ण दान देने के लिये यात्रायें किया करता था उन यवनों को भी राज्य-पद दिया था जिनके देश में न कोई ब्राह्मण रहता था और न कोई श्रमण। उसने ऐसे युग में धार्मिक सहिष्णुता तथा मेल जोल के सद्गुणों का उपदेश दिया था जब धार्मिक कट्टरता अत्यधिक थी और बौद्ध तथा जैन सम्प्रदायों में भी फूट पैदा करने वाली प्रवृत्तियाँ [illegible]

[illegible] के साथ [illegible] व्यवहार जो अशोक ने किये थे वे अन्य सम्राटों के लिये [illegible]। राजनैतिक दृष्टि-कोण से अशोक के शासन काल का कुछ कम महत्व नहीं

धर्माचार्यों तथा धर्म प्रचारकों ने भारतीय संस्कृति और सभ्यता तथा इस पुण्य भूमि की
धर्म ध्वजा को विदेशों में फहरायी थी और शान्ति तथा सद्भावना के सन्देश को विश्व
के कोने-कोने में पहुँचाया था। इसी सन्देश को भारतीय नेता आज भी विकीर्ण कर
रहे हैं। अतएव अशोक के काल को भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहना उचित
ही है।

**अशोक का इतिहास में स्थान**—अशोक का नाम न केवल भारत के वरन्
विश्व के इतिहास-गगन में सूर्यवत् देदीप्यमान रहेगा। डा० राय चौधरी के विचार में
अशोक में चन्द्रगुप्त की प्रतिभा तथा अकबर की निष्पक्षता विद्यमान थी। डा० स्मिथ के
शब्दों में वह महान्त सम्राट् था। उसकी प्रजा उसे सन्तानवत् प्रिय थी और उसकी
भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का वह अहर्निश प्रयत्न करता था। प्रजा की दशा को
जानने के लिये उसने प्रतिवेदकों की नियुक्ति की थी। अशोक ने यह प्रबन्ध किया था,
"हर समय चाहे मैं भोजन करता हूँ, चाहे शयनागार में हूँ प्रतिवेदक प्रजा की दशा को
मुझसे बतलावें। मैं सर्वत्र प्रजा का कार्य करूँगा। जो कुछ आज्ञा मैं देता हूँ अथवा
महामात्रों को जो कार्य सौंपा जाता है उसके सम्बन्ध में विवाद अथवा निषेध होने पर
परिषद् को अविलम्ब मुझे सूचना देनी चाहिये। जितना ही उद्योग करूँ, कार्य में संलग्न
रहूँ, मेरी आत्मा को तृप्ति नहीं होती है। सब लोगों का हित करना मेरा कर्तव्य है और
इसका मूल उद्योग तथा कार्य तत्परता है। जो कुछ पराक्रम मैं करता हूँ वह जीवों के ऋण
से मुक्त होने के लिये करता हूँ।" अशोक की प्रतिभा की प्रशंसा करते हुये डा० हेमचन्द्र
राय चौधरी ने लिखा है, "वह महान सैनिक जिसने उस विशाल भूभाग पर विजय प्राप्त
की थी जिसको उसके सतत् विजयी पितामह ने भी विजय न किया था साथ ही साथ
पण्डित महात्माओं के संघ के साथ धार्मिक सिद्धान्तों तथा अनुशासन पर वाद-विवाद
कर सकता था। उस राजर्षि विश्व में जो ऐसे युद्ध की कठिनाइयों तथा झंझावात से
साम्राज्य को खो सकता था जिसमें ह...
होना पड़ा था साथ ही साथ ऐसी
महाद्वीपों में विस्तृत था और उसने...
महान् धर्म में परिवर्तित कर दिर...
सम-दृष्टि से देखता था और सब व...
विभिन्न पन्थों के लोग परस्पर स...
उदाहरण...

राय चौधरी ने लिखा है, "वह व्यक्ति जो नेपाल की
स्थान पर दर्शन करने के लिये गया था
...ति कोई दुर्भाव नहीं रखता था और एक
...ने जो ब्राह्मणों तथा श्रमणों को
...ों को भी राज्य-पद दिया था
ऐसे युग में...

है। जिस इस साम्राज्य की स्थापना का आरम्भ बिम्बिसार ने अङ्ग पर विजय प्राप्त करके कि
था उसकी पूर्ति अशोक ने कलिंग जीत करके की।

विश्व के इतिहास में अशोक का क्या स्थान है ? इस सम्बन्ध में डा० मुकर्जी ने लि
है, 'धर्म' के उच्चतम आदर्शों के अनुसार धर्म के राज्य स्थापित करने के प्रयत्न के का
उसकी तुलना इजराइल के डेविड तथा सोलोमन से की गई है जब कि उसके सबसे
गौरव के दिन थे, बौद्ध धर्म का [illegible]
[illegible]
[illegible]
अपने साम्राज्य विस्तार में और युद्ध क्षेत्र में अपनी शासन-पद्धति में भी वह शार्लमेन
समान था, यद्यपि उसके शिलालेख रूखे, भद्दे, असम्बद्ध तथा पुनरावृत्ति से पूर्ण हैं पर
शिष्टाचार में वे ओलिवर क्रामवेल के भाषणों की भांति पढ़ने में लगते हैं। अन्त में उस
तुलना खलीफा उमर तथा सम्राट् अकबर से की जाती है जिनके समान वह कई बातों
था।" यद्यपि अशोक की तुलना विश्व की इन महान् विभूतियों से की गई है परन्तु वह
इन सबसे महान् था। डा० स्मिथ ने लिखा है कि रोम के सम्राट कांस्टैन्टाइन की तुलन
अशोक के साथ कदापि नहीं की जा सकती क्योंकि कांस्टैन्टाइन ने ईसाई धर्म को उस
समय अपनाया था जब उसका खूब प्रचार हो चुका था परन्तु अशोक ने ऐसी दशा में बौद्ध
धर्म को अपनाया तथा उसका प्रचार किया जब उस धर्म का प्रचार अत्यन्त संकीर्ण क्षेत्र
में था। अशोक बौद्ध-धर्म का केवल आश्रय-दाता ही न था वरन् वह उसका अनुयायी भी
था। अहिंसा, मैत्री तथा लोक सेवा के उत्तम आदर्शों को अपने व्यक्तिगत तथा राजनैतिक
जीवन में चरितार्थ करने का अशोक ने सदैव प्रयत्न किया था। यह सब गुण उतनी अधिक
मात्रा में कांस्टैन्टाइन में नहीं विद्यमान थे जिस मात्रा में अशोक में थे। डा० स्मिथ के

ध्वनि थी, निश्चय ही ऐसी नीति का अनुसरण किया जिस पर चन्द्रगुप्त मौर्य कटाक्ष दृष्टि से देखे होता। उत्तरी-पश्चिमी क्षितिज में काले बादल मँडरा रहे थे। यवनों के खतरे

जाता तो बचे हुये जनपदों का क्या होता इसका अनुमान करना कठिन है। यदि वह अपने पूर्वजों की नीति को जारी रखता तो वह फारस के सीमान्त से कन्याकुमारी तक

सकता था। यह आदर्श तब से

विशेष सुयोग होने पर एक ऐसे

उपयुक्त था, अकस्मात सिंहासन पर उपस्थित होने से (उस आदर्श की पूर्ति की) घटना शताब्दियों के लिये नहीं सहस्राब्दियों के लिये पिछड़ गई।" डा० भण्डारकर ने अशोक की नीति की आलोचना करते हुये लिखा है, "यदि धर्म का भूत उसके (अशोक के) मन पर सवार न हो गया होता, और उस (भूत) ने उसका बिल्कुल रूपान्तर न कर दिया होता तो मगध की अदम्य सामरिक वृत्ति और अद्भुत राजनीति ने भारत के दक्षिणी छोर के तामील राज्यों तथा ताम्रपर्णी पर, आक्रमण करके और उन्हें आधीन करके ही दम लिया होता, और सम्भवतः वह तब तक शान्त न होती जब तक भारतवर्ष की सीमाओं से बाहर रोम की तरह एक साम्राज्य स्थापित न कर लेती।" डा० भण्डारकर ने आगे लिखा है, "ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक की धर्म-चेष्टाओं से भारतवर्ष की राष्ट्रीयता तथा राजनैतिक गौरव नष्ट हो गये।" श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने इस मत का खण्डन करते हुये लिखा है, 'यदि तीसरी शताब्दी ई० पू० के भारतवासियों में अपने समूचे देश को एक साम्राज्य में लाने की और उस समय के अपने पड़ोसी विदेशों को भी उसमें सम्मिलित करने की आकांक्षा, योग्यता और क्षमता—'सामरिक वृत्ति' और राजनैतिक प्रतिभा थी तो अशोक के दबाये वह दब न सकती थी। वह क्षमता और प्रतिभा अशोक को गद्दी से उतार फेंक सकती थी, जैसे उसने नन्द को उतार फेंका था, या अशोक के आँख मूँदते ही फिर प्रकट हो सकती थी।" सत्य बात तो यह है कि अशोक के काल में मौर्य साम्राज्य का चूड़ान्त विकास हो चुका था। प्राचीन युग के साधनों तथा अस्त्रों से इतना बड़ा साम्राज्य खड़ा करना कोई साधारण बात न थी। आवागमन के साधनों के अभाव में इतने विशाल साम्राज्य को सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित रखना अत्यन्त कठिन कार्य था। इसी कठिनाई का अनुभव कर समुद्रगुप्त ने सम्पूर्ण भारत पर शासन करने

१ "सुलह कुल" की नीति थी। सभी धर्म तथा सभी सम्प्रदाय अशोक की कृपा तथा १ के पात्र थे। यद्यपि बौद्ध धर्म अशोक का व्यक्तिगत धर्म था और इसके प्रचार में ने अपना तन, मन, धन सब कुछ अर्पित कर दिया परन्तु अन्य धर्म वालों के थ उसने किसी भी प्रकार का अत्याचार नहीं किया। उसका धर्म एक सार्वभौम धर्म जो सभी धर्मों के उत्तम तत्वों के समूह से बना था और जिसका लक्ष्य था लोक-ाण। अपने इस महान् धर्म का प्रचार अशोक ने न केवल भारत के कोने-कोने में था वरन् उसके धर्म का आलोक विदेशों में भी पहुँचा जहाँ उसका अवसान अब भी हीं हो पाया है। एक स्थानीय धर्म को अशोक ने अन्तर्राष्ट्रीय धर्म बना दिया परन्तु समे अधिक श्लाघनीय बात तो यह है कि यह धर्म-प्रचार का कार्य बाहु-बल से नहीं रन् आत्म बल से शान्ति तथा सद्भावना द्वारा किया गया था। यही अशोक के धर्म था उसके धर्म प्रचार की विशेषता थी जो उसे धर्म वेत्ताओं तथा धर्म प्रचारकों में र्वोच्च स्थान प्रदान कराती है।

(२) महान् विजेता—अशोक की ख्याति युद्ध-विजेता के रूप में उतनी नहीं है जितनी धर्म-विजेता के रूप में। कलिंग-युद्ध के उपरान्त अशोक ने भेरि-घोष को सदैव के लिये शान्त कर दिया और धर्म-घोष का कल-निनाद समुत्थित कर दिया। अब

[illegible]

यह शान्ति की विजय थी, अशान्ति की नहीं। अशोक ने धर्माचार्यों तथा धर्म-प्रचारकों एक विशाल सेना संगठित की और उसे प्रेमायुध से सुसज्जित किया। सत्य, सत्कर्म सद्भावना तथा सद्व्यवहार की यह चतुरंगिणी सेना धर्म विजय के लिये निकल पड़ी। इस सेना के प्रेमायुध के सामने न केवल सम्पूर्ण भारत धराशायी हो गया वरन् अशोक की विजय-पताका विदेशों में भी फहराई गई। यह विजय आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक थी जो बड़ी स्थायी सिद्ध हुई। अशोक ने जिन देशों पर धर्म-विजय प्राप्त की उन्हें भारत के साथ प्रेम के ऐसे प्रबल पाश में बाँध दिया कि वह अत्यन्त अविच्छिन्न सिद्ध हुआ। यह अशोक की अद्वितीय विजय थी जिसकी समता संसार का अन्य कोई सम्राट नहीं कर सकता।

(३) महान् शासक—अशोक की गणना विश्व के महान् शासकों में होती है। कलिंग युद्ध के उपरान्त अशोक के राजनैतिक आदर्श अत्यन्त ऊँचे हो गये। प्रजा-पालन तथा उसका हित चिन्तन अशोक ने अपने जीवन का महान् लक्ष्य बना लिया। वह अपनी प्रजा को सन्तानवत् समझने लगा और उसी के हित-चिन्तन में अहर्निश संलग्न रहने लगा। उसने विहार-यात्रायें बन्द कर दीं और अब धर्म यात्रायें करने लगा। उसका शासन इतना संगठित तथा सुव्यवस्थित था कि उसके शासन-काल में कोई आन्तरिक विद्रोह न हुआ और प्रजा ने सुख तथा शान्ति का उपभोग किया। अशोक ने अपनी प्रजा की न केवल भौतिक अभिवृद्धि का भगीरथ प्रयास किया वरन् उसने उसकी नैतिक तथा [illegible] की। अशोक कोरा सिद्धान्तवादी ही [illegible] करने का सदैव प्रयत्न किया करता था। [illegible]र को ऊँचा उठाने के लिये उसने धर्म महा-[illegible] कर्मचारियों को यह आदेश दे दिया था कि वे [illegible] करें और उसे सदाचारी तथा धर्म-परायण

की यह व्यापक उदारता तथा दया उसे साधारण क्या असाधारण सम्राटों मे भी कहीं अधिक ऊँचा उठा देते हैं और महान् सम्राटों की कोटि में उच्च स्थान प्रदान कराते हैं।

निष्कर्ष—अशोक की गणना विश्व की महानतम विभूतियों में हैं। उसकी तुलना प्रायः रोमन सम्राट कॉन्सटेनटाइन तथा मारलियस, मुगल सम्राट अकबर, खलीफा उमर तथा ईसाई-धर्म के महान् प्रचारक सन्ट पाल से की गई है परन्तु इनमें से कोई भी व्यक्ति अकेला अशोक की समानता नहीं कर सकता क्योंकि अशोक उदारता की साक्षात मूर्ति तथा मानवता का सब से बड़ा पुजारी था। उसकी सहानुभूति, स्नेह, दया तथा उदारता मानव जगत् तक ही सीमित न रह कर अखिल-प्राणिमात्र तक पहुँच गई थी। उसे अपने कर्तव्य का बड़ा ध्यान रहता था और अपने महान उत्तरदायित्व को पूर्ण करने के लिये उसने व्यक्तिगत सुखों को तिलाञ्जलि दे दी थी। प्रजा-हित चिन्तन में वह सदैव संलग्न रहता था। अपने उच्चादर्शों की पूर्ति तथा प्रजा के कल्याण के लिये उसने अपने राज्य के [illegible] भी भेरी-घोष को धर्म घोष में [illegible] सम्राट अशोक ही है। सैनिक बल [illegible] भी मानवों के हृदय पर प्रेम-बल से विजय प्राप्त करने का जो उसने सफल प्रयास किया वह विश्व के इतिहास में और विशेष कर राजनैतिक जगत् में एक नवीन तथा श्लाघनीय प्रयास था जिसको अन्य कोई सम्राट् चरितार्थ न कर सका था। उसने दिग्विजय की नीति का परित्याग और धर्म विजय का आयोजन कर, अपने कर्मचारियों को प्रजा के भौतिक उत्थान के साथ-साथ उसके नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान में संलग्न रहने का आदेश देकर, सामन्त प्रदेश की असभ्य तथा खूँखार जातियों के साथ भी उदारता तथा प्रेम पूर्ण व्यवहार करके राजनैतिक जगत् में एक उच्चतम आदर्श की स्थापना की जिसकी आवश्यकता का अनुभव आजकल के राजनीतिज्ञ भी कर रहे हैं। सारांश यह है कि सम्पूर्ण मौर्य साम्राज्य की विशेषता, उच्चता तथा महत्ता जो उसे संसार के इतिहास में एक प्रधान तथा अपूर्व स्थान प्रदान करती है वह अशोक के द्वारा ही सम्पादित हुई है और यही कारण है कि अशोक आज भी अद्वितीय रूप में प्रकाशित हो रहा है। भारत की स्वतन्त्र सरकार ने अशोक चक्र को राष्ट्रीय झण्डे में स्थान देकर अशोक को भारतीय सम्राटों में सर्व-श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने अशोक के राजनैतिक आदर्शों का अनुकरण कर विश्व के शासकों में उसे सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है। यह भारतीय सम्राट् अपनी अमर-कान्ति द्वारा इतिहास के *गगन मण्डल* को सदैव देदीप्यमान् बनाये रहेगा। धन्य है अशोक और धन्य है वह भारत-माता जिसकी गोद में वह पला था।

**अशोक के उत्तराधिकारी**—२३२ ई० पू० में अशोक की मृत्यु हो गई। अशोक के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में पुराण तथा बौद्ध-ग्रन्थों में विरोधी विवरण मिलता है। अशोक के शिलालेखों में केवल उसके एक पुत्र तिवर का उल्लेख मिलता है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के जीवन काल में ही उसका परलोकवास हो गया था। अशोक के तीन और पुत्रों कुणाल, जालौक तथा महेन्द्र का उल्लेख ग्रन्थों में मिलता है। परन्तु यह निश्चय नहीं है कि महेन्द्र उसका पुत्र था अथवा भाई। अशोक के मरते ही जालौक ने कश्मीर पर अपना अधिकार जमा लिया और स्वतन्त्र हो गया। कुणाल पाटलिपुत्र की गद्दी पर बैठा। परन्तु वह अन्धा था। अतएव उसका पुत्र सम्प्रति शासन का कार्य चलाता था। सम्प्रति जैन धर्म का आश्रयदाता था। मत्स्य तथा विष्णु पुराण में अशोक के [illegible] पौत्र दशरथ का उल्लेख मिलता है जो सम्भवतः सम्प्रति [illegible] आश्रयदाता था। डा० स्मिथ के कथनानुसार अशोक का

…पर भी बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। मौर्य साम्राज्य इतना जीर्ण क्षीण हो गया था कि इन आक्रमणकारियों के द्वारा वह ध्वस्त कर दिया गया।

(६) साम्राज्य की विशालता—अशोक के विशाल साम्राज्य को संभालने के लिये बड़े ही योग्य शासक की आवश्यकता थी। मौर्य साम्राज्य के दक्षिण में फैल जाने के कारण राजधानी कहीं केन्द्र में होनी चाहिये थी और केन्द्रीय शासन अत्यन्त सुव्यवस्थित होना चाहिये था।

(७) स्थानीय राज्यों की स्वतन्त्रता की कामना—अशोक ने स्थानीय राजाओं को स्वतन्त्रता दे दी थी। इससे अवसर पाकर उन लोगों ने विद्रोह कर दिया और स्वतन्त्र हो गये।

[illegible] की धार्मिक नीति भी [illegible] दशरथ तथा सम्प्रति [illegible] सम्प्रदाय वाले मौर्य वंश [illegible] ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया [illegible] सत्ता की नींव को खोखली कर दिया था और साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया।" परन्तु डा० हेम चन्द्र राय चौधरी ने इसका खण्डन किया है और इस बात के सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अशोक अथवा उसके उत्तराधिकारी ब्राह्मणों के विरोधी थे।

(९) आध्यात्मिकता का वायु मण्डल—कुछ विद्वानों के विचार में अशोक ने जो आध्यात्मिकता का वायु मण्डल उत्पन्न कर दिया था वह सामरिक दृष्टिकोण से भारत के लिये अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ क्योंकि यह वायु-मण्डल सैनिक शक्ति, राजनैतिक [illegible] तथा भौतिक सुख एवं आवश्यकताओं के विरुद्ध था।

(१०) सैनिक पतन—अशोक के समय से साम्राज्य की सेना बेकार तथा क्षीण हो रही थी। सैनिक लोग उत्तरकालीन मौर्यों की शान्ति विधायक एवं निस्तेज नीति से असन्तुष्ट तथा क्रुद्ध होकर परिवर्तन के इच्छुक हो गये थे जिससे पुष्य मित्र शुंग को [illegible] प्रोत्साहन मिला।

(११) सरकारी कर्मचारियों में राज-भक्ति का अभाव—उत्तर मौर्य कालीन [illegible] के शासन काल में सरकारी कर्मचारियों की राज भक्ति अत्यन्त शिथिल पड़ गई थी। उनमें विद्रोह करने की प्रवृत्ति आ गई थी जैसा कि पुष्य मित्र शुंग के उदाहरण से स्पष्ट है।

(१२) अन्तः पुर तथा दरबार के षड्यन्त्र—अशोक के कई स्त्रियाँ तथा पुत्र थे जो एक दूसरे के विरुद्ध षड्यन्त्र रचा करते थे। इसका साम्राज्य पर अच्छा प्रभाव न पड़ा। इसी प्रकार राज-दरबार में दो दल बन गये थे। एक दल सेनापति का था और दूसरा प्रधान मन्त्री का। यह षड्यन्त्र तथा दल बन्दी साम्राज्य के लिये बड़ी घातक सिद्ध हुई। पुष्य मित्र शुङ्ग ने जो मौर्य सेना का अध्यक्ष था अन्तिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ की हत्या कर दी और स्वयं मगध के सिंहासन पर बैठ गया। इस प्रकार मौर्य वंश का अन्त हो गया।

---

था। इससे यह परिणाम निकलता है कि मौर्य कालीन सम्राट अनुत्तरदायी तथा निरंकुश नहीं होते थे।

मन्त्रि-गण तथा मन्त्रि-परिषद्—केन्द्र में सम्राट मन्त्रिगण तथा मन्त्रि-परिषद् की सहायता से शासन करता था। मन्त्रिगण शासन के वास्तविक संचालकों का समूह था। इसमें केवल तीन चार व्यक्ति होते थे जो सम्राट के बड़े विश्वास पात्र होते थे। मन्त्रि-परिषद् की मन्त्रिगण से बड़ी संख्या थी। इसमें १२ से २० तक सदस्य होते थे। मन्त्रि परिषद् के अनुपस्थित अर्थात् अनुपस्थित सदस्यों का मत पत्र द्वारा मगाया जाता था। आत्यधिक कार्य में मन्त्रिगण तथा मन्त्रि परिषद् की सामूहिक बैठक होती थी। उसमें जो कुछ बहुमत से निर्णय किया जाता था अथवा जिसे सम्राट कार्य-सिद्ध कर मान लेता था वही किया जाता था। सभी विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि मन्त्रि-परिषद् पूर्ण रूप से प्रजा की संस्था न थी। श्री जायसवाल के विचार में उसमें मौर्य-जनपदों के केवल कुछ विशेष प्रतिनिधि होते थे। परन्तु कुछ विद्वानों के विचार में इस युग में सम्राट की परिषद् केवल उसके परामर्शदाताओं की संस्था मात्र रह गई थी और वह उन्हें स्वयम् नियुक्त करता था। परन्तु परिषद् अपने को प्रजा की प्रतिनिधि मानती थी और प्रजा के अधिकारों की रक्षा के लिये अपने को उत्तरदायी समझती थी। मण्डलों के शासक तथा उनके अधीनस्थ सहायकों, कोष तथा सेना के अध्यक्षों की नियुक्ति परिषद् ही करती थी। राज्य के सभी विभागों के अधिकारियों को राजा उन्हीं की परामर्श से नियुक्त करता था।

राज्य के विभिन्न पदाधिकारी—मौर्य-कालीन शासन बड़ा ही संगठित तथा सुव्यवस्थित था। भिन्न-भिन्न जनपदों के अनुशासन के लिये सम्राट की ओर से महामात्य नियुक्त किये जाते थे। बहुत से जनपदों में महामात्यों के साथ राजकुमार भी रहते थे। जनपदों के अन्तर्गत छोटे प्रदेशों में भी महामात्य ही शासन को चलाते थे। पाँच बड़े मण्डलों की राजधानियों में राजकुमार लोग महामात्यों की सहायता से अनुशासन करते थे। प्रत्येक जन-पद का शासन एक समाहर्ता के सौंपा रहता था। नगर का शासक नागरक कहलाता था। जनपद अथवा नगर के चतुर्थांश का शासन एक स्थानिक के हाथ में रहता था। पाँच या दस गाँवों का अनुशासन एक गोप के हाथ में रहता था। गोपों तथा स्थानिकों के क्षेत्रों में बलि अथवा मालगुजारी के वसूल करने और फौजदारी के विवादों का निर्णय करने के लिये राजपुरुष होते थे जो प्रदेष्ट कहलाते थे। अशोक के शिला लेखों में महामात्रों के अतिरिक्त युत, राजुक, प्रादेशिक आदि पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है। युत अथवा युक्त क्लर्क का कार्य करता था। राजुक जनपद की और प्रादेशिक प्रदेश अथवा जिले की निगरानी किया करता था। लेखक का कार्य करने के लिये लिपिकार होते थे और सम्राट को सूचना देने के लिये प्रतिवेदक होते थे। इन पदाधिकारियों की नियुक्ति बिना जाति पाँत के भेद-भाव के होती थी। वैश्य तथा यवन भी ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त किये जाते थे।

शासन की विभिन्न इकाइयाँ—शासन की सुविधा के लिये सारा देश प्रान्तों में विभक्त था। प्रत्येक प्रान्त जिलों में बँटा था। यह जिले आहार, विषय, देश आदि नामों से पुकारे जाते थे। प्रान्तों के शासन के लिये गवर्नर होते थे जो प्रायः राजकुमार ही हुआ करते थे। राजकुमारों की सहायता के लिये महामात्र होते थे। कुछ नगरों और कई गाँवों को मिला कर एक जनपद बनता था। यह जनपद भिन्न-भिन्न प्रकार के थे। प्रत्येक जनपद का अपना अलग धर्म, व्यवहार तथा चरित्र होता था। प्रत्येक जनपद के अपने देवता, अपने उत्सव और अपने विहार अर्थात् विनोद यात्रायें होती थीं। नगरों के प्रबन्ध के लिये ३० सदस्यों की छः समितियाँ होती थीं। इस प्रकार प्रत्येक समिति के पाँच सदस्य होते थे। इसका विस्तृत वर्णन चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन प्रबन्ध के सम्बन्ध में किया

...राय के साधन—मौर्य-काल की विशाल सेना तथा सुव्यवस्थित शासन के चलाने ... अपार धन की आवश्यकता थी। अशोक के शिला-लेखों से हमें पता चलता है कि ...ने राजा को 'भाग' तथा 'बलि' नामक दो मुख्य कर प्राप्त होते थे। राजा प्राय. भूमि ...ज का षष्ठांश लेता था परन्तु कभी-कभी वह चतुर्थांश और कभी-कभी अष्टांश करना था। इसी भूमि की उपज के कर को 'भाग' कहते थे। 'बलि' नामक कर किसी ... भू भाग पर लगाया जाता था। कृषकों को 'भाग' के अतिरिक्त और भी भूमि कर ...देता था। ग्वालों को कर के रूप में पशु देने पड़ते थे। व्यापारियों को राज्य की ...करनी पड़ती थी। नगरों में राज्य की आय का मुख्य साधन जन्म मरण का कर, ...ने तथा विक्रय के मूल्य का दशमांश होता था। आय का बहुत बड़ा भाग सेना पर ... किया जाता था। शिल्पकारों की भी सहायता राज्य की ओर से की जाती थी। यह ... सेना के लिये हथियार तथा किसानों के लिए औजार बनाया करते थे। नगर-प्रासादों, ... तथा स्तम्भों और स्तूपों के निर्माण में शिल्पकारों ने बड़ा योग दिया था। ...ा शिकारियों को जगली जानवरों तथा पशुओं के भगाने के बदले में राज्य की ओर से ... दिया जाता था। ब्राह्मणों तथा श्रमणों को दान के रूप में राज्य की ओर से काफी धन ...या जाता था। अशोक के काल में दान के लिये एक अलग विभाग बना दिया गया ...। सिंचाई के विभाग पर भी काफी धन खर्च किया जाता था। राज्य की ओर से सड़कों ... बनवाने, उन पर छायादार वृक्ष लगवाने तथा कुयें खुदवाने में बहुत धन व्यय किया ...ता था। मौर्य राजाओं ने मनुष्यों तथा पशुओं दोनों के लिये औषधालय का प्रबन्ध ...या था जिस पर काफी धन व्यय होता था।

सामाजिक प्रबन्ध—मौर्य कालीन समाज के संगठन तथा सचालन ...ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमें निम्न-लिखित व्यवस्थाओं का अध्ययन करना

वाली ) स्त्रियों का उल्लेख किया है। बहुत सी स्त्रियाँ दर्शन शास्त्र का अध्ययन किया करती थीं और संयम के साथ जीवन व्यतीत करती थीं। परन्तु विवाहिता स्त्रियों को अपने पति के साथ धर्म-ग्रन्थों के ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार न था। स्त्रियाँ सम्राट् की सुरक्षिका नियुक्त होती थीं और गुप्तचर का भी काम करती थीं। ऐसी भी कथायें सुनने को मिलती हैं कि यदि कोई स्त्री मद्य-पान से उन्मत्त सम्राट को मार डालती थी तो वह उसके उत्तराधिकारी की स्त्री बन जाती थी। अशोक ने इस बात की ओर संकेत किया है कि स्त्रियाँ प्रायः निरर्थक मङ्गल किया करती थीं। धार्मिक कार्यों में स्त्रियाँ अपने पति के साथ भाग लिया करती थीं।

दास-प्रथा—यह निश्चय है कि मौर्य काल में दास प्रथा थी। इसका अनुमोदन 'अर्थ शास्त्र' तथा शिला-लेखों दोनों से होता है। 'अर्थ शास्त्र' में लिखा है, "म्लेच्छों को प्रजा ( अपनी सन्तान ) बेचने अथवा धरोहर रखने में दोष नहीं होता। किन्तु आर्य को दास नहीं किया जा सकता।" अशोक ने भी दासों तथा भाड़े के मजदूरों में विभेद किया है और सब के साथ दया का व्यवहार करने के लिये आदेश दिया है। परन्तु यूनानी विद्वान् एरियन ने लिखा है कि सभी भारतीय स्वतन्त्र हैं और उनमें से एक भी दास नहीं है। मेगस्थनीज के वक्तव्य को उद्धृत करते हुये स्ट्रैबो ने लिखा है कि कोई भी भारतीय दास नहीं रखता था। परन्तु इसी विद्वान् ने यह भी लिखा है कि सम्राट् की सुरक्षा के लिये स्त्रियाँ होती थीं जो अपने माँ बाप से खरीद ली जाती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य-काल में दासत्व की प्रथा थी परन्तु चूंकि कौटिल्य ने लिखा है कि कोई आर्य दास नहीं बनाया जा सकता अतएव सम्भवतः मेगस्थनीज ने भूल से लिख दिया है कि कोई भी भारतीय दास नहीं हो सकता। श्री जयचन्द्र जी का कहना है कि मौर्य साम्राज्य के ठीक पड़ोस में यूनानी राज्य थे और कौटिल्य का यह कहना कि म्लेच्छों को अपनी सन्तान के बेचने तथा धरोहर रखने का अधिकार है इन्हीं यूनानियों के लिये कहा गया है क्योंकि यूनानियों में गुलामों की प्रथा अफलातून तथा अरस्तू के समय से ही चली आ रही थी।

साधारण जीवन—यूनानी विद्वानों से हमें पता चलता है कि भारतीयों का जीवन बड़ा ही सरल तथा सुव्यवस्थित था। वे मितव्ययी होते थे और नियमों का पालन करते थे। चोरी बहुत कम होती थी और असत्य बोलने का अपराध बहुत कम लोगों पर लगता था। किसान लोग भोले-भाले तथा भद्र होते थे। मेगस्थनीज का कहना है कि भारत के लोग बलि के अवसर को छोड़ कर और कभी मद्य-पान नहीं करते थे परन्तु कौटिल्य ने लिखा है कि मदिरा की दूकानों पर सरकारी नियन्त्रण रहता था। चावल लोगों का प्रधान भोजन था परन्तु खाद्य-पदार्थों का बाहुल्य था और लोग बड़े स्वस्थ तथा हृष्ट-पुष्ट होते थे। लोगों में नैतिक बल बहुत अधिक होता था और वे बड़े ईमानदार तथा सत्यवादी होते थे। लोग न्यायालय में बहुत कम जाते थे और प्रायः अपनी सम्पत्ति असुरक्षित छोड़ देते थे। कानून बड़े सरल होते थे। इकरार तथा धरोहर के विवाद होते ही न थे और न साक्षी की आवश्यकता होती थी। लोग एक दूसरे का विश्वास करते थे। लोगों में अन्ध-विश्वास भी था और जादू टोना को भी लोग मानते थे। कौटिल्य ने द्यूत की भी व्यवस्था का उल्लेख किया है जिससे स्पष्ट है कि उच्च-वर्ग के लोगों को जुये का चाव था। यूनानी लेखकों का कहना है कि भारतीय बड़े भोले भाले होते थे और लेखन-कला से अनभिज्ञ थे। वे अपने सभी कार्य स्मरण शक्ति से करते थे परन्तु यह धारणा निर्मूल है। वास्तव में इस युग में भारतीयों को लेखन-कला का पूरा ज्ञान था जैसा कि अशोक के अभिलेखों से स्पष्ट है। यूनानियों ने स्वयं लिखा है कि भारतीय लोग वृक्षों की छाल पर लिखते थे। स्ट्रैबो ने लिखा है कि कुछ दार्शनिक अपने विचारों को लिख दिया करते थे।

के विरुद्ध आगे बढ़ा था तब पोरस की सेना के आगे-आगे हेराक्ले की मूर्ति ले जाई गई थी। इतिहासकारों का कहना है कि यूनानी हेराक्ले भारतीय वासुदेव अथवा कृष्ण थे। पतञ्जलि ने लिखा है कि मौर्य काल में शिव, स्कन्द तथा विशाख की मूर्तियों का क्रय-विक्रय होता था। भारतीय लोग ज्यूस अर्थात् वैदिक इन्द्र अथवा पर्जन्य की अब भी पूजा करते थे। अशोक ने भी देवानामप्रिय की उपाधि ली थी। यद्यपि अशोक ब्राह्मणों का विरोधी न था क्योंकि उन्हें वह दान दिया करता था परन्तु अशोक ब्राह्मण धर्म के आडम्बरों तथा मिथ्याचारों का विरोधी था। ब्राह्मण धर्म के साथ साथ अन्य धर्मों का भी प्रचार हो रहा था।

**बौद्ध धर्म का चूड़ान्त विकास**—अशोक का काल बौद्ध धर्म के चूड़ान्त विकास का काल माना जाता है। इसे अशोक ने अपने अनवरत प्रयत्न से सार्वभौम धर्म बना दिया था।

**जैन धर्म उन्नत दशा में**—जैन धर्म को भी इस काल में प्रोत्साहन मिला था। अनुश्रुतियों से पता चलता है कि मौर्य काल के दो राजा अर्थात् चन्द्रगुप्त मौर्य तथा सम्प्रति जैन धर्म के अनुयायी थे। कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त ने एक सच्चे जैन की भाँति उपवास करके अपने प्राण त्यागे थे।

**आजीविकों को संरक्षण प्राप्त**—आजीविकों को भी इस युग में मौर्य-सम्राटों का संरक्षण प्राप्त हुआ था। आजीविक सन्यासियों को अशोक तथा दशरथ ने गुफायें दान में दी थीं। अनुश्रुतियों के अनुसार बिन्दुसार भी आजीविकों का संरक्षक तथा सहायक था।

**सन्यासियों का आदर**—मौर्य-युग में सन्यास की प्रथा प्रचलित थी। ब्राह्मण तथा श्रमण सन्यासियों का बड़ा आदर होता था और अशोक उन्हें खूब दान किया करता था। जैन मुनि तथा आजीविक सन्यासियों का भी बड़ा आदर होता था।

**ब्राह्मणों का जीवन**—यूनानियों ने ब्राह्मणों के आचार पर काफी प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि इस काल के ब्राह्मण सादा जीवन व्यतीत करते थे और माँसाहार नहीं करते थे। वे [illegible] विषयों की व्याख्या किया करते थे और अपना [illegible]

मीमांसा भी प्रारम्भिक रूप में इस काल में विद्यमान् थे। मौर्य युग में व्याडि तथा
कात्यायन नाम के दो बड़े व्याकरणाचार्य हुये हैं। कात्यायन का उत्तर-मौर्य युग में ही
होना सम्भव माना जाता है। इसी युग में महाभारत का पुनः संस्करण भी प्रा
हो गया था। परन्तु इस युग का सबसे बड़े महत्व का ग्रन्थ कौटिल्य का 'अर्थ शास्त्र' है
राजनीति पर एक अमूल्य ग्रन्थ है। मौर्यकालीन ग्रंथ संस्कृत, पाली तथा प्राकृत में हैं।

कला—मौर्य काल की कला भी उन्नत दशा में थी। इस काल तक भवन प्राय
काष्ठ के ही बनते थे। पाटलिपुत्र के सभी भवन काष्ठ के बने हुये थे। अशोक के काल में
पत्थर का प्रयोग होने लगा था और उत्तरोत्तर इसका प्रयोग बढ़ता ही गया। गुहा मन्दिरों
का निर्माण इसी काल में प्रारम्भ हुआ था। सम्भवतः बराबर तथा नागार्जुनी के गुहा-
मन्दिर इस काल की सर्वप्रथम रचनायें हैं। इस काल में अनेकों स्तूपों, चैत्यों तथा विहारों
का निर्माण हुआ। स्तूप उन भवनों को कहते थे जिनके भीतर कोई शरीर-धातु पूजार्थ स्था-
पित की जाती थी। चैत्य सामूहिक पूजा के स्थान थे और विहार उनके चारों ओर रहने के
मठ होते थे। अशोक के पहले के चैत्य तथा विहार काष्ठ के ही बनते थे। अशोक के का
में भी काष्ठ का प्रयोग बिल्कुल बन्द नहीं हो गया था। अशोक के स्तम्भ की आज क
के शिल्पज्ञ ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। सारनाथ के स्तम्भ के ऊपर जो सिंहों की मूर्ति
बनी हैं वह स्मिथ के विचार में विश्व की सर्वोच्च पशु-प्रतिमाओं में हैं। महाराष्ट्र
बहुत से गुहा-मन्दिर सम्भवतः उत्तर मौर्य-काल में निर्मित हुये थे। मौर्य-काल में नाट्य
कला की भी प्रचुरता प्रतीत होती है। सरगुजा रियासत में मौर्य कालीन प्रेक्षागारों अर्थात्
नाट्यशालाओं का पता चलता है। इस युग में चित्र कला की भी उन्नति हुई थी। प्रायः
घरों को अलंकृत करने की प्रथा थी और आमोद-प्रमोद शालाओं को चित्रित किया जाता
था। मूर्ति-निर्माण कला भी उन्नत दशा में थी। कुछ मूर्तियाँ ऐसी उपलब्ध हुई हैं जो
मौर्य-कालीन बतलाई जाती हैं। इनमें एक परखम मूर्ति है जो इस समय मथुरा के अजायब-
घर में है। पटना के निकट ही मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जो इस समय भारतीय अजायबघर
में हैं और प्रारम्भिक मौर्य-काल की बतलाई जाती हैं। बेस नगर में उपलब्ध एक विशाल
नारी-मूर्ति भी मौर्य-कालीन मानी जाती है।

**आर्थिक दशा**—मौर्य काल न केवल राजनैतिक तथा धार्मिक गौरव का युग माना
जाता है वरन् यह आर्थिक गौरव का भी युग माना जाता है। मौर्यों का विशाल साम्राज्य
प्रबल आर्थिक भित्ति पर ही टिक सकता था। इस युग में कृषि, शिल्प तथा व्यापार सब
की उन्नति हुई। कृषि भारत का सर्व प्रधान व्यवसाय रहा है। मौर्य काल में भी इसकी
प्रधानता थी। कृषकों की दशा पर पहिले प्रकाश डाला जा चुका है। कृषि बड़ी उन्नत
दशा में थी। किसान लोग भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न तथा फल उत्पन्न करते थे।
यूनानियों के कथनानुसार भारत में अनाज का इतना बाहुल्य था कि दुर्भिक्ष कभी पड़ता
ही न था परन्तु जैन अनुश्रुतियों के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में एक भीषण
अकाल पड़ा था। कृषकों को राज्य की ओर से सहायता की जाती थी। राज्य सिंचाई की
पूरी व्यवस्था करता था।

वस्त्र-व्यवसाय—मौर्य काल का दूसरा महत्वपूर्ण व्यवसाय कपड़ा बनाने का था।
यह एक कुटीर धन्धा था और लोग अपने घरों में काम करते थे। सूत कातने का काम
स्त्रियाँ किया करती थीं। कपड़े, रुई, पटसन, ऊन तथा रेशम के बनते थे। बनारस, बंगाल,
कलिंग तथा मदुरा के सूत के कपड़े प्रसिद्ध थे। नेपाल के कम्बल उन दिनों भी प्रसिद्ध
। मेगस्थ[illegible] ने भारतीयों के वस्त्र की बड़ी प्रशंसा की है। स्ट्रैबो ने लिखा है कि
[illegible] वस्त्र पहनते थे जो बहुमूल्य रत्नों से अलंकृत रहते थे। यह लोग
[illegible] वस्त्र पहनते थे जिनमें फूल बने रहते थे।
मौर्य-काल में खान खोदने का व्यवसाय भी उन्नत दशा में था।

...नों में से बहुमूल्य रत्न तथा धातुयें निकाली जाती थीं। सोना, चाँदी, ताँबा, काँसा, ...सा, टिन धातुओं का ज्ञान इस काल के लोगों को था।

**वाणिज्य व्यापार**—मौर्य-काल का व्यापार भी उन्नत दशा में था। इस काल ...भारत का व्यापार सीरिया, मिश्र तथा पश्चिमी यूनानी-प्रदेशों के साथ होता था। ...टिल्य ने चीन के रेशम की प्रशंसा की है जिससे यह प्रमाणित होता है कि भारत ने ...स भी व्यापार किया था। अशोक ने भारत का विदेशों के साथ जो धार्मिक सम्पर्क ...पेत कर दिया था उसका प्रभाव व्यापारिक सम्बन्ध पर भी अवश्य पड़ा होगा। कुछ ...क साथ सामुद्रिक मार्ग से व्यापार होता था। अतएव पोत निर्माण की व्यवस्था की ...थी। कौटिल्य ने समुद्र-यात्रा का उल्लेख किया है। व्यापार की रक्षा तथा उन्हें हर ...र की सुविधा देने के लिये एक अलग समिति होती थी। भारत के मोरपंख तथा ...दाँत विदेशों में बहुत प्रसिद्ध थे। कौटिल्य के कथनानुसार दक्षिणी भारत शंख, ...मोती तथा सोने के लिये प्रसिद्ध था। बनारस, बङ्गाल, कलिङ्ग तथा मदुरा सूती ...ों के लिये प्रसिद्ध थे। एक मौर्य सम्राट को पाश्चात्य देशों का मधुर-मदिरा तथा सूखे ...अंजीर अत्यन्त प्रिय थे। वस्तु के बदले वस्तु देने की प्रथा समाप्त हो गई थी और मुद्रा

[illegible]

...ताँबे के सिक्कों को माषक कहते थे। सुवर्ण मुद्रा का भी उल्लेख मिलता है परन्तु ...भवतः इसका प्रयोग बहुत कम होता था।

**व्यापारिक संगठन**—मौर्य-काल के आर्थिक जीवन का एक बहुत बड़ा महत्व यह

[illegible]

...पस के विवादों का निर्णय आपस में ही कर लिया करते थे। श्रेणी का प्रधान श्रेष्ठिन् ...हलाता था। व्यापारियों का दूसरा संगठन 'सम्भूय समुत्थान' कहलाता था। यह संगठन ...आजकल की बड़ी-बड़ी कम्पनियों का सा होता था। यह हिस्सेदारों का संघ होता था ...और हिस्से के अनुसार ही यह लोग लाभ का वितरण कर लेते थे।

**आवागमन के साधन**—व्यापार की सुविधा के लिये सड़कों का होना नितान्त ...आवश्यक था। अतएव सरकार की ओर से सड़कों का बहुत अच्छा प्रबन्ध होता था। ...सड़कों की देख भाल के लिये एक अलग विभाग था। सरकारी कर्मचारी इन सड़कों को ...सुरक्षित रखते थे। आधे-आधे कोस पर स्तम्भ लगे होते थे जिससे दूरी तथा सड़कों की ...शाखा का पता चलता था। इस काल की एक सड़क पाटलिपुत्र से तक्षशिला को जाती ...थी। एरियन के कथनानुसार साधारण लोग घोड़े, ऊँट तथा गधे की सवारी के काम में ...लाते थे। धनी लोग हाथियों का प्रयोग करते थे। लोग रथों की भी सवारी करते थे जिनमें चार घोड़े जुते रहते थे।

**मौर्य सभ्यता पर विदेशी प्रभाव**—भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता की संक्षिप्त विवेचना करने के उपरान्त यह बतलाना असङ्गत न होगा कि क्या इस सभ्यता पर कोई विदेशी प्रभाव भी पड़ा था। भारतवर्ष बहुत दिनों से यूनान तथा रोम के सम्पर्क में था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने यवन-कन्या से विवाह कर लिया था और उसके पौत्र अशोक ने एक

[illegible]

[illegible]माजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में भी उथल-पुथल आरम्भ हो जाती है। संस्कृत का [illegible]रुद्धार होता है और मध्य देश में वैयाकरणों के प्रयत्न से संस्कृत की बड़ी अभि-वृद्धि [illegible]ती है। प्राकृत को प्रतिस्थान तथा कुन्तल में आश्रय मिलता है।

**शुंग कौन थे ?**—मगध के अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ को उसके सेनापति [illegible] के राजसिंहासन पर बैठ गया। इस [illegible]। शुंग वंश की उत्पत्ति के विषय में [illegible]नुसार पुष्यमित्र मौर्य-वंश का ही था। [illegible] पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र वैम्बिक [illegible] वैम्बिकों को बिम्बसार के वंशज मानते [illegible] जिसका उल्लेख [illegible] सार इस वंश के [illegible] के अन्त में मित्र [illegible] अथवा सूर्य के [illegible] व्याकरणाचार्य [illegible]

[illegible] सामरिक वृत्ति आरम्भ कर दी थी। आचार्य [illegible] ब्राह्मणों ने अत्यन्त प्राचीन काल से ही सामरिक वृत्ति आरम्भ कर दी थी। [illegible]ण तथा अश्वत्थामा ने महाभारत काल में ही क्षात्र धर्म को स्वीकार कर लिया था। [illegible]हाभारत के कृपाचार्य भी ब्राह्मण ही थे। दक्षिण के कदम्ब ब्राह्मण वंश के थे और [illegible]रि स्थितियों से बाध्य होकर शासन सूत्र अपने हाथों में ले लिया था। यह धारणा डा० [illegible]मचन्द्र राय चौधरी के विचार में ठीक नहीं प्रतीत होती कि अशोक ने ब्राह्मणों के साथ [illegible]दुर्व्यवहार किया था अतएव ब्राह्मणों ने विवश होकर शास्त्र के आश्रय को त्याग कर शस्त्र [illegible] आश्रय लिया था क्योंकि ब्राह्मण सेनापति प्राचीन काल से ही होते चले आ रहे थे। [illegible] भी हो इतना तो सत्य ही है कि जिस प्रकार कौटिल्य ने नन्द वंश के राजा का अन्त [illegible]किया था उसी प्रकार पुष्यमित्र ने मौर्य-वंश का अन्त किया। ब्राह्मण ही ने मौर्य वंश को राज्य दिलाया था और ब्राह्मण ही ने उसे छीन भी लिया।

**पुष्यमित्र**—शुंग वंश का संस्थापक पुष्यमित्र था। वह मौर्य-वंश के अन्तिम शासक बृहद्रथ का सेनापति था। बृहद्रथ बड़ा ही विलासी, अकर्मण्य तथा दुर्बल शासक था। अतएव राज्य की सारी शक्ति धीरे-धीरे सेनापति के हाथ में चली गई। जिस समय मौर्य-साम्राज्य के सुदूरस्थ प्रान्त अपने को स्वतन्त्र बना रहे थे उसी समय उसमें आन्तरिक क्रान्ति भी आरम्भ हो गई। बृहद्रथ की सम्पूर्ण सेना के सामने ही उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने १८० ई० पू० में उसका वध कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि सेना बृहद्रथ से असन्तुष्ट थी और पुष्यमित्र ने यह कार्य सेना की सम्मति से किया था। बृहद्रथ का वध करने के बाद पुष्यमित्र ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली।

मगध साम्राज्य का संगठन सीमान्त के प्रान्तों की स्वतन्त्रता तथा आन्तरिक विद्रोहों के कारण मौर्य साम्राज्य जर्जर हो गया था। अतएव इस जीर्ण शीर्ण साम्राज्य को फिर से संगठित करना पुष्यमित्र की मुख्य समस्या थी। पाटलिपुत्र पर अधिकार स्थापित कर लेने के उपरान्त उसने मगध तथा उसके आस-पास के प्रान्तों को संगठित करना आरम्भ किया। उसने केन्द्रीय सत्ता को अधिक से अधिक दृढ़ बनाने का प्रयत्न किया। पश्चिमी प्रान्तों पर अपनी सत्ता को सुदृढ़ बनाने के लिये उसने आकर के मुख्य

बाद उसी ने अश्वमेध यज्ञ का पुनरुद्धार किया था। पतञ्जलि मुनि, जिन्होंने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखा है, यज्ञ के पुरोहितों में से थे।

पुष्यमित्र का बौद्धों के साथ व्यवहार—बौद्ध ग्रन्थों से हमें पता चलता है कि पुष्यमित्र में उच्चकोटि की धार्मिक असहिष्णुता थी और उसने बौद्धों के साथ घोर अत्याचार किया। 'दिव्यावदान' के अनुसार पुष्यमित्र ने यह घोषणा कर दी थी कि प्रत्येक बौद्ध भिक्षु के सिर के लिये एक सौ सोने के दीनार दिये जायेंगे। तारानाथ का भी कहना है कि पुष्यमित्र विधर्मियों का मित्र था और बौद्धों का वध कराता था और उनके मठों को जलवा देता था। इसमें सन्देह नहीं कि पुष्यमित्र एक कट्टर ब्राह्मण तथा ब्राह्मण धर्म का आश्रयदाता था परन्तु शुङ्ग काल में जो भरहुत में बौद्ध स्तूप बने हैं उनसे स्पष्ट है कि पुष्यमित्र बौद्धों के साथ अत्याचार नहीं करता था।

पुष्य मित्र के साम्राज्य का विस्तार—पुष्यमित्र ने पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार लगभग ३६ वर्ष तक बड़ी सफलता पूर्वक शासन किया। उसका साम्राज्य दक्षिण में नर्मदा नदी तक फैला था। सम्भवतः गंगा की घाटी के सभी प्रदेश उस साम्राज्य में सम्मिलित थे। पंजाब उसके राज्य के बाहर था। पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र विदिशा अथवा भिलसा प्रदेश पर जो ग्वालियर राज्य में है शासन करता था। इस प्रकार पंजाब में शाकल से लेकर बंगाल में समुद्र तट तक, दक्षिण में नर्मदा नदी तक और दक्षिण पूर्व में आधुनिक बुंदेलखण्ड तक पुष्यमित्र का एक छत्र साम्राज्य था।

पुष्य-मित्र के कार्यों का मूल्यांकन—पुष्यमित्र एक वीर सैनिक तथा कुशल शासक था। ब्राह्मण होते हुये भी उसने क्षात्र धर्म को अपनाया था। ऐसा प्रतीत होता है कि बाल्य-काल से ही वह सामरिक प्रवृति का व्यक्ति था। अपनी योग्यता के बल से ही वह [illegible]

कि वह एक कुशल सेनाध्यक्ष था [illegible]
संगठनकर्ता भी था। पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठने के बाद ही उसने मगध साम्राज्य को संगठित करना आरम्भ किया। उसने साम्राज्य से अलग होने की चेष्टा करने वाले प्रांतों को फिर से अपने अधीन किया और साम्राज्य की पश्चिमी सीमा को दृढ़ बनाया। उसने साम्राज्य के विस्तार को भी बढ़ाया और यवनों के आक्रमण का सफलता पूर्वक सामना किया। इस प्रकार उसने मगध साम्राज्य को सुरक्षित तथा सुव्यवस्थित रक्खा और अपनी सैनिक योग्यता का पूरा परिचय दिया। ब्राह्मण होने के नाते उसने वैदिक परम्परा, धर्म तथा संस्कृति की पुनर्स्थापना का सफल प्रयास किया। लुप्त-प्राय अश्वमेध यज्ञ को उसने फिर से आरम्भ किया। ब्राह्मण [illegible]

पौत्र वसुमित्र मगध का शासक हुआ। युवावस्था में वसुमित्र ने यवनों को परास्त कर अश्वमेध के घोड़े की रक्षा की थी। वसुमित्र के बाद ओद्रक राजा हुआ। इस वंश में कुल दस राजा हुये। इस वंश का नवाँ राजा भागवत अथवा भागभद्र था। इसके शासन काल के चौदहवें वर्ष में तक्षशिला के यवन राजा अन्ति अलकिदस ने अपना हेलियोदोरस नामक राजदूत विदिशा में भेजा था। यूनानी होते हुये भी वह अपने को विष्णु का भक्त तथा भागवत धर्म का अनुयायी कहता था और वसुदेव के आराधनार्थ उसने एक गरुड़ध्वज की स्थापना की थी। इस वंश का अन्तिम राजा देवभूति था। वह बड़ा व्यसनी तथा निकम्मा था। विष्णु पुराण में लिखा है कि उसके मन्त्री वसुदेव कण्व ने उसका वध कर दिया और

**शुङ्ग-कालीन सभ्यता तथा संस्कृति**—भारतीय इतिहास में शुङ्ग वंश का बहुत बड़ा महत्व है। पुष्यमित्र के काल से वास्तव में एक नये युग का आरम्भ होता है। वास्तव में यह ब्राह्मण धर्म तथा संस्कृत साहित्य के पुनरुद्धार का युग था। संस्कृत व्याकरणाचार्य जिन्होंने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखा था और जो पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ कराने वाले पुरोहितों में से थे इसी युग की विभूति थे। संस्कृत व्याकरण की अनुश्रुति के अनुसार आचार्य पतञ्जलि विदिशा के पड़ोस में गोनर्द के निवासी थे। संस्कृत साहित्य, कला तथा ब्राह्मण धर्म की इस काल में अपूर्व उन्नति हुई। पतञ्जलि का महाभाष्य संस्कृत व्याकरण का एक उच्च-कोटि का प्रामाणिक ग्रन्थ है। जिस काल का भाष्य इतना उच्च-कोटि का था उस काल का साहित्य निश्चय ही उच्च-कोटि का रहा होगा। महाभाष्य से हमें पता चलता है कि काव्य, आख्यान, आख्यायिका तथा इतिहास, पुराणों पर पुस्तकें बनी हुई थीं। पतञ्जलि के समय में नाटक लिखने का बड़ा प्रचार था। महाभाष्य तथा महाभारत की रचना इसी काल में हुई थी। ब्राह्मण लोग षडङ्ग वेद का अध्ययन करना अपना परम धर्म समझते थे। ब्राह्मणों का चरित्र इस काल में उन्नत दशा में था। संस्कृत भाषा का विकास बढ़ रहा था। कला की भी इस युग में उन्नति हो रही थी। महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य से हमें पता चलता है कि उस समय चित्रकार लोग ऐसे मनोहर चित्र बनाते थे कि वे अत्यन्त सजीव तथा वास्तविक प्रतीत होते थे। विदिशा के समीप साँची के प्रसिद्ध स्तूप के सुन्दर द्वारों के बनाने वाले शिल्पकार शुङ्ग-राज्य के विदिशा के हाथी दाँत के काम करने वाले कारीगर थे। शुङ्गों के राज्य-काल में ही साँची तथा भरहुत के बौद्ध स्तूप बनाये गये थे। भरहुत के स्तूप के चारों ओर एक सुन्दर पाषाणवेष्टिनी शुङ्गों के राज्य-काल में बनाई गई थी जिस पर बड़े सुन्दर चित्र बने हुये हैं। यद्यपि शुङ्ग-काल ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान का काल था परन्तु अन्य धर्मावलम्बियों के साथ किसी प्रकार का अत्याचार नहीं किया जाता था। विद्वानों की यह धारणा कि पुष्यमित्र बौद्धों का घोर शत्रु था ठीक नहीं प्रतीत होती क्योंकि यदि ऐसा होता तो शुङ्ग काल में बौद्धों के इतने स्मारक चिह्न न बन पाते। विदिशा तथा घोसुण्डी के शिला-लेखों से प्रमाणित होता है कि इस काल में वैष्णव-धर्म का खूब प्रचार हो रहा था। तक्षशिला के राजा का यवन राजदूत भारतीय संस्कृति से प्रभावित होकर भागवत धर्म का अनुयायी हो गया था।

**कण्व वंश**—कण्व-वंश का संस्थापक वसुदेव कण्व था। शुङ्ग-वंश के अन्तिम सम्राट देवभूति का वध कर उसके मन्त्री वसुदेव ने ७२ ई० पू० के लगभग कण्व वंश के राज्य की मगध में स्थापना की थी। वसुदेव कण्व ने किस प्रकार राज्य प्राप्त किया इसका वर्णन विष्णु पुराण में इस प्रकार किया गया है, "व्यसनी शुङ्ग राजा देवभूति को उसी के

राज्य कण्व वसुदेव को मार कर पृथ्वी का स्वर्ग भोग करेगा।" 'हर्ष चरित' में इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया गया है, "शुङ्गों के अमात्य वसुदेव ने रानी के वेश में देवभूति की दासी की लड़की द्वारा स्त्री प्रसंग में अत्यन्त आसक्त और काम से विवश देवभूति को जीवन-रहित कर दिया।" इस घटना से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुङ्ग-राजा विलासी राजाओं के हाथ में पड़ कर पतनोन्मुख हो गया था और राज्य की वास्तविक सत्ता उनके मन्त्रियों के हाथ में चली गई थी। वसुदेव कण्व ब्राह्मण था। इससे यह पता चलता है कि ब्राह्मणों के नेतृत्व में जो वैदिक प्रतिक्रिया आरम्भ हुई थी वह अब भी चल रही थी।

**वसुदेव के उत्तराधिकारी**—इस वंश में कुल चार राजा हुये जिन्होंने कुल ४५ वर्ष तक शासन किया। वसुदेव ने ९ वर्ष तक शासन किया था। उसके बाद भूमि मित्र ने चौदह वर्ष और नारायण ने बारह वर्ष तक राज्य किया। सुशर्मा इस वंश का अन्तिम राजा था जिसने दस वर्ष तक राज्य किया। वह बड़ा ही अयोग्य तथा निर्बल राजा था। पुराणों से हमें ज्ञात होता है कि इस वंश के अन्तिम राजा सुशर्मा का वध कर एक आन्ध्र वंशी सेवक राजा बन गया। कण्व-वंश के राजाओं के शासन-काल में कोई उल्लेखनीय घटना [illegible] है कि इस वंश के राजाओं ने वैदिक धर्म तथा समाज की

[illegible]

**कलिंग के जैन सम्राट खारवेल**—कलिंग देश का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। विद्वानों का कहना है कि नन्द युग में कलिंग मगध राज्य का एक अंग था। परन्तु [illegible] के समय कलिंग स्वतन्त्र हो गया था। परन्तु कुछ विद्वानों के विचार में [illegible] भांति कलिंग [illegible] राज्याभिषेक के [illegible] की थी। ऐसा [illegible] प्रन्त हो गया। अशोक की मृत्यु के उपरान्त कलिंग पर चेदि वंश का अधिकार हो गया। चेदि वंश के राजा क्षत्रिय थे। आधुनिक बुन्देलखण्ड में उनका जनपद था। ऐसा प्रतीत होता है कि चेदि वंश बुन्देलखण्ड से दक्षिण कोशल द्वारा कलिंग पहुँचा था। सम्भवतः चेदि लोग पहिली शताब्दी ई० पू० में कलिंग में पहुँचे थे। चेदि वंश के प्रथम दो सम्राटों के नाम का पता नहीं है परन्तु इस वंश का तीसरा सम्राट खारवेल था। उड़ीसा में भुवनेश्वर के निकट, उदयगिरि की हाथी गुम्फ नामक गुफा के अभिलेख में खारवेल का उल्लेख मिलता है। इस युग के इतिहास का यही सब मुख्य उपादान है।

**खारवेल**—चेदि वंश का सब से अधिक प्रतिभाशाली सम्राट खारवेल था। बारह वर्ष की ही अवस्था में उसका राज्याभिषेक कर दिया गया था और वह युवराज बन गया था। राजोचित उसे सब प्रकार की शिक्षायें दी गई थीं। लेखन कला, गणित, न्याय तथा अर्थ का ज्ञान राजा बनने के पहिले ही उसे प्रचुर ज्ञान हो गया था। चौबीस वर्ष की अवस्था में वह कलिंग का महाराज बना। अपने शासन काल के प्रथम वर्ष में उसने अपनी राजधानी कलिंग में नगर के फाटक तथा दुर्ग की दीवारों की मरम्मत करने में व्यतीत किया। अपने शासन काल के दूसरे वर्ष शातकर्णी की परवाह न करके एक विशाल सेना पश्चिम की ओर भेजी

# अध्याय २४

# आन्ध्र तथा सातवाहन वंश

**आन्ध्र कौन थे ?**—आन्ध्र जाति का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। सोलह महाजनपदों के समय में भी आन्ध्र जाति पूर्वी दक्षिण के उत्तरी भाग में तेलवाह नदी पर रहती थी। आन्ध्र जाति का सर्वप्रथम उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है जिसमें उनकी गणना आर्यावर्त के बाहर रहने वाली दक्षिण की दस्यु जातियों में की गई है। इस ब्राह्मण के अनुसार विश्वामित्र के वंशजों ने गोदावरी तथा कृष्णा नदी के प्रदेशों में जाकर आर्येतर स्त्रियों से विवाह कर लिया। इस प्रकार जो जाति उत्पन्न हुई वह आन्ध्र कहलाई। यह आर्यों तथा द्रविड़ों के सम्मिश्रण से मिली हुई जाति थी। वर्ण से अपने को यह ब्राह्मण मानती थी। कुछ लेखों में आन्ध्रों को सर्वोच्च ब्राह्मण तथा क्षत्रियों का मान मर्दन करने वाला बतलाया गया है। यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि कब और किन परिस्थितियों में आन्ध्र ब्राह्मणों ने राजनैतिक धर्म अपनाया था परन्तु इतना निश्चित है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में आन्ध्रों की शक्ति अत्यन्त प्रबल हो गई थी। इन लोगों का निवास स्थान कृष्णा तथा गोदावरी नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश में था। कुछ विद्वानों के विचार में यह लोग अनार्य थे परन्तु आर्यों के सम्पर्क में आ जाने से धीरे-धीरे आर्य संस्कृति तथा सभ्यता का प्रभाव इन पर पड़ने लगा। धीरे-धीरे यह जाति शक्तिशाली होने लगी। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य-साम्राज्य की विजय-ध्वजा आन्ध्र-प्रदेश पर भी फहराई गई थी। अशोक के अभिलेखों से हमें पता चलता है कि आन्ध्रों ने मौर्य-सम्राट की प्रजा बनना स्वीकार कर लिया था और आन्ध्र प्रदेश में अशोक ने बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। आन्ध्र प्रदेश चन्द्रगुप्त मौर्य अथवा अशोक के काल में मौर्य-साम्राज्य की छत्र छाया में आया यह निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता। परन्तु अशोक ने अपने जीवन में केवल एक ही युद्ध किया था और वह कलिंग का भीषण युद्ध था। अतएव चन्द्रगुप्त मौर्य अथवा बिन्दुसार के ही शासन-काल में मौर्यों की विजय-पताका आन्ध्र देश में फहराई गई थी। अशोक की मृत्यु के उपरान्त जब मौर्य-साम्राज्य का अधःपतन आरम्भ हुआ उसी समय आन्ध्रों ने भी अपना सिर उठाना आरम्भ किया और अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर दिया। इस वंश का पहिला राजा शिशुक अथवा सिमुक माना जाता है। उसने मौर्यों के शासन से अपने को मुक्त किया था और अपने राज्य को दूर तक फैलाया था। कुछ विद्वान् सिमुक का जीवन-काल ईसा से पूर्व तीसरी शताब्दी के अन्तिम भाग को मानते हैं परन्तु पुराणों के अनुसार सिमुक ने न केवल [illegible] उसे भी नष्ट कर दिया था। अतएव [illegible] एक पौराणिक कथा के अनुसार इस वंश [illegible] किया। डा० रायचौधरी के विचार में [illegible] हैं और ३० राजा प्रमुख शाखा के अतिरिक्त इस वंश के राजाओं में सम्मिलित हैं जो कुन्तल (कर्नाटक) के प्रदेश पर कदम्बों से पहले राज्य करते थे।

**सातवाहन कौन थे**—पुराणों में आन्ध्र वंश के जिन राजाओं के नाम का उल्लेख है वही नाम सातवाहन वंश के राजाओं के शिला-लेखों में भी उपलब्ध हैं। अतएव कुछ विद्वानों की धारणा है कि सातवाहन वंश तथा आन्ध्र वंश एक ही थे। प्रो० रैपसन के

**गौतमी पुत्र शातकर्णि**—सातवाहन वंश का २३ वाँ राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि था। जैसा नाम ही से स्पष्ट है गौतमी ने इस वीर शासक को जन्म दिया था। वह बड़ा प्रतापी तथा शक्तिशाली सम्राट था। विदेशियों को अपने राज्य से भगा देने तथा सातवाहन सत्ता के दक्षिण में फिर से स्थापित करने का श्रेय इसी को प्राप्त है। इसकी माता गौतमी बालश्री ने नासिक के एक अभिलेख में अपने इस वीर पुत्र की प्रशंसा की है जिसका सारांश यह है कि राजाधिराज गौतमी पुत्र ने क्षत्रियों का मान-मर्दन किया था और शक, यवन तथा पह्लव लोगों को परास्त किया था। उसने क्षहरात वंश का नाश कर डाला था और सातवाहन वंश के गौरव को बढ़ा कर उसका मस्तक उन्नत किया था। उसने शत्रुओं को मार कर वर्णाश्रम धर्म की रक्षा की थी। नासिक के शिलालेख से गौतमी पुत्र के राज्य विस्तार का भी पता लगता है। इसका अधिकार न केवल असिक, अश्मक अर्थात् महाराष्ट्र तथा मुलक अर्थात् पैठन के चारों ओर के जिले पर था वरन् सुरठ (काठियावाड़), कुकुर अर्थात् पश्चिमी अथवा मध्यभारत, अपरान्त (उत्तरी कोंकण), अनूप, विदर्भ तथा आकर अवन्ति अर्थात् पूर्वी तथा पश्चिमी मालवा में भी फैला था। वह विन्ध्या पर्वत से ट्रावनकोर की पहाड़ियों और पूर्वी घाट से पश्चिमी घाट तक का सम्राट माना जाता था। गौतमी पुत्र ने कम से कम २४ वर्ष तक शासन किया था। कुछ विद्वानों के विचार में गौतमी पुत्र ने अपने पुत्र श्री पुलुमावी के साथ-साथ शासन किया था परन्तु बहुत से विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं और वे श्री पुलुमावी को गौतमी पुत्र का उत्तराधिकारी ही मानते हैं।

**गौतमी पुत्र शातकर्णि के कार्यों का मूल्यांकन**—गौतमीपुत्र शातकर्णि सातवाहन वंश का सबसे अधिक प्रतापी तथा बलवान् राजा था। वह एक दिग्विजयी सम्राट था और सम्पूर्ण दक्षिणापथ तथा मध्य-भारत को उसने अपने अधीन कर लिया था। उसने अनेक क्षत्रिय राजाओं को नत-मस्तक किया और क्षत्रियों के दर्प तथा मान-मर्दन करने वाले की उपाधि प्राप्त की। महाराष्ट्र के शकों अथवा क्षहरातों को समूल नष्ट कर उसने अपने वंश की प्रतिष्ठा को स्थापित की थी। उसने अवन्ति तथा सुराष्ट्र के शकों को नत-मस्तक किया था और अपने बाहु-बल से पश्चिमोत्तर भारत के शक, यवन तथा पह्लवों को आतंकित कर दिया था। इस प्रकार उसने विदेशियों के साथ सफलतापूर्वक युद्ध किया और अपने वंश के गौरव को बढ़ाया।

गौतमीपुत्र शातकर्णि एक सफल सेना नायक ही न था वरन् वह एक सफल शासक [illegible] किया करता था और अपनी प्रजा [illegible] प्रजा पर धर्मानुकूल कर लगाता था [illegible] ता था। उसने वैदिक धर्म को ब[illegible] ार किये थे। बौद्ध धर्म के प्रभाव कारण [illegible] हो गया था उसके दूर करने का उ[illegible] प्रयत्न किया था।

**श्री पुलुमावी**—गौतमी पुत्र के बाद उसका पुत्र श्री पुलुमावी १३० ई० पू० लगभग राजा बना। उसने लगभग १५ वर्ष तक शासन किया। उसने उज्जयिनी के क्षत्रप रुद्रदामन की कन्या से विवाह किया था परन्तु पुलुमावी तथा रुद्रदामन में मैत्री नहीं रही। रुद्रदामन के समय के गिरनार के एक शिला-लेख से पता चलता है कि उस दक्षिणापथ के स्वामी शातकर्णि अर्थात् पुलुमावी को दो बार युद्ध में परास्त किया परन्तु निकट सम्बन्ध होने के कारण उसको मारा नहीं। वाशिष्ठी पुत्र पुलुमावी की राजधानी पैठन अथवा प्रतिष्ठान गोदावरी नदी के किनारे पर थी। आन्ध्र देश, गौतमी

[illegible]

अधिकार बना रहा होगा। परन्तु केवल सिक्कों के ही आधार पर [illegible] ठीक नहीं है। लगभग १५५ ई० में पुलुमावी की मृत्यु हो गई। इसके बाद पुराणों के अनुसार शिव श्री तथा शिव स्कन्ध ने क्रमशः राज्य किया। इस वंश का अन्तिम शक्तिशाली सम्राट यज्ञ श्री शातकर्णि था।

यज्ञश्री शातकर्णि—शिव स्कन्ध के बाद १६५ ई० में यज्ञश्री राजा हुआ। उसने [illegible]

[illegible] काल में सातवाहन वंश का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया। इस ह्रास के कई कारण [illegible] [illegible] सबसे बड़ा कारण यज्ञ श्री के उत्तराधिकारियों की अयोग्यता [illegible]

[illegible] हो गये थे। इस प्रकार दाक्षिणापथ [illegible] थे। सातवाहन राज्य का उत्तरी भाग पल्लवों के अधिकार में चला गया और दक्षिणी भाग को चूटु ने अपने अधिकार में कर लिया। थोड़े समय तक सातवाहन वंश का मलिन दीपक और टिमटिमाता रहा। अन्त में आभीरों ने जो गड़रिये थे महाराष्ट्र पर अपना आधिपत्य जमा लिया और इक्ष्वाकुओं तथा पल्लवों ने पूर्वी भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

**सातवाहन काल की संस्कृति तथा सभ्यता**—किसी देश की सभ्यता तथा संस्कृति की विवेचना के पूर्व वहाँ की राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन कर लेना आवश्यक होता है क्योंकि राज्य व्यवस्था तथा आर्थिक सङ्गठन सभ्यता रूपी वृक्ष की मूल है और साहित्य तथा कला उसके फल हैं। अतएव सबसे पहिले राजनैतिक व्यवस्था पर विचार किया जायगा।

**राज्य-व्यवस्था**—प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में राजतन्त्रात्मक व्यवस्था थी। प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन करने से पता चलता है कि तात्कालीन राज्यों में राजा का पद वंशानुगत होता था। परन्तु वह स्वेच्छाचारी अथवा निरंकुश नहीं होता था। उसकी शक्ति पर

बड़ी सभाओं द्वारा नियन्त्रित होती थीं। वे सभायें क्रमशः जनता के प्रतिनिधियों, पुरोहितों, वैद्यों, ज्योतिषियों तथा मन्त्रियों की होती थीं। जनता के प्रतिनिधियों की सभा राजा के अधिकारों का दमन करती थी। पुरोहित की सभा धार्मिक अनुष्ठान करवाती थी। वैद्य लोग राजा तथा उसकी प्रजा के स्वास्थ्य का निरीक्षण करते थे। ज्योतिषी लोग राजकार्य की सूचना देते थे और महत्त्वपूर्ण घटनाओं की भविष्यवाणी करते थे। मन्त्री लोग शासन की व्यवस्था तथा न्याय की व्यवस्था करते थे। यह शासन व्यवस्था चेर, चोल तथा पाण्ड्य इन तीनों राज्यों में प्रचलित थी। सातवाहन युग में ग्राम पंचायत की व्यवस्था थी। इसका परिचय वहदुमन के अभिलेखों से मिलता है। इसके अभिलेख में वर्णित सभाओं तथा उप समितियों का उल्लेख है जो ग्रामवासियों के कल्याण को सिद्ध करते हैं। अतः स इस युग की राज्य सत्ता में एक ओर छोटे विभागों और जनपद विभाग की शक्ति थी तथा दूसरी ओर एक राज्य की केन्द्रीय शक्ति का प्रभाव था। जिन कार्यों को जनपद के विभाग नहीं कर पाते थे उन्हें राज्य की केन्द्रीय शक्ति करती थी। सातवाहन युग में अनेक गण-राज्यों का पता होता तथा उनका अस्तित्व प्रमाणित होता है। इन गण-राज्यों में भी सभाओं का शासन चलता था। सातवाहन युग के अभिलेखों तथा साहित्य से यह प्रमाणित होता है कि ग्राम, श्रेणी, निगम तथा जनपद के अलग-अलग विभाग होते थे और उनके अलग अलग कार्य तथा अधिकार होते थे।

**आर्थिक व्यवस्था**—आर्थिक दृष्टि से सातवाहन युग उच्च-कोटि की समृद्धि तथा वैभव का युग था। गाँव वालों का मुख्य व्यवसाय कृषि तथा पशु पालन रहा होगा। भूमि कृषकों की निजी सम्पत्ति समझी जाती थी और सम्राट उसका संरक्षक मात्र माना जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग में गाँवों के कार्यों में राज्य का हस्तक्षेप बढ़ गया था। जनता का शिल्प तथा वाणिज्य का भी संगठन इस युग में उच्च-कोटि का था। शिल्पियों ने अपने अलग अलग निकाय बना लिये थे जिन्हें श्रेणी कहते थे। इस प्रकार धान्यक ( धान्य अथवा अनाज की ), कोलिकों ( जुलाहों ), कासाकार ( काँसे का काम करने वालों ); बसकार ( बाँस का काम करने वालों) आदि की अलग-अलग श्रेणियाँ बनी थीं। इन श्रेणियों का कार्य क्षेत्र पहिले से अधिक बढ़ गया था। अपना व्यवसाय करने के अतिरिक्त यह श्रेणियाँ बैंक का भी कार्य करती थीं और ब्याज पर रुपये उधार देती थीं। इस युग में सोने, चाँदी तथा ताँबे की मुद्रा का प्रचार था। शिल्प के साथ साथ वाणिज्य की भी इस युग में बड़ी उन्नति हुई। भड़ौच, सोपारा तथा कल्याण इस काल के बहुत अच्छे बन्दरगाह थे जो विदेशों के साथ व्यापार करते थे। नगर तथा पैठन इस काल की बहुत बड़ी मंडियाँ थीं। आवागमन के साधन अच्छे थे और व्यापार के लिये लोग दक्षिण के एक भाग से दूसरे भाग को सुगमता तथा स्वतन्त्रता से आ जा सकते थे। चीन का भारतवर्ष से सम्पर्क पहिले इसी युग में हुआ। सुवर्ण भूमि को भी भारतीयों ने पहिले पहल इसी युग में बसाया था। मिश्र तथा रोम साम्राज्य से भी भारत का व्यापारिक सम्बन्ध इस युग में स्थापित हो गया था।

**सामाजिक दशा**—सातवाहन युग के अभिलेखों तथा वाङ्मय में चतुर्वर्ण व्यवस्था अत्यन्त परिपक्व रूप में पाई जाती है। जातियों का विभाजन राजनैतिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण से किया गया था। सातवाहन युग का समाज चार वर्गों में विभक्त था। सबसे ऊँचा वर्ग सामन्तों तथा सरदारों का था। इस वर्ग में महारथी, महाभोज, महासेनापति आदि उपाधियाँ धारण करने वाले सरदार आते थे जो राष्ट्रों (ज़िलों) के शासक होते थे। दूसरा वर्ग राजकीय पदाधिकारियों का था। इसके अन्तर्गत आमात्य महामात्र तथा भंडागारिक अर्थात् कोषाध्यक्ष थे। नेगम(व्यापारी), साथ वाह (सौदागर)

...श्रेष्ठ (सेठ) सभी इन्हीं के समकक्ष समझे जाते थे और दूसरे ही वर्ग में इनकी गणना ...ी थी। तीसरे वर्ग में लेखक, वैद्य, कृषक, सुवर्णकार तथा गान्धिक अथवा गन्धी आते ... चौथे वर्ग में बढ़ई, माली, लोहार तथा मछुवे आते थे। श्रमजीवियों की अलग-अलग ...णियाँ बनी थीं जो ब्याज पर रुपया भी उधार देती थीं। ब्याज पर रुपया उधार देने ...की बहुत सी सहकारी समितियों के उदाहरण हमें इस युग में मिलते हैं। मध्यवित्त लोग गृह, कुल तथा कुटुम्ब में विभक्त थे। मातृ-पक्ष के कुल तथा गोत्र के अनुसार ...श चलते थे। राजाओं के नाम तथा उपाधियाँ भी मातृक होती थी जैसा कि गोतमी ... तथा वशिष्ठिपुत्र आदि नामों से स्पष्ट है।

**धार्मिक दशा**—सातवाहन युग में ब्राह्मण तथा बौद्ध दोनों ही धर्म उन्नत दशा ...थे। ब्राह्मण धर्म में नव-जीवन का सचार हो रहा था। राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञ सम्राटों ...रा किये जाते थे और ब्राह्मणों को दक्षिणा दी जाती थी। बलिदान की प्रथा फिर से ...रम्भ हो गई। वैदिक काल के बहुत से देवताओं की पूजा अब भी की जाती थी। वरुण, ...न्द्र, वासुदेव, शिव तथा स्कन्द इस युग के मुख्य देवता थे। शिव तथा कृष्ण की लोग ...शेष रूप से आराधना करते थे। बौद्ध धर्म भी उन्नत दशा में था। बौद्ध भिक्षुओं के

...र्म के अनुयायी बन रहे थे। उषवदात ब्राह्मण-धर्म का अनुयायी हो गया था परन्तु ...ौद्ध भिक्षुओं की सहायता के लिये उसने कार्ले में एक गाँव दान में दिया था। इससे ...सिद्ध होता है कि धार्मिक सहिष्णुता इस युग में उच्च-कोटि की थी।

**साहित्य तथा कला**—सातवाहन काल के सम्राट् प्राकृत के आश्रयदाता थे। ...ाल नामक सातवाहन सम्राट् ने शृङ्गार रस की "गाथा सप्तशती" की रचना भी की ...ी। गुणाढ्य की बृहत्कथा भी दक्षिण में लिखी गई थी। महाभारत का अधिकांश भाग ...सी युग में लिखा गया था। तामील साहित्य की भी इस युग में वृद्धि हुई। व्याकरण, ...दक, रसायन, दर्शन, ज्योतिष आदि की भी अभिवृद्धि हुई। सातवाहन युग की शिल्प ...था कला उच्च-कोटि की थी। महाराष्ट्र, छत्तीसगढ़ तथा उड़ीसा के पर्वतों में काटे हुये ...ैत्यगृह तथा भरहुत और साँची के स्तूप इस काल को उच्चकोटि की शिल्प कला के ...प्रमाण हैं।

साम्राज्य के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन आरम्भ कर दिया और पार्थिया में लगभग २५० ई० पू० में अरसक ने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। इस राज-वंश ने पार्थिया में लगभग ५०० वर्षों तक शासन किया।

**बैक्ट्रिया**—हिन्दूकुश तथा आक्सस नदी के बीच का प्रदेश बैक्ट्रिया कहलाता था। यह भी सारयन साम्राज्य का एक प्रान्त था। बैक्ट्रिया पहिले साइथियन प्रदेश था परन्तु ईरानियों के उत्कर्ष-काल में वह उत्तरी ईरान में सम्मिलित हो गया। सिकन्दर ने [illegible] करने के लिये इसे अपना अड्डा बनाया था और उसके काल में [illegible] बैक्ट्रिया [illegible]

वह एक [illegible]

आकर मिलते थे। बैक्ट्रिया में यूनानी लोग आकर बस गये थे। [illegible] यूनानी सभ्यता का केन्द्र बन गया था। यहाँ के सिक्के यूनानी शैली के होते थे और उन पर यूनानी देवताओं की मूर्तियाँ बनी रहती थीं। इस समय बैक्ट्रिया का शासन दियोदोत (Diodotus) नामक यूनानी गवर्नर के हाथ में था। उसने सैनिकों को अपनी ओर मिला लिया और स्वतन्त्र राज्य की घोषणा कर दी। इस प्रकार उसने बैक्ट्रिया में एक सैनिक शासन की स्थापना की। इस राज्य में सदैव अशान्ति तथा हलचल मची रही और वह चिरस्थायी न हो सका। इसमें निरन्तर विद्रोह तथा क्रान्तियाँ चलती रहीं। इसके शासकों ने अपने शासन को सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित बनाने के स्थान पर अपनी सम्पूर्ण शक्ति हिन्दूकुश के दक्षिणी प्रदेश तथा भारत पर आक्रमण करने में व्यय कर दिया। अन्त में लगभग २३० ई० पू० में यूथिडिमस ने इस राज-वंश को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। यूथिडिमस मगनेशिया का रहने वाला था। वह एक अत्यंत महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। सीरिया के सम्राट अंतियोक तृतीय से उसका संघर्ष आरम्भ हुआ। अंतियोक अपने खोये हुये प्रान्तों को फिर से प्राप्त करना चाहता था। उसने बल्ख का घेरा डाल दिया। यह संघर्ष बहुत दिनों तक चलता रहा। अंत में संधि हो गई। सीरियन सम्राट ने बैक्ट्रिया की स्वाधीनता को स्वीकार कर लिया और अपनी कन्या का विवाह यूथिडिमस के पुत्र डैमेत्रियस अथवा दिमित के साथ कर दिया। यूथिडिमस ने उस युद्ध में काम आने वाले हाथियों की एक सेना भेंट की। अन्तियोक के लौट जाने पर यूथिडिमस ने अपने राज्य का विस्तार आरम्भ किया। उसने अफगानिस्तान के एक बहुत बड़े भूभाग पर विजय प्राप्त की। लगभग १९० ई० पू० में यूथिडिमस की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र डिमेट्रियस बैक्ट्रिया के राज सिंहासन पर बैठा। डिमेट्रियस भी अपने पिता की भाँति महत्वाकांक्षी था। उसने भी राज्य-विस्तार की नीति का अनुसरण किया।

**अन्तियोकस तथा डिमेट्रियस के भारत पर आक्रमण**—बैक्ट्रिया के शासक यूथिडिमस से सन्धि करने के उपरान्त सीरिया के सम्राट अन्तियोकस ने २०६ ई० पू० में हिन्दूकुश को पार कर भारत पर आक्रमण कर दिया। गान्धार के राजा सुभाग-सेन के साथ उसका युद्ध हुआ परन्तु शीघ्र ही दोनों में मैत्री हो गई। सुभागसेन से रसद तथा हाथी लेकर अन्तियोकस कन्दहार प्रदेश तथा सीस्तान के मार्ग से अपने देश को लौट गया।

अन्तियोकस के बाद बैक्ट्रिया के प्रतापी सम्राट डिमेट्रियस ने भारत पर आक्रमण किया। १९० ई० पू० के आस पास उसने काबुल तथा पंजाब पर अपना अधिकार जमा लिया। यूनानी लेखक स्ट्रैबो ने केवल एक वाक्य में इस आक्रमण की ओर संकेत किया है। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' में भी यवनों तथा वसुमित्र के युद्ध की ओर

संकेत है। महर्षि पतञ्जलि ने भी अपने 'महाभाष्य' में यवनों के आक्रमण क
संकेत किया है। 'गार्गी संहिता' नामक ज्योतिष के प्राचीन ग्रन्थ में भी यवन आक
[illegible] इन उल्लेखों से यह स्पष्ट नहीं प्रतीत होता कि वे किस आक्रम
[illegible] डिमेट्रियस ने मद
[illegible] पिता की स्मृति में
नाम एवुथिदिमिया रख दिया। इसके बाद [illegible] तथा पांचाल को
तक पाटलिपुत्र तक पहुँच गया। परन्तु मध्य प्रदेश में उसके पैर जम न सके।
[illegible] ने पंजाब पर भी
[illegible]
ने भारत में एक नये राज्य की स्थापना की परन्तु [illegible]
यूरोप की गाथाओं में डिमेट्रियस का उल्लेख भारत के राजा के रूप में किया ग
वह पूर्वी पंजाब पर अपनी राजधानी शाकल से शासन करता था। भूमिडिमस
डिमेट्रियस वंश के राजाओं की मुद्रायें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। यवनों की इन
तीय मुद्राओं पर यूनानी तथा प्राकृत भाषा में लेख लिखे जाते थे। इन मुद्राओं से
की पश्चिमोत्तर विजय का पता चलता है। डिमेट्रियस के बाद इस वंश में कई
हुये परन्तु उनके काल की घटनाओं का कुछ पता नहीं लगता। सम्भवतः मिनेन्दर
मेनेन्द्र भी इसी वंश का रा[illegible] शासन करता था।

**मेनेन्द्र**—यवन रा[illegible]

[illegible]

का निर्वाण के सम्बन्ध में कथनोपकथन उपलब्ध है। [illegible]
शासन करता था। वह बड़ा न्याय-प्रिय तथा लोक-प्रिय शासक था। उसके शासन
में जनता सम्पन्न तथा सुखी थी। मेनेन्द्र के उत्तराधिकारी अधिक शक्तिशाली न थे।
धीरे शकों ने राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया और ५० ई० पू० तक उ
राज्य बिल्कुल समाप्त हो गया।

**युक्रेटिडस (Eukratides)**—जिस समय डिमेट्रियस भारत में एक नये
की स्थापना कर रहा था उसी समय युक्रेटिडस के नेतृत्व में बैक्ट्रिया में नई क
उत्पन्न हो गई। दार्न के कथनानुसार युक्रेटिडस सीरिया के सम्राट अन्तियोकस
का सेनापति तथा सम्बन्धी था। बैक्ट्रिया के असन्तुष्ट यूनानियों की सहायता से
विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया और लगभग १७५ ई० पू० में बैक्ट्रिया का राजा
गया। बैक्ट्रिया में अपनी स्थिति संभालने के उपरान्त १६२ ई० पू० में युक्रेटिडस
युक्रेतिद ने भारत पर भी आक्रमण कर दिया और काबुल की घाटी तथा पश्चिमी पं
अपना अधिकार जमा लिया। युक्रेटिडस ने सिन्धु पार के प्रदेश तथा काबुल
अपना राज्य स्थापित कर लिया और तक्षशिला, पुष्कलावती तथा कपिशा
लगा। जिस समय वह अपने राज्य की [illegible] में जमा रहा था

परिश्चम की ओर म होने लगे। दक्षिण बैक्ट्रिया ने भारतीय विजय में अपनी शक्ति क्षीण कर दी थी। अतएव इन आक्रमणों के रोकने की शक्ति उसमें अवशेष न थी। अतएव थोड़े ही समय में समूचे बैक्ट्रिया पर शकों का आधिपत्य स्थापित हो गया। यद्यपि यूक्रेटिडस के वंश का शासन बैक्ट्रिया में समाप्त हो गया परन्तु भारत में यह वंश कुछ काल तक शासन करता रहा। भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने के बाद यूक्रेटिडस ने अपने बैक्ट्रिया के राज्य के सँभालने का विचार किया परन्तु जब वह बैक्ट्रिया जा रहा था तब जस्टिन के कथनानुसार उसके पुत्र हेलियोक्लीज (Helio-cles) ने उसका वध कर दिया। यह घटना लगभग १५५ ई० पू० की है। कहा जाता है कि इस पितृ-हन्ता ने अपने पिता के शव की समाधि भी नहीं होने दिया। हेलियोक्लीज के काल में शकों ने बैक्ट्रिया पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। अतएव वह बैक्ट्रिया का अन्तिम सम्राट माना जाता है परन्तु उसके वंशज भारत में शासन करते रहे। इन राजाओं में से बहुतों के केवल ... पता नहीं चलता। इनमें केवल ... पर राज्य करता था। वह विदि... समय बेसनगर के स्तम्भ लेख से पता चलता है कि तक्षशिला के यूनानी राजा ने हेलियोडोरस नामक दूत को भागभद्र के दरबार में भेजा था। यह राजदूत भागवत धर्म का अनुयायी था और उसने विदिशा में वासुदेव का गरुड़ध्वज स्तम्भ बनवाया था। इससे हिन्दू धर्म की व्यापकता का परिचय मिलता है। भारत में धीरे-धीरे यवनों की शक्ति कम हो रही थी। उनका राज्य भिन्न-भिन्न भागों में विभक्त हो गया था और आन्तरिक कलह चलता रहा। उधर शकों का दबाव उन पर निरन्तर बढ़ता जा रहा था। इस समय सिन्ध में शकों ने अपनी सत्ता स्थापित कर ली और वहीं से वे आगे बढ़ रहे थे। ७५ ई० पू० में शकों ने पुष्कलवती तथा तक्षशिला पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। थोड़े ही दिनों में उन्होंने शाकल पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। लगभग ५८ ई० पू० में शकों ने काबुल की घाटी के ऊपरी भाग पर अपना अधिकार जमा लिया। हर्मियस अन्तिम यवन राजा था जो काबुल की घाटी पर शासन करता था। शकों, पह्लवों तथा कुषाणों ने चारों ओर से उसके राज्य को घेर लिया था। लगभग ४० ई० पू० में यवनों के राज्य का सूर्यास्त हो गया।

**यवनों का प्रभाव**—भारतीयों तथा यूनानियों का पहिला सम्पर्क लगभग ३२७ ई० पू० में हुआ था जब सिकन्दर महान् ने हिन्दू-कुश पर्वत को पार कर भारत में प्रवेश किया था। जितने समय तक सिकन्दर भारत में रहा वह युद्ध करने में संलग्न रहा। कुछ ही महीने बाद उसे भारत से लौट जाना पड़ा। सिकन्दर के मरते ही उसका विशाल साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा और भारत के पश्चिमोत्तर में उसके सेनापति सेल्यूकस ने अपनी धाक जमा ली। इसी समय चन्द्रगुप्त मौर्य ने भारत में एक विशाल मौर्य साम्राज्य की स्थापना की और यूनानियों को भारत से मार भगाया परन्तु सिल्यूकस से उसका ... मेगस्थनीज पाटलिपुत्र में बहुत ... यों का सम्पर्क बना रहा। अशोक ने ... यवनों से सम्पर्क बनाये रखने को ... यवनों के आक्रमण आरम्भ हुये। ... शक तृतीय ने भारत पर आक्रमण किया परन्तु गान्धार के राजा सुभागसेन से मैत्री करके वह अपने देश को लौट गया।

# अध्याय २६

# पार्थियन अथवा पह्लव राजवंश

**राज्य-स्थापना**—तीसरी शताब्दी ई० पू० में जब सीरिया के साम्राज्य का ह्
हो रहा था तब लगभग २४८ ई० पू० पार्थव प्रदेश में एक महान् क्रान्ति हुई।
प्रदेश सीरियन साम्राज्य का एक अङ्ग था। अरसक नामक व्यक्ति के नेतृत्व में पार्थि
विद्रोह कर दिया और सीरियन साम्राज्य से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर एक स्व
राज्य की स्थापना की। इस राज्य की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती गई। सीरिया के स
ने कई बार पार्थिया पर अपनी सत्ता के पुनर्स्थापना का प्रयत्न किया परन्तु उनके
प्रयत्न निष्फल रहे। इनमें सबसे अन्तिम तथा प्रसिद्ध प्रयत्न अन्तियोक तृतीय
था। घोर संग्राम के उपरान्त अन्तियोक अरसक तृतीय से सन्धि करने के लिये वि
हो गया।

**मिथ्रिदात**—पार्थव वंश का एक प्रतापी शासक मिथ्रिदात था। उसका श
काल १७१-१३६ ई० पू० माना जाता है। मिथ्रिदात ने मद्र तथा पार्स प्रदेशों को
कर पार्थव राज्य की सीमा फरात नदी तक पहुँचा दी। कैस्पियन सागर के पूर्व
प्रदेश तथा उसके दक्षिण के बर्कान प्रदेश पर मिथ्रिदात के पूर्व उसके भाई फ्रावत दि
ने अपना अधिकार जमा लिया था। मिथ्रिदात ने अब उस अधिकार को और दृ
दिया। मिथ्रिदात ने ईरान की पूर्वी सीमा पर ध्यान दिया। लगभग १५५ ई०
में उसने यूनानियों से हेरात तथा कन्दहार का प्रदेश छीन लिया। भारतीय पुरा
वेत्ताओं की पहिले यह धारणा थी कि मिथ्रिदात ने भारत पर भी आक्रमण किया
और वितस्ता नदी तक का प्रदेश उसके अनुशासन में आ गया था। परन्तु अब
धारणा निर्मूल सिद्ध कर दी गई है।

**शक आक्रमण**—लगभग १६०-१२३ ई० पू० तक शकों तथा पह्लवों में सं
चलता रहा। शक लोग लूट मार करते हुये दक्षिण पश्चिम हेरात की ओर बढ़े। यह
पार्थव राज्य में था। अतएव शकों की प्रगति को अवरुद्ध करने के लिये पार्थव राज
को विकट प्रयत्न करना पड़ा। लगभग १२८ ई० पू० में पार्थव राजा फ्रावत द्वितीय श
से युद्ध करता हुआ मारा गया। उसके उत्तराधिकारी राजा अर्तबान के शासन काल
शकों ने उसके राज्य को लूटा और तहस-नहस किया। लगभग १२३ ईसा पूर्व में अर्त
तुखारों से लड़ता हुआ मारा गया।

**मिथ्रिदात द्वितीय**—अर्तबान की मृत्यु के उपरान्त उसका उत्तराधिकारी मि
दात द्वितीय पार्थिया के राजसिंहासन पर बैठा। उसका शासन-काल १२३-८८ ई०
माना जाता है। उसने शकों का पूर्ण रूप से दमन किया। वह बड़ा योग्य, साहसी त
प्रबल शासक था और उसने राजाधिराज की उपाधि ली। इस पदवी को सबसे पहि
मिथ्रि[illegible] ने धारण की थी।

ईरान के इतिहास से ज्ञात होता है कि पह्लवों तथा श[illegible]

में पह्लव तथा पार्थव एक ही जाति के उपनाम हैं। पार्थव राज्य का संस्थापक क अथवा शकों का राजा कहलाता था। यदि शक शब्द का व्यापक अर्थ लगाया तो पह्लव भी शकों की एक शाखा हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मिथ्रिदात की मृत्यु के उपरान्त अर्थात् ८८ ई० पू० के बाद किसी समय शक स्थान अर्थात् न अथवा उसके पड़ोस में पह्लव राज्य की स्थापना हुई। इस राज्य का सम्पर्क ईरान ना अधिक नहीं था जितना भारतवर्ष से। पह्लव वंश की मुद्राओं से ज्ञात होता इस वंश ने काबुल, गान्धार तथा सिन्ध पर विजय प्राप्त कर ली थी।

वनान—पह्लव वंश का संस्थापक वनान (Yonones) नाम का एक व्यक्ति था। ी मुद्राओं पर उसका नाम केवल यूनानी भाषा में अंकित मिलता है। अतएव ऐसा होता है कि भारतीय प्रदेशों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था और उसका राज्य सीस्तान तथा उसके पड़ोस के पूर्वी ईरान तक ही सीमित था। परन्तु धीरे-धीरे राज्य कन्दहार तक फैल गया। कन्दहार प्रदेश में जो मुद्रायें उपलब्ध हुई हैं उनमें ओर वनान और दूसरी ओर उसके धार्मिक भ्राता स्पलहोर का नाम अंकित है। होर का नाम प्राकृत भाषा में लिखा मिलता है।

स्पलहोर—वनान का कनिष्ठ भ्राता स्पलहोर वनान के जीवन काल में सम्भवतः हार का उपराजा था। स्पलहोर ने यूनानियों की भाँति प्राकृत का प्रयोग आरम्भ दिया था और सम्भवतः वह बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया था। वनान की मृत्यु के न्त वह सीस्तान का भी शासक बन गया।

स्पलगदम—जब स्पलहोर सीस्तान का सम्राट् बन गया तब उसका पुत्र स्पल- न कन्दहार का उपराजा बना दिया गया। कुछ ऐसी मुद्रायें उपलब्ध हुई हैं जिनमें ओर यूनानी भाषा में स्पलहोर का नाम है और दूसरी ओर स्पलगदम का प्राकृत में अंकित है। इससे स्पष्ट है कि स्पलगदम कन्दहार का उप राजा था।

स्पलिरिष—स्पलहोर का उत्तराधिकारी स्पलिरिष था। ऐसी मुद्रायें उपलब्ध हैं जिन पर यूनानी तथा प्राकृत दोनों भाषाओं में स्पलिरिष का नाम अंकित मिलता इससे ऐसा अनुमान लगाया गया है कि स्पलिरिष सम्पूर्ण पह्लव राज्य पर शासन ता था। वह बड़ा वीर तथा साहसी सम्राट् था। उसने काबुल पर विजय प्राप्त करके ने राज्य की शोभा बढ़ाई थी।

अय—कुछ ऐसी मुद्रायें उपलब्ध हुई हैं जिनमें एक ओर स्पलिरिष का और दूसरी र प्राकृत में अय (Ares) का नाम अंकित है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अय स्प- लिरिष का उपराजा था। ऐसी भी मुद्रायें प्राप्त हुई हैं जिनमें यूनानी तथा प्राकृत दोनों भाषाओं में अय का नाम अंकित है। इससे अनुमान लगाया गया है कि अय स्पलिरिष उत्तराधिकारी तथा पुत्र था और स्पलिरिष की मृत्यु के उपरान्त वह सम्पूर्ण पह्लव ज्य पर राज्य करने लगा था। अय एक प्रतापी सम्राट् प्रतीत होता है। उसके शासन काल में पह्लव राज्य पश्चिम गान्धार तक फैला था। उसने पूर्वी गान्धार, केकय तथा द्र देश (शाकल) पर भी सम्भवतः विजय प्राप्त कर ली थी।

गुदफर्न—अय के उपरान्त गुदफर्न (Gondophranes) पह्लवों के बृहद् साम्राज्य का शासक हुआ। रैपसन के विचार में वह पह्लव राज्य की प्रथा के अनुसार राजाओं के जा विशिष्यन की अधीनता में कन्दहार में शासन करता था। स्टेन कोनो के विचार में दफर्न ही विशिष्यन था। डा० रायचौधरी के विचार में गुदफर्न की सत्ता गान्धार प्रदेश नहीं थी। पहिले उसका राज्य केवल दक्षिण अफगानिस्तान तक था परन्तु अपने

# अध्याय २७

# शक-वंश

**शकों का आगमन**—शक एक पर्यटन-शील जाति थी। मूलत. यह लोग यक्षार्त
[illegible]था सर-दरिया नदी के उत्तरी प्रदेश में निवास करते थे जिसकी राजधानी आजकल
[illegible]कस्तान है। परन्तु कुछ काल उपरान्त मध्य एशिया से इन्हें दक्षिण की ओर प्रस्थान
[illegible]ना पड़ा। लगभग १६५-१६० ई० पू० में मध्य एशिया में भारी उथल-पुथल मच गई
[illegible]र वहाँ की जातियों का पर्यटन आरम्भ हुआ। उत्तरी पश्चिमी चीन में निवास करने
[illegible]ली यूची जाति को हिंगनू (हूण) जाति ने उसकी जन्म भूमि से उसे भगा दिया। यूची
[illegible]ग पर्यटन करते हुये यक्षार्त प्रदेश में प्रविष्ट हुये जहाँ उनका शकों से संघर्ष हुआ। यूची
[illegible]गों का शकों पर ऐसा दबाव पड़ा कि उन्हें अपनी जन्म-भूमि त्याग देनी पड़ी। अपनी
[illegible]न्म भूमि से निष्कासित होकर शक लोग अनेक दिशाओं में जा बसे। ईरानी लेखों के
[illegible]नुसार इनकी एक शाखा वोलगा के उस पार जा बसी जिन्हें हिरोडेटस ने काश्यिर्यों का
[illegible]देशी बतलाया है। इनकी दूसरी शाखा ने हेलमन्द घाटी पर अपना अधिकार कर उसे
[illegible]कस्तान का नाम दिया। इनकी तीसरी शाखा समुद्र के पार जा बसी जिसके विषय में
[illegible]द्वानों का मत है कि इन लोगों ने काले सागर के उत्तर में रूसी मैदान में अपना निवास-
[illegible]यान बना लिया। पूर्वी ईरान अथवा शकस्थान में बसने वाले शकों के विषय में विद्वानों
[illegible] धारणा है कि यूचियों के दबाव के कारण १४०-१२० ई० पू० के काल में यह लोग
[illegible]क्ट्रिया तथा पार्थिया के राज्यों पर टूट पड़े। विदेशी युद्धों तथा आन्तरिक कलह के कारण
[illegible]क्ट्रिया का साम्राज्य अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हो गया था। अतएव शकों ने सरलता से उन

[illegible]

आर उनका बढ़ना असम्भव था क्योंकि उधर यूनानी शक्ति का प्राबल्य था। अतएव यह
लोग आर्केशिया (कन्दहार) तथा बलूचिस्तान से होकर बोलन के पर्वतीय मार्ग से निचले
सिन्ध प्रदेश में प्रवेश किये और यह प्रदेश शक-द्वीप के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यूनानी
भौगोलिकों ने इस प्रदेश को इन्डो साइथिया नाम से पुकारा है। इसी शक-द्वीप को अपना
आधार बना कर शकों ने भारत के भिन्न भिन्न भागों में अपनी बस्तियाँ बना ली। नासिक
तथा मथुरा के लेखों से हमें पता चलता है कि शकों की सत्ता पूर्व में यमुना नदी तक
और दक्षिण में गोदावरी नदी तक फैली थी और इन लोगों ने मथुरा के मित्र तथा पैठन
के सातवाहन राजाओं की शक्ति को नष्ट किया था। लगभग १२०-११५ ई० पू० में शकों
ने सिन्ध में पूर्ण रूप से अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। उनकी राजधानी मानगर
सिन्ध नदी के तट पर थी। सिन्ध में अपनी सत्ता स्थापित करने के उपरान्त शकों ने काठि-
यावाड़ पर विजय प्राप्त की। एक ही वर्ष में शक लोग सुराष्ट्र तक पहुँच गये। सुराष्ट्र तथा
दक्षिणी गुजरात से शकों ने उज्जयिनी पर आक्रमण किया और लगभग १०० ई० पू० में

उस पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। लेखों से पता चलता है कि कादिगग
[illegible]
उज्जैन से ही शकों की सत्ता मथुरा की ओर बढ़ी थी। मथुरा को शकों ने सम्भवतः ...
से जीता था। विदिशा पर भी शकों ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। मथुरा
शक लोग पंजाब की ओर बढ़े। यह सम्भव है कि शकों ने पंजाब पर दो ओर से आक्रमण
किया हो—एक मथुरा से उत्तर पश्चिम की ओर और दूसरा सिन्ध से उत्तर पूर्व की ओर
नदियों के मार्ग से। इस प्रकार भारत के एक बहुत बड़े भाग पर शकों का आधिपत्य
स्थापित हो गया।

**मोअस**—भारत का सर्व-प्रथम शक राजा मोअस (Maus) अथवा मोग बतलाया
जाता है। यह एक शक्तिशाली सम्राट् माना जाता है। उसने गान्धार तथा तक्षशिला
को यूनानियों से जीत लिया था। सम्भवतः उसने पूर्वी पंजाब में शाकल पर भी अपना
आधिपत्य स्थापित कर लिया था। उसने शहन-शाह अर्थात् राजाधिराज की उपाधि भी
धारण की थी। मोअस के शासन काल का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता
है। डा० चौधरी के विचार में उसका शासन ३३ ई० पू० के उपरान्त और पहिली ई० पू०
के पूर्वार्ध में आरम्भ हुआ होगा। कोनो के विचार में मोअस का शासन लगभग ई०
पू० में आरम्भ हुआ होगा।

**अय**—मोअस का उत्तराधिकारी अय अथवा आजेस (Azes) था। कुछ विद्वान
अय को शक न मानकर पह्लव सम्राट् मानते हैं। अय का शासन काल ५०-३० ई० पू०
अनुमान लगाया गया है। कुछ विद्वानों के विचार में ७८ ई० पू० में विक्रम संवत् का
संस्थापन उसी ने किया था। आजेस के बाद आजीलिसेस शासक हुआ। कुछ मुद्राओं
पर एक यूनानी भाषा में आजेस का और प्राकृत में आजीलिसेस का नाम अंकित मिला
है जिससे पता चलता है कि दोनों ने संयुक्त शासन किया था। आजीलिसेस के बाद
आजेस द्वितीय शासक हुआ। इसके बाद गोंडोफर्निस राजा हुआ जो पह्लव था। उसने
१६-४५ ई० स० तक शासन किया। इसके उपरान्त शक-पह्लव शक्ति क्षीण हो गई और
उनका स्थान कुषाणों ने ले लिया।

**क्षत्रप**—यह पहिले बताया जा चुका है कि शकों ने भारत में सबसे पहिले अपनी
सत्ता सिन्ध में स्थापित की थी और मनिनगर को अपनी राजधानी बनाई थी। इसके
उपरान्त जब पड़ोस के दूसरे प्रान्तों में शकों की सत्ता स्थापित हुई तब वहाँ के उनके
शासक क्षत्रप अथवा महाक्षत्रप कहलाये जिसका अर्थ है कि वे स्वाधीन राजा नहीं थे
वरन् किसी राजा के अधीन प्रान्तीय शासक होते थे। सम्भवतः उनका अधिपति सिन्ध
का शासक महाराज ही होता था। ये क्षत्रप तक्षशिला, मथुरा, उत्तर के कई स्थानों, काठि-
यावाड़ तथा मालवा में शासन करते थे। क्षत्रप शासन व्यवस्था का प्रधान महाक्षत्रप होता
था। उसके नीचे एक दूसरा क्षत्रप उसका पुत्र होता था जो महाक्षत्रप का उत्तराधिकारी
होता था। क्षत्रप के अतिरिक्त अन्य सैनिक सरदार भी होते थे जिनमें से कुछ के नाम
अभिलेखों में उपलब्ध हैं। जब कुषाणों ने मोअस वंश के शासन को नष्ट कर दिया तब
भी क्षत्रप अपने अपने इलाके में शासन करते रहे।

**पंजाब के क्षत्रप**—डा० राय चौधरी ने पंजाब के क्षत्रपों को तीन भागों में विभक्त
किया है जहाँ तीन भिन्न वंश शासन करते थे। पहिला कुसुलक वंश था। यह छहरात
वंश का था और चिक्षु जिले में शासन करता था। लिअक (Liaka) तथा पतिक
(Patika) इस वंश के अन्य शासक थे। तक्षशिला के ताम्र पत्र से हमें पता चलता है

के लियक महान् सम्राट मोग का क्षत्रप था और लियक का पुत्र पतिक महादानपति था। कुसुलुक वंश के क्षत्रपों का मथुरा के क्षत्रपों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। दूसरा क्षत्रप मनीगुल (Manigul) तथा उसके पुत्र जिहोनिक (Jihonika) का था। यह लोग अय द्वितीय के शासन-काल में पुष्कलावती के क्षत्रप थे। परन्तु तक्षशिला के एक लेख से पता चलता है कि जिहोनिक चक्ष का क्षत्रप था। तीसरा वंश इन्द्रवर्मन का था। इन्द्रवर्मन के बाद उसका पुत्र अस्पवर्मन शासक हुआ। अस्पवर्मन अय द्वितीय तथा गुदफर्न (Gondopharnes) दोनों का उपशासक था। अस्पवर्मन के बाद उसका भतीजा सस (Szsa) शासक हुआ। सस गुदफर्न तथा पकुर (Pakores) का उपशासक था।

**मथुरा के क्षत्रप**—उज्जैन जीतने के उपरान्त शकों ने मथुरा पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। इनके क्षत्रप तथा महाक्षत्रप यहाँ शासन करने लगे थे। मथुरा के क्षत्रपों में हगान तथा हगामश का नाम सबसे पहिले आता है। इनके बाद सम्भवतः राजुल शासक हुआ। एक लेख में उसे महाक्षत्रप कहा गया है। परन्तु कुछ मुद्राओं में वह राजाधिराज कहा गया है जिससे प्रतीत होता है कि वह स्वाधीन हो गया था। राजुल के बाद उसका पुत्र शोडास शासक हुआ। मथुरा की सिंह-मूर्ति के लेख में उसे क्षत्रप बतलाया गया है। परन्तु बाद के मथुरा के लेखों में जो ब्राह्मी लिपि में हैं उसे महाक्षत्रप बतलाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने पिता के काल में शोडास केवल क्षत्रप था परन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त वह महाक्षत्रप हो गया। स्टेन कोनो के विचार में शोडास १५ ई० सं० के निकट हुआ था। शोडास के बाद का इतिहास अन्धकारपूर्ण है। मथुरा के सिंह-लेख से पता चलता है कि मथुरा के क्षत्रप कपिशा तथा तक्षशिला के क्षत्रपों की भाँति बौद्ध-धर्मावलम्बी थे क्योंकि इसमें लिखा है कि राजुल की पटरानी ने बुद्ध की अस्थियों पर एक स्तूप बनवाया था।

**महाराष्ट्र के क्षत्रप**—शक लोग सिन्ध तथा गुजरात से होते हुये पश्चिमी भारत में पहुँचे थे। शक जातीय क्षहरात वंश ने दक्षिण तथा पश्चिम भारत में अपनी सत्ता स्थापित कर ली। इन लोगों ने सातवाहन राजाओं से महाराष्ट्र का देश छीन लिया था। महाराष्ट्र का पहिला क्षत्रप भूमक था। उसके ताँबे के सिक्कों पर उसे 'क्षहरात क्षत्रप' कहा गया है। भूमक के विषय में कुछ अधिक नहीं ज्ञात हो पाया है। भूमक के वंश का दूसरा राजा नहपान था। क्षहरात क्षत्रपों में नहपान का स्थान सर्वोत्कृष्ट है। उसका राज्य नासिक तथा पूना से लेकर गुजरात, काठियावाड़, मालवा तथा राजपूताना में पुष्कर तक फैला हुआ था। नहपान ने अपनी कन्या दक्षमित्रा का विवाह शक जातीय उषवदात से कर दिया था जिसने नहपान की आज्ञा से राजपूताने में जाकर मालव लोगों से घिरे हुए उत्तमभद्र नामक क्षत्रियों को छुड़ाया था और अजमेर के पास पुष्कर तीर्थ में स्नान कर तीन सहस्र गौवों और एक गाँव का दान किया था। नहपान के शासन-काल का अनुमान ११९-१२४ ई० तक किया गया है। उसका राज्य चिरस्थायी न हो सका। उसके शासन-काल के अन्तिम भाग में आन्ध्र-वंश के प्रतापी सम्राट गौतमी पुत्र शातकर्णि ने महाराष्ट्र में क्षहरात वंश का समूलोच्छेद कर दिया और अपनी सत्ता की स्थापना कर ली। महाराष्ट्र के क्षत्रप भी हिन्दू-धर्म के अनुयायी हो गये।

**उज्जैन के क्षत्रप**—सुराष्ट्र तथा पश्चिमी गुजरात जीतने के बाद शकों ने उज्जयिनी पर आक्रमण कर लगभग १०० ई० पू० में वहाँ अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। यहाँ के शक शासक भी क्षत्रप तथा महाक्षत्रप के नाम से विख्यात थे। इस वंश का संस्थापक चष्टन था। वह यशामातिमा का पुत्र था जिसे कुछ विद्वान् भूमक का शक रूपान्तर मानते

# अध्याय २८

## कुषाण-वंश

**कुषाण काल का महत्त्व**—भारतीय इतिहास में कुषाण काल का बहुत बड़ा महत्त्व है। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद प्रथम बार भारत में फिर विशाल साम्राज्य की स्थापना हुई। यह साम्राज्य न केवल सम्पूर्ण उत्तरी भारत में फैला था वरन् भारत के बाहर मध्य-एशिया में भी फैला था। इस प्रकार इस काल में भारत विदेशों के घनिष्ठ सम्पर्क में आया। इस काल में धार्मिक, साहित्यिक तथा कलात्मक विकास भी हुआ। बौद्ध धर्म की महायान शाखा का जन्म तथा गान्धार शैली का विकास इसी काल में हुआ था। बुद्ध जी की मूर्ति का भी प्रादुर्भाव इसी समय हुआ था। इस काल के साहित्यिक गौरव का इस बात से पता लग जाता है कि अश्वघोष, नागार्जुन आदि उद्भट विद्वान् इसी काल की विभूति थे। यह धार्मिक क्रान्ति का भी युग था। शैव सम्प्रदाय तथा उससे सम्बन्धित कार्तिकेय सम्प्रदाय, महायान, मिहिर तथा वासुदेव कृष्ण सम्प्रदाय का विकास इसी काल में हुआ था। कश्यप मातङ्ग ने इस काल में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। इस काल में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के विकास के लिये मध्य तथा पूर्वी एशिया में मार्ग खुल गया था।

**कुषाण कौन थे ?**—चीनी इतिहासकारों के कथनानुसार कुषाण लोग यू जाति की एक शाखा थे। यूची लोग मूलतः उत्तरी पश्चिमी चीन के कानसू नामक प्रान्त में निवास करते थे। लगभग दूसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य में सम्भवतः १६५ ई० पू में हियगनू नामक एक दूसरी जाति ने यूचियों को परास्त कर उन्हें उनकी जन्मभूमि भगा दिया। हियगनू राजा लाओ चांग ने यूचियों के राजा को मार कर उसकी खोप का प्याला बना लिया। मृतक राजा की विधवा स्त्री के नेतृत्व में यूची लोग पश्चिम ओर बढ़े। घूमते-घूमते यह लोग आधुनिक कुलजा प्रदेश में जा पहुँचे और वहाँ पर वुसु जाति से उनकी मुठभेड़ हुई। यूचियों को इस संघर्ष में सफलता प्राप्त हुई और वुसु के राजा को उन्होंने मार डाला। यहाँ से यूचियों की एक शाखा दक्षिण की ओर जो छोटे यूचियों की शाखा कहलाने लगी। यूचियों की दूसरी शाखा जो बड़े यूचि के नाम से प्रसिद्ध हुई पश्चिम की ओर बढ़ती गई और सरदरिया के मैदान में निवा करने वाले शकों पर आक्रमण कर दिया। यूचियों को इस युद्ध में विजय प्राप्त हुई शकों के राजा ने किपिन अथवा कपिश प्रदेश में शरण ली। इसी समय वुसुन के सु सम्राट के पुत्र ने यूचियों को खदेड़ कर आक्सास नदी की तलहटी के ताहिया प्रदेश भगा दिया। ताहिया के लोग शान्तिप्रिय व्यापारी थे। न उनमें संगठन था और न यु में उनकी अभिरुचि थी। अतएव उन्होंने यूचियों की अधीनता स्वीकार कर ली। यूचि ने आक्सस के उत्तर में कियन्ची को अपनी राजधानी बनाई। धीरे-धीरे बैक्ट्र पर यूचियों का अधिकार हो गया। अब यूचियों ने पर्यटनशील जीवन को त्याग और वे स्थायी रूप से एक स्थान पर निवास करने लगे। अब यूची लोग पाँच शाखा में विभक्त हो गये। इन्हीं शाखाओं में से एक का नाम कुई शांग अथवा कुषाण काला न्तर में कुषाण के सरदार ने अन्य चार शाखाओं पर विजय प्राप्त कर ली और राज्य की वृद्धि आरम्भ की। इसी समय से सभी यूची कुषाण कहलाने लगे।

अब लोग भक्ति-मार्ग की ओर अधिक झुकने लगे थे और बुद्ध जी को परमात्मा मानने लगे। महायान पन्थ पर हिन्दुओं के भागवत् धर्म का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था। महायान पन्थ में बुद्ध तथा बोधिसत्वों की पूजा होने लगी थी। इस पन्थ के ग्रन्थ प्रायः संस्कृत में हैं। इससे प्रतीत होता है कि महायान पन्थ पर हिन्दू धर्म की धीरे धीरे छाप पड़ रही थी। महायान सम्प्रदाय के धार्मिक सिद्धान्तों को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय नागार्जुन को प्राप्त है।

**साहित्य तथा कला**—कनिष्क के काल में साहित्य तथा कला की बड़ी उन्नति

[illegible]

अशोक की भाँति कनिष्क भी एक महान् निर्माता था। उसने बहुत से स्तूप तथा नगर बनवाये थे। उसने अपनी राजधानी पुष्पपुर अथवा पेशावर में एक मठ और काष्ठ का एक बहुत बड़ा बुर्ज बनवाया था। इस बुर्ज में बुद्ध जी के स्मृति-चिह्न रक्खे गये थे। उनके द्वारा निर्मित एक नगर के अवशेष तक्षशिला के निकट मिले हैं। काश्मीर का कनिष्कपुर (कनिष्कपुर) नामक गाँव उसी का बनवाया हुआ माना जाता है। कनिष्क के संरक्षण में वास्तुविद्या तथा शिल्प-कला की बड़ी उन्नति हुई। मथुरा के निकट कनिष्क की एक शिरविहीन मूर्ति प्राप्त हुई है। यहाँ पर उसके वंश के अन्य राजाओं की भी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। मथुरा के पास कुषाण राजाओं का एक देवकुल भी था। इससे अनुमान लगाया जाता है कि शिशुनाग राजाओं की भाँति कुषाण राजा भी देवकुल का निर्माण किया करते थे।

इस काल में गान्धार-कला का प्रादुर्भाव हुआ था। भारत प्राचीन काल से ही शिल्प-कला तथा वास्तु कला में सिद्ध-हस्त था। प्राचीन काल की बौद्ध कला के प्रमाण हमें साँची तथा भरहुत के भग्नावशेष से मिलते हैं। इनमें जातक के दृश्यों का दिग्दर्शन किया गया था। अन्य बौद्ध कथाओं का भी दिग्दर्शन हमें इन कलाओं में मिलता है परन्तु बुद्ध जी की पत्थर की मूर्ति नहीं बनती थी। जैसा पहिले बतलाया जा चुका है बुद्ध जी की उपस्थिति पदचिह्न, बोधि-वृक्ष, छत्र आदि द्वारा प्रकट की जाती थी। परन्तु अब बौद्ध-धर्म में बड़ा रूपान्तर हो गया था और बुद्ध जी की मूर्ति की पूजा आरम्भ हो गई थी।

[illegible]

का अनुकरण किया गया है। इस प्रकार बुद्ध जी की प्रतिमाओं में यवन देवताओं का अनुकरण किया गया है। इस प्रकार बुद्ध तथा अपोलो की मूर्तियों में साम्य पाया जाता है। इसी प्रकार यक्षकुबेर की मुद्रा के फीडियन ज़ेउस का अनुकरण प्रतीत होता है। इन मूर्तियों की वेश-भूषा यवन प्रतिमाओं के सदृश है। यह पहिले बतलाया जा चुका है कि महायान-पन्थ के उत्कर्ष के साथ-साथ बुद्ध जी की साकार उपासना आरम्भ हुई। तभी से बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मूर्तियाँ बनने लगीं। चूँकि पश्चिमोत्तर भारत का यूनान से

(५) उदार तत्व ज्ञाता—धर्म के विषय में कनिष्क अत्यन्त उदार तथा सहिष्णु था। यद्यपि बौद्ध धर्म में उसकी विशेष अनुरक्ति थी परन्तु वह यूनानी, ईरानी तथा हिन्दू देवताओं की भी उपासना किया करता था। उसके साम्राज्य में भिन्न भिन्न धर्मों तथा सम्प्रदायों के लोग निवास करते थे। अतएव वह सब की भावनाओं का ध्यान रखता था और सब के साथ उदार तथा सहिष्णु था।

(६) साहित्य तथा कला का आश्रयदाता—कनिष्क का साहित्य तथा कला से ... और साहित्यकारों तथा कलाकारों को उसका आश्रय प्राप्त था। अश्व-

[illegible]

बुद्ध जी की बड़ी सुन्दर मूर्तियों का निर्माण हुआ।

निष्कर्ष—उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कनिष्क एक महान् विजेता, एक कुशल शासक, एक अच्छा निर्माता, सहिष्णु तथा उदार दृष्टिकोण का व्यक्ति, बौद्ध धर्म का अनन्य भक्त तथा सेवक, साहित्य तथा कला का प्रेमी और भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचारक था। उसके शासन काल में भारत का अन्य देशों के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया। इससे भारत का व्यापार विदेशों के साथ बहुत बढ़ गया था। बौद्ध धर्म को विश्व धर्म बनाने में उसने बड़ा योग दिया। अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कुषाण वंश के राजाओं में कनिष्क को सर्वश्रेष्ठ और प्राचीन भारत के सम्राटों में सम्मानपूर्ण स्थान प्रदान करना चाहिये।

हुविष्क—कुछ विद्वानों का मत है कि कनिष्क की मृत्यु के उपरान्त वासिष्क ही राजा हुआ था और कनिष्क के जीवन-काल में उसकी मृत्यु हो गई थी। वासिष्क के कुछ अभिलेख मिले हैं जिनसे पता चलता है कि वह मथुरा तथा पूर्वी मालवा पर शासन करता था। वासिष्क के बाद उसका छोटा भाई हुविष्क गद्दी पर बैठा। ऐसा प्रतीत होता है कि हुविष्क का अधिकार सिन्ध घाटी के निचले प्रदेश पर समाप्त हो गया था जिस पर शक क्षत्रप रुद्र-दामा ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। हुविष्क बौद्ध-धर्म का आश्रयदाता था। उसने मथुरा में एक सुन्दर विहार का निर्माण करवाया था। काश्मीर में उसने हुविष्कपुर नामक नगर बसाया था। हुविष्क की मुद्रायें बड़ी सुन्दर हुआ करती थीं और इन पर यूनानी, ईरानी तथा भारतीय देवताओं की मूर्तियाँ अंकित रहती थीं। हुविष्क के शासन काल की घटनाओं का कुछ पता नहीं चलता। लगभग १८२ ई० में हुविष्क का परलोकवास हो गया।

[illegible]

वासुदेव के शासन-काल में कुषाण साम्राज्य का ह्रास आरम्भ हो गया और कुछ ही काल में वह विशाल साम्राज्य जिसका निर्माण कनिष्क ने अपने बाहु-बल से किया था छिन्न भिन्न हो गया। बहुत से छोटे छोटे राजाओं ने शासन करना आरम्भ किया जो अन्य

## अध्याय २६

# गुप्त-साम्राज्य

**गुप्त-काल का महत्व तथा उसकी विशेषतायें**—भारतीय इतिहास में गुप्त-काल का बहुत बड़ा महत्व है। इस काल से भारतीय इतिहास में एक नये युग का आरम्भ होता है। इस काल के इतिहास पर एक विहङ्गम दृष्टि डालने पर हमें इसमें निम्नलिखित विशेषतायें दृष्टि-गोचर होती हैं :—

[illegible] यह राजनैतिक एकता [illegible] त की राजनैतिक एकता [illegible] घात से भारत छिन्न-भिन्न हो गया और उत्तरी तथा दक्षिणी भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये। कुछ काल के लिये भारत में कोई एक छत्रधारी शक्ति न रही। विदेशी शासकों तथा भारतीय नरेशों में निरन्तर संघर्ष चलता रहा। सातवाहन सम्राट गौतमी पुत्र शातकर्णि ने शकों, यवनों तथा पहलवों से सफलता-पूर्वक लोहा लिया था और उनकी शक्ति को हिला दिया था परन्तु उनका मूलोच्छेद नहीं कर पाया था। शक सम्राट रुद्रदामा ने [illegible] काठियावाड़ में अपनी सत्ता पूर्ण [illegible] भी राज्य स्थापित थे। इस प्रकार [illegible] बिल्कुल छिन्न-भिन्न हो गई थी। [illegible] से हो प्राप्त है। इस काल में ऐसे [illegible] से आसाम तक और हिमालय से नर्मदा तक एक-छत्र राज्य स्थापित किया और नर्मदा के दक्षिण में भी अपने प्रभाव को बढ़ाया। इसी काल के सम्राटों ने विदेशी शासन का अन्त कर भारत को पराधीनता से मुक्त किया।

(२) **अन्धकार से प्रकाश में प्रवेश करने का युग**—कुषाण साम्राज्य के पतन तथा गुप्त साम्राज्य के उत्थान के मध्य का युग "अन्धकार पूर्ण युग" माना जाता है। आन्ध्र तथा कुषाण राज्यों के ध्वस्त हो जाने के बाद भारत फिर छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। यह राज्य एक दूसरे से युद्ध करने में संलग्न हो गये। देश में कोई ऐसी बलवान् शक्ति न थी जो इन राज्यों को एक सूत्र में बाँधती। उथल-पुथल का काल होने के कारण इस काल का कोई क्रम-बद्ध इतिहास नहीं लिखा गया। अतएव इस काल का इतिहास अन्धकार पूर्ण है। परन्तु गुप्त-काल से आरम्भ होते ही यह अन्धकार विलुप्त हो जाता है और हम प्रकाश में आ जाते हैं क्योंकि गुप्त सम्राटों का हमें क्रम-बद्ध इतिहास प्राप्त होने लगता है। अब तिथि सम्बन्धी सन्देह तथा भ्रम विलुप्त हो गया और घटनाओं तथा तिथियों में पूर्ण समन्वय स्थापित हो गया।

(३) **अभूत पूर्व बौद्धिक विकास का युग**—परन्तु इस काल का महत्व केवल राजनैतिक दृष्टि-कोण से ही नहीं वरन् साहित्यिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा कला के दृष्टि-कोण से भी बहुत बड़ा है। गुप्त-काल में भारतीय प्रतिभा का सर्वतोमुखी विकास तथा अभूत-पूर्व बौद्धिक उत्कर्ष हुआ। इसी काल में संस्कृत साहित्य के आचार्य महाकवि कालिदास हुये, 'मृच्छकटिक' तथा 'मुद्रा राक्षस' नामक नाटकों की रचना इसी युग में हुई थी और पौराणिक साहित्य ने अपना वर्तमान स्वरूप इसी युग में धारण किया था।

भारतीय दर्शन का इस युग में विकास हुआ। महायान के माध्यमिक तथा विज्ञ सम्प्रदाय का प्रचार इसी काल में हुआ था। वसुबन्धु, असंग आर्य देव जैसे आचार्य सिद्धसेन दिवाकर तथा समन्त भद्र जैसे जैन दार्शनिकों ने इसी युग लिया था। इन आचार्यों ने भारतीय दर्शन को नवीन तथा मौलिक विच थे। विज्ञान के क्षेत्र में दशांश गणना-पद्धति इसी युग में प्रारम्भ हुई थी।

(४) संस्कृत के पुनरुत्थान का युग—इस काल में संस्कृत-भाषा तथा सं साहित्य की अपूर्व उन्नति हुई। अतएव इसे संस्कृत के पुनरुत्थान का युग कह सकते

(५) ब्राह्मण-धर्म के पुनरुद्धार का युग—यद्यपि ब्राह्मण धर्म शुङ्ग-काल गति-शील हो गया था परंतु गुप्त-काल में इस धर्म को राज्य का आश्रय मिल जाने से बड़ी अभिवृद्धि हुई। इसी से गुप्त काल को ब्राह्मण धर्म के अभ्युत्थान का युग मानते

(६) ललित कलाओं की चरम-सीमा की उन्नति का युग—भारतीय संस्कृति कला इस काल में पराकाष्ठा को पहुँच गई। अजन्ता के जगत विख्यात चित्र इसी यु कृतियाँ हैं। इस काल की मूर्तियाँ आगामी युग के चित्रकारों के लिये आदर्श बन

(७) अभूत पूर्व समृद्धि का युग—सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित गुप्त शासन में देश की आर्थिक उन्नति होती गई और विदेशों से व्यापार तथा विचा आदान प्रदान उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। विदेशों में भारत आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा और उसके साहित्य, उसकी सभ्यता तथा संस्कृति की विदेशों में प्रशंसा होने

(८) बृहत्तर भारत का युग—इस काल में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृ प्रचार चीन, मध्य-एशिया, जावा, सुमात्रा, कोचीन, अनाम तथा बोर्नियो तक था। यदि आज चीन, जावा तथा भारत में सांस्कृतिक एकता है तो इसका श्रेय गुप्त के कुमारजीव तथा गुण वर्मा जैसे प्रचारकों का है।

## गुप्त कालीन इतिहास जानने के साधन—डा० राधा कुमुद मुक

गुप्तकालीन इतिहास जानने के साधनों को चार भागों में विभक्त किया है अर्थात् त्यिक-ग्रंथ, अभिलेख, मुद्रा तथा स्मारक-चिह्न। अब इनका अलग-अलग संक्षिप्त वि करना आवश्यक है।

(१) साहित्यिक ग्रन्थ—इसके अन्तर्गत पुराण, विज्जिका नामक स्त्री द्वारा "कौमुदी महोत्सव" नामक नाटक, विशाख दत्त द्वारा रचित 'देवी चन्द्रगुप्तम्' नाटक, बाण द्वारा रचित 'हर्षचरित', 'आर्य मंजु श्री मूलकल्प' नामक महायान गाथा जिसमें ७०० ई० पू० से ७५० ई० तक के राज वंशों का वर्णन है आदि आते इनमें चीनी यात्री फाहियान तथा ह्वेनसांग के विवरण भी जोड़े जा सकते हैं जो क्र पाँचवीं तथा सातवीं शताब्दी ई० में भारत आये थे।

(२) अभिलेख—गुप्त कालीन इतिहास जानने के अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा वि सनीय साधन ये अभिलेख हैं। यह अभिलेख पत्थर तथा धातु दोनों पर अंकित मिलते धातु पर अंकित अभिलेख ताम्र-पत्रों तथा लौह स्तम्भों पर उपलब्ध हैं। कुछ अभि में जैसे समुद्रगुप्त के इलाहाबाद के स्तम्भ लेख तथा यशो धर्मन के मन्दसौर के स्त लेख में घटनाओं का वर्णन है। अन्य अभिलेखों में धार्मिक अथवा लौकिक दोनों उल्लेख है। दान अभिलेखों की संख्या घटना-अभिलेखों की संख्या से अधिक है।

(३) मुद्रा—गुप्त कालीन मुद्राओं से भी इस युग के इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ता है। यह मुद्रायें भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार की हैं। इन मुद्राओं से पता चलता है कि भारतीय मुद्रा की कला का किस प्रकार विकास हुआ और विदेशी प्रभाव को किस प्रकार दूर किया गया।

(४) स्मारक-चिह्न—स्मारक चिह्नों से कलात्मक तथा धार्मिक दोनों प्रकार के इतिहास जानने में सहायता मिलती है। इन स्मारक चिह्नों से हमें तत्कालीन प्रचलित भिन्न-भिन्न शैलियों का पता चलता है। इससे हमें ज्ञात होता है कि इस काल में मथुरा, बनारस तथा नालन्दा इन तीन भिन्न-भिन्न शैलियों का प्रचार था। गुप्त-कालीन स्मारक-चिह्नों [illegible] भारतीयकरण का प्रयत्न किया गया था [illegible] रूप से परिलक्षित है। इस काल के [illegible] सम्बन्धी भिन्न-भिन्न शैलियों का पता [illegible] इस पर बहुत बड़ा प्रकाश डालते हैं। इनसे हमें यह पता चलता है कि उन दिनों कौन-कौन से मत मतान्तर प्रचलित थे और उनके कौन-कौन से उपास्यदेव थे।

**गुप्त कौन थे ?**—गुप्त वंश का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। सातवाहन राजाओं के अभिलेखों में ऐसे पदाधिकारियों के नाम मिलते हैं जिनके नाम के पीछे गुप्त जुड़ा रहता है। एक प्राचीन ब्राह्मी अभिलेख में 'गुप्तवंशोदिता' अर्थात् गुप्त वंश में उत्पन्न हुई रानी का भी उल्लेख मिलता है। शुंग कालीन भरहुत के स्तम्भ लेख में राजन् विसदेव के पुत्र को गोतिपुत कहा गया है जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि उसकी स्त्री गोती अर्थात् गुप्त वंश की थी। अन्य कई अभिलेखों में भी गोतिपुत का उल्लेख मिलता है। इससे पता चलता है कि इस वंश का बहुत बड़ा महत्व था और यह बहुत पुराना वंश था। क्या गुप्त लोगों की एक मूल जाति थी और उसी से भिन्न-भिन्न शाखायें निकलीं अथवा यह अलग-अलग वंश के थे और इनका एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं था यह स्पष्ट रूप से नहीं बतलाया जा सकता। चूँकि गुप्तों का नाम संपूर्ण उत्तरी तथा दक्षिणी भारत में पाया जाता है अतएव अधिक सम्भावना यही है कि गुप्तों के अलग-अलग वंश थे और उनका एक दूसरे से कोई घनिष्ट सम्बन्ध नहीं था। गुप्त लोग कौन थे? इस प्रश्न पर इतिहासकारों में मतभेद है। चूँकि इस वंश के राजाओं के नाम के पीछे गुप्त शब्द लगा रहता है अतएव कुछ इतिहासकारों की धारणा है कि इस वंश के राजा वैश्य जाति के थे। परन्तु कभी-कभी गुप्त शब्द अन्य जातियों के नाम के पीछे भी जुड़ा मिलता है। उदाहरणार्थ ब्रह्मगुप्त जो प्रसिद्ध ज्योतिषी था ब्राह्मण वंश का था। डा० जायसवाल का कहना है कि गुप्त सम्राट मूलतः पंजाब के कारस्कर जाट थे। इस जाति की सामाजिक प्रतिष्ठा ऊँची न थी। परन्तु यह मत भी सर्वथा मान्य नहीं है। प्रो० आर० डी० बनर्जी के विचार में गुप्त लोग लिच्छवि वंशीय क्षत्री थे और लिच्छवियों के साथ उनका वैवाहिक सम्बन्ध था।

**श्री गुप्त तथा घटोत्कच**—गुप्त वंश के प्रारम्भिक इतिहास का बहुत कम ज्ञान प्राप्त है। कहा जाता है कि गुप्त वंश का संस्थापक श्री गुप्त था जिसे महाराजा की उपाधि प्राप्त था। श्री गुप्त के पुत्र घटोत्कच को भी महाराज की ही उपाधि प्राप्त थी। इस युग में महाराज की उपाधि सामन्तों तथा प्रान्तीय गवर्नरों को दी जाती थी। इससे प्रतीत होता है कि यह दोनों स्वतन्त्र राजा नहीं थे वरन् किसी अन्य राजा के सामन्त थे। परन्तु डा० रमेश चन्द्र मजूमदार इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि लिच्छवि, भारशिव, वाकाटक आदि स्वतन्त्र राजा भी महाराजा की उपाधि लेते थे। इसके अतिरिक्त यह नहीं ज्ञात है कि श्री गुप्त तथा घटोत्कच किस सम्राट के सामन्त थे। अतएव यह निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता कि प्रथम दो गुप्त शासक स्वतन्त्र थे अथवा किसी की अधीनता में शासन करते थे। कुछ विद्वानों के विचार में श्री गुप्त वही था जिसका उल्लेख चीनी यात्री इत्सिंग ने किया था। इत्सिंग सातवीं शताब्दी के

अन्त में भारत में आया था। उसने अपनी यात्रा के विवरण में लिखा है कि महारा
श्री गुप्त ने लगभग ५०० वर्ष पूर्व चीन के तीर्थ यात्रियों के लिये मगध
में एक मन्दिर बनवा कर उसके खर्च के लिये २४ गाँव दान में दिये थे। श्री गुप्त
राज्य-काल सम्भवतः २७५-३०१ ई० तक था। श्री गुप्त के पुत्र घटोत्कच के काल और
नाओं का कुछ पता नहीं चलता है।

**चन्द्रगुप्त प्रथम**—चन्द्रगुप्त प्रथम गुप्त-वंश का प्रथम महाशक्तिशाली सम्राट था
उसने महाराजाधिराज की उपाधि ली थी जिससे प्रकट होता है कि वह स्वतन्त्र शा
करता था और किसी का अधिराज नहीं था। अतएव गुप्त-वंश का पहिला स्वतन्त्र शा
वही था। चन्द्रगुप्त प्रथम ने मगध पर अपनी सत्ता किस प्रकार स्थापित की इसका
*प्रो० आर० डी० बनर्जी ने इस प्रकार किया है। इस समय मगध में कुषाण क्षत्रपों*
राज्य था। इस विदेशी शासन के प्रति यहाँ की जनता में घृणा उत्पन्न हो गई थी
राष्ट्रीयता की भावना का विकास हो रहा था। अन्त में प्रजा ने चन्द्रगुप्त प्रथम के ने
में विद्रोह कर दिया और सिथियनों के क्षत्रप राज्य का अन्त कर दिया। इस प्रकार
शताब्दियों की घोर निद्रा के उपरान्त मगध के पुनरुत्थान का श्रेय चन्द्रगुप्त प्रथम को
प्राप्त है। डा० फ्लीट के विचार में यह स्वतन्त्रता का युद्ध ३२० ई० में लड़ा गया था
चन्द्रगुप्त का राज्य-काल इसी तिथि से आरम्भ होता है।

चन्द्रगुप्त प्रथम ने वैशाली के लिच्छवि वंश से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित
अपने प्रभुत्व को बहुत बढ़ा लिया था। उसने लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी के
अपना विवाह कर लिया था। इस विवाह का बहुत बड़ा सामाजिक तथा राज
महत्व दिया जाता है। चन्द्रगुप्त की मुद्राओं के अग्र भाग पर उसकी तथा उ
पत्नी कुमारदेवी की मूर्ति अंकित है और दूसरी ओर पृष्ठ भाग पर लिच्छवयः
लक्ष्मी का मूर्ति अंकित है जिसका तात्पर्य सम्भवतः यह है कि चन्द्रगुप्त का अभि
लिच्छवि वंश के साथ सम्बन्ध करने के कारण हुई थी। डा० स्मिथ का
है कि लिच्छवि लोग कुषाणों के सामन्त के रूप में पाटलिपुत्र में शासन करते थे
इस वैवाहिक सम्बन्ध के फल स्वरूप पाटलिपुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम को प्राप्त हो
था। परन्तु एलन का कहना है कि पाटलिपुत्र पर गुप्त-वंश की सत्ता श्री गुप्त
समय में स्थापित हो गई थी। चीनी यात्री इत्सिंग के लेख से स्पष्ट है कि मह
गुप्त के समय में ही पाटलिपुत्र गुप्तों के अधिकार में था। इस बात का भी कोई प्र
नहीं है कि वैशाली पर चन्द्रगुप्त प्रथम की सत्ता थी। एलन के विचार में इस वैवा
सम्बन्ध का सामाजिक महत्व था। प्राचीन उच्च क्षत्रिय कुल से वैवाहिक सम्बन्ध स्था
करके यह लोग अपने को बड़ा भाग्यशाली समझते थे और यह उनके लिये बड़े
की बात थी कि बुद्ध देव के समय से विख्यात लिच्छवि वंश की कन्या उनके यहाँ आ
थी। जैन धर्म प्रवर्तक महावीर स्वामी भी इसी वंश में उत्पन्न हुये थे। अतएव इस वैवा
सम्बन्ध का सामाजिक महत्व बहुत बड़ा था। परन्तु डा० रमेशचन्द्र मजूमदार इस म
सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि मानव धर्म शास्त्र से हम पता चलता है कि लिच
व्रात्य क्षत्रिय थे जिनको धार्मिक [illegible] भ्रष्ट होने के कारण समाज में [illegible]
आदर नहीं था। अतएव इस वैवाहिक सम्बन्ध का सामाजिक दृष्टिकोण से उतना
महत्व नहीं था *जितना राजनैतिक दृष्टिकोण से था। प्रो० आर० डी० बनर्जी के विचा*
इस वैवाहिक सम्बन्ध के कारण चन्द्रगुप्त प्रथम को मगध से कुषाणों की सत्ता सम
करने में बड़ा [illegible] मिला। [illegible] के विचार में वह मुद्रायें जिन पर चन्द्रगुप्त प्र
तथा कुमारदेवी के चित्र अंकित हैं समुद्रगुप्त द्वारा अपने माता पिता के विवाह की स्म
में बनवाई गई थीं। परन्तु डा० [illegible] तथा डा० [illegible] ने इस मत का खं
किया है। डा० [illegible] के विचार में कुमारदेवी अपने स्वत्व के अधिकार से रानी

र स्थान में लगभग २५ मील उत्तर-पूर्व की ओर था। तीसरा राजा जिस पर समुद्र-
ने विजय का था कोट वंश का था। कोट वंश के राजाओं की मुद्रायें पूर्वी पंजाब
में मिली हैं। यह लोग सम्भवतः गंगा की घाटी के ऊपरी भाग में रहते थे।

समुद्रगुप्त ने विजय प्राप्त की थी गणपति नाग था जो सम्भवतः मथुरा का नागवंश
राजा था। परन्तु डा० भण्डारकर उसे विदिशा का राजा मानते हैं। चूँकि डा०
केर को मथुरा में गणपति नाग की विदिशा से कहीं अधिक मुद्रायें प्राप्त हुई हैं अत-
उसके मथुरा में शासन करने की अधिक सम्भावना है। पाँचवा राजा जिस पर समुद्र-
ने विजय प्राप्त की थी चन्द्रवर्मन था। यह सम्भवतः वही चन्द्रवर्मन था जिसके अभि-
बंगाल के बंकुर जिले के सुसुनिया नामक स्थान में मिलते हैं। छठाँ राजा जिसे
द्रगुप्त ने पराजित किया रुद्रदेव था। यह सम्भवतः वाकाटक वंश का रुद्रसेन प्रथम
। आठवाँ राजा मतिल था जो सम्भवतः मत्तिल था जिसकी एक सुन्दर बुलन्दशहर में
नाग वंश
मत्तिल कर
और बङ्गाल

अटवी राज्य पर विजय—उत्तरी भारत के राज्यों पर विजय प्राप्त करने के
अन्त समुद्रगुप्त ने अटवी के राजाओं पर विजय प्राप्त की। प्रयाग के स्तम्भ लेख से
पता चलता है कि समुद्रगुप्त ने इन राजाओं को अपना भृत्य बना लिया था। अभिलेखों
से पता चलता है कि जबलपुर तथा छोटा नागपुर के आस पास १८ अटवी राज्य थे।
प्रदेश पहाड़ी था और जङ्गलों से भरा पड़ा था। इस पहाड़ी प्रदेश पर विजय प्राप्त
होने से समुद्रगुप्त को दक्षिणी भारत के जीतने में सुविधा अवश्य हुई होगी।

द समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के राज्यों पर
है कि समुद्रगुप्त ने दक्षिण के १२ राज्यों
विजय प्राप्त की थी परन्तु उसने इन राज्यों को अपने साम्राज्य में नहीं मिलाया।
ने इन राज्यों के साथ बड़ी उदारतापूर्ण व्यवहार किया और उसने उनके राज्य लौटा
दिये। परन्तु इन राज्यों ने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर ली। संभवतः दक्षिण

है। पाँचवा राजा जिसे समुद्रगुप्त ने परास्त किया कोट्टर का स्वामिदत्त था। कोट्टर संभवतः गन्जाम जिले में था। छठाँ पराजित राजा दमन था जो एरण्डपल्ली करता था। एरण्डपल्ली का उल्लेख कलिंग राजाओं के अभिलेखों में भी मिलता है। सम्भवतः यह विजगापट्टम जिले में था। कुछ विद्वानों के विचार में यह गन्जाम जिले में था। सातवाँ राजा जिसे समुद्रगुप्त ने दक्षिण में परास्त किया था काँची का विष्णुगोप था। काँची वास्तव में कोञ्जीवरम् है जो मद्रास के चिंगलेपुट जिले में है। विष्णुगोप पल्लव वंश का राजा था। आठवाँ राजा जिस पर समुद्रगुप्त ने विजय प्राप्त की अवमुक्त का नीलराज था। अवमुक्त का ठीक-ठीक पता नहीं लग पाया है। हथिगुम्फा अभिलेख से पता चलता है कि गोदावरी के निकट पिथुन्ड नाम देश अथवा जाति की राजधानी थी। समुद्रगुप्त द्वारा विजित नवाँ राजा वेंगी का हस्तिवर्मन था। हस्तिवर्मन निश्चय ही सालंकायन वंश का राजा था जिसका अभिलेख पद्वेंगी में मिला है जो एल्लोरा में है। दसवां राजा जिस पर समुद्रगुप्त ने विजय प्राप्त की थी पालक्क का उग्रसेन था। पालक्क सम्भवतः पलक्कद् का रूपान्तर है जो पल्लव सामन्तों की राजधानी थी और सम्भवतः नेलौर में स्थित था। ग्यारहवाँ राजा जिस पर समुद्रगुप्त ने दक्षिण में विजय प्राप्त की देवराष्ट्र का कुबेर था। देवराष्ट्र का उल्लेख कलिंग राजाओं के अभिलेखों में भी मिलता है। इससे अनुमान लगाया गया है कि यह विजगापट्टम के जिले में स्थित रहा होगा। दक्षिण का बारहवाँ राजा जिस पर समुद्रगुप्त ने विजय प्राप्त की धनञ्जय था जो कुस्थलपुर का शासक था। कुस्थलपुर सम्भवतः उत्तरी अर्काट में था।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपनी दक्षिण भारत की विजय के लिए समुद्रगुप्त मध्य प्रान्त के पूर्वी तथा दक्षिणी भाग से उड़ीसा की ओर चला था। उड़ीसा से समुद्र के तट से वह दक्षिण के पल्लव राज्य तक गया था जिसकी राजधानी काँची थी। परन्तु प्रो० जोव डुब्रेल (j uvea Dubreuil) के मतानुसार समुद्रगुप्त इतनी दूर तक नहीं पहुँचा था। दक्षिण के राजाओं ने काँची के राजा विष्णुगोप की अध्यक्षता में समुद्रगुप्त को परास्त कर दिया था। परन्तु इस मत का अनुमोदन बहुत कम विद्वानों ने किया है। अन्य विद्वानों के विचार में समुद्रगुप्त दक्षिण में चेर राज्य तक गया था और महाराष्ट्र तथा खानदेश होता हुआ लौटा था।

**सीमान्त प्रदेश पर विजय**—समुद्रगुप्त की विजय का प्रभाव सीमान्त प्रदेश तथा गणराज्यों पर भी पड़ा। इसमें कुछ ने युद्ध करने के उपरान्त और कुछ ने बिना युद्ध किये ही समुद्रगुप्त के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। यह राज्य समुद्रगुप्त को कर देते थे और उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे। अभिलेखों में पाँच सीमान्त राज्यों का उल्लेख किया गया है। यह सीमान्त राज्य भारत के उत्तर तथा पूर्व में स्थित थे। पहिला सीमान्त राज्य समतट का था। इसके अन्तर्गत दक्षिण पूर्व में बंगाल था। इसकी राजधानी कर्मान्त थी। दूसरे सीमान्त राज्य का नाम दवाक था। यह सम्भवतः आसाम के नौगांव जिले में स्थित था। कुछ विद्वान् दवाक को ढाका का रूपान्तर मानते हैं और चिटगाँव तथा त्रिपुरा के पर्वतीय प्रदेश इसके अन्तर्गत रखते हैं। डा० स्मिथ के विचार में आधुनिक बोगरा दिनाजपुर तथा राजशाही के जिले इसके अन्दर आते हैं। तीसरा सीमान्त राज्य कामरूप का था जो आजकल आसाम कहलाता है। चौथा राज्य नेपाल का और पाँचवाँ कर्तृपुर का था। कुछ विद्वानों के विचार में कर्तृपुर के अन्तर्गत, गढ़वाल तथा रुहेलखण्ड थे। कुछ विद्वान् इसे जलन्धर जिले का करतारपुर मानते हैं। अन्य विद्वान इसे मुल्तान तथा लहना के बीच का करोर मानते हैं। उपरोक्त पाँचों राज्यों पर समुद्रगुप्त ने विजय प्राप्त कर ली थी। इन राज्यों के राजा समुद्रगुप्त के सामने उपस्थित हुये और भेंट प्रदान की और उसके आधिपत्य को स्वीकार किया।

**गण-राज्य पर विजय**—गुप्त साम्राज्य के पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम बहुत
ऐसी जातियाँ निवास करती थीं जिनमें प्रजातन्त्र सरकार की व्यवस्था थी। यह राज्य
गण कहलाते थे। इन जातियों ने बिना युद्ध किये ही समुद्रगुप्त के प्रभाव से आतंकित हो
उसकी आधीनता स्वीकार कर ली। जिन गण-राज्यों ने अपने आप समुद्रगुप्त की आधीनता
स्वीकार की उनकी संख्या ९ थी। यह राज्य पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम में स्थित थे।
पहला जातीय राज्य जिसने स्वत: समुद्रगुप्त की आधीनता तथा कर देना स्वीकार किया
मालवों का राज्य था। मालव लोग पहिले पंजाब में रहते थे और सिकन्दर के आक्रमण के
समय रावी नदी के तट पर यूनानियों से लोहा लिया था। कालान्तर में वे दक्षिण पश्चिम

में रहते थे। पाँचवाँ राज्य आभीरों का था। इनका राज्य मध्य भारत में पार्वती तथा बेतवा
नदियों के बीच में स्थित था। इनकी शाखायें पश्चिमी राजपूताना तथा महाराष्ट्र में भी शासन
करती थीं। परन्तु जिस शाखा का प्रयाग के स्तम्भ लेख में संकेत है वह मध्य भारत की
थी जो भिलसा तथा झाँसी के बीच के भाग पर शासन करती थी। छठाँ राज्य प्रार्जुनों
का था। आभीरों तथा प्रार्जुनों के गण राज्य थे। प्रार्जुनों के राज्य की स्थिति का ठीक-ठीक
पता नहीं चल पाया है। यह लोग सम्भवतः मध्य प्रान्त के नरसिंहपुर अथवा नरसिंह-गढ़
नामक स्थान पर रहते थे। सातवाँ राज्य सनकानिकों का था। यह लोग भिलसा के आस
पास निवास करते थे। आठवाँ राज्य काक लोगों का था। यह लोग सम्भवत: सनकानिकों
के पड़ोसी थे और भिलसा के आस-पास ही शासन करते थे। काकपुर गाँव जो भिलसा के
लगभग २० मी। उत्तर है प्राचीन काल में सम्भवत: काकों का प्रधान स्थान था। नवाँ
राज्य खर्परिकों का था। यह लोग सम्भवत: मध्य प्रान्त के दमोह जिले में रहते थे।
उपरोक्त नौ राज्यों ने बिना युद्ध किये ही समुद्रगुप्त की आधीनता स्वीकार कर ली और उसे
कर देना प्रारम्भ कर दिया।

**विदेशों से सम्बन्ध**—समुद्रगुप्त की इन विजयों का प्रभाव विदेशी राज्यों पर
भी पड़ा। उसकी कीर्ति तथा उसका यश विदेशों में फैल गया और विदेशी राजा उसकी
मैत्री

। चीनी अनुश्रुतियों से हमें ज्ञात होता है
था दो बौद्ध भिक्षुओं को बोध-
में कोई सुविधा न मिली। अतएव
को कह सुनाया। इस पर
समुद्रगुप्त के पास भेजा
चाल बौद्ध यात्रियों के
ने मेघवर्ण का इस
मठ बनवाया
रत्न-जटित सुवर्ण
में बुद्ध विग्रह

[illegible]

इन उपाधियों को धारण कर चुके थे। तीसरी शताब्दी ई० में कुषाण साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था और कनिष्क के वंशज अब भी पंजाब तथा अफगानिस्तान में शासन करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि पंजाब में शासन करने वाले कुषाण देवपुत्र कहलाते थे और अफगानिस्तान में शासन करने वाले कुषाण शाही अथवा शाहानुशाही की उपाधि धारण करते थे। यह कुषाण राज्य सम्भवतः उस राज्य के अधीन थे जिसे पुराणों में [illegible] राज्य कहा गया है और जो अफगानिस्तान तथा काश्मीर तक फैला था। ये मुरुण्ड कौन थे? इस पर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् शक तथा मुरुण्ड को अलग नहीं मानते। इनके विचार में मुरुण्ड शक राजाओं की उपाधि थी परन्तु अन्य विद्वान् शक तथा मुरुण्ड को दो अलग राज्य मानते हैं। शक जाति के क्षत्रप गुजरात तथा सुराष्ट्र में शासन करते थे। पुराणों में मुरुण्ड को म्लेच्छ वंश का बतलाया गया है। दूसरी तथा तीसरी शताब्दी में मुरुण्डों का राज्य कहीं गंगा के आस-पास था। इन सबों ने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार की।

**समुद्र गुप्त की दिग्विजय सम्बन्धी नीति**—समुद्र गुप्त की दिग्विजय का वर्णन कर देने के उपरान्त उसकी विजय नीति पर एक विहंगम दृष्टि डाल देना आवश्यक है। प्रयाग की प्रशस्ति में उसकी विजय नीति का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

(१) राज्य-ग्रहण मोक्षानुग्रह—इसका तात्पर्य है राजाओं को जीत कर अनुग्रह पूर्वक उन्हें पुनः राज्याधिकार देना। इस नीति का अनुसरण समुद्र गुप्त ने दक्षिणापथ के राज्यों के साथ किया था।

(२) राज्य प्रसभोद्धरण—इसका तात्पर्य है बल-पूर्वक राज्यों को साम्राज्य में मिलाना। समुद्र गुप्त ने इस नीति का प्रयोग आर्यावर्त के राज्यों के साथ किया था।

(३) परिचारकी कृत—इसका अर्थ है सेवक बनाना। इस नीति का अनुसरण समुद्र गुप्त ने मध्य-भारत के आटविक राजाओं के साथ किया था।

(४) करदानाज्ञाकरण प्रणामागमन—इसका अर्थ है कर देना, आज्ञा-पालन, प्रणाम तथा आगमन। सीमा पर स्थित राजाओं तथा गण-राज्यों के साथ इस नीति का व्यवहार हुआ था।

(५) भ्रष्ट राज्योत्सन्न राज्य वंश प्रतिष्ठा—इसका तात्पर्य है नष्ट राज्यों की पुनः स्थापना करना। इस नीति का प्रयोग दक्षिणापथ के राज्यों के साथ किया गया था।

(६) प्रत्यर्पण—इसका तात्पर्य है विजित राजाओं के छीने हुये धन को लौटा देना। इस नीति का भी प्रयोग दक्षिणापथ राज्य के साथ हुआ था।

(७) आत्मनिवेदन कन्योपायदान गरुत्मदंक स्वविषय भुक्ति-शासन-याचना—इसका तात्पर्य है आत्म समर्पण, कन्याओं का विवाह तथा अपने विषय और भुक्ति के शासन के निमित्त गरुड़ की मुद्रा से अङ्कित आज्ञा-पत्र की याचना करना। इस नीति का अनुसरण विदेशी राजाओं के साथ किया गया था।

(८) निष्कर्ष—उपरोक्त व्यवहृत नीतियों का अध्ययन करने से समुद्रगुप्त की नीति निपुणता तथा उसकी राज-नीतिज्ञता का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। यह एक बड़ा ही

ही राजनीतिज्ञ था और इस बात का उसे पूर्ण ज्ञान था कि राज्य को किस प्रकार सुदृढ़ प्रदान किया जा सकता है। उसने अपने विशाल साम्राज्य की नींव ऐसी सुदृढ़ डाली कि उसमें प्रचण्ड राजनैतिक आँधियों का सामना करने की क्षमता आ गई थी। महान् तथ्य का अनुभव समुद्रगुप्त ने कर लिया था कि सम्पूर्ण भारत को अपने प्रत्यक्ष शासन में लाना असम्भव तथा साम्राज्य को दुर्बल बनाता था।

**साम्राज्य विस्तार**—समुद्रगुप्त को अपने पिता से जो थोड़ा सा मगध का राज्य ... वृद्धि की। ऊपर बतलाया जा चुका है ... साम्राज्य में मिला लिया था। इस ... से पश्चिम में यमुना तथा चम्बल ... और उत्तर में हिमालय की तलहटी से दक्षिण में नर्मदा नदी तक फैला था। इस विशाल साम्राज्य का शासन समुद्रगुप्त अपने पदाधिकारियों की सहायता से करता था। राज्य के उत्तर पूर्व में पाँच आश्रित राज्य थे जो समुद्रगुप्त की प्रधानता स्वीकार किए और उसे कर देते थे। साम्राज्य के पश्चिम में भी जातीय तथा गण राज्य थे जो समुद्रगुप्त की आज्ञा से शासन करते थे और उसे कर देते थे। समुद्रगुप्त के साम्राज्य के दक्षिण ... बारह राज्य थे जिन पर उसने विजय प्राप्त की थी परन्तु आधीनता स्वीकार कर लेने पर स्वतन्त्र कर दिया था। समुद्रगुप्त के आश्रित राज्यों में पश्चिम तथा उत्तर-पश्चिम में शकों तथा कुषाणों के छोटे-छोटे राज्य तथा दक्षिण में सिंहलद्वीप तथा अन्य द्वीप थे। चाहे इन राज्यों ने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार न की हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे उसकी प्रधानता को मानते थे और उसके कृपाकांक्षी थे।

**अश्वमेध**—समुद्रगुप्त एक महान् विजेता था। अपनी विजय के उपलक्ष में उसने एक अश्वमेध यज्ञ किया। इस यज्ञ में दान तथा दक्षिणा देने के लिये उसने स्वर्ण के मुद्रक बनवाये थे। इन मुद्राओं में एक ओर यज्ञ स्तम्भ में बंधे हुए घोड़े की मूर्ति और दूसरी ओर चंवर लिये प्रधान महिषी की मूर्ति अंकित था और उन पर अश्वमेध पराक्रम लिखा था। वह असंख्य सुवर्ण तथा गौवों को दान देता था।

**शासन व्यवस्था**—अपने विशाल साम्राज्य के समुचित शासन की भी व्यवस्था समुद्रगुप्त ने की था। उसने एक सुदृढ़ तथा सुसंगठित केन्द्रीय सरकार की स्थापना की। यह केन्द्रीय शासन इतना शक्तिशाली तथा सुव्यवस्थित था कि उसके अधीनस्थ राज्यों को विद्रोह करने का भी साहस न होता था। समुद्रगुप्त की अपार शक्ति से भयभीत होकर उसके अधीनस्थ राज्यों ने परस्पर किसी प्रकार का संघर्ष नहीं किया और सब शान्ति तथा सहयोग से रहते थे। समुद्रगुप्त ने अपनी शासन व्यवस्था का पुनर्निर्माण तथा संगठन किया था। उसने पदाधिकारियों के सिथिवन नामों तथा पदों को बदल दिया। उसने नूतन प्रकार के पदों तथा श्रेणियों को स्थापित किया और पदाधिकारियों को नये नये नाम तथा अधिकार दिये। उसकी शासन व्यवस्था माय शासन व्यवस्था से भी बहुत कुछ भिन्न थी। मुद्राओं में भी समुद्रगुप्त ने बहुत कुछ परिवर्तन किये थे। कुषाणों के समय में शुद्ध धातुओं की मुद्रायें नहीं चलती थे परन्तु समुद्रगुप्त ने शुद्ध स्वर्ण की मुद्राओं तथा उत्तम ताम्र मुद्राओं की व्यवस्था की थी। स्मृति मुद्राओं तथा दान-मुद्राओं को उसने नई रीति आरम्भ की थी जो उसके पहिले किसी अन्य सम्राट ने नहीं किया था। एलन के कथनानुसार समुद्रगुप्त ने अपने पिता तथा कच की स्मृति में मुद्रायें बनवाई थीं। अश्वमेध-यज्ञ के अवसर पर वितरण के लिये उसने नये प्रकार की मुद्रायें बनवाई थीं।

**समुद्रगुप्त का चरित्र**—समुद्रगुप्त का नाम भारत के सम्राटों में अग्रगण्य है।

## चौथी शताब्दी ई० का भारत
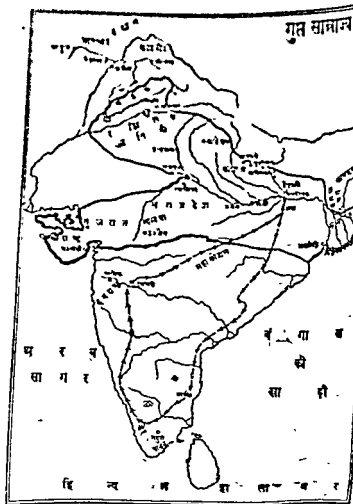
समुद्रगुप्त का साम्राज्य हुगली से यमुना तथा चम्बल तक हिमालय से नर्मदा नदी तक फैला था। उत्तर राजस्थान में गणतन्त्र जातियाँ थीं। चौथी शताब्दी के अन्तिम भाग में पश्चिमी क्षत्रप भी गुप्त साम्राज्य में आ गया।

नकी प्रतिभा बहुमुखी थी। वह बड़ा ही वीर, साहसी, पराक्रमी, बलवान्, शस्त्रशास्त्रानु-
ना, सत तज्ञ, काव्य-कोविद, दयालु सहिष्णु, उदार, धीर तथा प्रजापालक था। अभि-
खों तथा मुद्राओं में उस आय, अप्रतिरथ, अचिन्त्य पुरुष, सुक्ष्ममनः, सुचरित, कविराज,
धन्याम् अप्रतिरथ, पराक्रमाङ्क, अप्रतिरथ, कृतान्त परशु, सब राजोच्छेत्ता, व्याघ्रपराक्रम,
श्वमेधपराक्रम, अप्रति ‑रथ आदि, समरशतवितत विजय, जितारिपु, आजितराजजित,
‑, महाराजाधिराज श्री आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है। यह
उपाधियाँ उसके चरित्र पर बहुत बड़ा प्रकाश डालती हैं। उसके भिन्न-भिन्न गुणों की
अलग अलग व्याख्या करना अधिक उत्तम होगा।

महान् विजेता—समुद्रगुप्त एक महान् विजेता था। यद्यपि उसे अपने पिता से
एक छोटा राज्य प्राप्त हुआ था परन्तु अपने बाहु-बल से उसने उसे एक विशाल साम्राज्य
में परिवर्तित कर दिया। उसने सम्पूर्ण भारत में अपनी विजय प्राप्त करके एक-छत्र साम्राज्य
की स्थापना की। उसने न केवल सम्पूर्ण भारत में अपनी सत्ता तथा अपने प्रभाव को
स्थापित किया वरन् भारत के बाहर के राजाओं ने भी उसकी प्रभुता को माना और
दैन्यभाव से उसकी सेवा की आकांक्षा की। डा० स्मिथ ने समुद्रगुप्त को भारतीय नैपोलियन
की उपाधि दी है क्योंकि प्रयाग के स्तम्भ लेख के अनुसार समुद्रगुप्त ने सैकड़ों युद्धों में
जय प्राप्त की थी। परन्तु समुद्रगुप्त को अपनी विजय यात्रा में नैपोलियन की भाँति
फलाइ अथवा वाटरलू का अनुभव नहीं करना पड़ा था और न मास्को की दुर्घटना ही
सहन करनी पड़ी थी। अपनी विजय-यात्रा में उसने सर्वत्र विजय-लक्ष्मी का आलिंगन
किया पराजय का नहीं। अपनी रण-पटुता के बल से ही समुद्रगुप्त ने एक विशाल साम्राज्य
की स्थापना की थी। समुद्रगुप्त की विजयों का एक बहुत बड़ा विशेषता यह थी कि कोरी
विजय अथवा साम्राज्य विस्तार की ही भावना से प्रेरित होकर उसने दिग्विजय नहीं
आरम्भ की थी वरन् दिग्विजयों के साथ-साथ वह धर्म विजयी भी था। देश में राजनैतिक
एकता तथा शान्ति स्थापित करने की भावना से प्रेरित होकर उसने छोटे-छोटे राज्यों के
अस्तित्व के समाप्त करने का निश्चय किया था। उसने अपनी सम्पूर्ण सैनिक शक्ति को
देश में एकता स्थापित करने के रचनात्मक कार्य में लगा दिया। सीमान्त प्रदेशों के जिन
पड़ोसी राज्यों ने शान्ति रखने तथा उसके आधिपत्य को स्वीकार करने का वचन दिया
उनके साथ उसने बड़ी उदारता का व्यवहार किया। एक विजेता के रूप में समुद्रगुप्त
की प्रशंसा करते हुये डा० राधा कुमुद मुकर्जी ने लिखा है, "हिंसा, युद्ध तथा आक्रमण को
हटा कर भ्रातृत्व तथा शान्ति का अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के स्थापित करने का उसने प्रयास
किया था।" जब कभी इस धर्म विजयी सम्राट ने किसी राज्य का उन्मूलन किया तो
उसका लक्ष्य वहाँ पर फिर से धर्म तथा शान्ति का राज्य स्थापित करना था। एक
शिलालेख में "अनेक भ्रष्ट राज्य उत्सन्न राजवंश प्रतिष्ठापन" शब्द अङ्कित मिलते हैं
[illegible]

[illegible] प्राप्त की थी यह सब अपने व्यक्तिगत नेतृत्व तथा रण-स्थल में सैनिकों की मंगल [illegible]
में युद्ध करके प्राप्त की थी क्योंकि अभिलेखों में समरेषु स्व-भुज विजितः, शब्द [illegible]
प्रयोग मिलता है। वह अत्यन्त निर्भीकता के साथ युद्ध करता था और एक बाघ की भाँ[illegible]
अपने शत्रु पर टूट पड़ता था। इसी से उसे 'व्याघ्रपराक्रम', की उपाधि प्राप्त थी। [illegible]
'समरशत' अर्थात् सौ युद्धों का विजेता था। परशु, शर, शङ्कु, शक्ति, प्रास, असि[illegible]
तोमर, भिन्दिपाल, नाराच, वैतस्तिक आदि विभिन्न प्रकार के अस्त्रों से उसके शरीर [illegible]

अलौकिक व्यक्तित्व—समुद्रगुप्त के विभिन्न कार्यों पर एक विहंगम दृष्टि पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह साधारण मनुष्य न था वरन् उसे दैवी याँ प्राप्त थीं। इसी से उसे अमनुज, अचिन्त्यपुरुष आदि कहा गया है जो 'लोक क्रियानुविधान मात्र मानुष'? अर्थात् लोक तथा समय के अनुकूल कार्य करने के ही मनुष्य का स्वरूप धारण किये था अन्यथा वह धन में कुबेर के समान, न्याय में के समान, शक्ति में इन्द्र के समान, अन्तक अथवा यम के समान अजेय, बृहस्पति मान निशितविदग्धमतिः (प्रखर बुद्धि का) तथा साधु के लिये उदय (आशा) और के लिये प्रलय था।

महान् साहित्यानुरागी—समुद्रगुप्त न केवल बाहुबल तथा साहस में अद्वितीय वरन् उसमें अपूर्व मानसिक गुण भी थे। वह बड़ा ही प्रतिभाशाली व्यक्ति था। उसके हरिषेण ने प्रयाग की प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की प्रशंसा में लिखा है, "संगीत कला में नारद तथा तुम्बुरु को भी लज्जित कर दिया था। अनेक काव्यों को लिख कर उसने राज की उपाधि प्राप्त की थी।" "वही विद्वानों के मनन करने योग्य है। उसी की शैली अध्ययन करने योग्य है और उसी को काव्य रचनायें कवियों के आध्यात्मिक में अभिवृद्धि करती हैं।" परन्तु दुर्भाग्य से वह रचनायें लुप्त हो गई हैं। समुद्रगुप्त

गुप्त को भारतीय नेपोलियन की उपाधि से विभूषित किया है। जिस प्रकार नेपोलियन एक महान् योद्धा तथा विजेता था और अपने बाहु-बल तथा रण-कौशल से सम्पूर्ण यूरोप को प्रकम्पित कर दिया था उसी प्रकार समुद्रगुप्त ने भी अपने अलौकिक पराक्रम से सम्पूर्ण भारत को नत मस्तक कर दिया था। समुद्रगुप्त ने सबसे पहिले आर्यावर्त के उसके पड़ोसी राज्यों के संघ को ध्वस्त किया। उसने आर्यावर्त के नौ राज्यों पर पूर्ण विजय प्राप्त की थी। आर्यावर्त के राज्यों पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त समुद्रगुप्त ने विन्ध्य पर्वत के आस-पास के जंगली राज्यों को पराजित कर उन्हें अपना सेवक बना लिया। आर्यावर्त तथा मध्य भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने के बाद समुद्र गुप्त ने दक्षिणापथ पर आक्रमण कर दिया। यद्यपि दक्षिणापथ के राज्यों पर भी समुद्रगुप्त ने विजय प्राप्त की परन्तु उसने धर्म-विजयी की नीति का अनुसरण किया और अनुग्रह पूर्वक उनके राज्यों को लौटा दिया। इन राज्यों ने उसके अधिकार को स्वीकार कर लिया और उपहार देकर उसे सन्तुष्ट किया। समुद्रगुप्त की इन विजयों ने सामन्त राज्यों तथा गणों को आतंकित कर दिया और बिना लड़े ही इन राज्यों ने उसकी आधीनता स्वीकार कर ली और सभी प्रकार के व्यापक कर-दान, आज्ञापालन, आगमन आदि से समुद्रगुप्त को संतुष्ट किया। समुद्रगुप्त ने अपने प्रभुत्व को विदेशों में भी फैलाया। अनेकों विदेशी राजाओं ने उसकी सत्ता स्वीकार की और आत्म-समर्पण, कन्योपायन दान के साथ अपने देश में शासन के लिये गरुड़ चिह्न से अंकित समुद्रगुप्त का आज्ञा-पत्र प्राप्त किया।

समुद्रगुप्त की उपरोक्त विजयों से यह स्पष्ट हो जाता है कि नेपोलियन की भाँति वह भी एक महान् सेनानायक तथा विजेता था और उसे भारत का नेपोलियन कहना सर्वथा यथार्थ है। परन्तु समुद्रगुप्त नेपोलियन से कहीं अधिक महान् विजेता था क्योंकि समुद्रगुप्त को अपनी विजय-यात्रा में ट्राफलगर अथवा वाटरलू का अनुभव नहीं करना पड़ा था और न मास्को जैसी दुर्घटना के कटु-फल चखने पड़े थे। अपनी विजय यात्रा में उसने सर्वत्र जय लक्ष्मी का आलिंगन किया था पराजय का नहीं। इसके अतिरिक्त नेपोलियन का उसकी महत्वाकांक्षाओं के कारण निर्मम अन्त हुआ था परन्तु समुद्रगुप्त ने ५० वर्षों के दीर्घ कालीन शासन तक अपनी विजय के मधुर फलों को चखा था। इसके अतिरिक्त समुद्रगुप्त केवल दिग्विजयी ही न था वरन् वह धर्म-विजयी भी था अतएव उसे नेपोलियन से कहीं अधिक गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करना चाहिये।

**समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त मौर्य**—समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त मौर्य भारतीय इतिहास के गगनाङ्गण में सूर्य चन्द्रवत् देदीप्यमान हैं। दोनों ही महान् विजेता थे और राजनैतिक एकता के स्थापित करने का दोनों ने प्रयत्न किया था। दोनों वीर, साहसी तथा बलवान् योद्धा थे और दोनों ने भारत के अधिक से अधिक भाग पर विजय प्राप्त की थी। दोनों ने विदेशियों को जो भारत में शासन करते थे, अपनी सत्ता से प्रभावित किया था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने यूनानी सेनापति सिल्यूकस निकेटर को परास्त कर अपनी धाक जमाई थी और समुद्रगुप्त ने शकों तथा कुषाणों पर अपना आतंक जमाया था। दोनों ने एक सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित शासन की स्थापना की थी। दोनों ही राजनीति के पंडित थे और व्यावहारिक राजनीति में दक्ष थे। दोनों ही ने अपने उत्तराधिकारियों के लिये सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित राज्य छोड़े थे जिनका वैभव उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। मौर्य साम्राज्य अशोक के काल में उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गया और गुप्त साम्राज्य की चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समय में चूडान्त अभिवृद्धि हुई। परन्तु इतनी समानता होते हुए भी इन दोनों सम्राटों में पर्याप्त अन्तर भी था। चन्द्रगुप्त मौर्य एक नए राज्य का संस्थापक था परन्तु समुद्रगुप्त को यह श्रेय नहीं प्राप्त है। चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रारम्भिक जीवन कष्ट-

धर्म प्रचार में प्राप्त है वह समुद्रगुप्त को नहीं।। दोनों ही उसके करने में ... विभूतियाँ हैं और दोनों ही का भारत के मस्तक को उन्नत करने का श्रेय प्राप्त है।

**समुद्रगुप्त का इतिहास में स्थान**—समुद्रगुप्त को इतिहास में वही स्थान प्राप्त है जो सिकन्दर महान्, अकबर तथा नैपोलियन को प्राप्त है। परन्तु सिकन्दर, अकबर तथा नैपोलियन केवल विजेता के रूप में समुद्रगुप्त की तुलना कर सकते हैं। साहित्य तथा कला के क्षेत्र में उसकी प्रतिभा अद्वितीय थी। इन महान् विजेताओं में से किसी को कवि सम्राट् अथवा संगीताचार्य होने का श्रेय नहीं प्राप्त था। भारतीय इतिहास में कोई अन्य सम्राट् ऐसा नहीं था जिसकी प्रतिभा इतनी बहुमुखी रही हो जितनी समुद्रगुप्त की।

**समुद्रगुप्त का काल**—समुद्रगुप्त की जीवन लीला कब समाप्त हुई इसका ठीक ठीक पता नहीं मिलता। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसने दीर्घ-काल तक शासन किया था। अनुमानतः उसका शासन-काल ३३५-३८० तक रहा होगा।

**रामगुप्त**—समुद्रगुप्त के कई पुत्र थे। यद्यपि समुद्रगुप्त ने अपने पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था परन्तु समुद्रगुप्त के मरने पर उसका बड़ा पुत्र रामगुप्त राजसिंहासन पर बैठा। विशाखदत्त के एक नाटक से जिसके अवतरण उपलब्ध हुये हैं यह पता चलता है कि समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी रामगुप्त था। रामगुप्त की स्त्री का नाम ध्रुवदेवी अथवा ध्रुवस्वामिनी था। रामगुप्त बड़ा ही भीरु तथा कायर सम्राट् था। कहा जाता है कि रामगुप्त का शक सम्राट् के साथ संघर्ष हुआ था। इस युद्ध में शक ने रामगुप्त को घेर लिया। इस प्रकार रामगुप्त की प्रजा घोर आपत्ति में पड़ गई। अपनी प्रजा की रक्षा के लिये रामगुप्त ने अपनी रानी ध्रुवदेवी को शक राजा के यहाँ भेजना स्वीकार कर लिया। ध्रुवदेवी ने अपने भीरु पति का घोर विरोध किया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी अपने भाई के इस कार्य की निन्दा की और उसका विरोध किया। उसने साम्राज्य तथा मान-मर्यादा की रक्षा के लिये ध्रुवदेवी के वेश में जाकर शक राजा की हत्या करने का षड्यन्त्र रचा जिसमें उसे सफलता प्राप्त हुई। इस सफलता से चन्द्रगुप्त अपने राज्य की प्रजा तथा ध्रुवदेवी की आँखों में ऊँचा उठ गया। इस घटना के उपरान्त दोनों भाइयों में अनबन हो गई। रामगुप्त ने चन्द्रगुप्त के प्राण लेने के लिये षड्यन्त्र रचना आरम्भ किया। अतएव आत्म रक्षा के लिये चन्द्रगुप्त ने पागलपन का बहाना कर लिया और अवसर पाकर रामगुप्त की हत्या कर डाली और उसकी विधवा स्त्री से विवाह कर लिया और स्वयम् सम्राट् बन गया।

**चन्द्रगुप्त द्वितीय**—चन्द्रगुप्त द्वितीय अपने भाइयों में सबसे अधिक योग्य तथा प्रतिभाशाली था। इसी से समुद्रगुप्त ने उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था। उसकी माता का नाम दत्तदेवी था। वह ३७५ से ३८० ई० के मध्य में सिंहासनारूढ़ हुआ था और ४१३-४१४ ई० में पञ्चत्व को प्राप्त हुआ था। कुछ विद्वानों के विचार में समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय के बीच में कोई दूसरा शासक नहीं हुआ था परन्तु अन्य विद्वानों के विचार में समुद्रगुप्त के उपरान्त रामगुप्त सिंहासन पर बैठा था। सम्भवतः उसने कुछ ही महीने शासन किया था। उसके उपरान्त चन्द्रगुप्त ने उसकी हत्या कर दी। चन्द्रगुप्त द्वितीय नरेन्द्रचन्द्र, देवगुप्त, देवश्री, देवराज आदि नामों से भी पुकारा

सम्बन्ध—गुप्त-काल के सम्राटों की विदेशी नीति में राजवंशीय

विवाहों का बहुत बड़ा महत्व है। चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवि वंश के क्षत्रियों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपनी शक्ति बढ़ाई थी। वैवाहिक सम्बन्ध से विहार [illegible] जब समुद्रगुप्त ने अपनी विजय आरम्भ की तब उसने [illegible] अभिलेखों से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त को शक [illegible] प्राप्त होती थीं। अन्य राजाओं से भी समुद्रगुप्त को कन्याएं मिलती थीं। वैवाहिक सम्बन्धों से विजित प्रदेशों में अपनी सत्ता स्थापित करने तथा नये प्रदेशों पर विजय प्राप्त करने में समुद्रगुप्त को बड़ा योग मिला होगा। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी इस नीति का अनुसरण किया। उसने नागवंश की कन्या कुबेरनागा के साथ अपना विवाह किया था जिससे प्रभावती नामक कन्या उत्पन्न हुई थी। प्रभावती का विवाह चन्द्रगुप्त ने बरार के वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय के साथ कर दिया था। डा० स्मिथ ने इस वैवाहिक सम्बन्ध को बहुत बड़ा महत्व दिया है क्योंकि चन्द्रगुप्त को गुजरात तथा सौराष्ट्र के शक क्षत्रपों पर विजय प्राप्त करने में बड़ी सहायता मिली होगी। चन्द्रगुप्त ने अपने भाई रामगुप्त की विधवा ध्रुवदेवी अथवा ध्रुवस्वामिनी से भी विवाह किया था जिससे कुमारगुप्त प्रथम तथा गोविन्दगुप्त नामक [illegible] उपरान्त कुमारगुप्त सम्राट हुआ था। [illegible] साथ विवाह निश्चय ही न्याय संगत [illegible] युग तक विधवा विवाह प्रचलित थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पुत्र का विवाह बम्बई प्रान्त में स्थित कुन्तल के शक्तिशाली राजा काकुस्थ वर्मन की कन्या से किया था। इस विवाह का भी बहुत बड़ा राजनैतिक महत्त्व था।

**चन्द्रगुप्त द्वितीय की विजय**—चन्द्रगुप्त द्वितीय को सौभाग्य से साम्राज्य निर्माण नहीं करना पड़ा। उसके पराक्रमी पिता ने उसके लिये एक अत्यन्त विशाल तथा सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित साम्राज्य छोड़ा था। उसने आर्यावर्त के बहुत से राज्यों को अपने साम्राज्य में मिला लिया था और सीमांत प्रदेशों पर अपनी सत्ता स्थापित कर दी थी। उत्तर पश्चिम के राज्य भी उससे भयभीत रहते थे और उसकी मैत्री की आकांक्षा किया करते थे। फिर भी चन्द्रगुप्त द्वितीय को साम्राज्य विस्तार के लिये निम्नलिखित युद्ध करने पड़े:—

(१) गण राज्यों का विनाश—पश्चिमोत्तर भारत के कुषाण तथा अवन्ति के महाक्षत्रपों और गुप्त साम्राज्य के बीच उत्तर में मद्र-गण से लेकर दक्षिण में खरपरिक-गण तक छोटे छोटे गणों की एक पतली पंक्ति थी। यह स्वतन्त्रता के बड़े प्रेमी थे परन्तु इस समय यह ऐसी अवस्था में थे कि यह किसी संगठित विदेशी आक्रमण का सामना नहीं कर सकते थे। इस स्थिति से लाभ उठाकर चन्द्रगुप्त ने इन गण-राज्यों पर आक्रमण कर दिया और उन पर विजय प्राप्त करके उनके अस्तित्व को समाप्त कर दिया।

(२) अवन्ति के क्षत्रपों का अन्त—यद्यपि समुद्रगुप्त ने उत्तर पश्चिम के राज्यों को आतंकित कर दिया था [illegible] पश्चिम के क्षत्रप धराशायी [illegible] द्वितीय ने इन क्षत्रपों पर विज[illegible] लिये उसने एक विशाल सेना [illegible] क्षत्रपों पर विजय करने के लिये चल पड़ा। इस घटना का उल्लेख चन्द्रगुप्त के शान्ति तथा युद्ध के मन्त्री वीरसेन के गुहा-लेख में किया गया है। उस अभिलेख में लिखा है कि वीर

गया था परन्तु चन्द्रगुप्त ने अपने बाहु-बल से फिर वहाँ पर अपना अधिकार दृढ़ कर लिया था।

**राज्य-विस्तार**—चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में गुप्त साम्राज्य का विस्तार बहुत बढ़ गया था। उसका साम्राज्य उत्तर में हिमालय पर्वत से दक्षिण में नर्मदा नदी तक, पूर्व में बंगाल से पश्चिम में काठियावाड़ तक फैला हुआ था। इस विशाल साम्राज्य में बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश पंजाब का पूर्वी आधा भाग, मध्य भारत का समूचा भाग जिसमें मालवा, उत्तरी गुजरात तथा काठियावाड़ के समृद्धिशाली प्रान्त सम्मिलित थे, खम्बे, घोघ, वेरवल, पोरबन्दर तथा द्वारका के बन्दरगाह सम्मिलित थे।

**शासन प्रबन्ध**—चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने विशाल साम्राज्य के शासन की बड़ी सुन्दर व्यवस्था की थी। उसकी शासन-व्यवस्था की रूप-रेखा निम्न-लिखित ढङ्ग की थी।

**सम्राट तथा उसके सचिव**—अभिलेखों से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त बड़ा ही अच्छा तथा उदार शासक था। सम्राट् स्वयम् राज्य का प्रधान था और उसकी सहायता के लिये सचिव होते थे। सम्राट् का सबसे बड़ा परामर्शदाता मन्त्रिन् कहलाता था। एक मन्त्री शान्ति तथा युद्ध के लिये होता था जो 'सन्धि विग्रहीक' कहलाता था। यह मन्त्री सम्राट् के साथ युद्ध में उपस्थित रहता था। चन्द्र गुप्त का मन्त्री वीरसेन उसके साथ मालवा में उपस्थित था जब सम्राट् पश्चिम के क्षत्रपों के साथ युद्ध करने के लिये गया था। एक सचिव राज्य पत्रों को रखता था जिसे अक्षपटल अधिकृत कहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि सेना तथा शासन के अधिकारियों में अन्तर नहीं होता था और एक ही मन्त्री दोनों कार्यों को कर सकता था। यह निश्चय नहीं है कि सम्राट् को परामर्श देने के लिये कोई केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद् थी अथवा नहीं परन्तु स्थानीय परिषद् का उल्लेख प्राप्त हुआ है।

**शासन की विभिन्न इकाइयाँ**—सारा साम्राज्य कई प्रान्तों में विभक्त था। प्रत्येक प्रान्त देश अथवा भुक्ति कहलाता था। प्रत्येक देश के लिये एक शासक नियुक्त होता था जो गोप्त्री कहलाता था। प्रत्येक भुक्ति के लिये एक शासक होता था जो उपरिक कहलाता था। कुछ भुक्तियों के शासक राजकुमार हुआ करते थे। प्रत्येक देश अथवा भुक्ति कई प्रदेशों अथवा विषयों में विभक्त रहता था। प्रदेश अथवा विषय का शासक विषयपति कहलाता था। प्रायः राज्य के बड़े-बड़े पदाधिकारी कुमार, आमात्य, आयुक्तक, सम्राट् के अधीनस्थ महाराज आदि विषयपति के पद पर नियुक्त किये जाते थे। कुछ विषयपति सीधे सम्राट् की अधीनता में कार्य करते थे और कुछ प्रान्तों के गवनरों की अधीनता में कर दिये गये थे। देशों तथा प्रदेशों के शासकों की सहायता के लिये दण्डीक, चौरोद्धरणीक, दण्डपाशीक नगर श्रेष्ठी, सार्थवाह, प्रथम-कुलीक आदि अन्य कर्मचारी हुआ करते थे। प्रत्येक विषय अनेक ग्रामों में विभक्त था। गाँव का शासक ग्रामिक अथवा भोजक कहलाता था। इस पद पर गाँव के चौधरी अथवा मुखिया नियुक्त किये जाते थे। राज्य कर्मचारियों तथा सम्राट् के अङ्गरक्षकों को निश्चित वेतन प्राप्त होता था। किसानों से उपज का एक निश्चित भाग कर के रूप में लिया जाता था। प्रजा को पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। लोग बेरोक टोक एक स्थान से दूसरे स्थान को जाया करते थे।

**दण्ड-विधान**—दण्ड विधान भी बहुत कठोर नहीं था। अपराधियों को अपराध के अनुसार दण्ड दिया जाता था। साधारण अपराधों के लिये साधारण जुर्माना और बड़े अपराधों के लिये बड़े-बड़े जुर्माने होते थे। अङ्ग-भङ्ग का दण्ड नहीं दिया जाता था। केवल राज-द्रोहियों का दाहिना हाथ काट लिया जाता था। प्राण दण्ड की प्रथा इस समय नहीं थी।

खोतन से फाहियान अपने साथी के साथ मथुरा, कन्नौज, श्रावस्ती, रामग्राम, कुशीनगर, वैशाली, पाटलिपुत्र, नालन्दा, राजगृह, काशी, सारनाथ, चम्पा आदि नगरों का दर्शन करता हुआ ताम्रलिप्ति पहुँचा। यहाँ पर फाहियान ने दो वर्ष तक निवास किया। ताम्रलिप्ति से चौदह दिन की जल यात्रा कर वह सिंहलद्वीप पहुँचा। वहाँ से ९० दिन की यात्रा कर वह जावा पहुँचा। यहाँ पर वह पाँच महीने तक ठहरा रहा। फिर उसने सिङ्गान की ओर प्रस्थान कर दिया। रास्ते में तूफान आ जाने के कारण उसे घोर आपत्तियों का सामना करना पड़ा। तीन महीने के बाद वह चाङ्गक्वाङ्ग पहुँचा। वहाँ के राजा ने फाहियान का बड़ा स्वागत किया। वह अपने साथ फाहियान को सिङ्गचाव ले गया। वहाँ से वह नानकिङ्ग पहुँचा। स्वदेश पहुँच कर फाहियान ने अपनी यात्रा का पूरा समाचार अपने एक मित्र से कह सुनाया जिसे उसने लेखबद्ध कर लिया। नानकिङ्ग में फाहियान ने बुद्धभद्र नामक एक भारतीय पण्डित की सहायता से उन ग्रन्थों का अनुवाद करना आरम्भ किया जिन्हें वह भारतवर्ष से ले गया था। ८८ वर्ष की अवस्था में उसका परलोकवास हो गया।

**फाहियान का भारतीय विवरण**—फाहियान ४०५ से ४११ अर्थात् ६ वर्ष तक भारतवर्ष में रहा। यद्यपि वह तीर्थ स्थानों की यात्रा करने तथा बौद्ध ग्रन्थों के संकलन के लिये भारत आया था परन्तु उसके विवरण से तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दशा का भी पता चलता है।

**राजनैतिक दशा**—उसने लिखा है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का शासन बहुत अच्छा था। प्रजा बड़ी सुखी तथा धन सम्पन्न थी। राजा प्रजा के कार्यों में बहुत कम हस्तक्षेप करता था। लोग स्वतन्त्रता पूर्वक व्यवसाय करके धन कमा सकते थे। क्रय-विक्रय में कौड़ियों का प्रयोग होता था। यात्रियों की सुविधा के लिये धर्मशालायें बनी रहती थीं और उन्हें हर प्रकार की सुविधा दी जाती थी। यात्रियों का बड़ा आदर होता था। यात्री एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्वतन्त्रतापूर्वक आ जा सकते थे। उनकी सुविधा के लिये सड़कों के किनारे छायादार वृक्ष लगे रहते थे और स्थान स्थान पर कुयें खुदे रहते थे। धर्मशालाओं में यात्रियों को मुफ्त भोजन मिलता था। जनता को आवागमन की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। बड़े-बड़े नगरों में राज्य की ओर से औषधालयों का प्रबन्ध किया जाता था जहाँ निःशुल्क औषधि बाँटी जाती थी। राज-कर बहुत थोड़े थे। अतएव प्रजा को बहुत कम कर देने पड़ते थे। राज्य की आय का मुख्य साधन भूमि-कर था। प्रायः अपराधियों पर जुर्माने किये जाते थे। प्राण-दण्ड किसी भी दशा में नहीं दिया जाता था। विद्रोह करने वालों का दाहिना हाथ काट लिया जाता था। लोगों को चोरों तथा डाकुओं का बिल्कुल भय नहीं रहता था। राजा से उसकी प्रजा प्रेम करती थी। देश में शान्ति तथा सुव्यवस्था थी।

**सामाजिक दशा**—फाहियान के लेखों से भारत की तत्कालीन सामाजिक दशा का भी पता चलता है। उसने लिखा है कि उत्तरी भारत के लोग धनी, धर्मात्मा तथा विद्या-प्रेमी थे। वे एक दूसरे के साथ सहानुभूति रखते थे और एक दूसरे की सहायता करने को उद्यत रहते थे। अपने व्यवहार में वे सत्य का पालन करते थे। लोग अहिंसात्मक प्रवृत्ति के थे और सज्जन लोग न तो शिकार करते थे और न मांस, लहसुन, प्याज, शराब आदि का सेवन करते थे। नगरों में इन चीजों की दूकानें तक नहीं होती थीं। इन वस्तुओं का प्रयोग केवल चाण्डाल लोग तथा नीच जातियाँ करती थीं जिन्हें नगर के बाहर रहना पड़ता था और जिन्हें लोग घृणा की दृष्टि से देखते थे। सुअर तथा मुर्गियों को भी केवल नीच ही लोग पालते थे।

**धार्मिक दशा**—फाहियान के लेखों से तत्कालीन धार्मिक दशा का भी पता चलता है। बौद्ध-धर्म पंजाब तथा बंगाल में उन्नत दशा में था और मथुरा में इसका विकास हो

महान् शासक—चन्द्रगुप्त एक महान् शासक था। ... फाहियान के विवरण
ता है कि उसकी प्रजा बड़ी ही सुखी तथा धन-सम्पन्न थी। उसने राज्य में
पित की थी जिससे व्यापार तथा उद्योग धन्धों की बड़ी उन्नति हुई।

विद्वानों का आश्रयदाता—चन्द्रगुप्त विद्वानों का आश्रयदाता था। कहा
के चन्द्रगुप्त की राज सभा में नौ बड़े-बड़े विद्वान् थे जो नवरत्न कहलाते थे।
ालिदास का स्थान सबसे ऊँचा था। चन्द्रगुप्त के काल में संस्कृत साहित्य की
त हुई।

) उदार तथा सहिष्णु—चन्द्रगुप्त विष्णु का परम भक्त था और परम
की उसने उपाधि ली थी। परन्तु उसमें उच्चकोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी।
न्य धर्म वालों को भी राज्य में ऊँचे ऊँचे पद दिये थे। साँची के शिला लेख से
ता है कि बौद्ध-धर्मावलम्बी आम्रकार्दव उसका सेनापति था और वीरसेन जो एक
उच्च कोटि का कवि, साहित्य तथा व्याकरण एवं लोकनीति का ज्ञाता था चन्द्र
सन्धि-विग्रह विभाग का मन्त्री था। चन्द्रगुप्त की इस धार्मिक उदारता के कारण
भिन्न सम्प्रदाय वाले परस्पर मेल जोल से रहते थे और एक दूसरे से ईर्ष्या द्वेष नहीं
थे। चन्द्रगुप्त की मुद्राओं से प्रकट होता है कि यज्ञ, दान आदि वैदिक कर्मों
बड़ी निष्ठा थी। उपरोक्त गुणों के कारण चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को भारतीय इति
में बहुत ऊँचा स्थान प्रदान किया जाता है।

[illegible] —चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की तुल

[illegible]
न् विभूतियाँ हैं। अशोक मौर्य-काल [illegible]
-काल का सर्व-श्रेष्ठ शासक था। य [illegible]
ने भाइयों का वध कर सिंहासनारूढ़ [illegible]
ों ने सफलता पूर्वक युद्ध किया था [illegible]
धिकार पर विजय प्राप्त की थी और [illegible]
गोंघ के भार से दोनों ही मुक्त थे। [illegible]
का विशाल साम्राज्य प्राप्त हुआ था और चन्द्रगुप्त [illegible]
साम्राज्य मिला था। अतएव इन दोनों सम्राटों को केवल संगठन तथा सुशासन का
काम पड़ा था जिसमें दोनों ने प्रशंसा प्राप्त की। इन दोनों सम्राटों का शासन
अच्छा था और प्रजा सुखी तथा धन सम्पन्न थी। दोनों ही सम्राट् विद्वानों के आश्र
तथा साहित्य के पोषक थे। अशोक के काल में पाली भाषा की उन्नति हुई और चन्द्र
काल में संस्कृत भाषा तथा साहित्य की अपूर्व उन्नति हुई। साहित्यिक दृष्टिकोण से च
का काल अशोक के काल से अधिक महत्व रखता था। कला की भी दोनों ही सम्र
काल में अभ्युन्नति हुई थी। अशोक के काल में अनेक विहार तथा स्तूप एवं स्तम्
थे। चन्द्रगुप्त के काल में भी बहुत सी मूर्तियाँ तथा मन्दिर बने थे। दोनों ही सम्र
धर्म में अभिरुचि थी और दोनों ही धार्मिक सहिष्णुता के पक्षपाती थे। दोनों
धर्मावलम्बियों को राज्य में ऊँचे ऊँचे पद दिये थे। परन्तु अशोक बौद्ध-धर्म का
था और बौद्ध-धर्म को विश्व-व्यापी बनाने का उसने श्लाघनीय प्रयत्न किया
चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य वैष्णव था और अशोक की भाँति वह धर्म प्रचारक नहीं था।
एक महात्मा सम्राट् था परन्तु चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य केवल उदार सम्राट् था।
केवल एक ही युद्ध अपने जीवन-काल में किया था। उसके बाद वह अहिंसा का
गया था और अपने उत्तराधिकारियों को भी आदेश दे गया था कि वे राजनीति

शासन में अनेक मन्दिरों तथा धर्मशालाओं का निर्माण किया गया था और बुद्ध तथा पार्श्व की मूर्तियाँ बनाई गई थीं। ब्राह्मण धर्म भी प्रगतिशील था और सूर्य, शिव, विष्णु तथा कार्तिकेय की पूजा का बड़ा प्रचार था। लोग शिवलिंग की पूजा किया करते थे। कार्तिकेय तथा गरुड़ की आकृति कुमारगुप्त की मुद्राओं पर भी मिलती है। इससे अनुमान लगाया जाता है कि स्वामी कार्तिकेय सम्राट् के प्रधान उपास्यदेव रहे होंगे।

कुमारगुप्त की सम्भवतः उसी समय मृत्यु हो गई जब स्कन्दगुप्त पुष्यमित्रों से युद्ध कर रहा था। स्कन्दगुप्त के वैरियों पर विजय प्राप्त कर लौटने के पूर्व ही ४५५-४५६ ई० में वृद्ध सम्राट का परलोकवास हो गया। कुमारगुप्त की केवल एक रानी अनन्तदेवी का उल्लेख अभिलेखों में मिलता है जिससे पुरगुप्त उत्पन्न हुआ था। सेवेल के विचार में स्कन्दगुप्त की माता का नाम देवकी था परन्तु इसका कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं है। पुरगुप्त तथा घटोत्कच सम्भवतः कुमारगुप्त प्रथम के अन्य पुत्र थे।

**स्कन्दगुप्त**—कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र स्कन्दगुप्त मगध के राजसिंहासन पर बैठा। सम्भवतः सिंहासन के लिये स्कन्दगुप्त को अपने भाइयों से संघर्ष करना पड़ा था परन्तु इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। स्कन्दगुप्त बड़ा ही वीर, साहसी तथा बलवान् सेनानायक था। अपने पिता के जीवन काल में ही उसने अपने पौरुष तथा बल का पूर्ण परिचय दिया था। जब ४५५ ई० के आस-पास उसके पिता के राज्य पर आपत्ति के मेघ उमड़ रहे थे और शत्रुओं के आक्रमण आरम्भ हो गए थे तब युवराज स्कन्दगुप्त ने अपने बाहुबल से अपने पिता के राज्य की रक्षा की थी और अपने वंश की विचलित राजलक्ष्मी की रक्षा के लिए तीन मास तक भूमि पर शयन किया था। भितरी के स्तम्भ लेख से हमें पता चलता है कि जिस प्रकार शत्रुओं को मार कर श्रीकृष्ण देवकी के पास आये थे उसी प्रकार स्कन्दगुप्त भी युद्ध की विजय पर हर्ष के आँसू बहाता माँ के पास आया था।

**हूणों का आक्रमण**—स्कन्दगुप्त के सिंहासन पर बैठते ही उसे भयंकर शत्रुओं का सामना करना पड़ा। यह शत्रु हूण थे जो दूसरी शताब्दी ई० पूर्व में चीन की पश्चिमी सीमा पर मध्य-एशिया में रहते थे। जब पश्चिम की ओर इनका पर्यटन आरम्भ हुआ तो इनकी एक शाखा ने जिसे श्वेत हूण कहते हैं आक्सस की घाटी पर अपना अधिकार

बलि-अनुष्ठान करवाये थे और एक विष्णु स्तम्भ का निर्माण करवाया था जो गाजीपुर के भितरी नामक गाँव में अब भी पाया जाता है। स्कन्दगुप्त के शासन काल के अन्तिम भाग में हूणों ने फिर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया और उत्तरी पश्चिमी पंजाब पर अपना अधिकार जमा लिया है। अब इन लोगों ने गुप्त-साम्राज्य पर धावा बोल दिया। स्कन्दगुप्त ने इनको रोकने का बहुत कुछ प्रयत्न किया परन्तु इस बार उसे परास्त होना पड़ा। हूणों के इन आक्रमणों का देश की आर्थिक दशा पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा।

... से पता चलता है कि उसने ...

... शासन किया था। कुमारगुप्त के शासन का अन्त लगभग ४७३-४७७ ई० में हुआ ...

**बुद्धगुप्त**—... के बाद बुद्धगुप्त राजा हुआ। उसने लगभग बीस वर्ष तक शासन [illegible] ... सारनाथ के [illegible] ... एक ही समय होते ... यह असम्भव है ... है कि बुद्धगुप्त ... शासन प्रतिपालक ... पति थे। पूर्वी मालवा में महाराज मातृविष्णु शासन करते थे और यमुना तथा नर्मदा ... [illegible] महाराज सुरश्मिचन्द्र को सौंपा गया था।

बंगाल तथा बिहार के कुछ भाग पर शासन करते थे। [illegible] गये और अपनी स्वतंत्र नीति का अनुसरण करने लगे। कुछ मुद्राओं से विष्णुगुप्त, चंद्रादित्य, वैन्यगुप्त, द्वादशादित्य तथा अन्य राजाओं का उल्लेख मिलता है। परंतु इनका केवल नाम मात्र ज्ञात है। इनके विषय में अथवा इनके सम्बन्ध के विषय में कुछ पता नहीं है।

**परवर्ती गुप्त-सम्राट्**—गया जिले के अफसढ़ तथा शाहाबाद जिले के देव-बरनार्क अभिलेखों से एक नये गुप्त वंश का पता चला है जिन्हें आधुनिक इतिहासकारों ने परवर्ती गुप्त-सम्राटों के नाम से पुकारा है। इस वंश का संस्थापक कृष्णगुप्त था। कृष्ण गुप्त के विषय में बहुत कम मालूम हो सका है। यह भी नहीं पता है कि मूल गुप्त वंश से उसका क्या सम्बन्ध था परन्तु अफसढ़ के अभिलेख से इतना पता चलता है कि वह बड़ा ही वीर योद्धा था और अपने वैरियों पर उसने विजय प्राप्त की थी। कृष्णगुप्त का उत्तराधिकारी देव श्री हर्षगुप्त था। हर्षगुप्त भी एक वीर योद्धा था और उसकी छाती पर कई घाव के चिह्न थे। हर्षगुप्त के बाद उसका पुत्र जीवित् गुप्त प्रथम सम्राट हुआ। वह भी एक वीर सेनानायक था और पूर्वी भारत में हिमालय से समुद्र तक अपनी सत्ता स्थापित करने में वह सफल हुआ था। जीवित गुप्त के बाद कुमारगुप्त तृतीय सम्राट हुआ। उसे अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ा। उसका मौखरी राजा के साथ भीषण संघर्ष हुआ था जिसमें

## अध्याय ३०

# गुप्त-कालीन राज-संस्था, सभ्यता तथा संस्कृ

**राज-संस्था**—गुप्त काल के राजनैतिक इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन कर
हमें तत्कालीन राज संस्था का निम्नलिखित चित्र परिलक्षित होता है :—

**राज्य का स्वरूप**—गुप्त काल राजनैतिक दृष्टिकोण से साम्राज्यवाद का युग
इस युग में भारत को अधिक से अधिक राजनैतिक एकता प्राप्त हुई। इस काल की
व्यवस्था राजतंत्रात्मक थी। अन्य प्रकार की राज्य व्यवस्थाओं का गुप्त सम्राटों ने अन्त
दिया था।

**उत्तराधिकार का नियम**—राजा का पद प्रायः वंशानुगत होता था और
की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र उसके राज्य का उत्तराधिकारी होता था। प्रायः रा
अपने जीवन काल में ही अपने उत्तराधिकारी को नियुक्त कर देता था। इस प्रकार च
प्रथम ने अपने जीवन-काल में ही समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर
था। परन्तु कुछ ऐसे भी उदाहरण उपलब्ध हैं जब प्रजा अथवा उच्चवर्ग के लोगों
राजा निर्वाचित कर लिया जाता था। बंगाल में गोपाल निर्वाचन द्वारा राजा बनाया
था। दक्षिण भारत में नन्दिवर्मन् पल्लव मल्ल भी निर्वाचन द्वारा राजसिंहासन पर बि
गया था। थानेश्वर में उच्चवर्ग के लोगों द्वारा राज मुकुट हर्ष को प्रदान किया गया।
काश्मीर के राजा यश का ब्राह्मणों की एक सभा द्वारा निर्वाचन किया गया था।
प्रकार गुजरात का कुमार पाल भी उच्चवर्ग द्वारा निर्वाचित किया गया था। ऐसा
होता है कि स्त्रियों के लिये उत्तराधिकार का निषेध नहीं था। काश्मीर, उड़ीसा
तेलगू प्रदेश में स्त्रियों के राजसिंहासन पर बैठने के उदाहरण मिलते हैं।

**सम्राट को देव तुल्य मानना**—गुप्त-काल में सम्राट को देव-तुल्य माना जाता
प्रयाग के स्तम्भ-लेख में समुद्रगुप्त को कुबेर, वरुण, इन्द्र तथा यम के सदृश दर्शाया
है। गुप्त-कालीन साहित्य में सम्राट को न्याय की मूर्ति तथा शिव का प्रतिनिधि माना
है। परन्तु दैवी सिद्धान्त के विरुद्ध के भी उदाहरण यत्र-तत्र उपलब्ध हैं। बाण ने
सिद्धान्त को निराधार बतलाया था।

**सम्राट का आदर्श**—यद्यपि सम्राट देव रूप माना जाता था परन्तु प्राचीन सिद्

करते थे परन्तु बाद के सम्राटों की प्रतिभा बहुमुखी थी । बाद के सम्राट नीति तथा ज्योतिष के अध्ययन में विशेष अभिरुचि रखते थे । इन साहित्य प्रेमी सम्राटों ने साहित्यकारों को आश्रय भी दिया था ।

सम्राट के कार्य—गुप्त-काल में राज्य के शासन पर सम्राट का पूरा नियन्त्रण रहता था । यह राजा का परम कर्तव्य होता था कि वह राज्य में शान्ति तथा सुव्यवस्था रक्खे और विदेशी आक्रमणों से जनता की रक्षा करे । युद्ध के समय प्रायः सेना का सञ्चालन सम्राट ही करता था और रणस्थल में उपस्थित रहता था । देश की नीति के निर्माण में सम्राट का बहुत बड़ा हाथ रहता था । न्याय का कार्य सम्राट किया करता था ।

राज्य के विभिन्न पदाधिकारी—गुप्त सम्राटों के विशाल सम्राज्य का शासन अकेले सम्राट का चलाना नितान्त असम्भव था । अतएव सम्राट की सहायता के लिये अन्य राज्य-कर्मचारी हुआ करते थे । सम्राट को परामर्श देने तथा शासन-कार्य में सहायता पहुँचाने के लिये मन्त्री हुआ करते थे । यह मन्त्री कई प्रकार के होते थे । सम्राट के विश्वासपात्र परामर्शदाता मन्त्रिन् कहलाते थे । दूसरी प्रकार के मन्त्री सन्धि विग्रहक कहलाते थे । इनके अधिकार में सन्धि तथा युद्ध का कार्य रहता था । तीसरी प्रकार के मन्त्री अक्षपटलाधिकृत कहलाते थे । इनके सुपुर्द राज्य के कागज पत्र होते थे । कुछ ऐसे भी पदाधिकारी होते थे जिनका सम्बन्ध विशेषकर सेना से रहता था । वह महाबलाधिकृत तथा महादण्डनायक कहलाते थे । अभिलेखों में कुमारामात्य का भी उल्लेख मिलता है । प्रो० आर० डी० ब[illegible] [illegible] जिनका स्थान राजकुमार के सम[illegible]

विशेष [illegible]

पर जि[illegible]

मन्त्रियों की संख्या निश्चित नहीं थी परन्तु [illegible]

यह बतलाना कठिन है कि मौर्य-काल की भाँति कोई केन्द्रीय मन्त्रि-परिषद् थी अथवा [illegible]

[illegible]

गाँवों का एक समूह होता था । शासन की सबसे छोटी इकाई उत्तर तथा दक्षिण दोनों

। अधिक उपज होने पर राज्य को अधिक कर मिलता था और कम उपज होने पर कम र मिलता था। अतएव फसल के खराब हो जाने पर छूट का प्रश्न नहीं उठता था। चुङ्गी ज्य की आय का दूसरा महत्वपूर्ण साधन था। इसे सम्भवतः भोगकर कहते थे। कुछ [illegible] इसी में से कुछ गाँव तथा नगर के [illegible] कारकों तथा पल्लवों के अभिलेखों [illegible] कर लगता था। इससे यह अनुमान [illegible] नगरों में भेजी जाती थीं तब इन [illegible] पर भी कर लगता था। इसे भूत [illegible] ने, जङ्गलों, चरागाहों तथा नमक की खानों से भी राज्य को धन प्राप्त हो जाया करता था। जब केन्द्रीय सरकार के कर्मचारी गाँवों अथवा नगरों के निरीक्षण के लिये जाते थे तब ग्रामीणों तथा नगरवासियों को अतिरिक्त कर देने पड़ते थे। उन्हें इन कर्मचारियों को चावल, दूध, दही, तरकारी लकड़ी, घास, फूल तथा अन्य आवश्यक वस्तुयें मुफ्त देनी पड़ती थीं। उनके आने जाने के लिये मजदूर, गाड़ी तथा बैलों का भी प्रबन्ध करना पड़ता था। जब कभी पुलिस अथवा सेना के पदाधिकारी कहीं अपराध का पता लगाने अथवा अपराधियों को पकड़ने के लिये जाते थे तब उस स्थान के लोगों को इन पदाधिकारियों के खर्च का भार सहना पड़ता था। अधीनस्थ सामन्तों तथा राजाओं से भी भेंट तथा कर के रूप में राज्य को धन प्राप्त होता था। मजदूरों से बेगार ली जाती थी जिसे विष्टि कहते थे। आपत्ति के समय नये-नये कर लगा दिये जाते थे। ऐसी दशा में मन्दिर तक को कर देना पड़ता था।

देश तथा जनता की साधारण दशा—गुप्त काल बड़े गौरव का काल था। इस काल में देश धन-धान्य पूर्ण था और जनता सुखी तथा धन-सम्पन्न थी। जनता का [illegible] । लोगों को एक [illegible] अधिक थी परन्तु [illegible] किये थे जहाँ पर यात्रियों के लिये खान पान तथा शयन का पूरा प्रबन्ध रहता था। वहाँ भोजन, चारपाई तथा बिछौने को पूरी व्यवस्था रहती थी। दक्षिण बिहार अपनी धन सम्पन्नता तथा दानशीलता के लिये प्रसिद्ध था। इस भाग में बड़े समृद्धिशाली नगर थे। यहाँ के लोग बड़े [illegible]

[illegible] बेईमानी नहीं करते थे और अपने वचन के पक्के तथा कर्तव्य परायण होते थे। देश वनस्पतियों तथा खनिज पदार्थों की प्रचुरता के लिये प्रसिद्ध था। लहसुन तथा प्याज का लोग बहुत कम प्रयोग करते थे और जो लोग इनका सेवन करते थे वे जाति के बाहर कर दिये जाते थे। दूध, घी, शक्कर तथा भुना हुआ अनाज लोगों का साधारण भोजन था। लोग अहिंसा धर्म का पालन करते थे और मांस भक्षण नहीं करते थे। मुर्गी तथा सुअर-पालन

ी हेय समझा जाता था। केवल चाण्डाल ही इन घृणित कार्यों को करते थे।
ाधारण व्यवहार में कौड़ी का प्रयोग किया जाता था परन्तु सोने, चाँदी, तथा ताँबे
ी मुद्रायें होती थीं जिनका बड़े-बड़े लेन-देन में प्रयोग किया जाता था।
उन्नत दशा में था और विदेशों से जलमार्ग से खूब व्यापार होता था। सारांश यह कि
देश धन धान्य पूर्ण था और जनता सुखी तथा सम्पन्न थी।

**सामाजिक व्यवस्था**—गुप्त काल की सामाजिक व्यवस्था निम्नलिखित प्र
की थी —

जाति व्यवस्था—प्राचीन काल से ही जाति व्यवस्था हिन्दू समाज की विशे
है। गुप्त-काल में भी जाति व्यवस्था विद्यमान थी। परन्तु इसके बन्धन वैवाहिक, व्यव
सायिक तथा खान पान के दृष्टिकोण से उतने जटिल नहीं थे जितने वर्तमान युग में
हो गये हैं। यद्यपि साधारण रूप से सजातीय विवाहों की प्रथा थी परन्तु अन्तर्जातीय
विवाह भी प्राय हुआ करते थे और ऊँची जाति के वर का विवाह नीची जाति की कन्या
के साथ हुआ करता था। ऐसे विवाहों को अनुलोम कहते थे। यद्यपि इस काल की स्मृतियों
ने ऐसे विवाहों को गैर-कानूनी नहीं माना है परन्तु इन्हें प्रोत्साहन नहीं दिया है दे
इनका निषेध किया है। परन्तु इस काल के एक अभिलेख में ब्राह्मण वर तथा क्षत्रि
कन्या का विवाह श्रुति तथा स्मृति के नियमानुकूल माना गया है। अनुलोम प्र
वंशीय विवाहों के हमें कई उदाहरण मिलते हैं। इस प्रकार रुद्रसेन जो ब्राह्मण वाका
वंश का था गुप्त-वंश की वैश्य कन्या प्रभावती के साथ विवाह किया था। प्रति
विवाहों की भी प्रथा इस काल में थी अर्थात् नीच कुल का वर ऊँचे कुल की कन्या के
विवाह कर सकता था। इस प्रकार कदम्ब शासकों ने जो ब्राह्मण थे अपनी कन्याएं
विवाह गुप्त राजाओं के साथ किया था जो वैश्य थे। विदेशियों के साथ भी अन्त
विवाह प्रचलित थे। इस प्रकार इक्ष्वाकु राजा ने जो कट्टर ब्राह्मण था उज्जयनी की शक
के साथ विवाह किया था। यदि उच्चकुल का व्यक्ति किसी शूद्र कन्या के साथ विव
लेता था तो उसकी घोर निन्दा होती थी परन्तु ऐसे विवाह इस काल के समाज
करते थे। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि शूद्र कन्या के पुत्र को अपने ब्राह्मण पिता की
में हिस्सा मिलना चाहिये। परन्तु बृहस्पति-शूद्र पुत्र के इस अधिकार को नहीं मानते
जातीय विवाहों की प्रथा प्रचलित होने के कारण भिन्न-भिन्न जातियों में खान पान
प्रचलित थी। इस काल की स्मृतियों में केवल शूद्रों के साथ भोजन करने का नि
परन्तु लोग अपने किसान, नाई, ग्वालों तथा कुटुम्ब के मित्र के साथ भोजन कर
चाहे वे शूद्र ही क्यों न हों। व्यवसाय के दृष्टिकोण से भी जाति के बन्धन जटि
इस युग के अभिलेखों से पता चलता है कि बहुत से ब्राह्मण व्यापार तथा शिल्प
करते थे। कुछ ब्राह्मण सरकारी कर्मचारी थे और कुछ ब्राह्मणों ने राज्य की स्थापना
क्षात्र धर्म को स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार विन्ध्यशक्ति तथा मयूरशर्मन ने जो ब्रा
थे क्रमशः वाकाटक तथा कदम्ब राज्य वंशों की स्थापना की थी। इसी प्रकार बहुत से
तथा शूद्रों ने भी क्षात्र-धर्म को स्वीकार कर लिया था। गुप्त-वंश के राजा वैश्य जाति
परन्तु उन्होंने राज्य स्थापित कर क्षात्र धर्म को अपना लिया। सम्भवतः गुप्त-सम्रा
सेना में शूद्र बहुत बड़ी संख्या में सैनिक हुआ करते थे। इस काल के बहुत से क्षत्रि
वैश्य धर्म को स्वीकार कर लिया था और व्यापार तथा कारोबार में लग गये थे। व्याप
बहुत सी श्रेणियों के प्रधान क्षत्रिय होते थे। वैश्य लोग भिन्न-भिन्न वर्गों तथा श्रे
व्यापारियों तथा शिल्पकारों के अलग-अलग वर्ग ब... की प्रथा थी परन्तु

अतिरिक्त कुछ नई मिश्रित जातियाँ भी उत्पन्न हो गई थीं। कायस्थ लोग बहुधा लेखक हुआ करते थे। इस काल में शूद्रों का कार्य क्षेत्र केवल द्विजों की सेवा ही तक सीमित न था। वे व्यापार, शिल्प तथा कृषि में भी पदार्पण कर चुके थे और इससे पूरा लाभ उठाते थे। बहुत से शूद्र सेना में भी भर्ती हो जाते थे और उन्नति करके ऊँचे पदों पर पहुँच जाते थे। अभिलेखों तथा फाह्यान के विवरण से पता चलता है कि अस्पृश्यता का रोग इस काल में भी था। अछूत लोगों को बस्ती के बाहर रहना पड़ता था और जब बस्ती में प्रवेश करते थे तब उन्हें लकड़ी बजानी पड़ती थी जिससे लोगों को सूचना मिल जाय और लोग उनसे दूर हट जावें। इन अछूतों का मुख्य व्यवसाय शिकार करना था मछली पकड़ना होता था जो समाज में बड़ा ही हेय समझा जाता था। इस युग में भी पहिले की भाँति ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों का स्थान समाज में बहुत ऊँचा था और ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों का परस्पर का सम्बन्ध बहुत अच्छा था। बहुत से क्षत्रिय सम्राट ब्राह्मणों की पूजा किया करते थे। परन्तु कभी-कभी धन तथा स्थान के मद में आकर क्षत्रिय लोग ब्राह्मणों का अपमान भी कर देते थे। पल्लव राज के क्षत्रिय कर्मचारियों से अपमानित होकर ही मयूर शर्मन ब्राह्मण ने क्षात्र धर्म को स्वीकार किया था। ब्राह्मण वेदाध्ययन के अनुसार भिन्न-भिन्न शाखाओं में विभक्त थे। इस प्रकार ब्राह्मण लोग ऋग्वेदिन, यजुर्वेदिन, सामवेदिन तथा अथर्ववेदिन की शाखाओं में बटे थे। क्षत्रियों की गणना इस युग में भी द्विज में होती थी और उन्हें उपनयन तथा वेदाध्ययन का अधिकार था। यह अधिकार वैश्यों को भी प्राप्त थे। वैश्य लोग अपनी उदारता तथा दानशीलता के लिये प्रसिद्ध थे। वैश्यों ने अपने को श्रेणियों में संगठित कर लिया था और व्यापार तथा कारोबार में उन्नति कर रहे थे। नगर की समितियों में भी इनका आदर पूर्ण स्थान था।

दास-प्रथा—इस युग में दास-प्रथा प्रचलित थी। युद्ध के कैदी, वह ऋणी जो ऋण चुकाने में असमर्थ होते थे, वह जुआरी जो हारी हुई बाजी को नहीं दे सकते थे दास बन जाते थे। परन्तु भारत में दासता जीवन-पर्यन्त के लिये नहीं होती थी। ऋण आदि चुका देने पर यह लोग दासता के बन्धन से मुक्त हो जाया करते थे।

कौटुम्बिक व्यवस्था—इस युग में सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा थी। पिता के जीवन-काल में कुटुम्ब का विभाजन बुरा समझा जाता था। पिता की मृत्यु के उपरान्त भी प्रायः कुटुम्ब के सदस्य एक साथ रहते थे। यद्यपि पिता कुटुम्ब की सम्पत्ति का मालिक समझा जाता था परन्तु भाइयों तथा पुत्रों का भी हिस्सा होता था। पुत्रों का कुटुम्ब की सम्पत्ति में जन्म से ही अधिकार हो जाता था और सभी पुत्रों का भाग बराबर होता था। यदि किसी विधवा स्त्री का पति मृत्यु के समय सम्मिलित कुटुम्ब का सदस्य होता था तो उसे केवल जीवन वृत्ति मिलती थी। परन्तु यदि वह कुटुम्ब से अलग रहता रहा हो तो उसकी स्त्री का उसकी सम्पत्ति पर जीवन पर्यन्त के लिये अधिकार हो जाता

चाहिये था। कन्याओं का विवाह तेरह वर्ष की अवस्था तक हो जाना ठीक समझा

विवाह हेय समझा जाता था। जो विधवायें विवाह नहीं करती थीं वे साधारण तथा शुद्ध जीवन व्यतीत करती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि सती की प्रथा इस युग में आरम्भ हो गई थी क्योंकि भास, कालिदास तथा शूद्रक ने इसका उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है।

५१० ई० में गोपराज की मृत्यु के उपरान्त उसकी स्त्री सती हो गई थी। इस युग में ... की प्रथा न थी और स्त्रियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक समाज में घूम सकती थीं परन्तु उच्च कुल की स्त्रियाँ एक प्रकार का आवरण लगा लेती थीं।

भोजन तथा पेय—इस युग में शाकाहार तथा मांसाहार दोनों प्रचलित थे। फाह्यान ने लिखा है कि मध्यप्रदेश में मांस की दूकानें न थीं परन्तु स्मृतियों से पता चलता है कि कुछ अवसरों पर मांस भक्षण होता था। इसमें सन्देह नहीं कि ... महायान धर्म के प्रचार के कारण मांस भक्षण बहुत कम हो गया था और ब्राह्मणों तथा बौद्धों ने तो इसे बिलकुल त्याग दिया था। छोटी जाति के लोग मद्यपान करते थे ... भारत में राजघरों के लिये पाश्चात्य देशों से शराब मगाई जाती थी और ग... देशी शराब पीते थे। भोजन के उपरान्त प्राय लोग ताम्बूल खाया करते थे।

वस्त्र तथा आभूषण—इस काल के लोगों का वस्त्र साधारण होता था। ... धोती का प्रयोग करते थे। परन्तु सिथियनों ने पैजामे तथा कोट का भी प्रयोग ... कर दिया था और भारतीय राजा भी इन वस्त्रों को धारण करने लगे थे। प्राय ... पाँव रहते थे और जूते का कम प्रयोग करते थे। स्त्रियों का वस्त्र वैसा होता था ... कल होता है। स्त्रियों का मुख्य वस्त्र साड़ी होता था। कहीं-कहीं साड़ी के ... वस्त्र का प्रयोग किया जाता था। चोली अथवा अङ्गियों का भी प्रयोग स्त्रियाँ ... सिथियन स्त्रियाँ जाकेट, फ्राक, ब्लाउज आदि का प्रयोग करती थीं। साधारण ... कपड़े पहनते थे परन्तु लोग उत्सव के अवसर पर रेशमी वस्त्र पहिनते थे। ... भिन्न प्रकार के सुन्दर आभूषण पहनती थीं। पुरुष भी अपने को आभूषणों से विभूषित करते थे। स्त्रियाँ अपने बालों को सुशोभित करती थीं।

आमोद-प्रमोद—लोगों को द्यूत का चाव था और मृगया के लिये भी लोग जाया करते थे। मुर्गे तथा भेड़े के युद्ध मनोविनोद के अन्य साधन थे। मेलों तथा नाटक के ... से भी लोग आमोद-प्रमोद किया करते थे।

## आर्थिक व्यवस्था

आर्थिक व्यवस्था—गुप्त-काल में देश की आर्थिक दशा बड़ी अच्छी थी ... धन धान्य पूर्ण था और जनता सुख से जीवन व्यतीत करती थी। दो टाये में एक ... महीने भर अच्छा भोजन कर सकता था।

विनिमय—प्रतिदिन की वस्तुओं के खरीदने में कौड़ी का प्रयोग किया जाता ... लेन-देन प्राय वस्तुओं के विनिमय से होता था और मुद्रा का बहुत कम प्रयोग ... जाता था। विशेषकर देहात में वस्तुओं के विनिमय से ही लेन-देन होता था। ... वाकाटक तथा पल्लव राज्यों में मुद्रा बिलकुल प्रचलित न थी।

उत्पा... ...चावल गेहूँ, गन्ना, जूट, तेलहन, कपास, ज्वार, ... मसाला, ... ...की प्रचुर सम्पत्ति ... होती थी। ... ऐसा प्रतीत ... है कि सोना चाँदी खानों से बहुत कम ... विदेशों ... थीं। बहुमूल्य धातुएँ बहुधा दक्षिण, मध्य-भारत तथा छोटा नागपुर में मिलती ...

व्यवसाय—कपड़े बुनना देश का प्रधान कारोबार था। इस व्यवसाय ... स्त्री पुरुष लगे रहते थे। यद्यपि कपड़ा देश के सभी भागों में बनता था परन्तु इस ... केन्द्र गुजरात, बंगाल, दक्षिण तथा तामील देश के नगरों में थे। शिल्प, हाथी ... काम, चित्रकला, लोहार का काम तथा जहाज बनाना अन्य व्यवसाय थे। ... ही मुख्यवान् सम्पत्ति समझी जाती थी। बिना गाँव वालों की अथवा नगर ... ...मति को भूमि ... कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को नहीं दे सकता ...

भूमि बेकार पड़ी रहती थी वह राज्य की सम्पत्ति समझी जाती थी। परन्तु ऐसी भूमि भी गांव की पञ्चायत अथवा नगर की समिति की सम्मति के बिना किसी को नहीं दी जा सकती थी। बहुत से गांवों में कृषि के अलावा कुछ ऐसी भूमि होती थी जो गांव की वस्तु समझी जाती थी। इस भूमि को प्रायः राजा लोग दान दे दिया करते थे।
... दान दिया करते थे। कभी-कभी राजा लोग
... से भूमि छीनी नहीं जा सकती थी।
... जो भूमि पति स्वयम् खेती नहीं कर
... ते थे। ऐसी दशा में किसान को उपज
... उसके गुण के अनुसार होता था।

व्यापार—गुप्त-काल में व्यापार बड़ा उन्नत दशा में था। आन्तरिक व्यापार की वस्तुयें कपड़े, खाद्य-पदार्थ, मसाले, नमक तथा बहुमूल्य धातुयें थीं। भड़ौच, उज्जयिनी, पैठन, विदिशा, ताम्रलिप्ति, प्रयाग, बनारस, गया, पाटलिपुत्र, वैशाली, कौशाम्बी, मथुरा, ...आदि इस काल के प्रधान नगर थे। यह नगर सड़कों द्वारा जुड़े थे और व्यापार के केन्द्र थे। वस्तुयें सड़कों तथा नदियों दोनों के द्वारा भेजी जाती थीं। सामान बैलगाड़ियों तथा जानवरों की पीठ पर ढोया जाता था। गंगा, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा, कृष्णा तथा कावेरी नदियों से खूब माल ढोया जाता था। यहाँ बड़ी नावों का निर्माण किया जाता था। ताम्रलिप्ति बंगाल का सबसे बड़ा बन्दरगाह था। इस बन्दरगाह द्वारा चीन, लङ्का, जावा तथा सुमात्रा से व्यापार होता था। दक्षिण में गोदावरी तथा कृष्णा नदियों के मुहाने पर बहुत अच्छे बन्दरगाह थे जिनके द्वारा पूर्वी द्वीप समूह तथा चीन से व्यापार होता था और भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का इन देशों में प्रचार होता था। यह बन्दरगाह पाश्चात्य देशों से भी व्यापार करते थे। कल्यान, चौल, भड़ौच तथा कम्बे दक्षिण तथा गुजरात के प्रधान बन्दरगाह थे। परन्तु इनके विषय में अधिक नहीं ज्ञात है। भारत से मोती, बहुमूल्य पत्थर, कपड़े, सुगन्धित वस्तुयें, मसाले, नील, औषधियाँ, नारियल, हाथी दाँत आदि विदेशों को भेजे जाते थे और विदेशों से सोना, चाँदी, ताँबा, टिन, सीसा,

कार्तिकेय तथा गणेश। गुप्त-कालीन कार्तिकेय का एक मन्दिर और गणेश की मूर्तियाँ मिली हैं।

सूर्य की उपासना—सूर्य के भी कई मन्दिर प्राप्त हुये हैं। सूर्य का एक मन्दिर मालवा में मन्दसोर में, दूसरा ग्वालियर में, तीसरा इन्दौर में और चौथा बघेलखण्ड में [illegible] मिला है। बङ्गाल में सूर्यदेव की कुछ मूर्तियाँ भी मिली हैं।

[illegible]

[illegible] में लोग जाकर पूजा-पाठ करते थे और इनमें व्याख्यान भी हुआ करते थे। मन्दिरों के निर्माण से शिल्प-कला तथा चित्रकला की भी बड़ी उन्नति हुई। इन मन्दिरों में कीर्तन, नृत्य आदि भी हुआ करता था। अतएव इन कलाओं की भी उन्नति में योग मिला। इन मन्दिरों के पास अपार सम्पत्ति थी जो इन्हें दान के रूप में प्राप्त थी। इन मन्दिरों में दीन-दुखियों को मुफ्त भोजन मिलता था परन्तु अभी यह शिक्षा के केन्द्र नहीं बने थे।

धार्मिक आचार व्यवहार—उत्तर तथा दक्षिण के अभिलेखों से पता चलता है कि इस युग को कलियुग मानते थे जिसमें धर्म का ह्रास होता है और दुराचार बढ़ता है। प्रयाग इस युग में हिन्दुओं का बड़ा ही पवित्र स्थान समझा जाता था। ब्राह्मण लोग स्मृति के अनुसार जीवन व्यतीत करते थे। प्रातः तथा संध्या दो बार प्रत्येक ब्राह्मण संध्या करता था। मध्याह्न की संध्या का भी प्रचार हो रहा था। संध्या में प्राणायाम सूर्योपस्थान तथा गायत्री जप किया जाता था। सभी द्विजों के यहाँ १६ संस्कार हुआ करते थे और हर महीने पित्रों को श्राद्ध दी जाती थी। इस युग में वैष्णवों में एकादशी व्रत का बड़ा प्रचार था। इस दिन सम्राट लोग प्रायः दान दिया करते थे।

हिन्दू-धर्म की व्यापकता—हिन्दू धर्म की व्यापकता तथा उदारता कम नहीं हुई [illegible] विदेशियों में घुल मिल गये थे उसी प्रकार

[illegible]

सूत्र पर बड़ी सुन्दर टीका है लगभग ३०० ई० में लिखी गई थी। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता पर इस युग में बड़ी गवेषणायें हुई थी जिसके परिणाम स्वरूप ज्ञानवाद, कर्मवाद तथा ज्ञानकर्म समुच्चयवाद की खोज हुई थी। इस युग में सांख्य पर भी ग्रंथ लिखे गये। ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका नामक पुस्तक की रचना चौथी शताब्दी ई० में की थी। पतञ्जलि के योगसूत्र पर व्यास भाष्य इसी युग में लिखा गया था। न्याय-वैशेषिक दर्शन की भी इस युग में उन्नति हुई। कांची के एक विद्वान् वात्स्यायन ने चौथी सदी ई० के अन्त में न्याय-भाष्य की रचना की थी। एक अन्य विद्वान् ने वैशेषिक सूत्र पर एक टीका इसी युग में लिखी है। इस प्रकार गुप्त-काल हिन्दू-दर्शन के दृष्टिकोण से बहुत बड़ा महत्व रखता है।

बौद्ध-धर्म—कुछ विद्वानों के विचार में ब्राह्मण धर्म के विकास के कारण बौद्ध-धर्म इस युग में अवनत दशा में था। परन्तु डा० अल्तेकर ने इस धारणा को निराधार सिद्ध कर दिया है। वास्तव में पहिली शताब्दी ई० से ही हीनयान धर्म तथा दर्शन की

अभिवृद्धि आरम्भ हो गई थी। गुप्त काल में महायान तथा हीनयान दोनों ही सम्प्रदाय उन्नत दशा में थे। इस युग में सिंहलद्वीप हीनयान सम्प्रदाय का केन्द्र था। तीसरी शताब्दी [illegible] का विकास किया था [illegible] ग्रन्थों पर कई टीकायें [illegible] ने पाली-भाषा का आश्रय लिया। अतएव इस युग में सिंहलद्वीप में पाली भाषा की बड़ी उन्नति हुई। दीपवंश तथा महावंश की रचना क्रमशः ४०० ई० तथा ५०० ई० में हुई थी। पाँचवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में बुद्धघोष नामक गया के ब्राह्मण ने अनुराधपुर में प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विशुद्धमग्ग' की रचना की थी। इस ग्रन्थ में इस बात की मीमांसा की गई है कि किस प्रकार शील, समाधि तथा प्रज्ञा द्वारा मनुष्य निर्वाण प्राप्त कर सकता है। इस उत्कट विद्वान् ने त्रिपिटक पर कई भाष्य तथा अन्य ग्रन्थ लिखे हैं। बुद्धघोष के इन ग्रन्थों ने लङ्का, ब्रह्मा, स्याम तथा काम्बोडिया के बौद्ध धर्मों को बहुत प्रभावित किया था। बुद्धघोष के कुछ दिन बाद बुद्धदत्त ने अभिधम्म तथा विनय पर 'अभिधम्मावतार', 'रूपारूपविभाग' तथा 'विनयविनिच्छय' नामक ग्रन्थ लिखे। सिंहलद्वीप के बौद्धों ने भारत में बौद्ध धर्म का प्रचार ज़ोरों से आरम्भ किया और न केवल आन्ध्र तथा तामील प्रान्तों, कर्णाटक तथा कोंकण में वरन् गुजरात, काश्मीर तथा गान्धार में भी इसका खूब प्रचार किया। लङ्का से बौद्ध प्रचारक चीन भी गये थे जहाँ बहुत से हीनयान ग्रन्थों का अनुवाद इन विद्वानों ने चीनी भाषा में किया था। ३५० ई० में लङ्का के राजा मेघवर्ण ने बुद्ध गया में बौद्ध भिक्षुओं के लिये एक मठ बनवाया था। काश्मीर, गान्धार तथा अफ़गानिस्तान में पाँचवीं शताब्दी ई० के अन्त तक बौद्ध-धर्म का ज़ोर रहा। महायान सम्प्रदाय भी गुप्त-काल में उन्नत दशा में था। 'जातकमाला' तथा 'दिव्यावदान' की रचना इसी युग में हुई थी। महायान सम्प्रदाय में इस युग में कई बड़े बड़े दार्शनिक हुए जिन्होंने इस सम्प्रदाय के गौरव को बढ़ाया और इसका खूब प्रचार किया। नागार्जुन, आर्यदेव, असङ्ग, वसुबन्धु तथा दिङ्नाग इस युग के धुरन्धर दार्शनिक थे। बौद्धधर्म के माध्यमिक तथा योगाचार दर्शनों का विकास इसी युग में हुआ था। माध्यमिक शाखा के प्रवर्तक नागार्जुन थे और योगाचार के मैत्रेयनाथ। नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव ने इसी काल में 'चतु-

हैं जिनसे पता चलता है कि यह स्थान बौद्ध धर्म के केन्द्र थे। सारनाथ में बहुत से स्तूप तथा बौद्ध मूर्तियाँ मिली हैं जिनसे पता चलता है कि यह बौद्धों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। बोधगया भी बौद्धों का प्रसिद्ध केन्द्र था जहाँ लङ्का के बौद्ध यात्रियों के लिए एक विशाल मठ बना था। बङ्गाल में मृगशिखावन बौद्धों का प्रसिद्ध केन्द्र था। पश्चिमी महाराष्ट्र में अनेकों बौद्ध-मन्दिर तथा मठ पाये जाते थे जिन्हें उच्च तथा मध्य वर्ग के लोगों का आश्रय प्राप्त था। अजन्ता तथा एलोरा की गुफाओं से पता चलता है कि ये बौद्धों के केन्द्र थे। आन्ध्र देश में भी बहुत से बौद्ध विहार तथा स्तूप पाये जाते थे। नागार्जुनिकोण्ड बौद्धों का प्रसिद्ध केन्द्र था जहाँ आचार्य नागार्जुन ने उपदेश दिया था और ग्रन्थों की रचना की थी। तामील प्रदेश में काँची बौद्धों का सबसे बड़ा केन्द्र था। प्रसिद्ध बौद्ध तार्किक दिङ्नाग यहीं उत्पन्न हुये थे। काठियावाड़ में वल्लभी बौद्धों का प्रसिद्ध केन्द्र था जहाँ बहुत से बौद्ध-मठ बने थे। इनमें से कुछ मठों ने पुस्तकालय का भी प्रबन्ध किया था। इससे प्रतीत होता है कि मठों ने शिक्षा का काम भी आरम्भ कर दिया था। थोड़े ही समय में नालन्द तथा वल्लभी में बौद्ध विश्वविद्यालयों की स्थापना हो गई थी गुप्त काल के बौद्ध मठ बड़े धनी थे और उनमें रहने वाले भिक्षु बड़े ही सदाचारी तथा कर्तव्यनिष्ठ होते थे और आगन्तुकों का बड़ा आदर सत्कार करते थे। इस युग में भिक्षुणियाँ भी बौद्ध सम्प्रदाय में सम्मिलित थीं और पश्चिमी भारत, पंजाब तथा गङ्गा के मैदान में इनके मठ पाये जाते थे। इस युग में धीरे धीरे महायान तथा हीनयान सम्प्रदायों का संघर्ष प ता आ रहा था। अतएव प्राय: इनके अलग अलग मठ होते थे। परन्तु छोटे-छोटे स्थानों में दोनों के अनुयायी एक साथ रहते थे। धीरे-धीरे महायान सम्प्रदाय अधिक लोकप्रिय होता जा रहा था। सम्पूर्ण भारत में बुद्ध जी की मूर्तियाँ बनने लगीं और पूजा होने लगी। अनेकों स्तूपों तथा चैत्यों का भी इस युग में निर्माण हुआ। भारत के अतिरिक्त चीन में भी इस युग में बौद्ध धर्म की बड़ी उन्नति हुई। फाहियान नामक चीनी यात्री इसी युग में बौद्ध स्थानों के दर्शन तथा बौद्ध ग्रन्थों को लेने के लिये आया था। भारत से भी धर्म प्रचारक इस युग में चीन गये थे और वहाँ बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में किया था।

जैन-धर्म—गुप्त काल जैन-धर्म के इतिहास में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है परन्तु अपने कठिन नियमों के कारण यह धर्म प्रगतिशील न था। इसमें विवाद तथा विग्रह चल रहे

[illegible]

किया गया

ग्रन्थों पर भाष्य

न ग्रन्थकार इ

युग में प्राकृत के स्थान पर संस्कृत में ग्रन्थ रचना करने लगे थे। उमा स्वामी ने "तत्त्वार्थाधिगमसूत्र" की और सिद्धसेन ने "न्यायावतार" की रचना प्राकृत के स्थान पर संस्कृत में की थी। यह बतलाना कठिन है कि इस युग में जैन-धर्म का विस्तार कितना था। मथुरा तथा वल्लभी इस काल में भी श्वेताम्बर जैनियों के केन्द्र थे। उत्तरी बङ्गाल में पुन्ड्रवर्धन दिगम्बर सम्प्रदाय वालों का केन्द्र था। अभिलेखों से पता चलता है कि गोरखपुर काहौन तथा मध्य भारत में उदयगिरि जैनियों की बस्तियों के स्थान थे। दक्षिण भारत में कर्णाटक तथा मैसूर में जैन धर्म खूब प्रचलित था। वहाँ दिगम्बर सम्प्रदाय वालों का बाहुल्य था। जैन-धर्म को कदम्ब राजवंश का आश्रय प्राप्त था। तामिल प्रदेश में भी जैन धर्म का प्रचार था और कई तामील ग्रन्थों की रचना जैनियों ने की थी। ४ ई० में मदुरा में जैनियों की एक सभा हुई थी। काँची भी जैनियों का केन्द्र था और

पल्लव तथा पांड्य राजा इसके अनुयायी बन गये थे। यद्यपि जैन तथा शैव एक दूसरे की प्रतियोगिता में लगे थे परन्तु ये एक दूसरे के साथ अत्याचार न करते थे। जैन मन्दिरों में पूजा बड़े धूम-धाम से की जाती थी और काफी धन व्यय किया जाता था। जैन मठों के पास बड़ी सम्पत्ति होती थी जिनमें बहुत से भिक्षु भिक्षुणी निवास करते थे जो धीरे धीरे कर्तव्य भ्रष्ट होते जा रहे थे। उनमें से कुछ पर्यटन करते रहने के स्थान पर स्थायी रूप से मठों में रहने लगे थे और सुगन्धित तथा रंगीन कपड़े पहिनने लगे थे। कुछ जैन भविष्यवाणी का तथा "जिन" की मूर्तियों के बेचने का उद्यम उठा लिये थे। दिगम्बर सम्प्रदाय के भी कई ग्रन्थ इस युग में लिखे गये थे परन्तु वे अब प्राकृत में हैं। इनमें कर्मन् तथा बन्धन की समीक्षा की गई है। उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि इस युग में जैन-धर्म उतना प्रगतिशील न था जितना कि हिन्दू तथा बौद्ध धर्म थे।

शिक्षा—भारतवर्ष में प्राचीन-काल से ही शिक्षा के आचार्य अपने आश्रमों में शिक्षा दिया करते थे। गुप्त युग में भी ऐसे आचार्य थे जिनके पास विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिये जाया करते थे। यह आचार्य प्रायः तीर्थ स्थानों तथा बड़े बड़े नगरों में निवास करते थे। विद्यार्थियों के संरक्षकों से कुछ दक्षिणा के रूप में इन आचार्यों को मिल जाता था। राज्य की ओर से भी इन आचार्यों की सहायता हो जाया करती थी। पूजा-पाठ द्वारा भी इन्हें कुछ मिल जाया करता था। यह निश्चय है कि पाटलिपुत्र तथा वल्लभी इस काल [illegible] ग्रावती, प्रवरपुर तथा वत्सगुल्म [illegible] ; ए मन्त्र, सूत्र तथा भाष्य में बड़े [illegible] तथा कांची में शिक्षा का प्रबन्ध [illegible] गुप्त काल में अग्रहार गाँव भी [illegible] यों को दान में दे दिये जाते थे। ब्राह्मणों का कर्तव्य विद्यार्थियों को शिक्षा देना होता था। कलिंग के सम्राट् उमावर्मन ने ऐसी व्यवस्था की थी कि उसके राज्य में कम से कम ३६ अग्रहार गाँव हों जहाँ विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान की जाय। चूंकि [illegible] विद्या के बड़े प्रेमी तथा विद्वानों के [illegible] की संख्या और अधिक रही होगी। [illegible] कहते थे। काँची में एक प्रसिद्ध घटिका था। इस युग में [illegible] का कार्य आरम्भ कर दिया था। गुप्त-वंश के सम्राटों की उदारता से नालन्द बौद्धों का प्रसिद्ध विश्वविद्यालय हो गया था। इस विश्व-विद्यालय में न केवल बौद्ध वरन् हिन्दू तथा जैन दर्शन की भी शिक्षा दी जाती थी। इसी प्रकार अन्य बौद्ध मठ भी इस युग में शिक्षा के केन्द्र बन गये। इस युग में वेदों के अध्ययन की अवहेलना होती थी। इनके स्थान पर पुराण, स्मृति, तर्क, दर्शन, आदि का अध्ययन किया जाता था। संस्कृत व्याकरण का भी अध्ययन अवश्य होता रहा होगा। ज्योतिष का भी अध्ययन धीरे-धीरे बढ़ रहा था। इस काल के ब्राह्मणों में शिक्षा का सबसे अधिक प्रचार था और क्षत्रियों तथा वैश्यों की शिक्षा कम होती जा रही थी। स्त्री शिक्षा में भी कमी होती जा रही थी और शूद्र प्रायः अशिक्षित ही रहते थे। व्यवसायिक शिक्षा प्रायः कुटुम्ब में ही दी जाती थी। परन्तु कभी कभी दूसरों के यहाँ भी शिक्षा लेने के लिये जाना पड़ता था जो निःशुल्क होती थी।

साहित्य—साहित्यिक दृष्टिकोण से भी गुप्त-काल की गौरव-गरिमा अमर-गाथ है। इस युग के साहित्य प्रेमी सम्राटों के आश्रय में साहित्य की अपूर्व उन्नति हुई। संस्कृत भाषा की सत्ता साहित्यिक क्षेत्र में स्थापित हो गई और उसने राष्ट्र भाषा का स्वरूप धारण कर लिया। प्राकृत तथा प [illegible] हो गई। संस्कृत

न केवल भारतीय विद्वान् वरन् विदेशी भी आकर्षित हुये थे। विदेशी सम्राट रुद्र दामन प्रथम इस मनोहर भाषा की ओर आकृष्ट हुआ था और अवकाश के समय इसका अध्ययन करता था। यद्यपि गुप्त-सम्राट वैश्य थे परन्तु संस्कृत से उनका बड़ा अनुराग था और उनके आश्रय में इसकी अपूर्व उन्नति हुई। इस युग में काव्य, नाटक, अलंकार, कथा-साहित्य, दर्शन आदि पर भी ग्रन्थ लिखे गये थे। भास इस युग के एक उच्चकोटि के नाटककार तथा कवि थे। कालिदास तथा बाण ने भास की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। भास के १३ नाटक उपलब्ध हुये हैं। भास की भाषा तथा शैली अत्यन्त मनोहर है। इस [illegible]

था। 'ऋतुसंहार','मालविकाग्निमित्र', 'कुमारसंभव', 'मेघदूत', 'शकुन्तला', 'विक्रमोर्वशी' तथा 'रघुवंश', कालिदास की प्रधान रचनायें हैं। 'कुन्तलेश्वरदौत्य,नामक एक अन्य नाटक [illegible]

[illegible] हैं। शूद्रक इस युग का तीसरा बड़ा नाटककार था। वह चौथी शताब्दी ई० में हुआ था। शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' नामक नाटक की रचना की थी। यह संस्कृत का अत्यन्त मनोरञ्जक नाटक है। विशाखदत्त इस काल का चौथा बड़ा नाटककार था। वह सम्भवतः चौथी शताब्दी ई० में हुआ था। उसने 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक की रचना की थी। इस नाटक में उस क्रान्ति का दिग्दर्शन है जिसके द्वारा चन्द्रगुप्त मौर्य मगध के राजसिंहासन पर बैठा था। विशाखदत्त ने 'देवी-चन्द्रगुप्त' नामक अन्य नाटक लिखा है जिसमें यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार कुमार चन्द्रगुप्त ने अपनी भाभी के वेश में शक-राजा का वध किया था और अन्त में मगध के राजसिंहासन पर बैठ गया। भारवि इस युग का अन्य बड़ा विद्वान् था। वह छठी शताब्दी ई० के मध्य में हुआ था और 'किरातार्जुनीयम' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इस युग के भट्टी नामक विद्वान ने 'रावण वध' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। कुछ विद्वानों के विचार में भर्तृहरि का ही दूसरा नाम भट्टी है। भर्तृहरि ने तीन 'शतकों' की रचना की थी परन्तु अन्य विद्वान् इस धारणा से सहमत नहीं हैं। मातृगुप्त तथा भर्तृमेन्थ इस युग के अन्य लेखक हैं परन्तु इनकी रचनायें उपलब्ध नहीं हैं। सौमिल्ल तथा कविपुत्र भी इस काल के नाटककार थे जो सम्भवतः तीसरी शताब्दी ई० में हुये थे। समुद्रगुप्त का सन्धि विग्रह सचिव हरिषेण एक उच्च-कोटि का कवि था। प्रयाग में अशोक स्तम्भ पर जो उसने समुद्रगुप्त की प्रशस्ति लिखी है वह उच्च-कोटि की कविता है। वासुल जिसने यशोवर्मन की प्रशस्ति लिखी है एक उच्च-कोटि का कवि था। परन्तु उसकी केवल एक छोटी सी कविता उपलब्ध है। रविशान्ति ने मौखरी सम्राट की प्रशस्ति लिखी थी। वत्सभट्टि ने कुमारगुप्त तथा बन्धुवर्मन की मन्दसोर की प्रशस्ति लिखी थी। कुब्ज भी एक प्रशस्ति का लेखक था। वीरसेन शाब चन्द्रगुप्त द्वितीय की राजसभा का कवि था। परन्तु उसका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। यद्यपि गुप्तकाल पुरातन भारत के इतिहास में स्वर्णयुग माना जाता है परन्तु दुर्भाग्य से इस युग में कोई ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं लिखा गया। केवल 'दीपवंश' तथा 'महावंश' की रचना सिंहलद्वीप में हुई थी। नाटक तथा कविता के अतिरिक्त गद्यों की

भी रचना इस युग में हुई थी। विष्णु शर्मन ने मूल 'पंचतंत्र' की रचना गुप्त काल में ही की थी। यह ग्रन्थ बड़ा ही शिक्षा प्रद तथा लोक-प्रिय है। बंगाल के एक चन्द्रगोमिन नामक बौद्ध ने 'चन्द्र-व्याकरण' की रचना इसी युग में की थी। इसी काल में अमरसिंह ने 'अमरकोष' की रचना की थी। 'श्रुत-बोध' की रचना इसी युग में हुई थी। सम्भवतः इसकी रचना कालिदास ने की थी। 'श्रुत बोध' छन्द का ग्रन्थ है। बराहमिहिर ने भी 'वृहत्संहिता' के कुछ भागों में छन्दों की विवेचना की है। सम्भवतः अग्निपुराण का वह अंश जो छन्दों का विवेचना करता है इसी युग में लिखा गया था। इसी प्रकार 'त्रिपु

[illegible] ता है सम्भवतः इसी युग में [illegible] । याज्ञवल्क्य, नारद, कात्या [illegible] लखी गई थी। 'कामन्दकीय [illegible] हुई थी। यह अर्थशास्त्र का ग्रन्थ है और गुप्त-सम्राट के एक मन्त्री द्वारा लिखा गया था। धर्म तथा दर्शन पर भी इस युग में अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे जिनका उल्लेख धार्मिक दशा में किया जा चुका है। इस युग में तामील साहित्य में भी विकास हुआ। परन्तु केवल पद्यों की रचना होती थी गद्य की नहीं। प्रेम तथा युद्ध काव्य के मुख्य विषय होते थे। सम्भवतः 'रामायण' तथा 'महाभारत' का तामील में अनुवाद इसी युग में हुआ था।

**विज्ञान**—गुप्त-काल में विज्ञान भी प्रगतिशील था और गणित, ज्योतिष, वैद्यक [illegible]

[illegible] अभ्यास इस युग में होता था। अङ्कगणित में दशमलव भिन्न का अन्वेषण इसी काल में हुआ था। पेशावर के निकट बख्शाली में प्राप्त पाण्डुलिपि से पता चलता है कि इस युग का गणित कितना विकास कर चुका था। पाटलिपुत्र में आर्यभट्ट प्रथम ने ४९९ ई० में 'आर्यभटीयम' की रचना की थी। इस ग्रन्थ में अङ्कगणित बीजगणित तथा रेखागणित तीनों [illegible]

[illegible] वशिष्ठ सिद्धान्त का प्रयोग आरम्भ हुआ। इसमें राशि तथा लग्न का अन्वेषण हुआ। ३८० ई० में पौलिश सिद्धान्त आया जिससे सूर्य तथा चन्द्र ग्रहण का पता लगाया गया। ४०० ई० में रोमक सिद्धान्त का प्रवेश हुआ। यह सिद्धान्त पश्चिम से भारत में आया था। इसके बाद सूर्य सिद्धान्त आरम्भ हुआ। इस प्रकार ज्योतिष शास्त्र गुप्त काल में गतिशील था और धीरे-धीरे उन्नति कर रहा था। आर्य-भट्ट इस युग के बहुत बड़े ज्योतिषी थे। इन्होंने बड़ी निर्भीकता से पुराणों तथा श्रुतियों के इस कथन का खण्डन किया कि ग्रहण राहु के कारण होता है और यह सिद्ध किया कि चन्द्रमा के सूर्य तथा पृथ्वी के बीच में आ जाने से ग्रहण होता है। आर्यभट्ट पहिले भारतीय थे जिन्होंने इस बात का अन्वेषण किया कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है। आर्य-भट्ट ने और भी कई अन्वेषण किये थे। आर्यभट्ट के कई शिष्यों ने ज्योतिष में 'प्रशंसनीय' कार्य किये थे। बराहमिहिर इस युग के दूसरे प्रतिष्ठित ज्योतिषी थे। यह छठीं शताब्दी ई० में हुये थे। 'पञ्चसिद्धान्तिका' 'वृहज्जातक', 'वृहत् संहिता' तथा 'लघुजातक' बराहमिहिर की ज्योतिष शास्त्र पर रचनायें हैं। इस प्रकार गुप्त काल में ज्योतिष शास्त्र की बड़ी उन्नति हो रही थी।

**वैद्यक**—यद्यपि वैद्यक का गुप्त काल में कोई नया तथा मौलिक ग्रंथ नहीं लिखा गया परन्तु वैद्यक शास्त्र का अध्ययन तथा इसमें अन्वेषण निरन्तर होता रहा था। दूसरी

ताब्दी ई० के अन्त तक 'चरकसंहिता' तथा 'सुश्रुत संहिता' को वर्तमान स्वरूप प्राप्त
... इन ग्रन्थों का सारांश वाग्भट प्रथम
... काल में इनका बड़ा मान था।

में वैद्यक की भी शिक्षा का प्रबन्ध था।

का भी वह प्रकाण्ड पण्डित था। वह न केवल एक चतुर ज्योतिषी था वरन् वनस्पति तथा जन्तु-शास्त्र का भी अच्छा ज्ञाता था। शिल्प-कला का भी उसे अच्छा ज्ञान था परन्तु दुर्भाग्य से इस प्रकाण्ड पण्डित ने अपनी कोई संस्था न स्थापित की।

**कला**—गुप्त-काल (३५०—६५० ई०) कला के दृष्टिकोण से भी बड़े गौरव का युग था। इस युग में भिन्न भिन्न कलाकारों की कीर्ति सम्पूर्ण भारत में व्याप्त हो गई थी। इस ... पूर्णता को प्राप्त हो गई थीं। वास्तु-कला, मूर्ति-निर्माण कला, चित्र-कला ... मौलिकता तथा पूर्णता प्राप्त हो गई। ... द्वितीय है। गुप्त-काल समृद्धि तथा ... नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति हुई ... में हुआ था। इन अनुकूल परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न कलाओं का विकास स्वाभाविक था।

**मूर्ति निर्माण कला**—गुप्त काल में मूर्ति-पूजा का बहुत प्रचार हो गया था। अतएव इस युग में मूर्ति निर्माण कला की बड़ी अभिवृद्धि हुई। इन मूर्तियों में सुन्दरता तथा नैतिकता का सम्मिश्रण है। नग्न मूर्तियों का निर्माण इस युग में बन्द सा हो गया था। आभ्यान्तरिक भावनाओं तथा बाह्याकार में पूर्ण सामञ्जस्य इस युग में मिलता है। बुद्ध जी की इस काल की तीन मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं अर्थात् सारनाथ की बैठी हुई मूर्ति, मथुरा अजायबघर की खड़ी बुद्ध जी की मूर्ति और सुल्तानगंज की ताम्र-मूर्ति जो आजकल बर्मिंघम के अजायबघर में है। घुँघराले बाल, आभूषणालंकार तथा वस्त्र-परिवेष्टन इन मूर्तियों की विशेषतायें हैं। गुप्त काल हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान का काल माना जाता है। इस युग में शैव तथा वैष्णव धर्म का प्रचार हुआ। अतएव इस काल में शिव की बड़ी सुन्दर मूर्तियों का निर्माण हुआ था। गुप्त-काल के एकमुखी तथा चतुर्मुखी शिवलिंग अत्यन्त अनूठे हैं। अर्धनारीश्वर स्वरूप में शिव की मूर्तियों का निर्माण इसी काल में किया गया था। गुप्त-काल में विष्णु की भी अनेकों मूर्तियाँ बनाई गई थीं। मथुरा की विष्णु मूर्ति अत्यन्त मनोहर है। विष्णु के भिन्न-भिन्न अवतारों की भी मूर्तियाँ इस युग में बनी थीं। भगवान् के वामनावतार की मूर्तियाँ छोटी हैं और उनमें आयुध पुरुष दिखलाया गया है। उदयगिरि में भगवान् की वराह मूर्ति मिली है। गुप्त-काल के अभिलेखों से पता चलता है कि इस युग में सूर्य-पूजा प्रचलित थी। सूर्यदेव की भी मूर्तियों का निर्माण इस काल में ... है।

तक बनी थीं। इन गुफाओं के चित्रों में चित्रकार ने छोटे से फूल अथवा मोती से ार समस्त आकृति की रचना में अपनी कला-कौशल प्रदर्शित किया है। उनमें अनेक ार का अङ्गविन्यास, मुख मुद्रा, भाव-भङ्गी तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग की सुन्दरता, नाना प्रकार केश-पाश, वस्त्राभरण, रूप रंग आदि सुन्दरता से दिखाये गये हैं। मालवा में बाघ की चित्र-कला अत्यन्त सुन्दर है। इसकी शैली वही है जो अजन्ता की गुफाओं की चित्र-ा की। पुदुकोत्तई राज्य में सित्तन्नवसल (सिद्धानामवास) के गुहा मन्दिर की चित्र-ारी पल्लव राजा महेन्द्र वर्मन के समय में की गई थी। यहाँ की भी चित्रकारी अति-ोहर है विशेषकर एक राजा और एक रानी की और दो अप्सराओं की। लंका की भी ा युग की चित्रकारी बड़ी सुन्दर है।

संगीत तथा वाद्य—गुप्त-काल में संगीत तथा वाद्य-कला भी उच्च कोटि की थी। प्त-कालीन सम्राट सङ्गीत प्रेमी थे और सङ्गीतज्ञों के आश्रयदाता थे। सम्राट् समुद्रगुप्त ो वीणा से बड़ा प्रेम था और प्रयाग के स्तम्भ लेख से विदित होता है कि उसने सङ्गीत ं नारद तथा तुम्बुरू को भी मात कर दिया था।

मुद्रा—गुप्त-कालीन मुद्रा का इतिहास चन्द्रगुप्त प्रथम के समय से आरम्भ होता है। न्द्रगुप्त प्रथम ने जब महाराजधिराज की उपाधि धारण की तब उसने स्वर्ण मुद्रायें ारम्भ की। एलन के विचार में वह मुद्रायें जिन पर चन्द्रगुप्त तथा उसकी स्त्री कुमार वी की आकृतियाँ बनी हैं स्मृति मुद्रायें हैं और उन्हें समुद्रगुप्त ने चलाई थीं। परन्तु हुत से विद्वान् इस विचार से सहमत नहीं हैं और उन्हें चन्द्रगुप्त की मुद्रायें ही मानते [illegible] तथा कुमारदेवी की आकृतियाँ [illegible] पर बैठी दुर्गा की आकृति [illegible] मुद्रायें परवर्ती कुषाण सम्राटों [illegible] ११८-१२२ ग्रेन हैं और बहुत [illegible] रहने खड़ा है। परन्तु धीरे-धीरे इन मुद्राओं को हिन्दू संस्कृति के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया जाने लगा। कुषाणों की भाँति गुप्त सम्राट टोपी नहीं लगाते थे और मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर लक्ष्मी कमल पर आसीन है। समुद्रगुप्त ने कई नये ढंग की मुद्राएँ चलाईं। उसकी मुद्राएँ कम से कम छः प्रकार की थीं। कुछ स्मृति मुद्राएँ हैं। कुछ उसके जीवन तथा शासन से [illegible]

[illegible] ोग की। कुमार गुप्त प्रथम की मुद्रायें १२१ ग्रेन की कर दी गई थी। स्कन्द गुप्त ने उनका भार १४४ ग्रेन कर दिया। कुमार गुप्त प्रथम के काल में भी रजत मुद्रायें आन्त-रिक प्रयोग के लिये चलाई गई थीं। रजत-मुद्राओं में भी कुषाणों की मुद्राओं की अनुकरण मात्र थीं। परन्तु धीरे-धीरे उनका भी भारतीयकरण हो गया। बुधगुप्त ने भी रजत-मुद्राओं का प्रयोग किया था। स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों ने प्रायः स्वर्ण मुद्राओं का ही प्रयोग किया था। गुप्तकाल की ताम्र मुद्रायें बहुत कम मिली हैं। सम्भवतः कौड़ी के प्रयोग के कारण यह मुद्राएँ कम प्रचलित थीं।

द्वितीय ने एक ऐसे विशाल, सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित शासन की स्थापना की थी कि वह कई शताब्दियों तक चलता रहा। गुप्त-कालीन शासन उदार तथा दयापूर्ण था। उसमें प्रजा को पूर्ण स्वतन्त्रता थी और बाह्य तथा आन्तरिक आपत्तियों से सुरक्षा थी। यद्यपि

[illegible]

था। तालाबों तथा जल कुण्डों का निर्माण कर कृषि में बड़ा योग दिया गया था। राज्य की ओर से न केवल प्रजा की ऐहिक वरन् नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का भी प्रयत्न किया जाता था। राज्य का आश्रय हिन्दू, बौद्ध तथा जैन तीनों धर्म वालों को प्राप्त था। स्थानीय संस्थाओं को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी और स्वायत्त शासन को प्रोत्साहन दिया जाता था। राज्य की ओर से दीन, दुखियों तथा रोगियों की पूरी व्यवस्था थी। अतएव

[illegible]

चरम उन्नति के कारण ही इसकी तुलना एलिज़बेथ तथा पेरीक्लीज़ के युग से की गई है। गुप्त-काल में भौतिक, आध्यात्मिक तथा दर्शन सभी प्रकार के साहित्य की अभिवृद्धि हुई। ईश्वर कृष्ण ने "सांख्यकारिका" की रचना करके सांख्य दर्शन के तत्वों की समीक्षा

[illegible]

"प्रमाण समुच्चय" की रचना इसी काल में की थी। महायान सम्प्रदाय के दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन को इस युग में अपार सम्पत्ति प्रदान की। हिन्दू दर्शन भी बड़ा ही प्रगतिशील था। कई स्मृतियों की रचना तथा पुराणों का परिवर्धन इसी युग में हुआ था। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्य तथा दर्शन इस काल में उन्नति की चरम सीमा पर थे। अतएव इस काल को साहित्यिक दृष्टिकोण से स्वर्ण-युग मानना सर्वथा उचित है।

[illegible] बहुत [illegible] काल [illegible] साम- [illegible] धर्म [illegible] अपने दर्शन के पोषण तथा परिवर्धन में संलग्न थे। [illegible] अभिवृद्धि तथा सत्य के अन्वेषण में निरत रहते [illegible] का विकास द्रुतगति से हो रहा था। सभी धर्म [illegible] धार्मिक सहिष्णुता के अवलम्ब को न छोड़ते [illegible] बड़ी ही शिष्टता तथा उदारता के साथ होते थे। [illegible] इन्डो-चीन तथा पूर्वी द्वीप समूह तक हो गया था। [illegible] अपने में मिला कर अपनी धार्मिक उदारता तथा व्याप-

य का खूब प्रचार हुआ। भारतीय सामाजिक नियमों का वहाँ अनुसरण होने लगा। ीय धर्म तथा कला का खूब प्रचार हुआ और भारतीय शासन-व्यवस्था का भी रण किया जाने लगा। अतएव विदेशों में सभ्यता तथा संस्कृति के प्रचार के दृष्टि-से भी गुप्त-काल स्वर्ण युग ही प्रतीत होता है।

निष्कर्ष—उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त-काल भारतीय इति- में अद्वितीय है। इसकी बराबरी भारतीय इतिहास का कोई दूसरा काल नहीं कर ा। यद्यपि मौर्य-काल में भी राज्य विस्तार प्रचुर मात्रा में हुआ था "परन्तु इस काल ह चतुरस उन्नति नहीं थी जो गुप्त-काल में दिखाई पड़ती है। कवियों, लेखकों दार्शनिकों का जो त्रिवेणी सङ्गम इस काल में दिखाई पड़ता है उसके दर्शन अन्यत्र ! ललित कला की जो चरम-सीमा इस काल में दृष्टि-गोचर होती है वह अन्यत्र सम्भव है?" सारांश यह है कि गुप्त-काल में भारत की सर्वांगीण उन्नति हुई थी। नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक सभी दृष्टि-कोणों से भारत ोन्नति को प्राप्त हो गया था। विदेशों में भारतीय गौरव बढ़ा था। वास्तव में यह त की चूड़ान्त उन्नति का काल था और इसके बाद हर्ष के भगीरथ प्रयास करने भी भारत पतनोन्मुख होने से न रुक सका। अतएव गुप्त-काल को भारतीय इतिहास स्वर्ण-युग कहना सार्थक है और इस देश के इतिहास में उसे सर्वोच्च स्थान प्रदान ा चाहिये।

उपरोक्त उन्नति के कई कारण थे। डा० स्मिथ के विचार में इस उन्नति का सबसे ा कारण भारतीयों का विदेशियों के साथ सम्पर्क स्थापित होना था। इस युग में भारत न्तर चीन तथा पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में था। अतएव विचारों का आदान-प्रदान ा रहा। इसके अतिरिक्त गुप्त साम्राज्य का समुद्र तक विस्तार हो जाने के कारण रत का पाश्चात्य देशों से व्यापार बढ़ गया परन्तु गुप्त कालीन समृद्धि का सबसे बड़ा रण गुप्त सम्राटों की उदारता तथा दयालुता थी।

## अध्याय ३२

# वाकाटक-वंश

**वाकाटक कौन थे ?**—लगभग २२५ ई० में सातवाहन राज्य छिन्न [illegible]

परन्तु तीसरी शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में यहाँ वाकाटक वंश की सत्ता स्थापित हो ग[illegible]

[illegible] में वाकाटक वंश वाले मूलतः बुन्देलखण्ड के एक वाकाट नामक गांव से आये थे [illegible] आजकल बगात कहलाता है और ओरछा राज्य में है। परन्तु अभी तक यह नहीं मालू[म] हो सका है कि वाकाटकों का इस प्रदेश से क्या सम्बन्ध था। कुछ विद्वानों के विचार [illegible] वाकाटक लोग पन्ना राज्य की किलकिला नदी के किनारे से आये थे। आन्ध्र प्रदेश के ए[क] अभिलेख से पता चलता है कि वाकाट यात्री स्थानीय स्तूपों को देखने के लिये आय[ा] था। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि वाकाटक विन्ध्या पर्वत के दक्षिण में रह[ते] होगा उत्तर में नहीं।

**विन्ध्य शक्ति (२५५-२७५ ई०)**—वाकाटक वंश का संस्थापक विन्ध्यशक्ति था। सम्भवतः विन्ध्यशक्ति के पूर्वज सातवाहन राजाओं की ओर से बरार में शासन करते थे। जब सातवाहन सत्ता समाप्त हो गई तब यह लोग सम्भवतः स्वतन्त्र हो गये। आरम्भ में विन्ध्य के अधिकार में केवल एक ही दो जिले थे। परन्तु उसने विन्ध्य को पार कर मालवा के कुछ भाग तक अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। पुराणों के अनुसार विन्ध्यशक्ति विदिशा का शासक था और पुरीका अर्थात् विदभ उसकी राजधानी थी।

**प्रवरसेन प्रथम (२७५-३३५ ई०)**– विन्ध्य शक्ति के बाद उसका पुत्र प्रवर-

राज्य को एक वृहत् साम्राज्य में बदल दिया जिसके अन्तर्गत उत्तरी महाराष्ट्र, बरार, मध्यप्रान्त तथा हैदराबाद का बहुत बड़ा भाग आ गया था। इसके अतिरिक्त दक्षिण कोशल, बघेलखण्ड, मालवा, गुजरात तथा काठियावाड़ में उसका प्रभुत्व स्थापित हो गया था। अतएव प्रवरसेन का सम्राट की उपाधि लेना तथा अश्वमेध यज्ञ करना सर्वथा उचित था। प्रवरसेन के चार पुत्र थे जिनमें गौतमी पुत्र सबसे बड़ा था। परन्तु प्रवरसेन के जीवन काल में ही उसका परलोकवास हो गया था। अतएव प्रवरसेन की मृत्यु के उपरान्त उसका पौत्र रुद्रसेन प्रथम जो गौतमी पुत्र का बेटा था राजसिंहासन पर बैठा। प्रवरसेन के दूसरे पुत्र सर्वसेन ने दक्षिण बरार में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया।

**रुद्रसेन प्रथम (३३५-३६० ई०)**—रुद्रसेन के तीन चाचा थे जिन्होंने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था। रुद्रसेन का इनसे घोर संघर्ष हुआ। परन्तु अपने नाना भवनाग की सहायता से दो पर उसने सम्भवतः विजय प्राप्त कर ली। भवनाग भारशिव वंश का राजा था और ग्वालियर के निकट पद्मावती में राज्य कर रहा था। रुद्रसेन के तीसरे चाचा सर्वसेन के वंशज बहुत दिनों तक दक्षिण बरार में शासन करते रहे। रुद्रसेन के अल्पवयस्क तथा अनुभव-शून्य होने के कारण बहुत से सामन्तों ने इससे लाभ उठाया और स्वतन्त्र हो गये परन्तु भवनाग की सहायता से रुद्रसेन ने अपनी दशा सुधार ली और शेष राज्य पर एकछत्र राज्य किया। कुछ विद्वानों के विचार में रुद्रसेन का गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त से कौशाम्बी के युद्ध में घोर संग्राम हुआ जिसमें रुद्रसेन पराजित हुआ और मारा गया। परन्तु डा० अल्तेकर ने बड़ी योग्यता से इस मत का खण्डन किया

**पृथ्वीषेण (३६०-३८५ ई०)**—जिस समय पृथ्वीषेण राजा हुआ उस समय वाकाटक वंश की दूसरी शाखा में जो दक्षिण बरार में शासन करती थी सर्वसेन का पुत्र विन्ध्यसेन राज्य करता था। पृथ्वीषेण के समय में दोनों शाखाओं में बड़ा प्रेमभाव बना रहा। सम्भवतः बरार की शाखा ने प्रधान शाखा के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था। पृथ्वीषेण के समय में दोनों शाखाओं ने मिलकर कुन्तल अथवा दक्षिण महाराष्ट्र पर आक्रमण कर दिया था और उसे अपने राज्य में मिला लिया था। इस विजय से वाकाटक वंश की धाक बहुत बढ़ गई। पृथ्वीषेण के समय की दूसरी महत्वपूर्ण घटना वाकाटक तथा गुप्त वंश का वैवाहिक सम्बन्ध था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्त का विवाह पृथ्वीषेण के पुत्र रुद्रसेन के साथ ३८० ई० में कर दिया था। इस विवाह के पाँच वर्ष बाद ३८५ ई० में पृथ्वीषेण का परलोकवास हो गया।

**रुद्रसेन द्वितीय (३८५-३९० ई०)**—पृथ्वीषेण की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र रुद्रसेन द्वितीय राजा हुआ। वह चंद्रगुप्त द्वितीय के प्रभाव में था। उसने अपने पूर्वजों के शैव धर्म को त्याग कर वैष्णव धर्म को स्वीकार कर लिया था। इस समय वाकाटक राज्य बड़ा सर्वशक्तिशाली हो गया था और उसका कोष रुपयों से परिपूर्ण था। परन्तु दुर्भाग्यवश पाँच ही वर्ष के शासन के पश्चात् रुद्रसेन की ३९० ई० में मृत्यु हो गई। इस समय उसकी अवस्था केवल ३० वर्ष की थी और उसकी स्त्री प्रभावती केवल २५ वर्ष की थी।

**दिवाकर सेन (३९०-४०३ ई०)**—रुद्रसेन द्वितीय के दो पुत्र थे। दिवाकर

सेन तथा दामोदर सेन। रुद्रसेन की मृत्यु के समय दिवाकर की अवस्था ५ वर्ष की और

सम्भाल ली। इस समय वाकाटक वंश की बरार की शाखा में विन्ध्यशक्ति द्वितीय राज्य करता था। उसने प्रभावती का किसी प्रकार का विरोध नहीं किया और दोनों शाखाओं में प्रेम भाव बना रहा। प्रभावती के संरक्षण के तेरहवें वर्ष दुर्भाग्य से दिवाकरसेन की मृत्यु हो गई।

**प्रवरसेन द्वितीय (४१०-४४० ई०)**—दिवाकरसेन की मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई दामोदरसेन राजसिंहासन पर बिठाया गया और प्रभावती संरक्षिका के रूप में रही। छः सात वर्ष बाद ४१० ई० में दामोदर सेन प्रवरसेन द्वितीय के नाम से राजा हुआ। शासन करती प्रभावती २५ वर्ष और जीवित रही और ७१ वर्ष की अवस्था में उसका परलोकवास हुआ। इस समय प्रवरसेन की अवस्था लगभग २० वर्ष की थी। प्रवरसेन द्वितीय की सामरिक प्रवृत्ति न थी और न वह महत्वाकांक्षी था। अतएव अपने पैतृक राज्य से ही उसने अपने को सन्तुष्ट रक्खा। प्रवरसेन की साहित्य में बड़ी अभिरुचि थी। उसने प्राकृत में एक काव्य लिखा था। इसका नाम सेतुबन्ध है। इसमें राम की लंका विजय का वर्णन है। प्रवरसेन ने एक नई राजधानी बनाई जिसका नाम उसने प्रवरपुर रक्खा। इस समय वाकाटक वंश की बरार की शाखा में भी प्रवरसेन द्वितीय नामक राजा राज्य करता था। प्रधान शाखा के प्रवरसेन द्वितीय ने अपने पुत्र नरेन्द्रसेन का विवाह कुन्तल की राजकुमारी अजीत भट्टारिका के साथ कर दिया था। ३० वर्ष के शासन के उपरान्त ४४० ई० में प्रवरसेन की मृत्यु हो गई।

**नरेन्द्रसेन (४४०-४६० ई०)**—प्रवरसेन के बाद उसका पुत्र नरेन्द्रसेन राजसिंहासन पर बैठा। उसे अपने राजत्व काल में अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ा। सम्भवतः सिंहासन के लिये भी उसे अपने भाई तथा भतीजे से लोहा लेना पड़ा। परन्तु सबसे बड़ी आपत्ति नल सम्राट् भवदत्त वर्मन का आक्रमण था जो बस्तर राज्य में राज्य करता था। भवदत्त को इस युद्ध में विजय प्राप्त हुई और उसने नरेन्द्रसेन के राज्य के कुछ भाग पर अपना अधिकार जमा लिया। परन्तु भवदत्त की मृत्यु के उपरान्त नरेन्द्रसेन ने न केवल अपने इस खोये हुये राज्य पर विजय प्राप्त की वरन् उसने बस्तर के कुछ भाग पर भी अपना अधिकार जमा लिया। सम्भवतः मालव देश पर भी नरेन्द्रसेन की सत्ता स्थापित हो गई थी। परन्तु यह अधिक दिन तक वाकाटक वंश के अधिकार में न रह सका और स्कन्दगुप्त के समय में यह फिर गुप्त साम्राज्य में चला गया। सम्भवतः मेकल तथा दक्षिण भारत का कोशल भी नरेन्द्रसेन के अनुशासन में आ गया था। ४६० ई० में नरेन्द्रसेन की मृत्यु हो गई।

**पृथ्वीषेण द्वितीय (४६०-४८० ई०)**—नरेन्द्रसेन के बाद उसका पुत्र पृथ्वीषेण द्वितीय राजा हुआ। अपने पिता की भांति उसे भी अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ा। उसके शासन काल में त्रैकूटक वंश के राजा ने जो दक्षिण गुजरात में शासन करता था वाकाटक राज्य पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में सम्भवतः पृथ्वीषेण को पराजय हो गई थी उसे अपने कुछ ज़िले भी देने पड़े परन्तु थोड़े ही दिन बाद पृथ्वीषेण ने अपने खोये हुये ज़िलों को फिर जीत लिया। पृथ्वीषेण की मृत्यु के उपरान्त वाकाटक वंश की प्रधान शाखा समाप्त हो गई। इसके बाद बरार की वाकाटक शाखा का हरिषेण दोनों शाखाओं का राजा हो गया।

**बसीम शाखा**—प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु के उपरान्त उसके छोटे पुत्र सर्वसेन ने दक्षिण बरार में बसीम में ३३० ई० में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर दिया था। सर्वसेन का शासन लघु कालीन था और उसके शासन काल के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है। सर्वसेन के बाद उसका पुत्र विन्ध्यसेन राजा हुआ जिसने लगभग ५० वर्ष तक शासन किया। वह एक वीर महत्वाकांक्षी शासक था। उसने कुन्तल (दक्षिण महाराष्ट्र) को जीत कर अपने राज्य में सम्मिलित किया था। विन्ध्यशक्ति द्वितीय के बाद उसका पुत्र प्रवरसेन द्वितीय राजा हुआ जिसने ४०० से ४१५ ई० तक राज्य किया। प्रवरसेन के बाद उसका आठ वर्षीय पुत्र राज्य सिंहासन पर बैठा। इस राजा के नाम का पता नहीं लग सका है। सम्भवतः प्रधान शाखा का सम्राट दस वर्ष तक संरक्षक के रूप में बसीम का शासन चलाता रहा। इसके बाद पूर्ण वयस्क हो जाने पर बसीम के राजा ने शासन को अपने हाथ में ले लिया और लगभग ४५५ ई० तक शासन किया। उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र देवसेन राजा हुआ जिसने लगभग ४७५ ई० तक शासन किया। वह एक विलासी सम्राट था। अतएव शासन का सारा भार उसके योग्य तथा लोक-प्रिय मन्त्री हस्तिभोज के हाथ में था। देवसेन के बाद उसका पुत्र हरिषेण राजा हुआ। उसने लगभग ५१० ई० तक राज्य किया। वह बसीम शाखा का सबसे अधिक शक्तिशाली राजा था। वह न केवल बसीम शाखा का वरन् वाकाटक की प्रधान शाखा का भी शासक हो गया। परन्तु वह इतने से ही सन्तुष्ट न हुआ। उसने अपने बाहु-बल से गुजरात, मालव, दक्षिण कोशल, आन्ध्र तथा कुन्तल प्रदेश पर अपनी सत्ता स्थापित कर दी। जिस समय हरिषेण की मृत्यु हुई उस समय वाकाटक राज्य चरमोन्नति पर था। हरिषेण की मृत्यु के उपरान्त वाकाटक वंश का पतन आरम्भ हुआ और केवल ४० वर्ष में अर्थात् ५५० ई० में इस वंश ...का सूर्य तिरोहित हो गया। वाकाटक वंश के पतन के कारणों का ठीक-ठीक पता नहीं लग ...सका है। कुछ विद्वानों के विचार में राष्ट्रकूटों के उत्थान ने वाकाटक वंश का अन्त कर ...। परन्तु डा० अल्तेकर ने इस मत का बड़ी योग्यता से खण्डन किया है और यह ...करने का प्रयत्न किया है कि वाकाटक वंश का पतन कर्णाटक के कदम्ब वंश, उत्तरी ...ष्ट्र के कलचुरी वंश तथा बस्तर के नल वंश द्वारा किया गया। हरिषेण के निर्बल ...धिकारियों के समय में इन राज्यों ने वाकाटक राज्य को छीनना आरम्भ किया और ...ही समय में उसे समाप्त कर दिया। परन्तु इनमें से कोई भी साम्राज्य न स्थापित ...का। अन्त में चालुक्य वंश ने इन सब पर विजय प्राप्त कर दक्षिण भारत में एक ...ल साम्राज्य की स्थापना की।

---

# हूणों का भारत में प्रभाव

**हूण कौन थे**—हूण वास्तव में ह्यू ग नू शब्द से निकला है। संस्कृत साहित्य तथा अभिलेखों में ह्यू ग नू को हूण के नाम से पुकारा गया है। यह लोग मंगोल जाति

पूर्वक रक्त-पात करने तथा उनकी सम्पत्ति लूटने और जला कर नष्ट कर देने में उन्हें कण-मात्र संकोच नहीं होता था। यह बड़े ही पर्यटनशील होते थे और लूट-खसोट इनकी जीवन-वृत्ति का प्रमुख साधन था। लेखन-कला तथा अन्य ललित कलाओं के ज्ञान से यह लोग शून्य थे।

**हूणों का पर्यटन**—हूण बड़े ही पर्यटनशील जाति के लोग थे। यह मूलत मध्य एशिया के स्टेपीज में रहते थे। चीन के साथ इनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। लगभग १६५ ई० पू० में इन लोगों ने यूचियों को परास्त कर उत्तरी पश्चिमी चीन से भगा दिया। परन्तु कुछ दिनों पश्चात् उन्हें स्वयं मध्य एशिया से चल देना पड़ा। जब उनकी जनसंख्या बढ़ी और उस बंजर भूमि में जीविका साधन की कठिनाई उत्पन्न हुई तब वे पश्चिम की ओर चल पड़े। यह दो टोलियों में निकले थे। एक टोली यूरोप पहुँची और रोम राज्य में बर्बरता करना आरम्भ किया। इनकी दूसरी टोली आक्सस नदी की घाटी में पहुँची। यह लोग श्वेत हूण कहलाये। ४२० ई० के लगभग इन लोगों ने आक्सस

ना आरम्भ किया। इस समय

था। उसने सफलता पूर्वक

के राजा फीरोज को परास्त कर

**भारत पर आक्रमण**—हूणों का पहिला आक्रमण ४६१ ई० के पूर्व स्कन्दगुप्त के काल में हुआ था। हूणों ने अफगानिस्तान तथा उत्तर-पश्चिम के पर्वतीय मार्गों को पार कर गुप्त साम्राज्य के पश्चिमी भाग पर आक्रमण कर दिया। परन्तु स्कन्दगुप्त ने उन्हें बुरी तरह परास्त कर भारत से खदेड़ दिया। जब ४८४ ई० में हूणों ने फारस के राजा फीरोज को युद्ध में परास्त कर मार डाला तब फिर उनका आक्रमण भारत पर आरम्भ हो गया। यह आक्रमण अत्यन्त भयानक था और इसने गुप्त-साम्राज्य को हिला दिया था। हूणों का यह आक्रमण तोरमाण के नेतृत्व में हुआ था।

**तोरमाण**—कई अभिलेखों, मुद्राओं तथा कल्हन की राजतरंगिणी में तोरमाण का नाम मिलता है। कुछ विद्वानों के विचार में तोरमाण हूण नहीं वरन् कुषाण था जिसने हूणों से मैत्री करके उनका नेतृत्व ग्रहण कर लिया था। तोरमाण ने गुप्त साम्राज्य के पश्चिमी भाग को अपने अधिकार में कर लिया और धीरे-धीरे मध्य भारत तक अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। तोरमाण ने इस भ ई० के बाद

बड़ा विश्वासघात किया। उसने षड्यन्त्र रचकर काश्मीर के राजा को गद्दी से उतार दिया और स्वयम् सिंहासन पर बैठ गया। कुटिलता से प्राप्त राज्य का उपभोग वह अधिक दिनों तक न कर सका। एक वर्ष के भीतर ही उसका परलोकवास हो गया। मिहिरकुल के बाद हूणों का कोई अन्य योग्य नेता न हुआ। अतएव कुछ ही दिनों में हूणों का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

**हूणों का पतन**—मिहिरकुल की मृत्यु के बाद ही हूणों का पतन आरम्भ हो गया। मिहिरकुल के उत्तराधिकारी बिलकुल निकम्मे थे और साम्राज्य के सँभालने की उनमें शक्ति न थी। अतएव उनका क्रमशः अधःपतन होता गया। दक्षिण में राजपूतों का उत्थान आरम्भ हो गया और तुर्कों ने जो मध्य एशिया में अत्यन्त प्रबल हो गये थे उत्तर की ओर से हूणों पर आक्रमण कर दिया। इस प्रकार दो प्रबल शक्तियों के प्रहार ने हूणों के अस्तित्व को समाप्त कर दिया। राजनैतिक सत्ता के खो देने के उपरान्त जो हूण बचे थे वे भारतीयों में घुल मिल गये।

**हूणों का आचार**—हूण निरे असभ्य, बर्बर तथा निर्दयी जाति के लोग थे। अपनी निर्दयता तथा बर्बरता के लिये वे यूरोप में भी बदनाम थे। उनकी तामसिक प्रवृत्ति

# अध्याय ३४

# वल्लभी के राजा

**वंश-विकास** - हूणों के आक्रमण का गुप्त साम्राज्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। हूणों की बर्बरता ने गुप्त-साम्राज्य की जड़ को हिला दिया और वह साम्राज्य जिसका निर्माण समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने बाहु बल से किया था छिन्न भिन्न होने लगा और साम्राज्य के सामन्तों तथा सरदारों ने अवसर पाकर अपने को स्वतन्त्र कर लिया। सौराष्ट्र गुप्त-साम्राज्य का एक प्रान्त था। सब से पहिले इसी प्रान्त ने गुप्त-साम्राज्य से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और अपने आप को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। इस समय सौराष्ट्र में सेनापति भट्टार्क शासन करता था। उसने वल्लभी में नये वंश के शासन की स्थापना की। अभी तक यह निश्चित नहीं हो पाया है कि भट्टार्क किस जाति का था। डा॰ स्मिथ के विचार में वह ईरानी था। परन्तु यह धारणा निर्मूल सिद्ध कर दी गई है। वास्तव में भट्टार्क भारतीय था। संभवतः यह मैत्रक जाति का था। सेनापति भट्टार्क जो इस वंश का संस्थापक माना जाता है गुप्त-सम्राट् का सामन्त था और सौराष्ट्र अर्थात् काठियावाड़ में शासन करता था। भट्टार्क का पुत्र धरसेन भी सेनापति ही कहलाता था। धरसेन के छोटे भाई द्रोणसिंह ने महाराज की उपाधि ली थी। यह उपाधि गुप्त-सम्राट् द्वारा प्रदान की गई थी। इससे यह परिणाम निकाला गया है कि वल्लभी के प्रारम्भ के शासक

[illegible]

प्रथम तथा धरसेन क्रम से राजा हुए। इन लोगों ने भी महाराज की ही उपाधि धारण की थी। इससे यह स्पष्ट है कि यह दोनों शासक भी स्वतन्त्र नहीं थे। परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे गुप्त-सम्राट् के अधीन थे अथवा हूणों के जिन्होंने पश्चिम तथा मध्य-भारत पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। परन्तु धीरे-धीरे इस वंश की शक्ति बढ़ती गई और ध्रुवसेन द्वितीय के समय में पूर्णरूप से स्वतन्त्र हो गया।

**ध्रुवसेन द्वितीय**—चीनी यात्री ह्वेनसांग ध्रुवसेन के समय में वल्लभी गया था। उसने लिखा है कि वल्लभी का राजा क्षत्रिय जाति का था और शीलादित्य का भतीजा था जो उसके पहिले मालवा का राजा था। ह्वेनसाँग ने यह भी लिखा है कि ध्रुवसेन कान्य-कुब्ज के राजा शीलादित्य का जामाता था। ह्वेनसाँग के लेख से यह भी ज्ञात होता है कि ध्रुवसेन अथवा ध्रुवभट्ट बड़े ही संकीर्ण विचार तथा उग्र स्वभाव का व्यक्ति था। ध्रुवसेन द्वितीय अथवा ध्रुवभट्ट का कन्नौज के राजा हर्षवर्धन के साथ संघर्ष हुआ था। हर्षवर्धन ने वल्लभी पर आक्रमण कर दिया था। ध्रुवसेन पराजित होकर भड़ौंच भाग गया और वहाँ के राजा के यहाँ शरण ली। भड़ौंच की सहायता से ध्रुवसेन ने फिर अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त कर लिया। इतना तो निश्चय ही है कि जिस समय ह्वेनसांग भारत आया था उन दिनों वल्लभी के सिंहासन पर ध्रुवसेन ही आरूढ़ था। ध्रुवभट्ट ने अपने विरोधी हर्ष की कन्या के साथ विवाह कर लिया और उसका सम्बन्धी तथा मित्र बन गया। जिस

हर्ष ने प्रयाग में एक सभा की थी उस समय उसका जामाता तथा मित्र ध्रुव
उपस्थित था।

**धरसेन चतुर्थ**—ध्रुवसेन द्वितीय के बाद उसका पुत्र धरसेन चतुर्थ राजसिं
। वह एक वीर तथा प्रतापी सम्राट था। उसने परम भट्टार्क, महाराजाधि
र तथा चक्रवर्तिन की उपाधि धारण की थी। इन उपाधियों से यह स्पष्ट है कि
से स्वतन्त्र और एक शक्तिशाली सम्राट था। उसने सम्भवतः गुर्जरों पर वि
ली थी और उन पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। धरसेन चतुर्थ के
सम्भवत. भट्टी कवि ने अपने काव्य की रचना की थी। धरसेन के बाद इस वं
१०० वर्ष तक राज्य किया। परन्तु इस काल के राजाओं के विषय में अधि
है। इस वंश का अन्तिम राजा शीलादित्य सप्तम था और इसका राज्य लग
०तक रहा। सम्भवत इस वंश के राज्य का अन्त अरबों द्वारा किया गया था।
वंश का २५० वर्षों के शासन के उपरांत अंत हो गया परंतु वल्लभी का गौरव
। वह विद्या का एक महान् केन्द्र बना रहा। ह्वेनसॉंग ने लिखा था कि उसके
समय वल्लभी विद्या तथा वैभव का केन्द्र था। वहाँ पर अनेक बौद्ध मठ थे
विद्वान् महात्मा निवास करते थे। चीनी यात्री इत्सिंग ने भी लिखा है कि
त में नालन्दा तथा वल्लभी विद्या के बहुत बड़े केन्द्र थे। मैत्रक वंश के
मिक सहिष्णुता थी। ध्रुवसेन वैष्णव था और परमभागवत
री शिव के उपासक थे और उसकी भतीजी बौद्ध थी। उस
या था। इस वंश के कई राजा बौद्ध धर्मानुरागी थे।

# अध्याय ३५

# मौखरी-राज्य

**मौखरी कौन थे ?**—मौखरी वंश अत्यन्त प्राचीन वंश था। सम्भवतः पाणिनि [और] पतञ्जलि इनसे परिचित थे। परन्तु गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद मौखरी बहुत [प्रसि]द्ध हो गये। मौखरी लोग अपने को अश्वपति की सन्तान मानते थे और सम्भवतः [क्ष]त्रिय जाति के थे। मौखरियों की कई शाखायें थीं अर्थात् बड़वा की शाखा, बिहार की [शा]खा तथा संयुक्त-प्रान्त की शाखा।

**बड़वा की शाखा**—बड़वा कोटा राज्य में था। यह नागों की राजधानी [पद्मा]वती से ५५० मील पश्चिम की ओर था। तीसरी शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में यहाँ [मौ]खरियों का राज्य था। २३० ई० में महासेनापति बल मौखरियों का शासक था। उन [दि]नों महासेनापति की उपाधि सामन्तों को मिला करती थी। अतएव यह स्पष्ट है कि [ब]ल केवल सामन्त मात्र था। परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह उज्जयिनी के महाक्षत्रपों का सामन्त था अथवा पद्मावती के नाग राजाओं का। बल तथा [उ]सके उत्तराधिकारी वैदिक धर्म के अनुयायी थे। बल के तीन पुत्रों ने २३९ ई० में एक [य]ज्ञ किया था। इस वंश के इतिहास का पूरा पता नहीं चलता है। अतएव यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये बिहार तथा कन्नौज के मौखरियों से सम्बन्धित थे अथवा नहीं।

**बिहार की शाखा**—बराबर तथा नागार्जुनी की पहाड़ियों के अभिलेखों से जो [ग]या से १५ मील उत्तर-पूर्व में हैं पता चलता है कि मौखरियों की एक शाखा बिहार में भी शासन करती थी। परन्तु इस शाखा के तीन शासकों के नामों के अतिरिक्त और कुछ पता नहीं चला है। इन शासकों के नाम यज्ञवर्मन जो सम्भवतः इस वंश का संस्थापक था, उसका पुत्र शार्दूल वर्मन और शार्दूल का पुत्र अनन्तवर्मन थे। ये सम्भवतः गुप्त राजाओं के सामन्त थे।

**कन्नौज की शाखा**—मौखरियों की कन्नौज की शाखा सब से अधिक प्रसिद्ध थी। इस शाखा का संस्थापक हरिवर्मन था। उसके बाद उसका पुत्र आदित्यवर्मन शासक हुआ। आदित्यवर्मन के बाद उसका पुत्र ईश्वरवर्मन राजा हुआ। इन तीनों शासकों ने महाराज की उपाधि ली थी जिससे यह स्पष्ट है कि ये गुप्त-सम्राटों की अधीनता में शासन करते थे। परन्तु ईश्वर वर्मन का पुत्र ईशानवर्मन एक शक्तिशाली सम्राट् था। उसने महाराजाधिराज की उपाधि ली थी जिससे स्पष्ट है कि वह स्वतंत्र राज्य करता था। वह एक महान् विजेता भी था। उसने पश्चिमी बंगाल के गौड़ वंश को, पूर्वी दक्षिण के आन्ध्र वंश को, पश्चिमी दक्षिण के चालुक्य वंश को तथा हूणों को पराजित किया था। उसने अपनी मुद्रायें भी चलाई थीं। ईश्वरवर्मन के बाद शर्ववर्मन, अवन्तिवर्मन तथा गृहवर्मन राजा हुये। गृहवर्मन ने थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन की पुत्री राज्य श्री से अपना विवाह किया। मालव राजा देवगुप्त ने गृहवर्मन को मरवा दिया। इस प्रकार कन्नौज के मौखरी वंश का अन्त हो गया।

---

# अध्याय ३६

## थानेश्वर का इतिहास

**छठीं शताब्दी ईसवी का भारत**—उत्थान के उपरान्त पतन होना
नियम है। जिस प्रकार मौर्य-साम्राज्य के पतन के उपरान्त भारत को राजनैतिक
समाप्त हो गई थी और अनेक छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना हो गई थी जो परस्पर
किया करते थे उसी प्रकार गुप्त साम्राज्य के पतन के उपरान्त भारत की राजनैतिक
समाप्त हो गई और भारत के भिन्न-भिन्न भागों में छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों की
हो गई जो एक दूसरे से संघर्ष करने लगे। इन छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना छठीं श
ईसवी में हुई थी जब गुप्त-साम्राज्य पतनोन्मुख हो गया था। अब इन राज्यों का
परिचय दे देना आवश्यक है।

(१) **मगध साम्राज्य**—यद्यपि मगध में गुप्त वंश वालों का शासन अभी त
रहा था परन्तु गुप्त साम्राज्य की सीमा अत्यन्त संकीर्ण हो गई थी। गुप्तों की मूलशा
विनाश के उपरान्त लगभग ५३० ई० में उसी की एक शाखा के वंशज कृष्ण गुप्त ने
में ही एक राज-वंश की स्थापना की। इस वंश का पूर्वोत्तर के गौड़ वंश के साथ
[illegible] रहा था और मौखरियों की सहायता से इन लोगों ने गौड़ों को दबाया था।

[illegible]

(२) मालव राज्य [illegible]
शाली व्यक्ति ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था। मालवा गुप्त सम्रा
तक प्रान्तपति के अधिकार में था परन्तु यशोधर्मन् ने गुप्त सम्राट के आधिपत्य को
[illegible] यशोधर्मन् बड़ा ही
[illegible] में उसने अनेक राज्यों
पराजित किया था [illegible] है कि उसका राज्य ब्र
पुत्र से लेकर महेन्द्र पर्वत तक और गंगा से सुदूर हिमालय से लेकर पश्चिम पयोधि त
फैला था। उसका सबसे अधिक श्लाघनीय कार्य यह था कि उसने हूण राजा मिहिरकु
को नतमस्तक किया था और देश को हूणों के अत्याचार से मुक्त किया था। सम्भव
उसने विक्रमादित्य की उपाधि भी ली थी। परन्तु यह संदिग्ध बात है। यशोधर्मन्
राज्य अल्प-कालीन सिद्ध हुआ।

(४) **वल्लभी राज्य**—सौराष्ट्र अथवा काठियावाड़ में मैत्रक वंश ने अपना
स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था और वल्लभी को अपनी राजधानी बना लिया
[illegible] बहुत बड़ा केन्द्र था। वल्लभी राज्य की स्थापना लगभग
ई० में सेनापति भट्टार्क ने की थी। इस वंश का राजा [illegible] का समकालीन था।

भट्टारक की उपाधि ली थी जिससे स्पष्ट है कि वह एक स्वतन्त्र राजा था औ
अधीनता में शासन नहीं करता था। कहा जाता है कि उसने गुर्जरों पर वि
की और मालवा तथा गुजरात तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया था। ह
में तो यहाँ तक लिखा है कि उसने हूण, गुर्जर, गान्धार, सिन्ध, पंजाब, गुजरात
आदि के राजाओं को पराजित किया था। परन्तु यह कवि की कल्पना मात्र प्रत
है। वास्तव में प्रभाकर वर्धन का राज्य उत्तर में हिमालय पर्वत तक, उत्तर-प
पंजाब में हूणों के राज्य तक, पूर्व में कन्नौज के मौखरियों के राज्य तक, दक्ष
पश्चिम में राजपूताना की मरुभूमि तथा पंजाब तक फैला था। पहिले प्रभाकर व
गुप्त सम्राटों से मैत्री थी। परन्तु अपने शासन काल के अन्तिम भाग में उसने
राजा से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया था। उसने अपनी पुत्री राज्यश्री का
मौखरी राजा ग्रहवर्मन के साथ कर दिया था। प्रभाकर वर्धन की रानी यशोमत
पुत्र राज्य वर्धन तथा हर्ष वर्धन और एक पुत्री राज्यश्री उत्पन्न हुई थी। ६०
प्रभाकर वर्धन की मृत्यु हो गई।

राज्यवर्धन—प्रभाकर वर्धन की मृत्यु के उपरान्त उसका ज्येष्ठ पुत्र राज्य

ण ने जो कुछ अपनी आँखों देखा था वही लिखा है परन्तु कवि होने के [illegible]
ग्रंथ में अतिशयोक्ति की बड़ी प्रचुरता है। अतएव इस ग्रंथ का उपयोग बड़ी सावधानी
करना चाहिये। 'हर्ष-चरित' में घटनाओं का जो वर्णन है वह प्रामाणिक माना जाता
है। बाण-भट्ट की दूसरी प्रसिद्ध रचना कादम्बरी है। यह एक काव्य ग्रंथ है परन्तु इस
के अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

(३) हर्ष की रचनायें—हर्ष स्वयं एक उच्च-कोटि का विद्वान् तथा लेखक था।
वह एक सफल कवि तथा नाट्यकार था। नागानन्द, प्रियदर्शिका तथा रत्नावली हर्ष के
प्रसिद्ध नाटक-ग्रन्थ हैं। यह ग्रंथ भी तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक जीवन पर और
विशेष कर राज-प्रासादों के जीवन पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

(४) लेख—उपरोक्त सामग्री के अतिरिक्त हर्ष के दो ताम्र लेख भी उपलब्ध हुये हैं
जो बंसखेरा तथा मधुबन के ताम्र-लेखों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन लेखों से हर्ष के वंश
का परिचय मिलता है। सोनपत में तांबे की एक मुहर मिली है। इस मुहर से भी कुछ
सहायता मिल जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हर्ष के काल का इतिहास जानने के लिये प्रचुर सामग्री
प्राप्त है जो अत्यन्त प्रामाणिक तथा विश्वसनीय है। इसी से हर्ष के काल का इतिहास
बड़ा ही रोचक बन गया है।

**हर्ष वर्धन का प्रारम्भिक जीवन**—हर्ष का जन्म ५९०ई० में महादेवी यशो-
मती के गर्भ से हुआ था। हर्ष का बाल्य-काल अपने भाई राज्य वर्धन तथा मालवा नरेश
के दो पुत्रों के साथ व्यतीत हुआ था जो थानेश्वर में रहते थे। ५९३ ई० में प्रभाकर वर्धन ने
[illegible] दिया था। तब से उसके दो पुत्र थानेश्वर में ही रहते
[illegible]
नहा [illegible]
कहा जा [illegible]
था। जब [illegible]
आया कि [illegible] अपने पिता के पास आ
चल पड़ा और बिना कुछ खाये पिये तीन दिन की यात्रा करके अपने पिता के पास आ
पहुँचा। हर्ष ने शीघ्र ही अपने बड़े भाई राज्यवर्धन के पास भी दूत भेजे जो हूणों से युद्ध
कर रहा था परन्तु उसके आने के पूर्व ही प्रभाकर वर्धन का परलोकवास हो गया।
मरते समय प्रभाकरवर्धन ने हर्ष को यह शिक्षा दी थी, "संसार में प्रवेश करो; मेरे कोष
का उपयोग करो, राज्य के भार को वहन करो, प्रजा की रक्षा करो, अपने आश्रितों की
रक्षा करो, अस्त्र-शस्त्र का अभ्यास करो और शत्रु को दमन करो।" राज्यवर्धन हूणों पर
विजय प्राप्त कर थानेश्वर लौट आया। पिता की मृत्यु से उसका हृदय बड़ा क्षुब्ध था
और उसने सन्यास ले लेने का निश्चय कर लिया परन्तु हर्ष ने राज्य लेना स्वीकार न
किया और अपने भाई को शासन का भार उठाने के लिये विवश किया। परन्तु राजलक्ष्मी
को वह अधिक समय तक भोग न सका। किस प्रकार शशांक ने उसकी हत्या कर डाली
इसका उल्लेख पहिले किया जा चुका है। भाई की मृत्यु के उपरान्त शासन का सारा
भार हर्ष के ऊपर आ पड़ा।

**सिंहासनारोहण तथा प्रारम्भिक समस्यायें**—हर्ष ६०६ ई० में थानेश्वर के
सिंहासन पर बैठा। इस समय हर्ष की अवस्था केवल १६ वर्ष की थी। इस समय उसकी
सबसे बड़ी समस्या राज्यश्री को बन्दी गृह से मुक्त करना और शशांक को कन्नौज में

भगाना तथा उसे दण्ड देना था। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह एक सेना लेकर चल पड़ा। मार्ग में उसने आसाम के राजा भास्कर वर्मन के साथ उसके हंसवेग के द्वारा सन्धि की। शशांक को पराजित करने में भास्करवर्मन से बड़ी मिल सकती थी। इसके बाद वह भण्डी से जा मिला जो राज्यवर्धन की मृत्यु के उसकी सेना का सचालन कर रहा था। भण्डी से उसे ज्ञात हुआ कि राज्यश्री मुक्त दी गई है और विन्ध्या के वनों की शरण में चली गई है। इस सूचना से हर्ष को दुख हुआ और उसने विन्ध्य वन में उसका अन्वेषण आरम्भ किया। सौभाग्य से उस समय उसे प्राप्त हो गई जब वह चिता बनाकर अपने को अग्नि के समर्पण कर रही थी। हर्ष ने राज्य श्री को बहुत समझाया-बुझाया और उसे अपने साथ लेकर अपने शिविर को लौट आया। इसके बाद की घटना का ठीक-ठीक पता नहीं चलता परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि शशांक कन्नौज से वापस चला गया क्योंकि वह स्थिति में नहीं था कि वह हर्ष का सामना कर सके। कामरूप के राजा से मैत्री कर कारण हर्ष की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। उधर हर्ष के सेनापति ने मालवे से शशांक सम्बन्ध विच्छेद कर दिया था और उसे वहां से कोई सहायता न मिल सकती देवगुप्त की मृत्यु से शशांक की स्थिति और बिगड़ गई थी। अतएव शशांक निश्च कन्नौज छोड़ कर चला गया होगा। परन्तु कन्नौज की समस्या ठीक न हुई थी। वह शासक के था। राज्यश्री पति-वियोग में इतनी विक्षुब्ध थी कि वह राज्य-भार उठाने के लिये उद्यत न थी। राज्यश्री के कोई सन्तान भी न थी और न कोई मौखरी वंश का अधिकारी था। अतएव इस विकट परिस्थिति में कन्नौज मन्त्रियों तथा राजनीतिज्ञों ने हर्ष-वर्धन को कन्नौज का राज्य भार उठाने के लि आमन्त्रित किया। परन्तु हर्ष कन्नौज के सिंहासन को स्वीकार करने के लि उद्यत न था। सम्भवतः वह कन्नौज की जनता की इच्छा जानना चाहता था और केव मन्त्रियों के ही आमन्त्रण से सिंहासन नहीं स्वीकार करना चाहता था। परन्तु हर्ष ने अ में कन्नौज का शासन-भार उठाना स्वीकार कर लिया और अपनी बहिन राज्यश्री संरक्षक के रूप में कन्नौज का शासन करना आरम्भ किया। परन्तु कुछ समय बाद ह ने अपनी राजधानी थानेश्वर से कन्नौज बदल दी और वहां का वास्तविक सम्राट् ब गया। थानेश्वर का राजसिंहासन उसे पहिले से ही प्राप्त हो गया था। अब वह कन्नौ का भी सम्राट हो गया। इस प्रकार कन्नौज तथा थानेश्वर के राज्य एक में मिल ग और हर्ष की शक्ति बहुत बढ़ गई। अब हर्ष ऐसी स्थिति में हो गया कि वह अपनी दिग्विजय कर सके।

**हर्ष की दिग्विजय**—जिस समय हर्ष ने कन्नौज तथा थानेश्वर का राजसूत्र अपने [illegible] र ने समाप्त हो चुकी थी। [illegible] हो चुकी थी जो परस्पर [illegible] ह सार्वभौम सत्ता स्थापित [illegible] की शक्ति इतनी बढ़ गई कि वह एक बार फिर भारत की राजनैतिक एकता स्थापित करने में समर्थ हो सकता था। [illegible]सके पास इस समय एक विशाल सेना थी जिसमें ५००० हाथी, २०००० घुड़सवार तथा [illegible]००० पैदल थे। हर्ष ने रथों को निरर्थक समझा था। अतएव उसकी सेना में रथों की [illegible]ई व्यवस्था न थी। इस विशाल सेना की सहायता से हर्ष ने अपनी दिग्विजय आरम्भ [illegible]। चीनी यात्री ह्वेनसांग के शब्दों में हर्ष ने इस विशाल सेना की सहायता से पंच- [illegible] पंजाब, कन्नौज, गौड़ (बङ्गाल), मिथिला तथा उड़ीसा पर विजय प्राप्त [illegible] दिग्विजय का क्रमबद्ध विवरण उपलब्ध नहीं है। यह निश्चित

सातवीं शताब्दी ई० का भारत

हर्ष का साम्राज्य गंगा की घाटी में हिमालय पर्वत से नर्मदा नदी तक [illegible] तथा वल्लभी के राजा उसके आधीन थे।

रूप से ज्ञात नहीं हो सका है कि किन-किन देशों को किस समय हर्ष ने जीता था। ह्वेनसांग ने लिखा है कि शीघ्र ही हर्ष ने अपने भाई की मृत्यु का बदला ले लिया और हर्ष को भारत का स्वामी बना लिया। उसने पूर्व से पश्चिम तक के सभी राष्ट्रों पर विजय प्राप्त कर ली और दूर के प्रान्तों में भी वह अपनी सेनायें ले गया था।

संदिग्ध विजय—यद्यपि शशांक हर्ष का सबसे बड़ा शत्रु था परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों का संघर्ष हुआ हो नहीं क्योंकि गन्जाम के एक अभिलेख से पता चलता है कि ६१९ ई० तक शशांक एक गौरवपूर्ण सम्राट की भांति शासन करता रहा। यद्यपि अनुश्रुति से पता चलता है कि हर्ष ने उत्तरी बङ्गाल पर आक्रमण किया था परन्तु कर्णसुवर्ण के गौड़ राज्य का अन्त हर्ष के मित्र भास्कर वर्मन ने किया था।

पुलकेशिन द्वितीय के साथ संघर्ष—चालुक्य वंश के अभिलेखों से पता चलता है कि हर्ष का संघर्ष दक्षिण के चालुक्य सम्राट पुलकेशिन द्वितीय के साथ हुआ था। पुलकेशिन द्वितीय चालुक्य वंश का सबसे अधिक शक्तिशाली सम्राट था और सम्पूर्ण दक्षिण में उसकी धाक स्थापित हो गई थी। जिस प्रकार हर्ष उत्तर भारत का सर्वशक्ति [illegible]

[illegible]

अतएव निराश होकर हर्ष को नर्मदा नदी से लौट आना पड़ा और वही उसके राज्य की सीमा हो गई।

वल्लभी के राजा के साथ युद्ध—हर्ष का वल्लभी के राजा से भी संघर्ष हुआ था। इस समय वल्लभी में ध्रुवभट्ट अथवा ध्रुवसेन द्वितीय शासन करता था। ध्रुवभट्ट हर्ष की विशाल सेना का सामना न कर सका और उसने भड़ौच के राजा के यहाँ शरण ली। थोड़े दिन बाद भड़ौच के राजा की सहायता से उसने अपना खोया हुआ राज्य फिर से प्राप्त कर लिया। परन्तु हर्ष से उसकी मैत्री हो गई और हर्ष की कन्या के साथ उसका विवाह हो गया। सम्भवतः ध्रुवभट्ट ने हर्ष की अधीनता स्वीकार कर ली थी और उसकी अधीनता में वल्लभी का शासन करता था।

अन्य विजय—इसी समय हर्ष ने सम्भवतः आनन्दपुर, कच्छ तथा सौराष्ट्र पर भी विजय प्राप्त की थी। ६४१ ई० में शीलादित्य (हर्ष) मगध का भी सम्राट हो गया था और उसने चीन राज्य में अपना राजदूत भेजा था। सम्भवतः ६४२ ई० में पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु हो गई जो हर्ष का सबसे बड़ा शत्रु था। इसके दूसरे ही वर्ष हर्ष [illegible]

कि हर्ष ने सिन्ध के शासक का वैभव छीना था।

हर्ष का राज्य-विस्तार—हर्ष के राज्य विस्तार के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। परन्तु उसकी विजयों के अध्ययन के उपरान्त उसके राज्य-विस्तार का अनुमान लगाया जा सकता है। यह तो निश्चय ही है कि हर्ष कन्नौज तथा थानेश्वर का राजा था। थानेश्वर का राज्य पूर्वी पंजाब में और कन्नौज में गङ्गा के दोआब में स्थित था। प्रयाग, [illegible] (वत्स) तथा अहिच्छत्र (रुहेलखण्ड) के प्रान्त भी उसके राज्य के अन्तर्गत थे। चीनी प्रमाणों से पता चलता है कि ६४१ ई० में मगध भी उसके राज्य में आ गया था। उड़ीसा भी उसके राज्य के अन्तर्गत था। जालन्धर का शासक उदित तथा पूर्वी मालवा का माधवगुप्त उसके अधीनस्थ शासन करते थे। कामरूप का शासक

राजकर्मचारियों पर भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता था। महाराज हर्ष [illegible]
में निर्धारित आदर्शों के पालन करने का प्रयत्न किया करते थे। ह्वेनसांग ने [illegible]
परिश्रम तथा उसकी दानशीलता की बड़ी प्रशंसा की है। सम्राट का [illegible]
धार्मिक कृत्यों तथा शासन सम्बन्धी कार्यों में व्यतीत होता था।

मन्त्रि परिषद्—सम्भवतः सम्राट की सहायता के लिये एक मन्त्रि परिषद्
थी। ह्वेनसांग के विवरण से हमें पता चलता है कि कन्नौज के मन्त्रियों तथा [illegible]

[illegible]

नहीं, अधिक सम्भावना इस बात की है कि इस समय तक वह संस्था लुप्त हो चुकी [illegible]
किन्तु तो भी राजा सब काम अनियन्त्रित रूप से नहीं करते थे। उनके मन्त्री सदैव [illegible]
बुद्धिमत्ता-पूर्ण परामर्शों द्वारा उनका पथ-प्रदर्शन करते थे।" हर्ष के काल में कोई [illegible]
परिषद् थी अथवा नहीं परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि राजा की सहायता के [illegible]
होते थे जो सचिव अथवा आमात्य कहलाते थे। श्री हर्ष के युग में महामात्य शब्द [illegible]
प्रयोग मन्त्री के अर्थ में मात्र नहीं होता था।

राज्य के प्रमुख कर्मचारी—हर्ष का साम्राज्य अत्यन्त विशाल था। [illegible]
में विकेन्द्रीकरण की नीति का अनुसरण किया गया था। प्रान्तों में प्रान्तपतियों [illegible]
नियुक्ति की जाती थी। यह प्रान्तपति राजस्थानीय, लोकपाल, उपरिक, महाराज, [illegible]

ान रक्षक होता था। महाप्रतीहार के अतिरिक्त कंचुकी भी राज-कुटुम्ब का एक कर्म-री होता था। प्रायः वृद्ध ब्राह्मण ही इस पद पर नियुक्त किया जाता था। कंचुकी सभी ार्यों में कुशल होता था। राजा का पुरोहित भी एक प्रधान व्यक्ति था। राज्य के बड़े- ... अपने पुरोहित की परामर्श लेता था। राज्य-कर के एकत्रित करने ... इसे भेजे जाने ... अक्षपटलीक ... लेखक कार्यक (चलक), सेवक आदि अन्य कर्मचारी होते थे।

सामन्त—सम्राट के प्रधान अमात्य साधारणतया बड़े-बड़े सामन्त हुआ करते थे। सभी सामन्त मन्त्री नहीं हुआ करते थे। यह सामन्त सम्राट के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने तथा उसका सम्मान करने के लिये उसके चारों ओर एकत्रित हुआ करते थे। यह सामन्त राजा के दरबारी होते थे और अपने-अपने पदानुसार उन्हें राज सभा में स्थान प्राप्त होता था। सामन्त-गण राज्य के सभी अवसरों पर राजा की सेवा में तत्पर रहते थे। वे सम्राट् के साथ युद्ध में जाया करते थे और प्रायः राज्य के उच्च-पदों पर काम किया करते थे। सामन्त लोग बड़े बड़े सेनापति भी होते थे।

लेख-विभाग—केन्द्रीय शासन का एक महत्वपूर्ण अंग लेख-विभाग होता था। ह्वेनसांग के कथनानुसार जहाँ तक उनके कागज-पत्रों तथा लेखों का सम्बन्ध था उनके अलग-अलग निरीक्षक होते थे। सरकारी इतिहास तथा कागज-पत्रों का सामूहिक नाम 'नीलपिट' होता था। उनमें भले तथा बुरे सब का उल्लेख किया जाता था और सार्वजनिक आपत्ति तथा सुकाल का लेखा विस्तारपूर्वक किया जाता था।

न्याय-व्यवस्था—हर्ष ने अपने राज्य में न्याय की भी पूर्ण व्यवस्था कर रक्खी ... अपराधों की बड़ी न्यूनता थी ... है परन्तु भी कई बार डाकुओं के

म्मिलित हुये थे और देश के प्रसिद्ध विद्वान, ब्राह्मण तथा श्रमण उपस्थित थे। इस सव में बुद्ध जी की पूर्णाकार की एक सुवर्ण प्रतिमा स्थापित की गई थी। इस प्रतिमा तीन फीट ऊँची थी एक अलंकृत हाथी पर रख कर जलूस निकाला गया। जुलूस हो जाने पर हर्ष ने बुद्ध जी की प्रतिमा की पूजा की और एक भोज दिया। इसके धार्मिक वाद-विवाद आरम्भ हुआ। ह्वेनसांग ने महायान सम्प्रदाय के गुणों समीक्षा की। उसने उपस्थित विद्वानों को चुनौती दी परन्तु किसी को विरोध साहस न हुआ। इस प्रकार अठारह दिन तक चीनी यात्री का निर्विरोध भाषण हर्ष ने ह्वेनसांग का बड़ा आदर सत्कार किया और उसे बहुत से उपहार देने का किया परन्तु ह्वेनसांग ने स्वीकार नहीं किया।

प्रयाग की पंचवर्षीय सभा—ह्वेनसांग की भारत-यात्रा के समय हर्ष ने प्रयाग

[illegible]

[illegible]न हुआ था। इस अवसर पर हर्ष बुद्ध, सूर्य तथा शिव सभी देवताओं को समान-से सम्मानित करता था और सबकी प्रतिमाओं की बड़े समारोह के साथ पूजा करता इस सभा में वह सभी सम्प्रदाय वालों तथा दीन-दुखियों को दान देता था। इसी से महादान भूमि कहलाती थी। ह्वेनसांग के कथनानुसार हर्ष ने अपनी पांच वर्ष की

अंचारी होता था अथवा गाँव वाले इसे स्वयं निर्वाचित कर लिया करते थे। इस
रने तथा भेंट देने के काम का निरीक्षण करने के सम्बन्ध में सरकार इन कर्म
को परामर्श देती थी। इन कर्मचारियों के अतिरिक्त अक्षपटलिक अर्थात् गाँव का
रखने वाला भी होता था जिसे सरकार नियुक्त करती थी।

सातवीं शताब्दी ईसवी का भारत—हर्षकालीन सभ्यता तथा संस्कृ
बाण के 'हर्ष चरित' तथा ह्वेनसांग की यात्रा-विवरण द्वारा पर्याप्त प्रकाश डाला गया
न ग्रन्थों के अध्ययन से हमें तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्
दशा का पर्याप्त परिचय प्राप्त हो जाता है। अब इन पर अलग-अलग प्रकाश डा
आवश्यक है :—

सामाजिक दशा हर्षकालीन सामाजिक दशा पर एक विहंगम दृष्टि
पर हमें निम्नलिखित तथ्य परिलक्षित होते हैं :—

जाति व्यवस्था—हर्षकालीन समाज जाति के आधार पर अवलम्बित तथा
नियमों से अनुशासित था। ह्वेनसांग ने लिखा है कि परम्परागत चार जातियाँ इस
भी विद्यमान् थीं और चारों जातियों में विभिन्न मात्रा में धार्मिक अनुष्ठानजनित
ता थी। इन चार जातियों के अतिरिक्त ह्वेनसांग ने मिश्रित जातियों का भी उल्ले
क्या है। ह्वेनसांग के कथनानुसार सब जातियों में ब्राह्मण सबसे अधिक पवित्र
सबसे अधिक सम्मानित थे। ब्राह्मण अब अपने प्राचीन षट् कर्म तक ही सीमित न
और अन्य जातियों के व्यवसायों को कर लिये थे। बहुत से ब्राह्मण हर्ष के का
। ब्राह्मण लोग अपने नामों के अन्त में शर्मा तथा स्वामी का प्रयोग करते थे। ह्वेन
क्षत्रियों की भी बड़ी प्रशंसा की है। वे बड़े ही निर्दोष, सीधे सादे, मितव्ययी
विद एवं सरल जीवन व्यतीत करने वाले बतलाये गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है
णों के आक्रमण के कारण उत्तरी भारत में विशुद्ध क्षत्रियों का विनाश हो गया
न्तु दक्षिण में विशुद्ध क्षत्रियों के राज-वंश अब भी पाये जाते थे। क्षत्रिय लोग
मों के अन्त में वर्मा तथा त्राता का प्रयोग करते थे। तीसरी जाति वैश्यों की

ग्रहों के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। दक्षिण भारत में मामा की कन्या के साथ यह करना वैध समझा जाता था परन्तु उत्तरी भारत में यह अवैध माना जाता था। यदि उच्च-वर्ण के लोगों में पुनर्विवाह का निषेध था परन्तु निम्न वर्ण के लोगों में इसकी था थी। सती की प्रथा इस काल में प्रचलित थी। हर्ष की माता अपने पति की मृत्यु पूर्व ही जल कर मर गई थी। हर्ष की बहिन राज्यश्री भी अपने पति की मृत्यु के उपरान्त चिता में जल कर मर जाना चाहती थी। सती-प्रथा के और भी बहुत से उदाहरण उपलब्ध हैं। जो विधवायें जीवित रहती थीं वे श्वेत वस्त्र धारण करती थीं। पर्दे की प्रथा का एक प्रकार था। राजाओं के अन्तःपुर में बहुसंख्यक स्त्रियाँ, रखैल तथा वेश्यायें रहती थीं।

राजमहल का जीवन—राज दरबारियों का जीवन बड़े आमोद-प्रमोद का होता था। यह लोग फूल, सुगन्धित पदार्थों तथा अलंकारों का प्रचुर प्रयोग करते थे। नृत्य तथा संगीत का प्रबन्ध भी होता था। राजा की [illegible], सरदार, पुत्र, सामन्त, राज-[illegible] तथा युवक [illegible] [illegible] मित्र तथा कर्मी-[illegible] तथा बहु-मूल्य रत्न [illegible] [illegible] भी होता था। राज के सम्बंध गुप्त रूप से प्रेम किया करते थे। स्त्रियों के लिए [illegible] प्रायः नैतिक पतन हो जाता था। राजमहलों में 'वेश्याओं का अभाव' नहीं [illegible]। उपभोग ही जीवन का प्रधान लक्ष्य होता था और सरलता, संयम तथा नियम सर्वथा अभाव रहता था। परन्तु अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बना लेने की [illegible] क्षमता थी।

वस्त्र तथा आभूषण—इस काल में श्वेत-वस्त्र पहिनने की प्रथा थी और रङ्ग वस्त्रों का समाज में आदर नहीं होता था। कपड़ों की संख्या अधिक नहीं होती थी। यहाँ तक कि सम्राट भी दो ही वस्त्रों का प्रयोग करता था—एक धोती और दूसरा [illegible]। साधारण लोग कमर के चारों ओर बगल तक एक लम्बा परन्तु कम चौड़ा लपेटते थे और दाहिने कन्धे को खुला छोड़ देते थे। स्त्रियाँ एक लम्बा वस्त्र पहिनती थीं जो दोनों कन्धों को ढके रहता था। लोग जामा तथा जाकेट अथवा कञ्चुकी का [illegible] करते थे। कुछ लोग अपनी मूँछों को कटवाते थे और कुछ लोग अन्य प्रकार के करते थे। अभिजात वर्ग के लोग साफे का प्रयोग करते थे। सिर पर लोग माला [illegible] करते थे और गले में हार पहिनते थे। कुलीन लोग छाता लगाते थे जिनमें बहु-रत्न जड़े रहते थे। यद्यपि लोग सादा वस्त्र पहिनते थे परन्तु उन्हें आभूषणों के [illegible] का बड़ा चाव था। बहु मूल्य हार, रत्न-जटित मुकुट, अँगूठी, कड़े आदि अत्यन्त आभूषणों में से थे। कान के आभूषण की मुख्य आभूषणों में गणना होती थी।

भोजन—इस काल में अन्तर्जातीय खान-पान पर प्रतिबन्ध था। भोजन करने के हाथ, पैर तथा मुँह धो लेना पड़ता था। उच्छिष्ट तथा बची-खुची चीज़ें फिर नहीं [illegible] जाती थीं। मिट्टी तथा काठ के बर्तन में एक ही बार भोजन किया जा सकता था। [illegible] मदिरा को स्पर्श भी नहीं करते थे, क्षत्रिय लोग मामूली तौर से पीते थे। वे [illegible] प्रायः मदिरा का सेवन नहीं करते थे परन्तु शूद्र तथा अन्य लोग इसका सेवन [illegible] करते रहे होंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि मांस भक्षण समाज में अच्छा नहीं समझा [illegible] था। परन्तु श्राद्ध करने में पितरों को प्रसन्न करने के लिए मांस बनाया जाता था। [illegible] ब्राह्मण जो वैदिक धर्म के अनुयायी थे कभी-कभी मांस भक्षण कर लेते थे। वैश्य लोग अहिंसा को मानते थे प्रायः मांस-भक्षण से दूर भागते थे। शूद्र भी जो बौद्ध तथा जैन-[illegible] से प्रभावित थे मांस नहीं खाते थे। कुछ पशुओं का मांस खाना बिल्कुल वर्जित था।

घी दूध, दही, चीनी. मिश्री, रोटी आदि प्रधान खाद्य-पदार्थ थे। जन साधारण का गेहूँ तथा चावल था। आम, महुआ, बेर, कैथा, इमली, आँवला, तिन्दुक, गूलर, कटहल नासपाती, अंगूर, अनार, तरबूज आदि का भी प्रयोग किया जाता था।

निवास—लोग नगरों, गांवों तथा घोषों अर्थात् अहीरों की बस्तियों में करते थे। नगर के चारों ओर इंट की बनी दीवार होती थी। नगर की सड़कें कम चौड़ी तथा टेढ़ी होती थीं जिनके किनारे सरायें बना होती थीं। मकान इंटों तथा लकड़ी के तख्तों के बने होते थे परन्तु गावों के मकान मिट्टी के बने होते थे जो घास-फूस से छाये रहते थे। घर में बैठने के लिए मचिया का प्रयोग किया जाता था।

रीति-रिवाज—सन्तान की इच्छा से स्त्रियां भांति-भांति के अनुष्ठान किया करती थीं। पुत्र के जन्म पर गाना-बजाना होता था और बड़ा खुशियां मनायी जाती थीं। कुलीन समाज में विवाह का उत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता था। ह्वेनसांग के कथनानुसार अन्त्येष्टि क्रिया तीन प्रकार से की जाती थी—या तो शव को श्मशान घाट पर जला देते थे, या जलमग्न कर देते थे या जङ्गल में खुला छोड़ देते थे। आत्म-हत्या की प्रथा भी विभिन्न रूपों में प्रचलित थी। इन दिनों लोग अनेक प्रकार के व्रत रखते थे और उत्सव मनाते थे।

मनोरञ्जन के साधन—इस काल में मनोरञ्जन के बहुत से साधन थे। चैत्र-मास की पूर्णिमा को वसन्तोत्सव मनाया जाता था। रङ्ग-शाला, सङ्गीत शाला तथा चित्र शाला का उल्लेख बार-बार मिलता है। शतरंज तथा पासे के खेल अत्यन्त लोकप्रिय थे। राजाओं के पुत्र शारीरिक व्यायाम में बड़े कुशल होते थे। गांवों में प्रायः जादूगर अपना खेल दिखाते थे। मदारी, नट आदि प्रायः गांवों में दिखाई पड़ते थे।

स्त्रियों की स्थिति—कुलीन समाज की स्त्रियों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था रहती थी। स्त्रियां गाने, बजाने तथा नाचने में बड़ी कुशल होती थीं। चित्रकारी में भी वे बड़ी दक्ष होती थीं। बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। राजघराने की स्त्रियां संगिनी नहीं वरन् उपभोग की वस्तु समझी जाती थीं। माता के साथ बड़ी श्रद्धा तथा प्रेम का व्यवहार किया जाता था। उन दिनों स्त्रियाँ अपने वैधव्य को अपने दुर्भाग्य की चरम-सीमा समझती थीं। पर्दे की प्रथा उच्च कुलों में प्रचलित थी।

आर्थिक दशा—हर्ष कालीन आर्थिक दशा का अध्ययन करने के लिये हमें निम्नलिखित बातों पर विचार करना आवश्यक है :—

कृषि—इस काल में अधिकांश लोग गांवों में निवास करते थे और कृषि उनका प्रधान उद्यम था। भूमि कई प्रकार की होती थी यथा वास्तु (निवास के योग्य), क्षेत्र

था वहाँ पर तालाब तथा कुओं की समुचित व्यवस्था की गई थी। इस प्रकार सिंचाई की सुव्यवस्था करके भिन्न भिन्न प्रकार के अन्न तथा फल प्रचुर मात्रा में उत्पन्न किये जाते थे।

व्यवसाय तथा व्यापार—हर्ष-युग में व्यापार तथा व्यवसाय भी उन्नत दशा में था। जो लोग नगरों में निवास करते थे उनकी जीविका का प्रधान साधन व्यापार तथा कला सम्बन्धी कार्य था। आन्तरिक व्यापार के साथ २ विदेशों के साथ भी व्यापार उन्नत दशा में था। बङ्गाल में ताम्रलिप्ति एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। एक राज मार्ग पाटलिपुत्र से गुजरता हुआ भड़ौंच तक जाता था जो व्यापार में बड़ी सुविधा पहुँचाता था। इस काल में व्यवसाय पूँजीपतियों के हाथ में नहीं था वरन् व्यापारिक श्रेणियाँ बनी हुई थीं।

सिद्धांतों का पालन करने लगा था। बौद्ध भिक्षुओं से प्रेरित होकर उसने पुण्य-शालायें बनाई थीं जहाँ गरीबों तथा रोगियों को मुफ्त भोजन तथा औषधि मिलती थी। हर्ष के आश्रय में कन्नौज में बौद्ध-धर्म बड़ी उन्नत दशा में था।

शिक्षा— हर्ष को विद्या से बड़ा अनुराग था। अतएव उसके काल में शिक्षा का बड़ा प्रचार था। यह शिक्षा विशेष कर ब्राह्मणों तथा बौद्ध-भिक्षुओं द्वारा दी जाती थी और राज्य की ओर से विद्या का आदर किया जाता था और विद्या के प्रसार में हर प्रकार का योग दिया जाता था। न केवल बालकों वरन् उच्च-कुल की बालिकाओं को भी शिक्षा दी जाती थी। परन्तु कन्याओं को घर पर ही अध्यापक रख कर शिक्षा दी जाती थी। हर्ष की बहिन राज्यश्री ने बौद्ध-सन्त दिवाकरमित्र से शिक्षा प्राप्त की थी। हर्ष के समय में विद्या का व्यापक प्रचार था। सम्पूर्ण भारत में शिक्षा के बड़े-बड़े केन्द्र थे। परन्तु नालन्द इनमें सर्व-श्रेष्ठ विश्वविद्यालय था जहाँ ह्वेनसांग ने भी कई साल तक अध्ययन किया था। सम्भवतः ब्राह्मण विद्वान् तथा बौद्ध-भिक्षु अपने-अपने आश्रमों में शिक्षा दिया करते थे। राज्य की ओर से तथा विद्यार्थियों के संरक्षकों द्वारा इन अध्यापकों की सहायता हुआ करती थी। परंतु इस युग में बड़े-बड़े विश्व-विद्यालयों की भी स्थापना हो चुकी थी। वल्लभी सम्राट विद्या-प्रेमी थे। अतएव उनके आश्रय में वल्लभी शिक्षा का बहुत बड़ा केन्द्र हो गया था। परन्तु शिक्षा का सबसे बड़ा केन्द्र नालन्द था। यद्यपि यह बौद्ध विश्वविद्यालय था परन्तु हिन्दू तथा बौद्ध दोनों धर्म शास्त्रों की शिक्षा यहाँ दी जाती थी। जिस समय ह्वेनसांग इस विश्वविद्यालय में आया था उस समय इसमें दस हजार विद्यार्थी अध्ययन करते थे। इस संस्था को हर्ष ने अपार धन दान में दिया था। इसमें विद्यार्थियों को मुफ्त वस्त्र तथा भोजन मिलता था। इस विश्वविद्यालय का कुलपति शील भद्र था जो अपनी विद्वता के लिये सम्पूर्ण भारत में विश्रुत था। इस विशाल संस्था में लगभग १०० आचार्य शिक्षा देने के लिये नियुक्त थे जो अपने पांडित्य के लिये प्रसिद्ध थे। ह्वेनसांग ने लिखा है कि विश्वविद्यालय में बौद्ध-ग्रंथों के अतिरिक्त वेद, सांख्य, दर्शन, हेतु विद्या, शब्द-विद्या तथा वैद्यक की भी शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार पाठ्य क्रम बड़ा ही व्यापक था जिसमें धार्मिक शिक्षा की प्रधानता थी। नालन्द के विद्यार्थी अपने चरित्र तथा अपनी विद्वता के लिये दूर-दूर प्रसिद्ध थे। इस विश्व-विद्यालय में एक विशाल पुस्तकालय की व्यवस्था थी जहाँ असंख्य पुस्तकें उपलब्ध थीं। इसकी ऊँचाई लगभग ३०० फीट थी। जब नालन्द में इतनी अच्छी शिक्षा की व्यवस्था थी और ऐसी उच्च-कोटि की शिक्षा दी जाती थी कि ह्वेनसांग ने भी इसका विद्यार्थी बनने में अपना गौरव समझा था तब इसमें सन्देह नहीं कि न्यून कोटि की शिक्षा का भी अच्छा प्रबन्ध रहा होगा अन्यथा इस विश्व-विद्यालय के लिये दस हजार विद्यार्थी कहाँ से प्राप्त होते। न केवल उत्तर में वरन् दक्षिण में भी शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध था। चालुक्य वंश का राजा पुलकेशिन द्वितीय जो हर्ष का समकालीन तथा प्रतिद्वन्दी था हर्ष की ही भाँति विद्यानुरागी था। अतएव उसके संरक्षण तथा आश्रय में शिक्षा की निश्चय ही सुव्यवस्था रही होगी।

साहित्य—हर्ष के काल में साहित्य की भी बड़ी उन्नति हुई। वह स्वयम् उ... का विद्वान तथा साहित्यकार था और विद्वानों तथा लेखकों का आश्रयदाता था

मानते थे। इस समय ब्राह्मण धर्म कई शाखाओं में विभक्त हो गया था और भिन्न-भि
दार्शनिक अपनी-अपनी विचार धारा के अनुसार नये-नये मत का प्रचार कर रहे थे
इस प्रकार बाण ने कपिल, कणाद तथा उपनिषद् के अनुयायियों का उल्लेख किया
जो ईश्वर को विश्व का कर्ता मानते हैं। इनके अतिरिक्त नास्तिक भी थे जैसे लोकायत
जो केवल इस लोक को मानते हैं और परलोक में विश्वास नहीं करते थे। इसी प्रका
भिन्न-भिन्न प्रकार के साधु भी होते थे जैसे केशलुञ्चक
पाशुपत जो शिव की

[illegible] डालते थे,
[illegible] करते थे।
[illegible]

[illegible] इन्हें बिल्कुल चिन्ता नहीं थी [illegible] में संलग्न रहते थे। अपनी व्य
[illegible] यह
शाखाओं में धार्मिक सहिष्णुता थी और इनमें संघर्ष नहीं होता था। परन्तु ब्राह्मण धर्म की इन भिन्न

बौद्ध धर्म—ह्वेनसांग के कथनानुसार बौद्ध-धर्म उन्नत दशा में था। यह सम्भव
हो सकता है कि जिन स्थानों में ह्वेनसांग गया था वहाँ वह उन्नत दशा में रहा हो पर
बहुत से स्थानों में जैसे कौशाम्बी, श्रावस्ती तथा वैशाली में वह अधोगति को प्राप्त
गया था। बौद्ध मठ जिन्हें जनता से अपार धन प्राप्त था बौद्ध-भिक्षुओं के केन्द्र बन ग
थे। कन्नौज में बौद्ध मठों की संख्या सौ थी जिनमें दस हजार से अधिक भिक्षु निवास
करते थे। बौद्ध-धर्म की अठारह शाखाओं का ह्वेनसांग ने उल्लेख किया है जिनकी विचार
धारायें भिन्न-भिन्न थीं और प्रत्येक शाखा अपने को अन्य शाखाओं से उच्चतम समझती
थी। बौद्ध-धर्म के दो प्रधान सम्प्रदायों में महायान धर्म हीनयान से उन्नत दशा में था।
महायान धर्म को राज्याश्रय प्राप्त था। अतएव इसकी प्रगति और बढ़ गई थी।

जैन धर्म—हर्ष के काल में जैन-धर्म उन्नति नहीं कर रहा था। यह लोकप्रिय
धर्म न रह गया था। वैशाली, पुन्ड्रवर्धन तथा समतट आदि स्थानों [illegible]
दिगम्बर साधुओं की संख्या बहुत अधिक थी [illegible]
[illegible]ते थे।

उपस्थित हुये और अपनी भारत-यात्रा की योजना को प्रगट करते हुये उनसे सहायता की याचना की। राजा ने इनकी प्रार्थना [illegible] हुआ। ६२९ ई० में जब उसकी अवस्था २४ वर्ष की [illegible] साथ दो और साहसी व्यक्ति थे। [illegible] उसे व्यापारियों से बड़ा प्रोत्साहन मिला जिन्होंने उदारतापूर्वक उसके लिये यात्रा का सामान एकत्रित कर दिया। मार्ग में अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुये ह्वेनसांग गोबी की मरुभूमि में पहुँचा। अब वह अकेला रह गया था क्योंकि उसके दोनों साथी यात्रा की कठिनाइयों को सहन करने में असमर्थ होने के कारण वापस लौट गये थे। ह्वेनसांग अनेक आपत्तियों का सामना करता हुआ हामी नगर में पहुँचा। वहाँ के शासक ने उसे कुछ महीनों तक वहाँ धर्मोपदेश करने के लिये बाध्य किया। हामी से ह्वेनसांग काशगर नाम के राज्य में पहुँचा। यहाँ के राजा ने उसका बड़ा स्वागत किया और दो महीने तक अपने यहाँ रखने के उपरान्त बहुत से रक्षकों तथा यात्रा सामग्री के साथ उसे [illegible] करने के उपरान्त ह्वेनसांग पठानों के राज्य में [illegible]

[illegible]

का खूब प्रचार था और [illegible] प्रस्थान कर दिया और [illegible] बामियान नगर में पहुँच [illegible] उपरान्त उसने फिर प्रस्थ[illegible] किनारे वह नगरहार [illegible] और पेशावर से सिन्धु [illegible] गया। यहाँ पर वह [illegible] व्यतीत किये। काश्मीर [illegible] पहुँचा। यहाँ हर्ष ने उस[illegible]

कौशाम्बी, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, पाटलिपुत्र, गया तथा राजगृह [illegible] नालन्दा पहुँचा। यहाँ पर उसने दो वर्ष तक संस्कृत तथा बौद्ध-ग्रन्थों का अध्ययन किया। इसके बाद आसाम होता हुआ वह ताम्रलिप्ति पहुँचा। वहाँ से चलकर उड़ीसा होता हुआ ६४० ई० में वह काँचीपुर अर्थात् काञ्जीवरम पहुँचा। यहाँ से महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, सिन्ध, मुल्तान तथा गज़नी होता हुआ अपने पुराने मार्ग से काबुल नदी के किनारे पर पहुँच गया। वहाँ से पामीर की पर्वतमाला को पार कर काशगर तथा खोतन होता हुआ वह स्वदेश को लौट गया। चीन के राजा ने उसका स्वागत तथा बड़ा आदर सम्मान किया। अपने जीवन का शेष भाग ह्वेनसांग ने भारत से लाये हुये ग्रन्थों के अनुवाद करने तथा अपनी यात्रा के वृत्तान्त के लिखने में व्यतीत किया। ६६४ ई० में ह्वेनसांग देहावसान हो गया।

राजनैतिक दशा—ह्वेनसांग ने भारत की तात्कालीन राजनैतिक, [illegible] आर्थिक तथा धार्मिक दशा पर प्रकाश डाला है। वह लिखता है कि हर्ष का [illegible] प्रबन्ध अत्यन्त सुव्यवस्थित था। राजा प्रजा की रक्षा तथा न्याय का [illegible] था। राज्य कर बहुत थोड़े लिये जाते थे। लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर [illegible] की स्वतन्त्रता थी। मजदूरों से बेगार नहीं ली जाती थी। सरकारी भूमि चार भागों में बँटी थी। एक भाग की आय से सरकारी खर्च चलता था, दूसरा भाग सरकारी

सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'सूर्यशतक' है। भारवि, कुमारदास, रविकीर्ति तथा सुबन्धु इस काल की अन्य विभूतियाँ हैं। रविकीर्ति चालुक्य सम्राट पुलकेशिन द्वितीय के राजकवि थे।

हर्ष का विद्यानुराग—हर्ष न केवल विद्वानों का आश्रयदाता था वरन् वह स्वयं भी उच्चकोटि का विद्वान् तथा साहित्यकार था। समुद्रगुप्त की भाँति उसे भी कई ग्रंथों की रचना का यश प्राप्त है। 'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका' तथा 'नागानन्द' नामक नाटक उसकी कृतियाँ हैं। बाण के कथनानुसार हर्ष में उच्च-कोटि की काव्य शक्ति थी। अन्य विद्वानों ने भी हर्ष की गणना उच्च-कोटि के कवियों तथा विद्वानों में की है। परन्तु कुछ विद्वानों की धारणा है कि उपरोक्त नाटक ग्रंथ हर्ष की कृतियाँ नहीं हैं वरन् हर्ष के काल में किसी निर्धन कवि ने धन प्राप्त करने के अभिप्राय से उनकी रचना की थी। यह भी सम्भव हो सकता है कि वे हर्ष की ही कृतियाँ हैं परन्तु उनमें किसी अन्य विद्वान् ने सुधार तथा संशोधन किया है। हर्ष का चित्रकला से भी बड़ा अनुराग था और वह स्वयं एक अच्छा चित्रकार था। बसखेड़ा से प्राप्त उसके अपने एक दान-पत्र में अपना हस्ताक्षर [illegible]

यही कारण है कि उसकी मृत्यु के उपरान्त ही उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अपने जीवन-काल में उसने बड़ी ही दक्षता तथा योग्यता के साथ शासन किया और अपनी प्रजा की ऐहिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का प्रयत्न किया। एक स्वेच्छाचारी सम्राट होते हुये भी वह लोकमत का आदर करता था और नैतिक बल का अवलम्ब लेता था। लोकमत के अनिश्चित होने के कारण तथा अपनी बहिन राज्यश्री की उपस्थिति में उसने कन्नौज का राजसिंहासन स्वीकार नहीं किया। यद्यपि उसका भाई राज्यवर्धन सन्यास लेने के लिये उद्यत था परन्तु हर्ष ने अपने अनुरोध से उसे शासन की बागडोर लेने के लिये बाध्य किया था। इससे स्पष्ट है कि हर्ष राज्य-लोलुप न था। हर्ष एक अच्छा राजनीतिज्ञ भी था। उसमें उच्च-कोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी और वह सभी धार्मिक सम्प्रदायों को दान तथा प्रोत्साहन देता था। यद्यपि अशोक की भांति वह अहिंसा का पुजारी तथा बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो गया था परन्तु अशोक की भांति वह धर्म-प्रचारक न था। वह केवल धर्मरक्षक था। समुद्रगुप्त की भांति वह विद्वानों का आश्रयदाता, कवि, लेखक तथा कलाकार था। चित्रकला में उसकी विशेष अभिरुचि थी। वास्तव में वह एक महान् सम्राट था।

**हर्ष महान् सम्राट् क्यों ?**—सम्राट हर्ष की गणना प्राचीन भारत के महान् सम्राटों में होती है। हर्ष को महान् सम्राट तथा महान् व्यक्ति सिद्ध करने में निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये जा सकते हैं :—

(१) महान् कुटुम्ब प्रेम —महाराज हर्ष में अपार कौटुम्बिक प्रेम था। विशेषकर

अवलम्ब लेना पड़ता है। कभी-कभी इनमें विरोध भी पाया जाता है। इस समय अभि-लेखों पर अधिक विश्वास किया जाता है। अब राजपूतों की उत्पत्ति पर विद्वानों की जो भिन्न-भिन्न धारणायें हैं उन पर विचार किया जायगा।

(१) प्राचीन क्षत्रियों से उत्पत्ति—प्राचीन अनुश्रुतियों के अनुसार राजपूत लोग प्राचीन क्षत्रियों की सन्तान हैं जो अपने को सूर्य तथा चन्द्रवंशी मानते हैं। भारत के प्राचीनतम साहित्य तथा अनुश्रुतियों के अध्ययन से विदित होता है कि आर्यों की मूलतः दो प्रमुख शाखायें थीं जो क्रम से सूर्य-वंश तथा चन्द्र-वंश के नाम से विख्यात थीं। कालान्तर में एक तीसरी शाखा यदु वंश की भी हो गई। इन्हीं तीन वंशों में सम्पूर्ण आर्य-जाति का समावेश हो जाता था। परन्तु राजनैतिक जीवन में क्षत्रिय-वर्ग की प्रधानता होने के कारण इन वंशों की परम्परा साधारणतः क्षत्रिय वर्ग के साथ स्थापित होती गई और क्षत्रियों के विभिन्न वंश मूलतः इन्हीं तीन वंशों के नाम से विख्यात हुये। कालान्तर में परिवार-विशेष के मुख्य व्यक्तियों के नाम पर वंशों की परम्परा चल पड़ी जिनकी स्मृति की निरन्तरता अब भी विद्यमान् है। इस स्मृति के आधार साहित्यिक ग्रन्थ, पुराण, अनुश्रुतियाँ, शिला लेख तथा दान-पत्र आदि हैं। कभी कभी अनुश्रुतियों तथा अभिलेखों में परस्पर विरोध भी परिलक्षित होता है। इस विरोध का कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि लेखकों को वंश परम्परा का समुचित ज्ञान न था। शिला-लेखों तथा दान-पत्रों से यह भी विदित होता है कि कुछ ब्राह्मणों ने भी क्षात्र धर्म को स्वीकार कर लिया था और क्षत्रिय वर्ण में सम्मिलित हो गये थे। यह कोई आश्चर्य-जनक बात नहीं है क्योंकि प्राचीन काल में व्यवसाय के परिवर्तन द्वारा वर्ण का भी परिवर्तन हो जाया करता था। आज-कल भी क्षत्रियों के विभिन्न परिवारों में कुछ ऐसे रीति-रिवाज प्रचलित हैं जिनकी परम्परा भारत में विदेशियों के प्रवेश के पूर्व से चली आ रही है। क्षत्रियों के नैतिक आचार-व्यवहार कम से कम उतने ही प्राचीन हैं जितने रामायण तथा महाभारत हैं। रामायण तथा महाभारत में क्षत्रियों के नैतिक आचरण का जो माप-दण्ड निर्धारित किया गया था उसका पालन इस वीर जाति ने उस समय भी किया जब मुसलमानों की सत्ता इस देश में स्थापित हो गई। भारत के क्षत्रियों की यह विशेषता अन्य किसी विदेशी जाति में नहीं पाई जाती। अतएव राजपूतों की प्राचीनता के समर्थन में यह विशेषता बड़ी सहायक सिद्ध होती है। अतएव राजपूतों को प्राचीन क्षत्रियों का ही वंशज मानना उचित है। पं० गौरी-शङ्कर हीराचन्द्र ओझा ने अपने राजपूताने के इतिहास में इस धारणा के अनुमोदन का

वंश का संस्थापक ब्राह्मण था। ऐसी दशा में अभिलेख अनुश्रुति से अधिक मान्य है परन्तु इस विरोध का समाधान ऊपर किया जा चुका है। एक दूसरी अनुश्रुति के अनुसार भारत तथा राष्ट्रकूट भगवान् कृष्ण के वंशज हैं। फलतः इस धारणा में पर्याप्त बल प्रतीत होता है कि राजपूत प्राचीन क्षत्रियों के वंशज थे।

(२) अग्नि-कुण्ड से उत्पत्ति—एक अनुश्रुति के अनुसार उच्च वर्ग के राजपूत अग्निकुण्ड से उत्पन्न हुये थे। इस अनुश्रुति के अनुसार जब परशुराम ने प्राचीन क्षत्रियों का विनाश कर दिया तब राजा न होने के कारण साधारण जनता कर्तव्य तथा आचार भ्रष्ट हो गये। ऐसी दशा में देवता लोग अत्यन्त दुखी हुये और आबू पर्वत की शरण ली जहाँ ऋषि मुनि निवास करते थे। आबू पर्वत पर एक अग्निकुण्ड था। उस अग्निकुण्ड में से देवताओं ने प्रतिहारों, पवारों, सोलंकियों अथवा चालुक्यों तथा चौहानों को उत्पन्न किया। इस अनुश्रुति की विद्वानों ने तीव्र आलोचना की है। श्री सी० वी० वैद्य ने इस कथा को कपोल-कल्पित बतलाया है। इनका कहना है कि अग्नि-कुल वंश के लो

इस युग में व्यापार भी उन्नत दशा में था और देश धन-धान्य पूर्ण था। साहित्य तथा कला की भी इस युग में बड़ी उन्नति हुई। अनेक कवियों, चारण तथा विद्वानों को राजपूतों का संरक्षण तथा आश्रय प्राप्त था। मालतीमाधव के रचयिता भवभूति इसी युग की विभूति थे। राजशेखर, कल्हण जिन्होंने 'राजतरंगिणी' की रचना की थी, कविराज भोज तथा आचारण-राजा चन्द इस युग के अन्य विद्वान् थे। मालवा के राजा भोज प्रसिद्ध कवि थे और उनकी राजधानी धार विद्या की केन्द्र थी। इस काल के सुदृढ़ दुर्ग तथा विशाल मन्दिर तत्कालीन कला के प्रतीक हैं।

**राजपूत कौन थे ?**—राजपूत शब्द का प्रयोग सर्व प्रथम हर्ष की मृत्यु के उपरान्त के काल में आरम्भ हुआ। यद्यपि राजपुत्र शब्द अत्यन्त प्राचीन है और राजपूत शब्द राजपुत्र का ही रूपान्तर है परन्तु राजपूत शब्द का पहिले प्रयोग न होने के कारण कुछ विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि राजपूत जाति एक नई जाति थी जिसका विकास सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ और जो भिन्न-भिन्न जातियों के सम्मिश्रण से बनी थी। इस भ्रम को दूर करने के लिये राजपूत शब्द की उत्पत्ति का विधिवत् विश्लेषण कर लेना आवश्यक है।

**राजपूत शब्द की व्युत्पत्ति**—'राजपूत' अथवा 'रजपूत' शब्द संस्कृत 'राजपुत्र' का रूपान्तर है। प्राचीन काल में 'राजपुत्र' शब्द का प्रयोग किसी जाति विशेष के लिये नहीं होता था वरन् इसका प्रयोग राजकुमारों अथवा राजवंशियों के लिये होता था। [illegible]

[illegible]

[illegible] नहीं हुआ है। अब हमें इस बात पर विचार करना है कि इस शब्द का प्रयोग जाति विशेष के लिये कब और क्यों आरम्भ हुआ। वास्तव में 'राजपूत' शब्द का प्रयोग एक जाति अथवा वर्ग विशेष के अर्थ में मुसलमानों के भारत में प्रवेश करने के उपरान्त ही आरम्भ हुआ। मुसलमानों के शासन-काल में क्षत्रियों के राज्य धीरे-धीरे समाप्त हो गये और जो बचे भी उन्होंने मुसलमानों की अधीनता स्वीकार कर ली और उनके सामन्त बन गये अथवा साधारण जनता की कोटि में आ गये। राजवंशीय होने के कारण भारत के हिन्दू इन्हें 'राज-पुत्र' के ही नाम से पु[illegible] शब्द के उच्चारण करने तथा लिखने [illegible] 'राजपूत' का ह प्रयोग करने लगे। [illegible] सम्पर्क अथवा सम्पर्क चल रहा था और [illegible] थे। अतएव सम्पूर्ण क्षत्रिय वर्ग के लिये भी 'राजपूत' शब्द का प्रयोग होने लगा और क्षत्रिय जाति के लिये 'राजपूत' शब्द ही तत्कालीन ग्रन्थों तथा लेखों में प्रयुक्त होने लगा। कालान्तर में यह शब्द एक रूप में जाति सूचक हो गया। 'राजपूत' शब्द के इस विकृत स्वरूप के कारण ही राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में इतना अधिक मतभेद हो गया है। कुछ विद्वान राजपूतों को प्राचीन क्षत्रियों की सन्तान मानते हैं और कुछ विद्वान उन्हें उन विदेशियों की सन्तान मानते हैं जिन्होंने भारत में प्रवेश किया और कालान्तर में भारतीयों में घुल मिल गये। डा० स्मिथ ने लिखा है कि राजपूत शब्द किसी [illegible] अथवा [illegible] को नहीं [illegible] करता वरन् यह एक [illegible] [illegible] राजपूतों की उत्पत्ति का [illegible]

समाज में विलीन हो गये। इन विदेशियों का सामाजिक स्थान हिन्दू समाज में उनके व्यवसाय द्वारा निश्चित की गई। जिन लोगों ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया और शासन करने लगे वे राजपूत कहलाने लगे। जो लोग ब्राह्मणों का कार्य करने लगे वे ब्राह्मण बन गये। इसी व्यवसाय के अनुसार इनका अन्य जातियों में भी समावेश हो गया। कभी-कभी व्यवसाय के बदल देने से जाति भी बदल जाती थी। उदाहरण के लिये मेवाड़ के गुहिलोत पहिले ब्राह्मण थे परन्तु राज्य स्थापना के उपरान्त जब वे शासक हो गये तब राजपूत कहलाने लगे। यह जाति-परिवर्तन हिन्दू परम्परा तथा धर्मशास्त्र के अनुकूल था। अतएव इसे असम्भव नहीं मानना चाहिये। ऐसे विश्वस्त ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं जिनसे सिद्ध किया जा सकता है कि राजपूतों की भिन्न-भिन्न शाखायें भिन्न-भिन्न जातियों की वंशज हैं। अभिलेखों से यह सिद्ध हो गया है कि प्रतिहार वंश के क्षत्रिय गुर्जर वंश के हैं। चूँकि प्रतिहार वंश के साथ गुर्जर शब्द का प्रयोग हुआ है अतएव यह निष्कर्ष निकाला गया है कि प्रतिहार राजपूत गुर्जर जाति के थे और चूँकि गुर्जर लोग विदेशी थे अतएव प्रतिहार लोग भी विदेशी थे। सर जेम्स कैम्पबेल ने गुर्जर शब्द का सम्बन्ध ध्वनि-साम्य के आधार पर खजर जाति से जोड़ा है जो थी। इन्होंने गुर्जरों में गुर्जर कुषाण (कुषाण) में प्रवेश करने वाली हूण में से एक का नाम हूण है जो कालान्तर में हिन्दू समाज में प्रविष्ट होकर राजपूत हो गये थे। आपका कहना है कि दक्षिण में कई मूल निवासियों अथवा जङ्गली जातियों के धर्म हिन्दू-धर्म को स्वीकार कर हिन्दू समाज में प्रविष्ट हो गये थे जैसे गोंड, भर, खरवार आदि। इन्हीं से चन्देल, राठौर, गहरवाल आदि राजवंशों की उत्पत्ति हुई जिन्होंने अपनी उत्पत्ति सूर्य तथा चन्द्र वंशों से जोड़ दी। राजपूतों के रीति रिवाजों की विषमता से भी इसी धारणा की पुष्टि होती है कि राजपूत लोग भिन्न-भिन्न जातियों के वंशज हैं। इस प्रकार जो राजपूत सूर्य के उपासक हैं वे विदेशियों के वंशज माने जाते हैं और जो नाग की पूजा करते हैं वे मूल-निवासियों के वंशज माने जाते हैं। अतएव टाड महोदय तथा उनके समर्थकों की धारणा को विवेचना से हो सकती है कि राजपूत लोग अधिकांश में मूलतः विदेशी हैं और सिथियनों के वंशज हैं। उत्तर पश्चिम से अनेक जातियों ने भारत में प्रवेश किया जिनमें शक, कुषाण तथा हूण प्रधान थीं। शकों तथा कुषाणों के वंशज कहाँ रहे हैं यह बतलाना कठिन है। परन्तु हूणों के वंशज प्रधानतः राजपूताना तथा पंजाब में बस गये थे। इनमें से गुर्जरों का एक जिला अब भी पंजाब में पाया जाता है जिसे गुजरानवाला कहते हैं।

उत्कीर्ण लेखों के अनुसार ग्यारहवीं शताब्दी में सूर्य तथा चन्द वंशी माने जाते है। अग्नि कुल की कथा चारणों की कल्पना मात्र है जो कालान्तर में सत्य मान और अन्य विद्वानों ने भी इस अनुश्रुति की आलोचना की है। उनका कहना है कि इस क यह पता चलता है कि भारत के सच्चे इतिहास पर ब्राह्मणों तथा चारणों ने अप आवरण डाल कर वास्तविकता को गुप्त रखने का प्रयत्न किया है। एक अन्य विद्वान् ने अनुश्रुति की आलोचना करते हुये लिखा है, "इस अनुश्रुति की प्राचीनता सन्दिग्ध है इ भारतीय साहित्य, शिलालेख, दान-पत्रादि में इसका उल्लेख सोलहवीं शताब्दी के कहीं भी नहीं है। अतः सोलहवीं शताब्दी के चारणों की कपोल कल्पना के अतिरिक्त और कोई महत्व नहीं दिया जा सकता और फिर उन चार जातियों का इतिहास सोल शताब्दी से कम से कम एक हजार वर्ष पुराना है। इस काल में लिखित साहित्य उत्कीर्ण लेखों में इन जातियों की परंपरा क्षत्रियों के प्राचीन वंशों से ही स्थापित मिलती विद्वानों की यह धारणा भी नितान्त भ्रामक है कि यज्ञाग्नि के सम्मुख अरबों और [illegible] कहलाये।

न काल में सूच हुआ और वैदिक कर्मकाण्ड के सिद्धान्तों तथा दर्शन का प्रचार चेथ तक फैल गया। यद्यपि यशोवर्मन सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर अपनी सत्ता स्था-त करने की आकांक्षा करता था परन्तु उसे काश्मीर के राजा ललितादित्य तथा चालुक्य जा से पराजित होना पड़ा। यशोवर्मन के उत्तराधिकारी निर्बल तथा नाममात्र के सक थे और काश्मीर तथा बङ्गाल के शक्तिशाली राजाओं के सामने उनका कोई महत्व रहा।

आठवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में कन्नौज के राजसिंहासन पर एक ऐसे वंश का राज्य था जिनके नाम के अन्त में आयुध आता था परन्तु न तो इस वंश की परम्परा का पता और न इस बात का पता है कि इन्हें किस प्रकार राज्य प्राप्त हुआ। इस वंश का पहिला राजा वज्रायुध था जो सम्भवतः ७७१ ई० में राजसिंहासन पर बैठा था। वज्रायुध को सम्भवतः काश्मीर के राजा जयापीड विनयादित्य ने हराया था। वज्रायुध के उपरांत उसका पुत्र इन्द्रायुध राजा हुआ। इन्द्रायुध को बङ्गाल के राजा धर्मपाल ने परास्त कर उसे सिंहासन से उतार दिया था और उसके स्थान पर चक्रायुध को राजसिंहासन पर बैठाया था। परन्तु राष्ट्रकूट सम्राट गोविन्द तृतीय ने धर्मपाल तथा चक्रायुध दोनों को परास्त किया। इस समय दोआब में बड़ी गड़बड़ी फैल गई। इसी समय प्रतीहार सम्राट नागभट्ट ने चक्रायुध को परास्त कर के कन्नौज को अपने राज्य में मिला लिया और बाद में कन्नौज को अपनी राजधानी बनाई।

**प्रतीहार वंश**—प्रतीहार मूलतः कौन थे यह एक अत्यन्त विवाद-ग्रस्त प्रश्न है। कुछ विद्वान् इन्हें सूर्य वंशी क्षत्रिय मानते हैं और कुछ इन्हें विदेशी मानते हैं। इन विद्वानों की धारणाओं पर अलग-अलग विचार किया जायगा।

**विदेशी उत्पत्ति**—'पृथ्वीराज रासो' के इस वर्णन के आधार पर कि प्रतीहार, परमार, सालंकी तथा चौहान वंशों की उत्पत्ति अग्नि से हुई थी कर्नल टाड ने इन्हें विदेशी सिद्ध करने का प्रयास किया। उन्होंने शकों तथा इन वंशों की परम्परा में समता दिखला कर उन्हें शकों का वंशज बतलाया। टाड के बाद के विद्वानों ने भी इसी बात का अनुमोदन किया कि प्रतीहार लोग विदेशियों के वंशज थे। प्रतीहार वंश के नाम के साथ

[illegible]

दिनों गुजरों ने उत्तर-पश्चिम के पर्वतीय मार्गों द्वारा भारत में प्रवेश किया था और धीरे-धीरे पंजाब, मारवाड़ तथा मध्य भारत में अपने छोटे छोटे राज्य स्थापित कर लिये थे। सर जेम्स कैम्बल ने गुर्जर शब्द का सम्बन्ध खजर जाति से जोड़ा है जो छठीं शताब्दी में [illegible] हानली ने गुर्जरों का सम्बन्ध तुर्क [illegible] का सम्बन्ध यूची जाति से था। [illegible] स्थान है। डा० भण्डारकर ने भी [illegible] स्मिथ तथा अलमसूदी भी इस धारणा का अनुमोदन करते हैं कि प्रतीहार लोग गुजर जाति के थे।

**भारतीय उत्पत्ति**—बहुत से इतिहासकार प्रतीहारों को विदेशी नहीं मानते। इनके विचार में यह जाति सर्वथा भारतीय है और शान्तिप्रिय तथा कृषि प्रधान अथवा व्यापारी जाति है। इन विद्वानों के विचार में प्रतीहारों के साथ गुजर शब्द के जुड़ जाने

राजा धर्मपाल पर भी विजय प्राप्त की थी और अपनी सत्ता बंगाल तक स्थापित कर दी थी। परन्तु अन्त में राष्ट्रकूट सम्राट ध्रुव ने उसे युद्ध में परास्त कर दिया और उसे मरुभूमि में शरण लेने के लिये विवश किया।

**नागभट्ट द्वितीय ८०५-८३३ ई०**—वत्सराज की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र नागभट्ट द्वितीय ८०५ ई० में राजा हुआ। उसने अपने पिता की पराजय का बदला लेने के लिये राष्ट्रकूट सम्राट गोविन्द तृतीय से लोहा लिया परन्तु दुर्भाग्य वश उसे युद्ध में बुरी तरह परास्त होना पड़ा। नागभट्ट द्वितीय एक साहसी तथा महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। वह पराजय से हताश न हुआ और उसने नई दिशा में अग्रसर होने का प्रयत्न किया। इस समय कन्नौज में चक्रायुध शासन कर रहा था जो बंगाल के राजा धर्मपाल द्वारा सिंहासन पर बिठाया गया था। नागभट्ट ने चक्रायुध को परास्त कर कन्नौज को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया और बाद में उसे अपनी राजधानी बना ली। बंगाल का राजा धर्मपाल इसे सहन न कर सका और उसने नागभट्ट पर आक्रमण कर दिया परन्तु नागभट्ट ने मुंगेर के युद्ध में धर्मपाल को बुरी तरह परास्त किया। इस विजय से नागभट्ट की धाक बहुत बढ़ गई और आन्ध्र, सिन्ध, विदर्भ तथा कलिंग के राजाओं ने उससे मैत्री कर ली। ग्वालियर के अभिलेख के अनुसार उत्तरी काठियावाड़, मालव, पूर्वी राजपूताना, हिमालय प्रदेश के किरातों, कौशाम्बी के वत्सों तथा पश्चिमी भारत में बसे हुये अरबों पर भी विजय प्राप्त की थी।

**रामभद्र ८३४-८३५ ई०**—नागभट्ट के बाद उसका पुत्र रामभद्र शासक हुआ। वह अत्यन्त निर्बल शासक था और उसके शासन काल में प्रतीहार वंश की सत्ता तिरोहित हो गई थी।

**मिहिरभोज ८३६-८८५ ई०**—रामभद्र के बाद उसका पुत्र मिहिर भोज शासक हुआ। वह बड़ा ही प्रतापी शासक था और अपने वंश के वैभव के बढ़ाने का उसने पूर्ण प्रयत्न किया। राजसिंहासन पर बैठते ही उसने बुन्देलखण्ड में अपने वंश की सत्ता स्थापित कर ली। मारवाड़ में भी उसने अपने वंश की सत्ता फिर से स्थापित की उत्तर में मिहिरभोज की धाक हिमालय पर्वत तक जमी हुई थी। इस प्रकार मध्य देश में पूर्ण रूप से अपनी शक्ति स्थापित कर लेने के उपरान्त मिहिरभोज ने बंगाल के पाल वंशीय राजा देवपाल से लोहा लिया। परन्तु इस युद्ध में भोज की पराजय हुई। परन्तु वह इस पराजय से निराश नहीं हुआ। अब उसने दक्षिण विजय की ओर ध्यान दिया। थोड़े ही समय में उसने दक्षिण राजपूताना तथा उज्जैन के निकटवर्ती प्रदेशों पर नर्मदा नदी तक अपनी सत्ता स्थापित कर ली। इसके बाद उसने राष्ट्रकूट वंश के राजा *ध्रुव द्वितीय* से युद्ध किया परन्तु वह पराजित हो गया। भोज ने पश्चिम में कर्नाल जिले तक तथा दक्षिण पश्चिम में सौराष्ट्र तक अपनी सत्ता स्थापित कर दी थी। मिहिरभोज न केवल एक महान् विजेता था वरन् वह नीतिनिपुण तथा उदार शासक भी था। उसका राज्य धन सम्पन्न तथा चोरों और डाकुओं से मुक्त था। वह कट्टर हिन्दू था और इस्लाम धर्म का घोर विरोधी था। वह अपनी दानशीलता के लिये दूर-दूर तक प्रसिद्ध था।

**महेन्द्रपाल प्रथम ८८५-९१० ई०**—मिहिरभोज के उपरान्त उसका पुत्र महेन्द्रपाल राजा हुआ। अपने पिता की भांति वह भी एक वीर तथा साहसी सम्राट था। राजसिंहासन पर बैठते ही उसने मगध के बहुत बड़े भाग तथा उत्तरी बंगाल पर विजय प्राप्त कर ली। दक्षिण-पश्चिम में सौराष्ट्र तक उसकी सत्ता स्थापित था। सम्भवतः काश्मीर के राजा ने महेन्द्रपाल के राज्य का कुछ भाग छीन लिया था। अपने पिता की भांति महेन्द्रपाल भी बड़ा ही उदार तथा साहित्यानुरागी सम्राट था। उसके आश्रय तथा

का कारण यह है कि इनकी राजनैतिक शक्ति का उदय सर्व-प्रथम राजस्थान के दक्षिण-पूर्व के गुर्जर प्रदेश में हुआ था। अतएव इस स्थान के नाम पर यह लोग गुजर अथवा गुर्जर कहलाये। श्री वैद्य, श्री ओझा तथा श्री आर० आर० हाल्दर ने इस भारतीय उत्पत्ति का अनुमोदन किया है। भारतीय अनुश्रुतियों के अनुसार प्रतीहार लोग सूर्य-वंशी क्षत्रिय थे जो अपने को लक्ष्मण की सन्तान मानते थे। सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि राज- [illegible] प्रतीहार वंशी राजा महेन्द्रपाल को 'रघु- [illegible] उसके पुत्र महिपाल [illegible] प्रतीहारों को रघु वंशी अथवा सूर्यवंशी कहा गया है। प्रतीहारों के भारतीय होने के [illegible]लेखीय प्रमाण भी हैं। कई अभिलेखों से यह प्रमाणित होता है कि प्रतीहार लोग हरिश्चन्द्र नामक ब्राह्मण के वंशज थे। हरिश्चन्द्र के दो स्त्रियाँ थीं, एक ब्राह्मण वंश की थी और दूसरी क्षत्रिय वंश की थी। ब्राह्मण स्त्री से जो पुत्र उत्पन्न हुये वे ब्राह्मण प्रतीहार कहलाये और जो क्षत्रिय वर्ण की रानी भद्रा से उत्पन्न हुये वे क्षत्रिय प्रतीहार कहलाये। जोधपुर में अब भी ब्राह्मण प्रतीहार पाये जाते हैं। प्रतीहार वंशी सम्राट भोजदेव की ग्वालियर की प्रशस्ति में भी प्रतीहारों को सूर्य वंशी कहा गया है। इस प्रकार साहित्यिक तथा अभिलेखीय दोनों प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रतीहारों की उत्पत्ति भारतीय है और वे रघुवंशी अथवा सूर्यवंशी क्षत्रिय हैं।

प्रतीहार नाम क्यों पड़ा ?—प्रतीहार वास्तव में एक पदाधिकारी होता था जिसका कार्य राजा के बैठने के स्थान अथवा उसके प्रासाद के द्वार पर उसकी रक्षा में उपस्थि[illegible] [illegible] विचार करके राजा के अत्यन्त विश्वा-सपात्र [illegible]

गहड़वाल कोई किसी साधारण कबीले के लोग थे और राज्य शक्ति प्राप्त करने के उपरान्त ही ये इतने प्रसिद्ध हुये।

**चन्द्रदेव**—कन्नौज पर अधिकार स्थापित करने के पूर्व ही चन्द्रदेव का बनारस तथा अयोध्या पर अधिकार स्थापित हो गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रदेव ने १०८० तथा ११०५ के बीच में कान्यकुब्ज में गहड़वाल वंश की स्थापना की थी। चन्द्रदेव के अधिकार में सम्पूर्ण संयुक्त प्रान्त आ गया था। लगभग ११०० ई० में उसका स्वर्गवास हो गया।

**गोविन्दचन्द्र**—चन्द्रदेव के बाद उसका पुत्र मदनपाल राजसिंहासन पर बैठा। परन्तु उसके काल की घटनाओं के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। मदनपाल के बाद गोविन्दचन्द्र राजसिंहासन पर बैठा। अपने पिता मदनपाल के शासन-काल ही में गोविन्दचन्द्र ने अपने को शक्तिशाली बना लिया था। जब वह राजकुमार था तभी उसने मुसलमानों के आक्रमण को सफलता पूर्वक रोका था। राजसिंहासन पर बैठने के बाद उसने पालवंश के राज्य पर आक्रमण कर दिया और मगध के कुछ भाग को अपने राज्य में मिला लिया। उसने पूर्वी मालवा पर भी विजय प्राप्त की थी। काश्मीर तथा गुजरात के राजाओं से उसकी मैत्री थी। सम्भवतः दक्षिण के चोल राजा के साथ भी उसकी मैत्री थी। इस प्रकार गोविन्दचन्द्र ने कन्नौज की लुप्त श्री को फिर से स्थापित किया था। वह बड़ा ही प्रतापी तथा दानी राजा था। वह स्वयम् विद्यानुरागी तथा विद्वानों का आश्रयदाता था। उसके मन्त्री लक्ष्मीधर ने साहित्य के परिवर्धन में बड़ा योग दिया था और कृत्य-कल्पद्रुम नामक ग्रंथ की रचना की थी।

**विजयचन्द्र**—गोविन्दचन्द्र की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र विजयचन्द्र राजसिंहासन पर बैठा। विजयचन्द्र भी अपने पिता की भाँति एक वीर तथा साहसी शासक था। 'पृथ्वीराज रासो' में चन्दबरदाई ने उसकी बड़ी प्रशंसा की है और उसे एक महान विजेता बतलाया है। उसने मुसलमानों के आक्रमणों का बड़ी वीरता के साथ सामना किया था। पूर्व में विजयचन्द्र ने अपने राज्य को पूर्णरूप से सुरक्षित रक्खा परन्तु पश्चिम में उसका संघर्ष विग्रहराज विशालदेव से हुआ। जिसने सम्भवतः दिल्ली पर अपना अधिकार जमा लिया।

**जयचन्द्र**—विजयचन्द्र की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र जयचंद्र ११७० में राजसिंहासन पर बैठा। जयचन्द्र कन्नौज का अन्तिम प्रतापी राजा था। तात्कालीन चारणों के कथनानुसार वह एक महान विजेता था और उसने राजसूय-यज्ञ भी किया था। कहा जाता है कि उसने देवगिरि के राजा यादवराज पर आक्रमण किया था और अनहिलवाड़ा के राजा सिद्धराज को दो बार परास्त किया था। मुसलमान राजा शहाबुद्दीन को उसने कई बार पराजित किया था। परन्तु यह सब विजय पूर्णरूप से प्रमाणित नहीं हो सकी है। जयचंद्र की दिल्ली के राजा पृथ्वीराज से घोर शत्रुता थी और दोनों एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी थे। जयचंद्र ने चन्देल राजा परमार्दी को पृथ्वीराज के विरुद्ध सहायता दी थी। जयचन्द्र की कन्या संयोगिता के विवाह ने इन दोनों वंशों की शत्रुता को और बढ़ा दिया। कहा जाता है कि

...

मद ने कन्नौज पर अधिकार जमा लिया और गहड़वाल वंश का अन्त कर दिया।

संरक्षण में राजशेखर ने 'कर्पूरमञ्जरी', 'बाल-रामायण', 'बाल-भारत', 'काव्य-मीमांसा', आदि ग्रन्थों की रचना की थी।

**महिपाल ६१२-६४४ ई०**—महेन्द्रपाल की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र भोज द्वितीय राजसिंहासन पर बैठा। परन्तु उसके भाई महिपाल ने हर्षदेव चन्देल की सहायता से उसे राजसिंहासन से उतार दिया और स्वयम् सम्राट् बन गया। महिपाल को राजसिंहासन पर बैठते ही घोर आपत्तियों का सामना करना पड़ा। राष्ट्रकूट सम्राट इन्द्र तृतीय ने उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया और अपने सामन्त नरसिंह चालुक्य की सहायता से कन्नौज तथा प्रयाग तक के प्रदेश को खूब लूटा। इसी समय अवसर पाकर बंगाल के पाल राजा ने भी अपने खोये हुये प्रदेश पर अधिकार जमा लिया और शोण नदी तक अपनी सत्ता स्थापित कर ली। परन्तु महिपाल ने इन आपत्तियों का बड़े धैर्य के साथ सामना किया और अपने पिता की भांति राज्य-विजय आरम्भ की। धीरे धीरे उसका प्रभाव मुरल (नर्मदा नदी के प्रदेश में रहने वाले), मेखल, कलिंग; केरल, कुलूत, कुन्तल

अधिकार स्थापित हो गया। वाक्पति प्रथम तथा सिंहराज इस वंश के बड़े पराक्रमी राजा थे जिन्होंने विजय द्वारा अपने वंश के गौरव को बढ़ाया। विग्रह राजा द्वितीय के समय तक [illegible] प्रभाव से मुक्त हो गया था और पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो [illegible]

[illegible]

नगर की स्थापना की थी। अजयराज के पुत्र अर्णोराज को गुजरात के चालुक्य राजा जयसिंह तथा कुमारपाल ने परास्त कर दिया था। चौहान अभिलेखों के अनुसार गोविन्दराज [illegible] ने मुसलमानों के विरुद्ध विजय प्राप्त की थी। विग्रह-

[illegible]

[illegible] ११७० से ११९२ ई० तक शासन किया था। जयन्त कृत 'पृथ्वी राज विजय' में

[illegible]

के चन्देलों तथा गुजरात के चालुक्यों [illegible]

भीषण संघर्ष मुहम्मद गोरी के साथ हुआ। ११९१ ई० में तराइन के रणक्षेत्र में पृथ्वीराज का मुहम्मद गोरी से संघर्ष हुआ। इस युद्ध में मुहम्मद गोरी की पराजय हुई और उसकी सेना पूर्ण रूप से नष्ट भ्रष्ट हो गई परन्तु दूसरे वर्ष फिर उसका पृथ्वीराज से युद्ध हुआ। इस बार पृथ्वीराज की पराजय हुई और वह कैद कर लिया गया और मार डाला गया। अजमेर तथा दिल्ली पर मुसलमानों का अधिकार स्थापित हो गया परन्तु मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज के एक पुत्र को अजमेर का शासक बना दिया और वार्षिक कर देने का वचन ले लिया परन्तु अपने चाचा हरिराज के कारण उसे रणथम्भौर चला जाना पड़ा जहाँ चौहानों ने १३०१ ई० तक शासन किया। १३०१ ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने रणथम्भौर पर विजय प्राप्त कर ली। कुतुबुद्दीन ने हरिराज को परास्त कर चौहान राज्य को अपने राज्य में पहिले ही मिला लिया था।

**काश्मीर**—प्राचीन काल में काश्मीर राज्य आधुनिक काश्मीर से कहीं अधिक छोटा था। उन दिनों वितस्ता अर्थात् झेलम नदी की घाटी के ऊपर का भाग तथा उसकी सहायक नदियों द्वारा सिंचित प्रदेश काश्मीर राज्य कहलाता था। पर्वत द्वारा अलग होने के कारण यह शेष भारत की घटनाओं से अधिक प्रभावित नहीं होता था और अपनी स्वतन्त्र संस्थाओं तथा संस्कृति का सृजन किया था। काश्मीर राज्य के इतिहास जानने का प्रधान साधन कल्हण की राजतरंगिणी है जिसकी रचना ११५० ई०में की गई थी। अशोक के काल में काश्मीर मौर्य-राज्य का एक अङ्ग था। परन्तु अशोक की मृत्यु के उपरान्त जब मौर्य साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा तब काश्मीर सम्भवतः स्वतंत्र हो गया। कुषाणों ने जब भारत में अपना राज्य स्थापित किया तब काश्मीर में कनिष्क तथा हुविष्क की सत्ता स्थापित रही परन्तु गुप्त-काल में काश्मीर फिर स्वतन्त्र रहा। इसके बाद मिहिरकुल ने काश्मीर में शरण ली थी और वहीं पर अपना राज्य स्थापित किया था।

**कर्कोटक वंश**—काश्मीर का क्रम-बद्ध इतिहास सातवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है जब गोनन्द वंश का अन्त हो जाने पर दुर्लभवर्धन राजसिंहासन पर बैठा। वह अपने को नाग कर्कोटक वंश का सन्तान मानता था अतएव काश्मीर के इस राज-वंश का नाम कर्कोटक पड़ा। दुर्लभवर्धन ने लगभग ३६ वर्ष तक शासन किया। हर्षवर्धन से उसकी मैत्री थी

**नेपाल**—प्राचीन काल में नेपाल राज्य की सीमा अत्यन्त सङ्कुचित थी। इस दि
इस राज्य की लम्बाई केवल ३० मील और चौड़ाई २० मील थी और गण्डक एवं
नदियों के बीच तक ही सीमित था। इस छोटे से राज्य के लोग अपना स्वतन्त्र
थे और अन्य देशों से इसका कोई सम्बन्ध न था और यदि कोई सम्बन्ध था भी तो
तिब्बत तथा चीन के साथ। भारतवर्ष के साथ नेपाल का पहला सम्बन्ध
अशोक के समय में तीसरी शताब्दी ई० पू० में आरम्भ हुआ। कहा जाता है कि
ने नेपाल में कई स्तूप बनवाये थे। और ललितपटन नामक नगर की उसने स्थापना
की थी। समुद्रगुप्त के समय में नेपाल सामन्त राज्य था और गुप्त साम्राज्य को कर
था। हर्ष के शासन काल में अंशुवर्मन नेपाल में शासन करता था। उसने ठकुरी वंश
नींव डाली थी और कन्नौज तथा तिब्बत दोनों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया
अंशुवर्मन ने अपनी पुत्री का विवाह तिब्बत के राजा स्रोंग सान गैम्पो के साथ कर दि
था। अंशुवर्मन पहिले लिच्छवि सम्राट का मन्त्री था परन्तु बाद में उसने स्वतन्त्र रा
स्थापित कर लिया था। उसने लगभग ४० वर्ष तक राज्य किया था। उसकी मृत्यु
ई० के लगभग हुई थी। अंशुवर्मन की मृत्यु के उपरान्त कई सौ वर्षों का इति
अन्धकारपूर्ण है। सम्भवतः इस युग में लिच्छवि वंश का शासन नेपाल में फिर से स्था
हो गया था परन्तु देश तिब्बत की ही अधीनता में रहा। ८७९ ई० से नेपाल के इतिहास
एक नये युग का आरम्भ होता है। सम्भवतः अब तिब्बती प्रभाव समाप्त हो गया और
नये वंश ने नेपाल में स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। नेपाल का फिर सवा सौ वर्ष
इतिहास ज्ञात नहीं। ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में फिर राजाओं की क्रमबद्ध नाम
वली मिलने लगती है परन्तु इन राजाओं ने कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया। इस का
में नेपाल भारत, तिब्बत तथा चीन के साथ व्यापार कर रहा था और एक समृद्धिशा
देश हो गया था। बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तिरहुत के कर्णाटक वंश के न्यान्देव
नेपाल पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली। १७६८ ई० में गोरखों ने नेपाल पर अपन
सत्ता स्थापित कर ली। इसके पूर्व का नेपाल का इतिहास अधिक महत्व नहीं रखता
नेपाल में बौद्ध धर्म का प्रचार था। सम्भवतः अशोक ने इस धर्म का प्रचार वहाँ आरम्भ
किया था। धीरे धीरे हिन्दू धर्म ने नेपाल में बौद्ध-धर्म का स्थान ग्रहण करना आरम्भ
कर दिया।

**चौहान वंश**—हम्मीर महाकाव्य तथा 'पृथ्वीराज विजय' के अनुसार चौहान चाह
मान नामक व्यक्ति के वंशज थे जिसकी उत्पत्ति सूर्य से हुई थी। परन्तु चारणों के कथना

ढी और अपने भाइयों को भूखों मार डाला। उसे निर्दयता तथा क्रूरता के कार्यों में आनन्द मिलता था। परन्तु दो ही वर्ष के शासन के उपरान्त उसकी मृत्यु हो गई। इसके बाद उसका पुत्र शूरवर्मन द्वितीय गद्दी पर बैठा। परन्तु थोड़े ही दिन में ९३९ ई० में उसके शासन का अन्त हो गया और एक नये वंश का राज्य आरम्भ हुआ।

**ब्राह्मण वंश**—शूरवर्मन द्वितीय के बाद ब्राह्मणों ने गोपालवर्मन के मन्त्री प्रभाकर के पुत्र यशस्कर को राजा चुना। उसने ९३९ से ९४८ ई० तक राज्य किया और प्रजा को शान्ति तथा वैभव प्रदान किया। यशस्कर के बाद उसका पुत्र संग्राम शासक हुआ परन्तु उसके मन्त्री पर्वगुप्त ने उसका वध कर दिया और स्वयं राजा बन गया।

**पर्वगुप्त वंश**—पर्वगुप्त के बाद उसका पुत्र क्षेमगुप्त राजा हुआ परन्तु शासन की बागडोर उसकी स्त्री दिद्दा के हाथ में थी जो लोहर के एक सामन्त की कन्या थी और जिसकी माता शाही वंश की थी। क्षेमगुप्त की ओर से दिद्दा ने ९५० से ९५८ तक शासन किया। इसके बाद उसने ९८० ई० तक संरक्षिका के रूप में शासन किया। ९८० से १००३ ई० तक उसने स्वतन्त्र शासन किया। ब्राह्मणों तथा भूमिपतियों के विरोध होते हुए भी उसने अपनी इच्छानुसार शासन किया। १००३ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

**लोहर-वंश**—दिद्दा ने अपने जीवन-काल में ही अपने भतीजे संग्रामराज को जो लोहर वंश का था अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था। संग्रामराज ने १००३ से

राजकता फैल गई अन्त में उच्चल नामक व्यक्ति ने सिंहासन छीन लिया परन्तु १३३९ ई० तक गृह-युद्ध तथा अराजकता चलती रही और राजा बदलते रहे। अन्त में शाह मीर नामक एक मुसलमान शम्सुद्दीन के नाम से राजसिंहासन पर बैठा। इस प्रकार काश्मीर में १३३९ ई० में हिन्दू-राज्य का अन्त हो गया।

**आसाम**—प्राचीन-काल में आसाम कामरूप के नाम से पुकारा जाता था और प्राग्ज्योतिषपुर इसकी राजधानी थी। अभिलेखों तथा साहित्य से पता चलता है कि आसाम के प्राचीनतम राजा नरक के वंशज थे जिसके पुत्र भागदत्त ने महाभारत के युद्ध में कौरवों का साथ दिया था। समुद्रगुप्त के शासन काल में आसाम करद सीमान्त प्रदेश था। पर-

और चीनी यात्री ह्वेनसांग दो वर्ष तक यहाँ रहा था। कर्कोटक वंश का सबसे प्रतापी सम्राट् ललितादित्य मुक्तापीड़ था। उसने ७२४ से ७६० ई० तक राज्य किया था। वह बड़ा ही वीर तथा साहसी शासक था और उसने साम्राज्य-विस्तार का प्रयत्न किया था। ७३३ ई० में उसने कन्नौज के राजा यशोवर्मन पर विजय प्राप्त की थी। पंजाब के भी कुछ भाग पर उसने विजय प्राप्त कर ली थी और तक्षशिला (सिन्ध नदी की घाटी) तथा दरद देश पर जो काश्मीर के उत्तर में था उसने अपनी सत्ता स्थापित की थी। कहा जाता है कि ललितादित्य ने गौड़ राजा पर भी विजय प्राप्त की थी और तिब्बत के राजा के विरुद्ध उसने युद्ध किया था। उसने चीन के सम्राट के यहाँ भी दूत-मण्डल भेजा था। ललितादित्य न केवल एक महान् विजेता था वरन् धर्म में भी उसकी बड़ी अभिरुचि थी। हुविष्कपुर तथा अन्य स्थानों में उसने बौद्धों के बहुत से विहार बनवाये। उसने ब्राह्मणों के कई देव मन्दिर भी बनवाये थे। उसने शिव, विष्णु तथा सूर्य के मन्दिर बनवाये थे। इनमें उसका मार्तण्ड-मन्दिर सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इस वंश का अन्तिम प्रभावशाली राजा ललितादित्य का पौत्र जयापीड़ विनयादित्य था। उसने गौड़ तथा कन्नौज के राजाओं को पराजित किया था। जयापीड़ विद्यानुरागी और विद्वानों का आश्रयदाता था। क्षीरस्वामिन उद्भट, दामोदर गुप्त, वामन तथा अन्य विद्वान् उसकी राजसभा के आभूषण थे परन्तु अपने शासन-काल के अन्तिम दिनों में वह लोभ तथा निर्दयता के वशीभूत हो गया। उसके बाद उसके वंश में कई निर्बल राजा हुए और कर्कोटक वंश का धीरे-धीरे पतन होता गया। अन्त में ८५५ ई० में उत्पल वंश ने काश्मीर में शासन करना आरम्भ किया।

अपने भाइयों को भूखों मार डाला। उसे निर्दयता तथा क्रूरता के कार्यों
मिलता था। परन्तु दो ही वर्ष के शासन के उपरान्त उसकी मृत्यु हो
ाद उसका पुत्र शूरवर्मन द्वितीय गद्दी पर बैठा। परन्तु थोड़े ही दिन
में उसके शासन का अन्त हो गया और एक नये वंश का राज्य

| वंश—शूरवर्मन द्वितीय के बाद ब्राह्मणों ने गोपालवर्मन के मन्त्री प्रभा-
यश.कर को राजा चुना। उसने ९३९ से ९४८ ई० तक राज्य किया और प्रजा
वैभव प्रदान किया। यश.कर के बाद उसका पुत्र सग्राम शासक हुआ
न्त्री पर्वगुप्त ने उसका वध कर दिया और स्वय राजा बन गया।

| वंश—पर्वगुप्त के बाद उसका पुत्र क्षेमगुप्त राजा हुआ परन्तु शासन
सकी स्त्री दिद्दा के हाथ में थी जो लोहर के एक सामन्त की कन्या थी
राजा शाही वश की थी। क्षेमगुप्त की ओर से दिद्दा ने ९५० से ९५८ तक
। इसके बाद उसने ९८० ई० तक सरक्षिका के रूप में शासन किया। ९८०
तक उसने स्वतन्त्र शासन किया। ब्राह्मणों तथा भूमिपतियों के विरोध होते
अपनी इच्छानुसार शासन किया। १००३ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

वंश—दिद्दा ने अपने जीवन-काल में ही अपने भतीजे सग्रामराज को

**देवपाल**—धर्मपाल के बाद उसका पुत्र देवपाल राजा हुआ। वह एक महान् विजेता । उसके सेनापति लव सेन ने प्रागाम तथा कलिंग पर विजय प्राप्त की थी। कहा जाता कि अपने मन्त्रियों धर्म पाणि तथा केदार मिश्र की सहायता से उसने उत्कलों की ति को नष्ट किया। उसने हूणों के गर्व को चूर्ण किया और द्रविड़ तथा गुर्जरनाथ के पुरों के दम्भ का भी दमन किया। नालन्दा के एक ताम्रपत्र से पता चलता है कि उसने युवा भूमि के राजा शैलेन्द्र के प्रपौत्र स्वर्ण द्वीप के राजा की प्रार्थना पर नालन्दा एक बिहार सहायता के लिये कई गाँव दिये थे। युवा भूमि तथा स्वर्ण-भूमि आजकल [illegible] अनुमान किया जाता है कि उन दिनों [illegible] सम्बन्ध स्थापित था। देवपाल बौद्ध [illegible] तथा मन्दिर बनवाये थे। देवपाल ने [illegible]

**नारायणपाल**—इस वंश का दूसरा प्रतापी राजा नारायणपाल था जिसने ८५८ से ९१२ ई० तक शासन किया। वह हैहय वंश की राजकुमारी लज्जा का पुत्र था। वह परम शैव था और उसने लगभग एक सहस्र शिव-मन्दिर बनवाये थे। मगध तथा उत्तरी बङ्गाल को प्रतीहार राजाओं ने उससे जीत लिया था। राष्ट्रकूटों ने भी नारायण के राज्य पर आक्रमण किया था। नारायणपाल के बाद राज्य-पाल ने ९१२ से ९३६ ई० तक शासन किया था परन्तु उसके काल की कोई उल्लेखनीय घटना नहीं है।

**महिपाल**—विग्रहपाल द्वितीय का पुत्र महिपाल इस वंश का नवाँ राजा था। उसने ९७८ से १०३० ई० तक शासन किया था। उसके काल में पाल-वंश का पुनरुत्थान हुआ। उसने उत्तरी बंगाल को गौड़ राजा से फिर से जीत लिया। उसने बिहार पर फिर से अपना अधिकार स्थापित किया और बनारस तक अपनी शक्ति बढ़ा ली। कल्याण के चालुक्यों ने महिपाल के राज्य पर आक्रमण कर दिया था परन्तु महिपाल ने सफलतापूर्वक इसका विरोध किया था। सुदूर दक्षिण के चोलों ने भी उसके राज्य पर आक्रमण किया था। राजेन्द्र चोल से उसे पराजित होना पड़ा था। महिपाल बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। उसने बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिये तिब्बत में उपदेशक भेजे थे। उसने सम्भवतः सारनाथ में कई मन्दिर बनवाये थे और स्तूपों तथा धर्म चक्रों का जीर्णोद्धार किया था।

**नयपाल**—महिपाल के बाद उसका पुत्र नय पाल राजा हुआ। उसके विश्वरूप नामक गया के गवर्नर ने गदाधर का प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया था। चेदि राजा लक्ष्मी कर्ण से भी उसका संघर्ष हुआ था परन्तु दीपंकर नामक बौद्ध सन्यासी की मध्यस्थता से सन्धि हो गई थी।

**विग्रहपाल तृतीय**—नय-पाल के बाद उसका पुत्र विग्रहपाल तृतीय राजा हुआ। उसने लक्ष्मी कर्ण पर विजय प्राप्त की और उसकी पुत्री यौवन श्री से विवाह कर लिया। परन्तु चालुक्य राजा विक्रमादित्य ने उसे युद्ध में परास्त किया। विग्रहपाल की मृत्यु के उपरान्त उसके तीन पुत्रों में संघर्ष आरम्भ हुआ। सबसे पहिले महिपाल राजा हुआ। पूर्वी बङ्गाल में वर्मन लोग शक्तिशाली हो गये। वारेन्द्र में दिव्य नामक कैवर्त ने विद्रोह [illegible] ने में महिपाल की मृत्यु हो गई। महिपाल के बाद [illegible] द्वितीय शासक हुआ परन्तु थोड़े ही दिन बाद उसका शासन [illegible]

[illegible] रामपाल के समय में भी चलती रही। इसके

**लक्ष्मण सेन**—इस वंश का अन्तिम प्रभुत्वशाली सम्राट् लक्ष्मणसेन था। उसने ११८५ से १२०५ ई० तक शासन किया। वह बल्लाल का पुत्र तथा उत्तराधिकारी था। अभिलेखों से पता चलता है कि उसने गौड़, कामरूप, कलिंग तथा काशी पर विजय प्राप्त कर ली थी। उसने पुरी, प्रयाग तथा बनारस में अपने विजय स्तम्भ बनवाये थे। *सम्भवतः गहड़वाल वंश के विरुद्ध भी उसे सफलता प्राप्त हुई थी।* उसके शासन-काल के अन्तिम भाग में आन्तरिक उपद्रव आरम्भ हो गये और दक्षिण तथा पूर्व बंगाल में छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। इख्तियारुद्दीन, मुहम्मदबीन और बख्तियार खिलजी के आक्रमण ने सेन वंश की जड़ को हिला दिया। इस आक्रमणकारी ने उत्तरी बङ्गाल में अपनी सत्ता स्थापित कर ली। लक्ष्मण सेन तीन-वर्ष तक पूर्वी बङ्गाल में शासन करता रहा। १२०५ ई० में उसका परलोकवास हो गया। लक्ष्मण सेन परम वैष्णव था। जयदेव जो सबसे बड़ा वैष्णव कवि था उसकी राजसभा में रहा करता था। जयदेव ने 'गीत-गोविन्द' की रचना की थी। 'पवन-दूत' के रचयिता धायीक तथा गोवर्धन को भी उसका आश्रय प्राप्त था। हलयुध जो बहुत बड़ा विद्वान् था उसका मन्त्री तथा न्यायाधीश था। लक्ष्मण-सेन स्वयम् एक अच्छा लेखक था। उसने अपने पिता द्वारा आरम्भ किये गये 'अद्भुत सागर' नामक ग्रन्थ को पूरा किया था। लक्ष्मण सेन के बाद उसके दो पुत्र विश्वरूप सेन तथा केशव सेन क्रम से शासक हुये और मुसलमानों से युद्ध करते रहे। लगभग १२६० ई० में सेन-वंश के राज्य का मुसलमानों ने अन्त कर दिया। सेन-वंश में बड़े योग्य तथा शक्तिशाली राजा हुये जिनके काल में हिन्दू धर्म, साहित्य तथा संस्कृति की अभिवृद्धि हुई। इस युग में बङ्गाल की बड़ी उन्नति हुई।

**कलिंग तथा ओड्र**—महानदी तथा गोदावरी नदियों के बीच का प्रदेश कलिंग कहलाता था। कलिंग तथा ओड्र में इन दिनों दो वंशों का राज्य था अर्थात् भुवनेश्वर के केशरी तथा कलिंग नगर के पूर्वी गङ्गकेशरी वंश के राजनैतिक इतिहास के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है। इस वंश के राजा शैव थे और अनेकों भुवनेश्वर मन्दिरों का निर्माण करवाया था। लिङ्गराज देवालय इस युग की अद्भुत कृति है।

पूर्वी गङ्ग वंश ने आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कलिङ्ग में अपनी सत्ता स्थापित की थी वे मूलतः कोलाहल पुरवा कोलार के निवासी थे। इस प्रकार ये मैसूर के गङ्ग वंश की एक शाखा थे। आरम्भ में इस वंश को घोर आपत्तियों का सामना करना पड़ा। आठवीं शताब्दी के मध्य में आसाम के राजा श्री हर्ष ने कलिङ्ग तथा ओड्र पर विजय प्राप्त की थी और नवीं शताब्दी में पूर्वी चालुक्य विजयादित्य ने इस पर आक्रमण किया था। परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में जब अनन्तवर्मन राजा हुआ तब गङ्ग वंश की चूड़ान्त उन्नति हुई। *उसका पिता राजराज गङ्ग था और उसकी माता राजसुन्दरी* राजेन्द्र चोल की पुत्री थी। अनन्तवर्मन ने १०७७ से ११४७ ई० तक शासन किया। पुरी का मन्दिर उसी ने बनवाया था। उसने उत्कल के राजा को परास्त भी किया था। कहा जाता है कि उसने गङ्गा तथा गोदावरी के बीच के सम्पूर्ण प्रदेश से कर वसूल किया था। *वेंगी के शासक से भी उसका संघर्ष हुआ था परन्तु सेन-वंश के राजा विजय सेन से उसकी* मैत्री थी। अनन्तवर्मन के पुत्रों के शासन-काल में सेन-वंश से संघर्ष आरम्भ हुआ और बहुत दिनों तक चलता रहा। अन्त में सोलहवीं शताब्दी में मुसलमानों ने गङ्गवंश का अन्त कर दिया।

**मध्य प्रान्त का कल्चुरी वंश**—कल्चुरी अपने को हैहय वंश के क्षत्रियों की सन्तान मानते थे जिनका उल्लेख महाभारत तथा पुराण में मिलता है। कल्चुरियों की प्रधान शाखा त्रिपुरी में रहती थी। यह लोग अपने को विष्णु का वंशज मानते थे। इस वंश

: इस वंश के राजा जबलपुर प्रदेश में शासन करते रहे। इसके बाद गोंड शक्ति ने इन्हें नष्ट कर दिया।

**जेजाकभुक्ति का चन्देल वंश**—जैजाक भुक्ति के प्रान्त में यमुना तथा नर्मदा नदियों के बीच का प्रदेश सम्मिलित था। यहाँ पर नवीं शताब्दी में चन्देलों का शासन आरंभ हुआ। एक अनुश्रुति के अनुसार ये चन्द्रवंशी राजा थे परन्तु डा० स्मिथ के विचार में चन्देल मूलतः भर अथवा गोंड जाति के थे जिन्होंने हिन्दू-धर्म ग्रहण कर लिया और [illegible] में [illegible] के सामन्त थे। इनका प्रारम्भिक स्थान छतरपुर राज्य में केन

[illegible]

[illegible] की थी। उसने कन्नौज के राजा पर भी विजय प्राप्त की थी और वहाँ से विष्णु की एक प्रतिमा ले आया था जिसे उसने खजुराहो के मन्दिर में स्थापित किया था।

**धंग**—यशोवर्मन के बाद उसका पुत्र धंग राजा हुआ। उसने ९५० से १००२ ई० तक शासन किया। उत्तरी भारत का अधिकांश भाग उसके राज्य में सम्मिलित था और प्रयाग, कालिंजर तथा ग्वालियर उसके राज्य के आधीन थे। धङ्ग बड़ा शक्तिशाली राजा था और उसने उत्तर तथा दक्षिण के कई राज्यों पर विजय प्राप्त की थी सम्भवतः खजुराहो के बहुत से उत्तम मन्दिर उसी के शासन काल में बने थे। महमूद गजनी के पिता सुबुक्तगीन से भी उसने लोहा लिया था।

**गंड**—धङ्ग के बाद उसका पुत्र गंड गद्दी पर बैठा। गंड ने भी अपने पिता की भाँति महमूद गजनी के विरुद्ध आनन्दपाल शाही की १००८ ई० में सहायता की। परन्तु सुल्तान के विरुद्ध सफलता न प्राप्त हुई। चूँकि कन्नौज के राजा राज्यपाल ने महमूद की अधीनता स्वीकार कर ली थी अतएव उसे दण्ड देने के लिये गंड ने उस पर आक्रमण कर दिया और उसे परास्त कर दिया। राज्यपाल इस युद्ध में मारा गया। जब महमूद को इसकी सूचना मिली तो उसे बड़ा क्रोध आया और उसने गंड को दण्ड देने के लिये आक्रमण कर दिया। गंड डर कर भाग गया। १०२२ ई० में महमूद ने फिर चन्देल राज्य पर आक्रमण कर दिया और उसे जीत लिया। परन्तु गंड के अधीनता स्वीकार कर लेने पर उसने [illegible]

उसने ११६७ से १२०२ ई० तक शासन किया। ११८२ ई० में परमार्दी को पृथ्वीराज चौहा ने परास्त कर दिया था। परन्तु बाद में परमार्दी ने अपनी स्थिति सम्भाल ली और खो हुये प्रदेश को फिर प्राप्त कर लिया। १२०२ ई० में कुतुबुद्दीन ऐबक ने कालिंजर प विजय प्राप्त कर ली और परमार्दी को मुसलमानों की अधीनता मानने को बाध्य होना प परन्तु इसी समय उसकी मृत्यु हो गई। परमार्दी के पुत्र त्रिलोकवर्मन ने १२०५ से १२ ई० तक शासन किया। उसने मुसलमानों से संघर्ष जारी रक्खा और सम्भवतः उस कालिंजर पुन. प्राप्त कर लिया। चन्देल राजा १६वीं शताब्दी तक बुन्देलखण्ड के कु भाग पर शासन करते रहे।

**मालवा का परमार-वंश**—परमार राजपूत पवार भी कहलाते हैं। कहा जात है कि इनकी उत्पत्ति अग्नि से हुई थी। विश्वामित्र से नन्दिनी की रक्षा के लिये वशिष ने परमार की उत्पत्ति की थी। इस अनुश्रुति से ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि प्रतिहारों की भाँति परमार भी विदेशी थे और हिन्दू-समाज में उन्हें लाने के लिये अग्नि द्वारा उनकी शुद्धि की गई थी। परन्तु कुछ विद्वानों ने अग्नि-कुल का विश्लेषण इस प्रका किया है कि परमार भी उन राज-वंशों में से थे जिन्होंने तुर्कों से देश की रक्षा के लिये अग्नि के सम्मुख शपथ ली थी। एक अभिलेख से यह अनुमान लगाया गया है कि परमार राजपूत राष्ट्रकूट वंश के थे। नवीं शताब्दी के आरम्भ में इन लोगों ने आबू पर्वत के निक अपने राज्य की स्थापना की थी। कृष्णराज उपनाम उपेन्द्र इस वंश का संस्थापक था। उपेन्द्र राष्ट्रकूटों का सामन्त था। पहले परमार लोग गुजरात में निवास करते थे परन्तु बाद में ये मालवा चले आये। ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रकूटों तथा प्रतिहारों में जो संघर्ष चल रहा था उसमें परमारों ने भी भाग लिया था और इन दोनों की शक्तियों के क्षीण हो जाने पर परमारों ने मालवा में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। हर्ष सिमक सम्भवतः इस वंश का पहिला स्वतंत्र राजा था। हर्ष की बढ़ती हुई शक्ति को राष्ट्रकूट राजा सहन न कर सका। अतएव दोनों में घोर संघर्ष हुआ परन्तु विजयश्री हर्ष को ही प्राप्त हुई। हर्ष ने हूण जाति के एक सरदार के साथ संघर्ष किया था।

**वाक्पति मुञ्ज**—हर्ष के बाद उसका पुत्र वाक्पति-मुञ्ज गद्दी पर बैठा। वह परमार वंश का सातवाँ राजा था। ९७४ से ९९७ ई० तक उसने शासन किया था। मुञ्ज एक वीर तथा साहसी राजा था। उसने त्रिपुरी के कलचुरी राजा युवराज द्वितीय को परास्त किया था। उसने लाट, करनाट, चोल तथा केरल को भी नतमस्तक किया था। चालुक्य वंश के राजा तैलप द्वितीय को उसने छः बार युद्ध में परास्त किया था परन्तु सातवीं बार मुञ्ज को स्वयम् परास्त होना पड़ा। वह बन्दी बना लिया गया और उसकी हत्या कर दी गई। मुञ्ज न केवल एक वीर विजेता था वरन् वह एक योग्य शासक भी था। उसने बहुत सी झीलें बनवाई थीं जिनमें मुञ्जसागर धार नगर में अब भी विद्यमान है। अपने राज्य के प्रधान नगरों में उसने बहुत से मन्दिर भी बनवाये थे। वह स्वयम् उच्चकोटि का कवि था और अनेकों विद्वानों तथा लेखकों को उसका आश्रय प्राप्त था। पद्मगुप्त, 'दशरूप' के रचयिता धनञ्जय, 'दशरूपावलोक' के रचयिता धनिक, भट्ट, हलायुध आदि विद्वान् उसकी राजसभा के आभूषण थे। इस प्रकार मुञ्ज में एक सैनिक तथा एक योग्य शासक दोनों के गुण विद्यमान थे।

**सिन्धुराज**—वाक्पति मुञ्ज के बाद उसका छोटा भाई सिन्धुराज अथवा नवसाहसांक हुआ। पद्मगुप्त ने अपने 'नवसाहसांक चरित' में उसकी प्रशंसा की है। सिन्धु-राज ...

**भोज**—सिन्धुराज के बाद उसका पुत्र भोज राजा हुआ। उसने १०१० से १०५५ ई० तक शासन किया। यह परमार वंश का सबसे बड़ा शासक था और अनुश्रुतियों तथा इतिहास में उसका नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसमें सामरिक गुणों के साथ-साथ विद्या-

[illegible]

[illegible] कल्याण के चालुक्य राजा से हुआ। भोज का चालुक्य राजा विक्रमादित्य पर विजय प्राप्त हो गई जिसकी उसने हत्या करवा दी। परन्तु भोज की सत्ता दक्षिण में अधिक दिनों तक न रह सकी क्योंकि चालुक्य वंश के दूसरे राजा जयसिंह द्वितीय ने भोज पर विजय प्राप्त कर ली। भोज ने त्रिपुरी के चेदि राजा गांगेयदेव पर विजय प्राप्त की थी

[illegible]

[illegible] सोमेश्वर प्रथम ने उसे परास्त [illegible]। परन्तु भोज ने थोड़े ही दिन में [illegible] प्रथम तथा कलचुरी राजा लक्ष्मी कर्ण ने संगठन कर एक साथ भोज पर आक्रमण कर दिया। युद्ध चल ही रहा था कि भोज का परलोकवास हो गया।

राजा भोज को जो स्थान रणक्षेत्र में प्राप्त है उससे कहीं अधिक उच्चतर स्थान उसे साहित्य तथा कला के क्षेत्र में प्राप्त है। एक अभिलेख में उसे कविराज कहा गया है। उसने ज्योतिष, विज्ञान, व्याकरण, अलंकार, धर्म, औषधि आदि विषयों पर लगभग दो दर्जन ग्रन्थों की रचना की थी। उसने शिक्षा के प्रसार की अपने राज्य में पूर्ण व्यवस्था की थी। संस्कृत अध्ययन के लिये उसने एक विशाल विद्यालय स्थापित किया था। इस विद्यालय की स्थापना उसने अपनी राजधानी धारा में की थी। साहित्यकारों को भोज का आश्रय प्राप्त था जिन्हें वह बड़े-बड़े पुरस्कार दिया करता था। विद्यानुराग के साथ-साथ भोज में धर्म परायणता भी उच्च कोटि की थी। वह शिव का परम भक्त था और उसने बहुत से मन्दिरों का निर्माण करवाया था। उसने आधुनिक भोपाल के दक्षिण में भोजपुर नामक नगर बनवाया था और उसके निकट एक विशाल झील भी खुदवाई थी। वास्तव में वह महाकाव्यों में वर्णित राम तथा युधिष्ठिर के अथवा विक्रम तथा हाला, के समान था।

**जयसिंह**—भोज के बाद जयसिंह मालवा का राजा हुआ। उस समय भीम प्रथम तथा लक्ष्मी कर्ण का आक्रमण मालवा पर चल रहा था परन्तु यह युद्ध क्षणिक सिद्ध हुआ क्योंकि भीम तथा कर्ण में ही लूट के बटवारे पर लड़ाई हो गई। जयसिंह ने इस लड़ाई से पूरा लाभ उठाया। उसने चालुक्य राजा सोमेश्वर प्रथम से सहायता की याचना की जो उसे प्राप्त हो गई। सोमेश्वर ने आक्रमणकारियों को मालवा से मार भगाया और जयसिंह को राजसिंहासन पर बिठा दिया। जयसिंह ने १०५५ ई० से १०५६ ई० तक राज्य किया। उसके बाद में कर्णाट तथा गुजरात के चालुक्यों से संघर्ष हो गया जिससे उसे बड़ी हानि उठानी पड़ी।

समय भीम उत्तरी सिन्ध में युद्ध कर रहा था उस समय भोज परमार के सेनापति कुल-चन्द्र ने भीम की राजधानी अनहिलवाड़ा पर आक्रमण कर दिया। इससे भीम के क्रोध का पारावार [illegible]
आक्रमण [illegible]
[illegible]
की सफलता प्राप्त हुई। परन्तु भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह ने सोमेश्वर प्रथम की सहायता से विदेशियों को मालवा से मार भगाया।

**कर्ण**—भीम प्रथम के बाद उसका पुत्र कर्ण राजसिंहासन पर बैठा। उसने १०६२ से १०९२ ई० तक शासन किया। कर्ण अधिक शक्तिशाली राजा था और उसे उदयादित्य से परास्त होना पड़ा था परन्तु कर्ण ने बहुत से मन्दिर बनवाये थे और जलाशय खुदवाये थे। उसने अपने नाम का एक नगर भी बसाया था।

**जयसिंह सिद्धराज**—कर्ण के बाद जयसिंह सिद्धराज राजा हुआ। उसने १०९२ से ११४३ तक शासन किया। वह सोलंकी वंश का सबसे अधिक प्रतापी राजा था। अल्पायु में ही उसके पिता का स्वर्गवास हो गया था। अतएव जब तक वह पूर्ण वयस्क नहीं हुआ शासन का कार्य उसकी विधवा माँ मीलनदेवी चलाती रहीं। शासन की बागडोर अपने हाथ में लेते ही सिद्धराज ने पड़ोस के राज्यों को जीतना आरम्भ किया। उसने चौहान राजा पर विजय प्राप्त की। उसने सौराष्ट्र को जीतकर उसे अपने राज्य में मिला लिया। इसके बाद परमार राजा नरवर्मन तथा यशोवर्मन के साथ उसका बहुत दिनों तक युद्ध चलता रहा। अन्त में मालवा पर सिद्धराज का पूर्ण अधिकार स्थापित हो गया और उसने अवन्तिनाथ की उपाधि धारण की। सिद्धराज ने बुन्देलखण्ड के राजा मदनवर्मन
[illegible]
चन्द्र को उसका आश्रय प्राप्त था।

**कुमारपाल**—सिद्धराज के कोई सन्तान न थी। अतएव उसका दूर का सम्बन्धी कुमारपाल राज सिंहासन पर बैठ गया। कुमारपाल सोलंकी वंश का अन्तिम सम्राट था। उसने शाकम्बरी के चौहान राजा पर आक्रमण कर दिया और उसे परास्त कर दिया। उसने आबू तथा मालवा के परमार राजाओं के विद्रोह का दमन किया और वहाँ पर अपनी सत्ता स्थापित की। उसने सौराष्ट्र के एक सामन्त तथा कोंकण के राजा मल्लिकार्जुन पर भी विजय प्राप्त की थी। उसकी अभिलेखों से पता चलता है कि कुमारपाल शैव था और सोमनाथ के मन्दिर का उसने पुनः निर्माण करवाया था परन्तु जैन-ग्रन्थों के अनुसार वह जैन मतावलम्बी तथा अहिंसा का पुजारी था। उसके काल में जैनाचार्य हेमचन्द्र ने कई ग्रन्थ रचे थे। कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल के समय में प्रतिक्रिया आरम्भ हुई और उनकी आज्ञा से बहुत से मन्दिर नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये अजयपाल ने ११७३ से ११७६ ई० तक शासन किया।

**भीम द्वितीय**—भीम द्वितीय (११७८-१२४१ ई०) के समय में मुहम्मद गोरी ने गुजरात पर आक्रमण किया। भीम ने अपनी विशाल सेना की सहायता से मुहम्मद गोरी को परास्त कर दिया। ११९५ ई० में कुतुबुद्दीन ऐबक ने अनहिलवाड़ा को लूटा। दो वर्ष बाद वह फिर आया और अनहिलवाड़ा पर अपना अधिकार जमा लिया। भीम द्वितीय को सम्भवतः मालवा के परमार, शाकम्बरी के चौहान तथा देवगिरि के यादव राजाओं के

आक्रमणों का भी सामना करना पड़ा था। इन युद्धों ने राज्य को निर्बल बना दिया और सामन्त लोग स्वतन्त्र होने लगे। बघेल वंश ने जो अपने को कुमारपाल की बहिन के वंशज मानते थे नर्मदा तथा साबरमती नदियों के बीच में ढोलक के आस-पास स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। लवणप्रसाद जो भीम का सामन्त था स्वतन्त्र हो गया। धीरे-धीरे बघेलों ने अनहिलवाड़ा पर भी अपना अधिकार जमा लिया और वे सम्पूर्ण गुजरात के शासक बन गये। १२६० ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने अपने सेनापति उलुगखाँ तथा नस [illegible]

[illegible]

**शाहीवंश**—भारत में कुषाणों का राज्य पहिली शताब्दी ई० में स्थापित हुआ था और चौथी शताब्दी ई० में उनका राज्य छिन्न-भिन्न हो गया परन्तु भारतीय इतिहास से उनका पूर्णतः लोप नहीं हुआ। उनके वंशज काबुल तथा पंजाब में शासन कर रहे थे और शाही के नाम से प्रसिद्ध थे। इन लोगों ने धीरे धीरे हिन्दू सभ्यता तथा संस्कृति को स्वीकार कर लिया था और हिन्दू-समाज में इनका सामावेश हो गया था। काबुल की घाटी के शाही तुर्की शाही कहलाते थे। इनके विषय में केवल इतना ही ज्ञात है कि अरबों के विरुद्ध इन्होंने संघर्ष किया था और यह संघर्ष नवीं शताब्दी के मध्य तक चलता रहा। इस शाखा के अन्तिम शासक लगतूरमान को उसके ब्राह्मण-मन्त्री कल्लर ने गद्दी से उतार दिया और स्वयम् राजा बन गया। इस प्रकार एक नये वंश की स्थापना हुई जिसे अलबेरूनी हिन्दू शाही कहता है। कल्लर के बाद शासन सामन्त, कमलू, भीम, जयपाल, आनन्दपाल, त्रिलोचनपाल तथा भीम पाल शाहीय राजा हुये। काश्मीर के उत्पल वंश के राजा गोपाल वर्मन के मन्त्री प्रभाकरदेव ने सामन्त को बुरी तरह परास्त किया था। सामन्त को उद्भाण्डपूर का शाही राजा कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब ८७०-७१ ई० में मुसलमानों ने काबुल पर अपना अधिकार जमा लिया था तब सामन्त ने [illegible] प्रभाकरदेव

[illegible]

[illegible] राज्य में है। यद्यपि जयपाल ने अन्य हिन्दू राजाओं की सहायता [illegible] न को परास्त करने का प्रयत्न किया परन्तु उसे सफलता न प्राप्त हुई। १००१ में सुल्तान महमूद ने जयपाल पर आक्रमण किया। जयपाल को फिर परास्त होना [illegible] इस बार उसे ऐसी ग्लानि उत्पन्न हुई कि उसने राज्य का भार अपने पुत्र आनन्द [illegible] देकर अपने को अग्नि के समर्पण कर दिया। १००८ई० में आनन्दपाल का महमूद [illegible] हुआ। आनन्दपाल को इस युद्ध में परास्त होना पड़ा। इसके छः वर्ष बाद उसका [illegible] हुआ। उसे भी महमूद ने परास्त किया। १०२१ ई० में त्रिलोचन- [illegible] गया और उसका पुत्र भीमपाल राजा हुआ। पाँच वर्ष बाद १०२६ ई० में वह [illegible] में मारा गया और इस प्रकार शाही राजाओं का अन्त हो गया।

[illegible] **के पतन के कारण**—ऊपर राजपूत राज्यों के उत्थान तथा पतन [illegible] विवरण दिया गया है। अब उनके पतन के कारणों पर एक विहङ्गम दृष्टि [illegible] स्थान-संगत होगा। राजपूत काल की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा

सैनिक व्यवस्था के अध्ययन करने पर इनके पतन के निम्न-लिखित कारण परिलक्षित [illegible]

[illegible] के पतन का सर्व-प्रथम [illegible] नुसार राजा की मृत्यु के [illegible] उसका उत्तराधिकारी [illegible] -सूत्र चले जाने पर राज्य [illegible]

(२) कुलीन तन्त्रीय व्यवस्था—*राजपूतों के पतन का दूसरा कारण उनकी कुलीन तन्त्रीय व्यवस्था थी।* राज्य में उच्च-पदों के प्राप्त करने का ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों को एकाधिकार सा प्राप्त हो गया था। इन दोनों वर्णों में कार्य-विभाजन के सिद्धान्त का अनुसरण किया गया था और ब्राह्मण प्रायः मन्त्रियों तथा असैनिक पदों पर नियुक्त किये जाते थे। यह पद भी प्रायः आनुवंशिक ही हुआ करते थे। ऐसी दशा में *सम्पूर्ण जनता का सहयोग प्राप्त करना असम्भव था और राज्य का पतनोन्मुख हो जाना* अनिवार्य था।

(३) राजकीय नियमों में विभेद—राजपूतों के पतन का एक यह भी कारण था कि *उनके राजकीय नियमों में विभेद था। उनके राज-नियमों में भी जात्यानुसार पक्षपात* किया जाता था। इससे स्वाभिमानी निम्न-वर्ण के लोग बड़े असन्तुष्ट थे। फलतः जब तुर्कों ने राजपूत राज्यों पर आक्रमण करना आरम्भ किया तब असन्तुष्ट वर्ग ने उनके साथ सहयोग न किया।

(४) राजा तथा प्रजा में पार्थक्य—राजपूतों की निर्बलता का एक यह भी कारण था कि *राजा तथा प्रजा में पार्थक्य बना रहा।* जन-साधारण को न शासन में भाग लेने का अधिकार था और न सैनिक सेवा करने का। ऐसी दशा में राजा तथा प्रजा में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित होना सम्भव न था। फलतः जनता राजनैतिक समस्याओं में अभि-रुचि नहीं लेती थी और वह शासन-सञ्चालन तथा देश-रक्षा को अपना कर्तव्य नहीं समझती थी।

(५) एकाङ्गी सामरीय दृष्टिकोण—राजपूत राजा प्रायः सामरीय भावना से प्रेरित रहते थे। अतएव वे निरन्तर युद्धों में संलग्न रहते थे और उनके जीवन का अधिकांश समय रण-स्थल में व्यतीत होता था। ऐसी दशा में वे जन-हित तथा लोक-कल्याण के कार्य करने के स्थान पर सदैव सामरिक साधनों के संचित करने में संलग्न रहते थे। इसका राज्य की दृढ़ता पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा और उसकी मूल निर्बल हो गई।

(६) सामन्तीय प्रथा—राजपूतों के पतन में सामन्तीय प्रथा से भी बड़ा योग मिला। राजपूतों का राजनैतिक आदर्श था चक्रवर्ती सम्राट् बनना। अतएव प्रत्येक वीर तथा महत्वाकांक्षी सम्राट् अपने पड़ोसी राज्यों के साथ युद्ध करके उन्हें नत मस्तक करने का प्रयत्न करता था। सफलता मिल जाने पर वह उसे करद बना कर छोड़ देता था और उसके अस्तित्व को समाप्त नहीं करता था। यह सामन्त विद्रोही प्रवृत्त के हुआ करते थे और इनकी स्वामि भक्ति बड़ी ही संदिग्ध हुआ करती थी। यह सामन्त अपने को स्वतन्त्र करने के प्रयत्न में सदैव संलग्न रहते थे। *इससे पारस्परिक संघर्ष का प्रकोप [illegible] रहता था। फलतः राजपूत राजा अपने आन्तरिक झगड़ों में इतना व्यस्त रहते थे कि वे अपनी कोई विशिष्ट वैदेशिक नीति निर्धारित न कर सके।* इससे तुर्कों के

(७) संगठन का अभाव—राजपूतों के पतन का एक बहुत बड़ा कारण यह भी
कि उनमें संगठन का बड़ा अभाव था। भारत की राजनैतिक एकता समाप्त हो गई
और भारत के विभिन्न भागों में छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना हो गई थी। यह राज्य
देशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध सहयोग करने को कौन कहे परस्पर संघर्ष करके अपनी
शक्ति को क्षीण बना रहे थे। इन लोगों ने विदेशियों के विरुद्ध कभी संयुक्त मोर्चा
नहीं बनाया।

(८) पदाति सैन्य का बाहुल्य—राजपूतों की सेना में पैदल सैनिकों की संख्या
बहुत बाधक रहती थी। इससे उनमें वह गतिशीलता तथा वेतवेगता नहीं पाई जा
थी जो विदेशी आक्रमणकारियों के अश्वारोहियों में पाई जाती थी। फलतः शत्रु
के अश्वारोही केवल गति के बल से राजपूतों के पैदल सैनिकों को अस्त व्यस्त
देते थे।

(९) अश्वारोहियों का अभाव—राजपूतों की सैनिक दुर्बलता का एक क
कारण था कि उनकी सेना में अच्छे घोड़ों का सर्वथा अभाव रहता था। अच्छी जा
घोड़े प्राप्त करना उनके लिये अत्यन्त दुर्लभ कार्य था क्योंकि अरब व्यापारी अपने
शासकों की आवश्यकताओं के पूर्ण हो जाने पर ही भारत में घोड़े लाते थे।

(१०) हस्ति-सेना का दुरुपयोग—राजपूत लोग अपनी हस्ति-सेना का भी
योग करना नहीं जानते थे। प्रायः अपनी हस्ति-सेना को शत्रु की सैन्य-शक्ति
विनष्ट करने के लिये आगे रखते थे। परन्तु संयोगवश जब यह हाथी बिगड़
तो अपने ही सैनिकों को रौंद डालते थे। इसके विपरीत तुर्क लोग केवल दुग
भङ्ग करने, सहसा शत्रु-सेना को रौंद डालने तथा शत्रु के हाथियों की प्रगति को
करने के लिये ही हस्ति-सेना का प्रयोग करते थे।

(११) नवीन रण-पद्धतियों का अनभिज्ञता—राजपूतों ने विदेशों
अपना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित नहीं किया। फलतः वे नवीनतम रण-शैलियों
रह गये और अपनी प्राचीन-रण पद्धति के अनुसार युद्ध करते रहे जिसकी उप
समाप्त हो चुकी थी।

(१२) बाण-भेदन कला की दुर्बलता—राजपूत सैनिक तलवार तथा भाले
शत्रु के निकट सम्पर्क में आ कर घमासान युद्ध करने में बड़े दक्ष थे परन्तु तीरन्दाजी में वे
उतने प्रवीण न थे। फलतः राजपूत सैनिकों का कुशल तुर्क तीरन्दाजों के सामने ठहरना
कठिन हो जाता था।

(१३) सेनापतियों की गति-विधि की दुर्बलता—सेनापति का प्रमुख कार्य
सैन्य-संचालन होता है और केवल अत्यन्त गम्भीर परिस्थिति में उसे अपने सैनिकों की
भांति युद्ध करके अपने व्यक्तिगत शौर्य का प्रदर्शन करना चाहिये। परन्तु राजपूत सेना
पति सैन्य-संचालन की अपेक्षा व्यक्तिगत शौर्य-प्रदर्शन को प्राथमिकता देता था। राज
पूत सेनापति अपनी सुरक्षा की बिल्कुल चिन्ता नहीं करता था। राजपूत सेनापति प्रा
हाथी पर चढ़ कर युद्ध करता था और इस प्रकार अपने को अलकृत रखता था कि श
तथा मित्र दोनों ही उसकी गति-विधि से अवगत रहते थे। इसका परिणाम
होता था कि जब कभी वह घायल हो जाता था अथवा हाथी से उतर कर
पर सवार हो जाता था तो उसके सैनिक उसकी मृत्यु अथवा पराजय की आशंका
पलायन कर जाते थे। इससे शत्रु को यह लाभ होता था कि वह उसे घायल
उसकी हत्या करने अथवा उस रण-क्षेत्र से दूर ले जाने की सरलता से चेष्टा
सकता था।

(१४) रण-पद्धति में दोष—राजपूतों की रण-पद्धति बड़ी ही दोष-पूर्ण थी। राजपूत राजा अपने सभी सैनिकों को एक साथ युद्ध में लगा देते थे और कोई कोतल सेना सुरक्षित नहीं रखते थे जिसका सुअवसर प्राप्त होने पर प्रयोग किया जा सकता था। तुर्क जिनके साथ राजपूतों का अन्तिम संघर्ष हुआ रण-कला में बड़े प्रवीण थे।

(१५) युद्ध के उच्चादर्श—राजपूतों का युद्ध का आदर्श बड़ा ऊँचा था। वे धर्म-युद्ध द्वारा ही विजय प्राप्त करना चाहते थे। राजपूत गम्भीर परिस्थिति में युद्ध से पलायन करने के स्थान पर अपने प्राणों की आहुति दे देना अपना परम धर्म समझता था। इससे राजपूतों को बड़ी क्षति उठानी पड़ती थी। राजपूत युद्ध में छल-बल का प्रयोग करना महापाप समझता था। इससे वह विपक्षियों के जाल में प्रायः फँस जाता था।

(१६) अस्त्रों की न्यूनता—राजपूतों के पास उतने अच्छे अस्त्र-शस्त्र न थे जितने उनके विपक्षी तुर्कों के पास थे। तुर्कों के साथ तोपें थीं जिनकी सहायता से वे राजपूतों को बड़ी सरलता से ध्वस्त कर देते थे।

(१७) रक्षात्मक युद्ध—राजपूतों को विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध सदैव रक्षात्मक युद्ध करने पड़े थे। इससे सभी युद्ध भारत-भूमि पर ही हुये थे। ऐसी स्थिति में विजय चाहे जिस पक्ष की हो महती क्षति राजपूतों को ही उठानी

एक यह भी कारण था

निर्भर रहते थे। इन

परिस्थिति में इनके धोखा

सैनिकों के चुनने का

क्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण था। केवल राजपूत ही सेना में भर्ती किये जाते थे। निरन्तर युद्ध में संलग्न रहने के कारण राजपूत नव-युवकों की क्षति होती जा रही थी। इससे राजपूत सेना में दौर्बल्य आता जा रहा था।

(२०) सामाजिक दुर्बलता—राजपूतों में अनेक सामाजिक दुर्बलतायें भी आ गई थीं जिनके कारण इनका पतन होने लगा। राजपूत अनेक उपजातियों में विभक्त हो गये थे जिनमें से प्रत्येक अपनी कुल-परम्परा को विशेष महत्व देता था। इससे राजपूतों में जाति-गत तथा वंश-गत ऊँच-नीच का भेद-भाव उत्पन्न हो गया। इससे एक व्यक्ति के नेतृत्व में युद्ध का संचालन करना सम्भव नहीं हो पाता था। राजपूतों में कालान्तर में मद्यपान, द्यूत क्रीड़ा, बहुविवाह, विवाह आदि का दुर्व्यसन भी आ गया जिससे उनका नैतिक पतन आरम्भ हो गया।

(२१) भाग्यवादिता—राजपूतों के पतन का एक यह भी कारण बतलाया जाता है कि वे भाग्यवादी थे और ज्योतिषियों की भविष्यवाणी, संस्कार के दुष्परिणामों तथा नियति की प्रबलता पर विश्वास करते थे। अतएव प्रायः वे आत्म विश्वास खो बैठते थे।

(२२) नेतृत्व का अभाव—राजपूतों में कुशल नेतृत्व का अभाव था। इसमें सन्देह नहीं कि जयपाल, भीम, भोज, पृथ्वीराज, जयचन्द्र आदि बड़े ही वीर तथा साहसी नेता थे परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से उनमें उतना अनुभव, दूरदर्शिता तथा बुद्धि विल-

क्षमता न थी जितनी महमूद गजनवी, मुहम्मद गोरी, कुतुबुद्दीन ऐबक आदि तुर्क नेताओं में थी।

उपसंहार—ऊपर राजपूतों के पतन के राजनैतिक, सैनिक, सामाजिक, धार्मिक तथा वैयक्तिक कारणों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। राजपूतों का पतन इन सभी कारणों के सामूहिक परिणाम स्वरूप हुआ है। इस प्रकार राजनैतिक स्वतन्त्रता जिसके संरक्षण का भार राजपूतों पर था समाप्त हो गई परन्तु सांस्कृतिक स्वतन्त्रता जिसके संरक्षण का भार ब्राह्मणों पर था विनष्ट न हो सकी और शताब्दियों तक विदेशी आक्रमणकारियों के घातक प्रहार को सहन कर अपने अस्तित्व को बनाये रख सकी।

---

# अध्याय ३८

## राजपूत सभ्यता तथा संस्कृति

**राज्य-संस्था**—हर्ष की मृत्यु के उपरान्त उत्तरी भारत की राजनैतिक एकता समाप्त हो गई थी और असंख्य छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना हो गई थी परन्तु इन राज्यों की शासन-व्यवस्था का सामान्य था। गुप्त-कालीन शासन-व्यवस्था इस युग की शासन-व्यवस्था की मूलाधार थी। राज्य का प्रधान सम्राट् होता था और सभी राज्यों में राजतन्त्रात्मक व्यवस्था थी। राजा अपने मन्त्रियों तथा कर्मचारियों की सहायता से शासन करता था। इस युग में ऐसी लोक सभाओं का प्रमाण नहीं मिलता जो राजा पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगा सकतीं अथवा उसके स्वत्वों में किसी प्रकार का परिवर्तन कर सकतीं। मन्त्रियों का प्रभाव भी राजा के व्यक्तित्व पर निर्भर रहता था। अतएव राजा स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश होता था। पड़ोस के राज्यों से युद्ध करना राजा का कर्तव्य सा हो गया था। इन राज्यों में वैमनस्य तथा संघर्ष प्रायः परम्परागत हो गया था। चारण तथा कवि इन राजाओं के यहाँ रहते थे और उनकी विजय-प्रशंसा किया करते थे। युद्ध प्रायः विकराल रूप धारण कर लेता था। प्रायः नगरों को जला दिया जाता था और राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाता था। कभी-कभी विजित राजा तथा उसकी रानी को पकड़ लिया जाता था। कभी-कभी विजित राजा के राज्य को विजेता अपने राज्य में मिला लेता था परन्तु प्रायः अधीनता स्वीकार कर लेना ही पर्याप्त होता था। राजा की सेना में स्थायी तथा अस्थायी दोनों प्रकार के सैनिक होते थे। भाड़े के भी सैनिक रक्खे जाते थे। एकतन्त्र शासक होते हुये भी राजा प्रजा हितैषी होते थे। ब्राह्मणों तथा धर्म-पुरुषों का राजा पर बहुत बड़ा प्रभाव रहता था। राजा धर्मात्मा विद्यानुरागी, कला प्रेमी, निर्माणक तथा साहित्यकारों के आश्रयदाता होते थे। बहुत से सम्राट् स्वयम् उच्चकोटि के कवि तथा लेखक थे। ऐसे राजाओं में भोज का नाम अग्रगण्य है परन्तु कल्हण की 'राजतरंगिणी' में राज्य का विकराल चित्र भी अंकित किया गया है और यह व्यवस्था न केवल काश्मीर में वरन् अन्य राज्यों में भी प्रचलित थी। इस ग्रन्थ में ऐसे निकृष्ट राजाओं का उल्लेख है जिन्हें प्रजा का रक्त-पात करने में सुख मिलता था। सामन्त तथा सरदार अपनी सत्ता स्थापित करने के लिये विद्रोह कर दिया करते थे। रानियों तथा राजमाताओं का राज्य की राजनीति पर कुप्रभाव रहता था। रानियाँ अपने पति की हत्या करवा देती थीं और राजमातायें अपने पुत्रों को पदच्युत कर देती थीं। राजसभासद् तथा उच्च-वर्ग के लोग कर्तव्य भ्रष्ट हो गये थे परन्तु ऐसे भी राजा थे जो प्रजा के कल्याणार्थ अनेक प्रकार की योजनायें करते थे। सिंचाई का समुचित प्रबन्ध करते थे और अकाल के समय प्रजा की हर प्रकार से सहायता करते थे। आवश्यकता पड़ने पर कभी-कभी कर क्षमा कर देते थे। मन्दिर तथा मठ बनवाते थे और साहित्य का परिवर्द्धन करते थे। राजा प्रायः भूमि का दान व्यक्तियों तथा संस्थाओं को किया करता था। दान प्रायः ब्राह्मणों को दिया जाता था। मन्दिर तथा मठों को भी राज्य की ओर से दान मिला करता था। शासन की सुविधा के लिये सारा राज्य भुक्ति (प्रान्त), विषय (जिला) तथा ग्राम में विभक्त रहता था। प्रान्त का शासक गोप्ता अथवा भोगिक कहलाता था। जिले का शासक विषयपति कहलाता था। ग्राम का

शिक्षा के केन्द्र थे। इनमें विशेष कर बौद्ध-धर्म तथा तर्क की शिक्षा दी जाती थी। इन बौद्ध मठों में महायान धर्म पर बहुत से ग्रन्थों की रचना भी हुई थी और कई का चीनी तथा तिब्बत की भाषाओं में अनुवाद भी हुआ था। इस युग में ब्राह्मण धर्म के साहित्य की भी रचना हुई। नारद तथा बृहस्पति ने नीति शास्त्र की रचना की थी। कुछ पुराणों की भी रचना इस युग में हुई थी। इस काल में दर्शन पर भी ग्रन्थों की रचना हुई थी जिसमें शंकराचार्य की रचनायें बहुत प्रसिद्ध हैं। जैनियों ने भी 'पश्चिमी भारत में कई ग्रन्थों की रचना की थी। इनमें हेमचन्द्र की रचनायें अधिक प्रसिद्ध हैं। इस युग में लौकिक साहित्य की भी वृद्धि हुई। इस काल के प्रत्येक कवि तथा नाट्यकार को किसी न किसी राजा का आश्रय प्राप्त था। भारवि दण्डी, माघ, हर्ष, जैन आचार्य जिनसेन, राजशेखर, क्षेमेन्द्र, बिल्हण, जयदेव आदि महाकवियों ने अपनी कोमल-कान्त कृतियों से संस्कृत साहित्य की भी वृद्धि की। भवभूति ने 'मालती-माधव', 'महावीर-चरित' तथा 'उत्तर-रामचरित' नामक क्रम से श्रृङ्गार, वीर तथा करुण-रस प्रधान नाटकों की रचना की थी। इस युग में भट्टनारायण ने 'वेणी-संहार', राजशेखर ने 'कर्पूर-मंजरी', कृष्ण कवि ने 'प्रबोध चन्द्रोदय' नामक नाटकों की रचना की थी। जयदेव बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन के राज-कवि थे और उनका 'गीत गोविन्द' एक अद्भुत रचना है। कश्मीर के विद्वान् सोमदेव का *'कथासरित्सागर' कहानियों का अद्भुत ग्रन्थ है। कल्हण की 'राजतरंगिणी'* उच्च कोटि का ऐतिहासिक ग्रन्थ है। बिल्हण ने पूर्वी चालुक्य वंश के राजा विक्रमादित्य षष्ठम का चरित्र लिखा था। काव्य, अलंकार छन्द, नाटक, कथा, आख्यायिका, उपन्यास सभी प्रकार के साहित्य इस काल में चरम सीमा को पहुँच चुके थे। व्याकरण, कोष, दर्शन ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, संगीत, नृत्य, दण्डनीति आदि विषयों पर अच्छे-अच्छे ग्रन्थ लिखे गये। भास्कराचार्य बारहवीं शताब्दी का बहुत बड़ा ज्योतिषी था। उसने 'सिद्धान्त शिरोमणि' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। आर्य भट्ट दूसरे बड़े ज्योतिषी थे। इस युग में मेधातिथि ने 'मनुस्मृति' पर और विज्ञानेश्वर ने 'याज्ञवल्क्यस्मृति' पर भाष्य लिखे थे। प्राकृत में भी इस युग में साहित्य की रचना हुई थी। नवीं शताब्दी में राजशेखर ने प्राकृत में कई ग्रन्थों की रचना की थी जिसमें 'कर्पूर-मंजरी' अधिक प्रसिद्ध है। इस काल में अपभ्रंश में भी ग्रन्थों की रचना हुई थी जो आगे चलकर हिन्दी, बङ्गाली, मराठी आदि प्रान्तीय भाषाओं में बदल गई। इनमें चन्दबरदाई का 'पृथ्वीराज रासो' तथा मराठी में ज्ञानेश्वर का 'गीता' पर भाष्य और बङ्गाल में बौद्ध गीत अधिक प्रसिद्ध हैं। इस युग की राजसभाओं में कवि तथा लेखकों को आश्रय दिया जाता था। बहुत से राजा स्वयं बड़े विद्यानुरागी कवि तथा लेखक थे। राजा भोज इन राजाओं में अग्रगण्य थे। उन्होंने व्याकरण, अलंकार, ज्योतिष तथा योगशास्त्र पर अमूल्य ग्रन्थ लिखे थे। अजमेर के राजा विग्रहराज चतुर्थ का लिखा 'हरकेलि नाटक' शिलाओं पर अंकित प्राप्त हुआ है। इस काल के प्रायः सभी राजाओं के यहाँ चारण तथा कवि रहते थे जिन्हें राजा का आश्रय तथा प्रोत्साहन प्राप्त रहता था। ऐसी दशा में साहित्य का विकास तथा परिवर्धन स्वाभाविक था।

जैनियों पर अत्याचार किया था। रामानुजाचार्य ने विष्णु वर्द्धन को जैन-धर्म से विमुख कर परम वैष्णव बना दिया था, यद्यपि गुजरात के आचार्य हेमचन्द्र के प्रयत्न से राजा जयसिंह तथा कुमारपाल ने जैन-धर्म में दीक्षित होकर जैन-धर्म का प्रचार किया था। शैव तथा वैष्णु सम्प्रदाय के प्रचारकों ने न केवल जैन-धर्म की प्रगति को अवरुद्धकर किया वरन् ब्राह्मण धर्म की सत्ता वहाँ पर भी स्थापित कर दी। कुमारिल भट्ट नामक हिन्दू आचार्य ने जो सातवीं शताब्दी में हुये थे वेद की प्रमाणिकता न मानने वाले बौद्धों का खण्डन किया था।

शङ्कराचार्य—दूसरे हिन्दू आचार्य शंकर थे जो ७८८ ई० में दक्षिण के केरल प्रान्त में पैदा हुये थे। वे एक विलक्षण प्रतिभा के व्यक्ति थे और धार्मिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में उन्होंने भयंकर क्रांति उत्पन्न कर दी थी। ज्ञानकाण्ड तथा अहिंसा का अवलम्ब लेकर उन्होंने वेदों का खूब प्रचार किया और अपने ज्ञान विस्तार तथा तर्क चातुरी से अन्य धर्मों के आचार्यों को परास्त किया। उन्होंने भारत के भिन्न-भिन्न भागों में भ्रमण किया और अपने मत का प्रचार किया और मठों की स्थापना की। उनके स्थापित किये हुये बहुत से मठ अब भी द्वारका, पुरी, बद्रिकाश्रम आदि स्थानों में विद्यमान हैं। श्री शंकराचार्य जी अद्वैतवाद के प्रवर्तक थे अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा को एक समझते थे। उन्होंने वेदान्तसूत्र, गीता तथा उपनिषदों पर भाष्य की रचना कर वैदिक धर्म की बड़ी सेवा की था। उनके सिद्धान्त इस प्रकार थे—"ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है,जीवब्रह्म ही है, दूसरी वस्तु नहीं" शङ्कर का अध्ययन तथा ज्ञान अत्यन्त विस्तृत था और उनका तर्क अकाट्य होता था। यही कारण था कि अन्य सम्प्रदायों के आचार्य उनके समक्ष धराशायी हो जाते थे।

रामानुजाचार्य—शंकर के उपरान्त रामानुजाचार्य धर्म-क्षेत्र में अपना ज्ञानकोष वितरण करने तथा आलोक प्रदान करने के लिये प्रविष्ट हुए। रामानुजाचार्य का जन्म १०१६ ई० में श्रीरङ्गम में हुआ। उन्होंने शंकर के अद्वैतवाद का खंडन किया और भक्ति-मार्ग का प्रचार आरम्भ किया। रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैतवादी थे अर्थात् इनके विचार में ब्रह्म, जीव तथा जगत मूलतः एक होने पर भी कियात्मक रूप में एक दूसरे से भिन्न हैं और कुछ विशिष्ट गुणों से युक्त हैं। ईश्वर तथा जीव का वही सम्बन्ध है जो समुद्र तथा तरंग का। ब्रह्म एक भी है और अनेक भी। भक्ति तथा शुभ कर्मों द्वारा रामानुज के विचार में ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। शङ्कराचार्य की भांति रामनुजाचार्य ने भी वेदान्त सूत्र, गीता तथा उपनिषदों पर भाष्य लिखा था। बारहवीं शताब्दी में माधवाचार्य ने भी भक्ति-मार्ग का प्रचार किया था।

विष्णु तथा शिव—इस काल के प्रधान देवता विष्णु तथा शिव थे और अन्य देवताओं का महत्व घट गया था। इन दो देवताओं के अनुयायियों ने अपने-अपने संप्रदाय बना लिये थे और अपने-अपने दर्शन का अभिवृद्धि कर ली थी। विष्णु तथा शिव की भक्ति का इस काल में खूब प्रचार हुआ। कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाते थे और कृष्ण तथा राधा की प्रेम गाथायें गाई जाती थीं। अवतारवाद का सिद्धान्त इस युग में पूर्ण विकास को प्राप्त हो गया था और यह धारणा पुष्ट हो गई थी कि ईश्वर जीवों के कष्ट को दूर करने के लिये समय-समय पर अवतार लेता है। राम भी विष्णु के अवतार माने जाते थे और उनकी पूजा खूब प्रचलित थी। हिन्दू लोग भी बुद्ध को विष्णु का अवतार मानने लगे थे। शिव की पूजा भी इस युग में खूब प्रचलित थी और बहुत से राजपूत राजाओं ने इस सम्प्रदाय को अपनाया था। शिव के अनुयायी पशुपत, कापालिक, कालमुख आदि नामों से प्रसिद्ध थे। शिव का बड़ा विकराल रूप चित्रित किया गया है और उन्हें भूतनाथ कहा गया है। काश्मीर में शैव सम्प्रदाय का खूब प्रचार था। ग्यारहवीं शताब्दी

ई० में काश्मीर में अभिनव गुप्त नामक एक बहुत बड़े शैव दार्शनिक हुये थे। दक्षिण भारत में भी शैव सम्प्रदाय का प्रचार हुआ था।

लिंगायत—बारहवीं शताब्दी में कलचूर्य विज्जल के शासन काल में लिंगायत सम्प्रदाय की अभिवृद्धि हुई। इस मत के मानने वाले शिव के लिङ्ग की पूजा करते हैं।

शक्ति की पूजा—शक्ति की भी पूजा इस काल में होती थी। इसके अनुयायी तथा काली की पूजा करते हैं जो इन देवियों को शक्तिदायिनी मानते हैं।

तान्त्रिक सम्प्रदाय—तान्त्रिक सम्प्रदाय की भी इस युग में अभिवृद्धि हुई। इ में बौद्ध धर्म से इसका घनिष्ट सम्बन्ध था। यह लोग जादू तथा मन्त्र में विश्वास करते

इस प्रकार हिन्दू धर्म भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में विभक्त था। यह सम्प्रदाय न दर्शनों तथा सिद्धान्तों का मण्डन कर रहे थे। इस युग के धर्माचार्यों के प्रयत्न का फल था कि हिन्दू-धर्म मुसलमानों के आघात को सह सका।

# अध्याय ३८

# दक्षिणापथ के राज्य

**दक्षिणापथ का अर्थ**—व्यापक अर्थ में दक्षिणापथ का तात्पर्य उस सम्पूर्ण प्रायद्वीप से है जो नर्मदा नदी के दक्षिण में फैला हुआ है और पूर्व में बंगाल की खाड़ी तथा पश्चिम में अरब सागर से घिरा है। परन्तु सङ्कीर्ण अर्थ में दक्षिणापथ का तात्पर्य उस प्रदेश से है जो नर्मदा नदी से कृष्णा नदी तक फैला है और जिसके अन्तर्गत महाराष्ट्र तथा तेलगू प्रदेश आ जाता है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि दक्षिणापथ के अन्तर्गत महाराष्ट्र का सम्पूर्ण भाग, बम्बई प्रान्त का कनाडी जिला, निजाम राज्य का प्रदेश और वह भू-भाग जहाँ तेलगू भाषा के बोलने वाले निवास करते हैं, आ जाता है।

**आर्यों का दक्षिणापथ में प्रवेश**—उत्तरापथ तथा दक्षिणापथ के बीच में [illegible]

[illegible] के अनुसार अगस्त्य ऋषि ने विन्ध्य को पार करने में सफलता प्राप्त की थी और दक्षिण का द्वार खोल दिया था। उन्होंने दक्षिणापथ में अपना एक आश्रम भी स्थापित कर दिया था। अगस्त्य का ध्येय दक्षिण भारत में आर्य भाषा सभ्यता, संस्कृति तथा धर्म के प्रचार करना था। अगस्त्य के बाद विजेता, उपनिवेश संस्थापक तथा धर्म प्रचारक निरन्तर दक्षिणापथ में उत्तरापथ से प्रवेश करते रहे और विचारों का आदान-प्रदान होता रहा। आर्यों ने पूर्व की ओर से तथा अवन्ति के मार्ग से दक्षिण में प्रवेश किया था और धीरे धीरे कलिङ्ग, विदर्भ (बरार) दण्डकारण्य (महाराष्ट्र) तथा दक्षिण के अन्य भागों में आर्य सभ्यता का प्रचार हो गया। सबसे पहले आर्य लोग विदर्भ प्रदेश में ही जाकर बसे होंगे। दण्डकारण्य रामायण काल में एक वन्य प्रदेश था। ऐतरेय ब्राह्मण में आन्ध्र, पुण्ड्र सावर, पुलिन्द आदि जातियों का उल्लेख है जिनके विषय में लिखा है कि ये विश्वामित्र के पुत्रों के वंशज थे और ऋषि के शाप से आर्य बस्तियों के निकटवर्ती भू-भाग में रहते थे। व्याकरणाचार्य पाणिनि ने कलिंग का उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि विन्ध्य पर्वत को पार करके नहीं वरन् पूर्वी तट से होकर आर्यों ने कलिंग प्रदेश में प्रवेश किया था। परन्तु चौथी शताब्दी ई० पू० में पाणिनि के भाष्यकार कात्यायन ने पाण्ड्यों तथा चोलों का उल्लेख किया है और नासिक्य अर्थात् नासिक नामक नगर का भी उल्लेख [illegible] में महिष्मति, वैदर्भ, कोल [illegible] सिंहल अथवा ताम्रपर्णि से [illegible]। इस प्रकार चौथी शताब्दी [illegible] और अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार कर रहे थे। आर्य लोग कई मार्गों से दक्षिण में गये थे। कुछ आर्य अवन्ति से होकर दक्षिण, कुछ नर्मदा तथा सिंध से होकर विदर्भ और वहाँ से गोदावरी नदी तक और कुछ पूर्वी तट से तथा सामुद्रिक मार्ग से दक्षिण में प्रविष्ट हुये थे। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में आर्यों का ध्येय दक्षिण में शान्तिपूर्वक अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का अनार्यों में प्रचार करना था न कि राज्य स्थापना।

राजवंश स्थापित हुआ जिसका शासन १०७० ई० तक चलता रहा। पुलकेशिन द्वितीय का पल्लवों के साथ भी संघर्ष हुआ था। ऐहोल के अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने पल्लव राजा महेन्द्र वर्मन प्रथम को अपनी राजधानी कांचीपुर की दीवारों के पीछे भाग कर छिप जाने के लिये बाध्य कर दिया था। पुलकेशिन का संघर्ष महेन्द्र वर्मन प्रथम के पुत्र नरसिंह वर्मन से भी हुआ। महेन्द्र वर्मन की पराजय से चालुक्यों की सत्ता कावेरी नदी के उस पार तक स्थापित हो गई थी। अब पुलकेशिन ने चोलों के प्रदेश पर आक्रमण किया और वहाँ के राजा को नतमस्तक किया। पाण्ड्य तथा केरल राज्य के राजाओं को भी पुलकेशिन का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा।

पुलकेशिन द्वितीय न केवल महान् विजेता परन् वह उच्चकोटि का राजनीतिज्ञ भी था। उसने विदेशी राजाओं के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किया था। अरब लेखक तबारी के कथनानुसार पुलकेशिन द्वितीय ने ६२५ ई० में फारस के राजा खुसरू द्वितीय के यहाँ अपना राजदूत पत्र तथा उपहार के साथ भेजा था। खुसरो द्वितीय ने भी अपने राजदूत के साथ पत्र तथा उपहार पुलकेशिन के पास भेजे थे। कुछ विद्वानों के विचार में खुसरो के राजदूत का स्वागत अजन्ता की गुफाओं के एक चित्र में अंकित है परन्तु स्टनकोनो इस मत से सहमत नहीं है।

पुलकेशिन द्वितीय के शासन-काल में चीनी यात्री ह्वेनसाँग भारत आया था। यह महाराष्ट्र प्रदेश में गया था। उसने लिखा है कि "यहाँ की भूमि उपजाऊ तथा धन धान्य पूर्ण है। यहाँ सदैव खेती की जाती है और अच्छी उत्पत्ति होती है। यहाँ के लोग सात्विक प्रकृति के तथा गर्वशील होते हैं। भलाई के लिए वे कृतज्ञ रहते हैं परन्तु बुराई का बदला लेने के लिए भी उद्यत रहते हैं। यदि कोई आपत्ति के समय उनकी सहायता करता है तो वे उसके लिए अपना सब कुछ त्यागने को उद्यत रहते हैं। परन्तु यदि कोई उनका अपमान करता है तो उसके साथ अंत में भी संकोच नहीं करते। युद्ध में भागने वालों का तो पीछा करते हैं परन्तु जो स्वयम् आत्म-समर्पण कर देते हैं उनको कभी हत्या नहीं करते। वे धर्मपरायण होते हैं और प्रचलित प्रथाओं तथा सावों का पालन करते हैं।" पुलकेशिन के सम्बन्ध में ह्वेनसांग ने लिखा है, "वह क्षत्रिय जाति का था और पड़ोस के राजाओं को घृणा की दृष्टि से देखता था। उसके विचार उदार तथा गम्भीर थे और उसकी सहानुभूति तथा उसके शुभकृत्यों का क्षेत्र व्यापक था। उसकी प्रजा पूर्ण श्रद्धा के साथ उसकी सेवा करती थी और उसका राज्य दूर-दूर तक फैला था।"

पुलकेशिन द्वितीय के शासन के अन्तिम दिवस बड़े [illegible] पूर्ण थे। इस समय पल्लवों का राजा नरसिंह वर्मन था। उसके नेतृत्व में पल्लवों ने चालुक्य राज्य पर कई बार [illegible] आक्रमण किया। ६४२ ई० में नरसिंह वर्मन ने पुलकेशिन को परास्त [illegible] पर भी विजय प्राप्त की और उसे नष्ट भ्रष्ट कर दिया। सम्भवतः इसी [illegible] में पुलकेशिन मारा गया था।

विक्रमादित्य प्रथम—पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त उसका दूसरा पुत्र विक्रमादित्य प्रथम, जो [illegible] की कहलाता था, राज सिंहासन पर बैठा। [illegible]

[illegible]

विनयादित्य—विक्रमादित्य के बाद उसका पुत्र विनयादित्य राजा हुआ। [illegible]

पर विजय प्राप्त की थी। अपने पिता के युद्धों में भी उसने बड़ी सहायता पहुँचाई थी। विनयादित्य के बाद उसका पुत्र विजयादित्य शासक हुआ जिसने ६६६ से ७३३ ई० तक शासन किया।

**विक्रमादित्य द्वितीय** — विजयादित्य के बाद उसका पुत्र विक्रमादित्य द्वितीय शासक हुआ। उसने ७३३ से ७४७ ई० तक शासन किया। पल्लव-वंश से उसका संघर्ष चलता रहा और पल्लव राजा नन्दिवर्मन को परास्त कर उसने कांची पर अपना अधिकार जमा लिया। पाण्ड्य, चोल, कालाभ्र तथा अन्य राजाओं पर भी उसने विजय प्राप्त कर ली थी। विक्रमादित्य द्वितीय दानशील था। वह ब्राह्मणों को दान देने के लिये प्रसिद्ध भी था। उसकी रानियों ने शिव मन्दिर का निर्माण भी करवाया था।

**कीर्तिवर्मन**—विक्रमादित्य द्वितीय के बाद उसका पुत्र कीर्तिवर्मन द्वितीय राजा हुआ। उसने पल्लवों से युद्ध जारी रक्खा। परन्तु आठवीं शताब्दी के मध्य में राष्ट्रकूट सरदार,दन्तिदुर्ग ने महाराष्ट्र पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस प्रकार कीर्तिवर्मन के बाद *चालुक्यों की प्रधान शाखा का अन्त हो गया परन्तु इस वंश का अन्त नहीं* हुआ और कुछ दिनों उपरान्त फिर इस वंश ने अपने गौरव को स्थापित किया।

**धर्म तथा कला**—वातापी के चालुक्यों के काल में धार्मिक सहिष्णुता थी। यद्यपि चालुक्य सम्राट् स्वयम् ब्राह्मण धर्म के कट्टर अनुयायी थे परन्तु अन्य धर्मों के साथ उनका उदारता का व्यवहार था। इनके समय में जैन-धर्म की दक्षिण में बड़ी उन्नति हुई। पुलकेशिन द्वितीय का आश्रय जैन लेखक रविकीर्ति को प्राप्त था। विजयादित्य तथा विक्रमादित्य द्वितीय ने भी जैन पण्डितों को दान दिये थे। एक अभिलेख से पता चलता है कि विक्रमादित्य द्वितीय ने एक जैन मन्दिर की मरम्मत कराई थी और महान् जैन तार्किक विजय पण्डित को सहायता दी थी। इस वंश के संस्थापक जयसिंह के बाद का आठवाँ *राजा विनयादित्य का धर्म मन्त्री एक जैन पण्डित था।* चालुक्य राजाओं के काल में बौद्ध धर्म अवनत दशा में था परन्तु उसका सर्वथा लोप नहीं हुआ था। इस बात का पता नहीं चलता है कि बौद्धों को चालुक्य राजाओं का आश्रय प्राप्त था अथवा नहीं। ब्राह्मण धर्म चालुक्यों के समय में उन्नत दशा में था। पौराणिक देवताओं *अर्थात् ब्रह्मा,* विष्णु तथा महेश का महत्व इस काल में बहुत बढ़ गया था और चालुक्यों की राजधानी वातापी तथा बीजापुर जिले के पट्टदकल नामक स्थान पर इन देवताओं के विशाल मन्दिर बनवाये गये थे। तीन बार पल्लवों पर विजय प्राप्त करने की स्मृति में विक्रमादित्य द्वितीय की रानी ने पट्टदकल में एक मन्दिर का निर्माण कराया था। इस काल में कई *गुहा मन्दिर भी बने थे।* चालुक्य राजा मंगलेश ने अपने समय में वातापी में विष्णु का एक गुहा मन्दिर बनवाया था। इस काल में बलिदान की प्रथा भी प्रचलित थी। प्रायः सभी अभिलेखों में पुलकेशिन प्रथम द्वारा किये गये अनेक यज्ञों का वर्णन है। उसने अश्वमेध, वाजपेय, पौण्डरीक आदि यज्ञ किये थे। इस काल में बलिदान सम्बन्धी सूत्रों के तीन भाष्यकार भी हुये थे। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि अजन्ता की गुफाओं की *कुछ चित्रकारियाँ इसी युग की हैं।*

# अध्याय ४०

## राष्ट्रकूट-वंश

**राष्ट्रकूट कौन थे ?**—राष्ट्रकूटों की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में बड़ा मत-भेद है। इस वंश के अभिलेखों से पता चलता है कि यह लोग अपने को यदुवंशी मानते थे। जब इस वंश में गोविन्द तृतीय उत्पन्न हुआ तब इस वंश का वैभव बढ़ गया। उसके जन्म के सम्बन्ध में कहा गया है कि जिस प्रकार मुरारि ( कृष्ण ) के उत्पन्न होने से यदुवंश अजेय हो गया उसी प्रकार गोविन्द की उत्पत्ति से राष्ट्रकूट वंश अजेय हो गया। इस कथन के आधार पर ८७१ ई० के बाद से राष्ट्रकूट अपने को यदुवंशी कहने लगे। कहा जाता है कि राष्ट्रकूट रट्ट के वंशज हैं जिसके पुत्र का नाम राष्ट्रकूट था। इसी राष्ट्रकूट के नाम पर इस वंश का नाम पड़ा। आर० जी० भण्डारकर के कथनानुसार राष्ट्रकूट लोग तुङ्ग के वंशज थे। तुङ्ग का पुत्र रट्ट था और रट्ट ही के नाम पर इस वंश का नाम राष्ट्रकूट पड़ा। फ्लीट के कथनानुसार राष्ट्रकूट शब्द राठौर से निकला है जो राजपूताना कन्नौज शासन करते थे। अतएव राष्ट्रकूट इन्हीं राठौर राजपूतों के वंशज रहे होंगे। परन्तु डा० अल्टेकर का कहना है कि दक्षिण का राष्ट्रकूट वंश उत्तर के राठौरों से अधिक प्राचीन है। अतएव राठौर राजपूत राष्ट्रकूटों के वंशज रहे होंगे। राष्ट्रकूट राजा ध्रुव प्रथम, गोविन्द तृतीय, इन्द्र तृतीय तथा कृष्ण तृतीय के उत्तरी आक्रमण के समय जो राष्ट्रकूट उत्तर में रह गये वही राठौर कहलाने लगे। बर्नेल के विचार में मल्खेद के राष्ट्रकूट तेलगू थे और रड्डी जाति के थे जिसके आन्ध्र देश के रेड्डी लोग हैं। परन्तु डा० अल्टेकर ने बड़ी योग्यता से इस मत का खण्डन किया है। उनका कहना है कि यदि राष्ट्रकूट रेड्डी जाति के होते तो उनका आदि स्थान निश्चय ही कृष्णा तथा गोदावरी नदियों के बीच का प्रदेश रहा होगा। परन्तु आश्चर्य है कि इसका अधिकांश भाग राष्ट्रकूट राज्य के अन्तर्गत भी नहीं था और राष्ट्रकूटों का विकास वहाँ से नहीं आरम्भ हुआ जहाँ तेलगू भाषा बोली जाती है। राष्ट्रकूटों की मातृ-भाषा कनाड़ी थी तेलगू नहीं। इसके अतिरिक्त रड्डी लोग किसी भी काल में सामरिक प्रवृत्ति के नहीं थे और उन्होंने क्षात्र धर्म को नहीं स्वीकार किया था। वे सदैव व्यापार तथा कृषि करते आये हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्र का तेलगू भाषा में रड्डी में परिवर्तित हो जाना भी सम्भव नहीं है। सी० वी० वैद्य के विचार में राष्ट्रकूट मराठी भाषा बोलते थे और आजकल के मराठों के पूर्वज थे। डा० अल्टेकर ने इस मत का भी खण्डन किया है क्योंकि राष्ट्रकूटों की मातृ-भाषा कनाड़ी थी न कि मराठी। डा० अल्टेकर के विचार में राष्ट्रकूट रठिक अथवा राष्ट्रिक वंश के थे जो अशोक के काल से सामन्त के रूप में शासन करते थे।

राष्ट्रकूटों का आदि स्थान कहाँ था ? इस प्रश्न पर भी विद्वानों में बड़ा मत-भेद है। कुछ विद्वानों के विचार में राष्ट्रकूटों का आदि स्थान महाराष्ट्र था। रठिक लोग, जिनके वंशज राष्ट्रकूट लोग माने जाते हैं, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक दोनों जगह रहते थे परन्तु डा० अल्टेकर का कहना है कि महाराष्ट्र राष्ट्रकूटों का मूल-स्थान नहीं हो सकता क्योंकि उनकी मातृ-भाषा कनाड़ी थी। राष्ट्रकूट राजा कनाड़ी भाषा बोलते तथा लिखते थे और इसी को प्रोत्साहन देते थे और इसी के साहित्य के परिवर्धन का प्रयत्न करते थे। इसके अतिरिक्त बहुत से अभिलेखों में राष्ट्रकूटों को 'लट्टलूर-पुरवराधीश', अर्थात् श्रेष्ठ लट्टलूर

गर का स्वामी कहा गया है। लट्टलूर निज़ाम राज्य के बीदर जिले में है जहाँ कनाडी ... डी० भण्डारकर तथा ... भ्रमपूर्ण प्रतीत होता ...

**राष्ट्रकूटों का विकास**—अत्यन्त प्राचीन काल से ही राष्ट्रकूटों के पूर्वज दक्षिणी भारत में शासन करते थे। परन्तु कुछ काल के लिये विदेशी आक्रमणों ने उन्हें अन्धकार में डाल दिया था। सातवाहनों तथा चालुक्यों की सार्वभौम सत्ता ने उन्हें अन्धकार में डाल दिया था। परन्तु चालुक्यों तथा पल्लवों के अनवरत संघर्ष ने उन्हें फिर सिर उठाने का अवसर प्रदान किया। राष्ट्रकूट लोग अपने आदि स्थान कर्णाटक से बरार चले गये थे और वहीं पर अपना राज्य स्थापित कर लिया था। इस वंश के आरम्भ के कई राजा सामन्त-मात्र थे। इनका सबसे पहिला राजा जिसका उल्लेख मिलता है, कृष्ण का पुत्र इन्द्र था। उसे चालुक्य वंश के राजा जयसिंह ने परास्त किया था। इन्द्र के बाद कई राजा हुये जिन्होंने कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया। वास्तव में राष्ट्रकूटों का वैभव दन्तिदुर्ग के समय से आरम्भ होता है। उसने अन्तिम चालुक्य राजा कीर्तिवर्मन द्वितीय को परास्त कर अपने वंश के गौरव को बढ़ाया। उसने एक नये राज्य वंश की स्थापना की जिसने लगभग ढाई शताब्दियों तक दक्षिण में शासन किया।

**दन्तिदुर्ग**—राष्ट्रकूट राजा इन्द्रराज द्वितीय ने चालुक्य राजकुमारी भवनागा के साथ बलपूर्वक विवाह कर लिया था। दन्तिदुर्ग इसी भवनागा का पुत्र था। दन्तिदुर्ग बड़ा ही वीर तथा प्रतापी राजा था। खड्गावलोक, पृथ्वीवल्लभ, परमभट्टारक आदि उसके विरुद थे। उसने केवल दक्षिणी भाग को छोड़ कर चालुक्यों के सम्पूर्ण राज्य पर ... , मालव, लाट, टंक ... र से दन्तिदुर्ग अपने ... प्य प्रथम के पक्ष में ...

**कृष्ण प्रथम**—दन्तिदुर्ग की भाँति कृष्ण भी वीर योद्धा था। उसने चालुक्यों को कर्णाटक से भी मार भगाया। उसने राष्ट्रकूट राज्य की नींव को दृढ़ किया और उसकी सीमाओं को बढ़ाया। उसने राजाधिराज परमेश्वर, अकालवर्ष तथा शुभतुंग के विरुद धारण किये थे। उसने गर्वशील राहप्पा को परास्त किया था और कोकण, गंगवाड़ी आदि प्रदेशों पर विजय प्राप्त की थी। उसने वेंगी के चालुक्य राजा विष्णुवर्धन चतुर्थ को भी परास्त किया था। कृष्ण की सबसे बड़ी देन कैलाश मन्दिर है जो उसने निज़ाम राज्य में स्थित एलोरा में बनवाया था।

**गोविन्द द्वितीय**—कृष्ण प्रथम के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र गोविन्द द्वितीय राज-सिंहासन पर बैठा। गोविन्द द्वितीय बड़ा ही निरुत्साही तथा अयोग्य शासक था। वह भोग विलास में ही अपना समय व्यतीत किया करता था और शासन का सारा भार उसने अपने छोटे भाई ध्रुव पर छोड़ दिया था। ध्रुव ने अवसर पाकर उसे राजसिंहासन से उतार दिया और स्वयं राजा हो गया।

**ध्रुव निरुपम**—७७९ ई० में ध्रुव ने अपने भाई गोविन्द से सिंहासन प्राप्त किया था। सबसे पहिले उसने गोविंद के सहायकों का दमन किया। उसने गंग राजा को परास्त कर उसे कैद कर लिया और उसके राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया। उसने कांची के पल्लव राजा को भी नतमस्तक किया था। इसके बाद ध्रुव ने उज्जैन के प्रतीहार राज

वत्सराज को परास्त कर राजपूताना की मरुभूमि में खदेड़ दिया। उसने इन्द्रायुध के शासन काल में गंगा यमुना के दोआब पर भी विजय प्राप्त की थी। इस प्रकार ध्रुव के काल से राष्ट्रकूटों ने साम्राज्य स्थापना आरम्भ की।

**गोविन्द तृतीय**—अपने जीवन-काल में ही ध्रुव ने अपने पुत्र गोविन्द को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था। गोविन्द के कई और भाई थे जो भिन्न-भिन्न प्रांतों के प्रान्तपति थे और बड़े ही वीर तथा आकांक्षी थे। गोविन्द का ज्येष्ठ भाई स्तम्भ गंगवाडी का प्रान्तपति था। स्तम्भ ने अन्य सामन्तों की सहायता से गोविंद को सिंहासन से उतारने

**अमोघवर्ष प्रथम**—गोविन्द तृतीय के बाद उसका एकलौता बेटा अमोघवर्ष ...आ हुआ जिसकी अवस्था केवल छः वर्ष की थी। गोविन्द ने गुजरात की शाखा वाले ...भाई इन्द्र के पुत्र कर्क सुवर्ण वर्ष को अपने पुत्र अमोघवर्ष का संरक्षक अपने जीवन ...ल में ही नियुक्त कर दिया था। कुछ दिनों तक राज्य सुचारु रीति से चलता रहा परन्तु ...र राजवंश में कलह आरम्भ हो गई। इस कलह का राज्य पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। ...ज्य के मन्त्री अवज्ञा करने लगे और सामन्तों ने विद्रोह करना आरम्भ कर दिया। गंगवाडी के राजा ने अपने को स्वतन्त्र बना लिया और वेंगी के चालुक्य राजा विजयादित्य तृतीय ने राष्ट्रकूट राज्य पर आक्रमण कर दिया। इस विप्लव के कारण अमोघवर्ष को सिंहासन त्याग देना पड़ा परन्तु कर्कराज की सहायता से ८२१ ई० में उसने फिर सिंहासन ...प्त कर लिया। अमोघ ने वेंगी के चालुक्य राजा से फिर लोहा लिया और उसे परास्त ...किया। उसने अङ्ग, वङ्ग तथा मगध के राजाओं पर भी विजय प्राप्त की परन्तु इन विजयों ...का कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं है। अमोघवर्ष जैन-धर्म का अनुयायी था परन्तु हिन्दू धर्म से उसने अपना सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं किया था क्योंकि वह महालक्ष्मी का भी उपासक था। वह बड़ा दानशील तथा विद्वानों एवं कलाकारों का आश्रयदाता था। अमोघ स्वयम् उच्च-कोटि का विद्वान् तथा लेखक था। उसने 'कविराजमार्ग' तथा 'प्रश्नोत्तरमालिका' ...नामक ग्रन्थों की रचना की थी। अमोघवर्ष ने अपने जीवन के शेष काल धार्मिक सत्संग ...मनन करने में व्यतीत किया था। उसने मान्यखेत को, जो आजकल मलखेद कहलाता ...और निजाम के राज्य में स्थित है, अपनी राजधानी बनाई थी।

**कृष्ण द्वितीय**—अमोघवर्ष के बाद उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय राजा हुआ। उसने

परन्तु इस युद्ध के परिणाम का ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो पाया है। लगभग ९१४ ई० में कृष्ण द्वितीय का परलोकवास हो गया।

**इन्द्र तृतीय**—कृष्ण द्वितीय के बाद उसका पौत्र इन्द्र तृतीय राजा हुआ। इन्द्र के पिता जगत्तुङ्ग का स्वर्गवास कृष्ण द्वितीय के जीवन में ही हो चुका था। इन्द्र की माता लक्ष्मी

[illegible]

ी थी परन्तु इन्द्र की सत्ता उत्तर में अधिक दिनों तक न रह सकी।

**अमोघवर्ष द्वितीय तथा गोविन्द चतुर्थ**—इन्द्र तृतीय के बाद ९१८ ई० में अमोघवर्ष द्वितीय राजा हुआ। परन्तु उसके काल की कोई उल्लेखनीय घटना नहीं है। अमोघ के बाद उसका छोटा भाई गोविन्द चतुर्थ राजा हुआ। गोविन्द बड़ा ही विलासी तथा निरुत्साही राजा था। उसे वेंगी के चालुक्य राजा भीम द्वितीय ने परास्त किया। परन्तु गोविन्द बड़ा दानी था और इसी से उसका नाम स्वर्णवर्षी पड़ गया था। गोविन्द के बाद उसका चचा अमोघवर्ष तृतीय राजा हुआ। अमोघ बड़ा ही सदाचारी था। उसने कलचुरी (त्रिपुरी) तथा गंग राजाओं के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया था। उसके काल की कोई अन्य उल्लेखनीय घटना नहीं है।

**कृष्ण तृतीय**—अमोघवर्ष तृतीय के बाद उसका पुत्र कृष्ण तृतीय राजा हुआ। कृष्ण बड़ा शक्तिशाली राजा था और उसने कई राजाओं पर विजय प्राप्त की थी। उसने गंग राजा राचमल्ल को परास्त कर उसके स्थान पर बुटुग द्वितीय को राजसिंहासन पर बिठाया था। कृष्ण तृतीय ने उत्तरी भारत पर भी आक्रमण किया था। उसका प्रतीहार राजा महीपाल से संघर्ष हुआ और उसने उससे कालिंजर तथा चित्रकूट छीन लिया था। कृष्ण तृतीय ने दक्षिण में भी कई प्रदेश जीते थे। उसने काँची तथा तंजौर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। गंगराजा की सहायता से उसने चोल राजा राजादित्य को परास्त किया था और बनवासी प्रान्त गंगराजा को इस सहायता के उपलक्ष में दिया। पाँड्य तथा केरल राज्यों को भी उसने नतमस्तक किया था और सिंहल द्वीप के राजा ने भी उसकी सत्ता को स्वीकार किया था। कृष्ण ने अपने मित्र बाडप को वेंगी के राजसिंहासन पर बिठाया था। ९६८ ई० में कृष्ण तृतीय का परलोकवास हो गया।

**राष्ट्रकूटों का अन्त**—कृष्ण तृतीय के बाद राष्ट्रकूट वंश का पतन प्रारम्भ हो गया। कृष्ण के बाद उसका भाई खोट्टिग नित्यवर्ष राजा हुआ। वह एक निर्बल राजा था। उसके काल में मालवा के परमार राजा सियक हर्ष ने राष्ट्रकूट की राजधानी मान्यखेत को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। खोट्टिग के बाद उसका भतीजा कर्क राजा हुआ। वह भी बड़ा निर्बल राजा था और साम्राज्य के पतन को रोक न सका। ९७३ ई० में पश्चिम के चालुक्य राजा तैल द्वितीय अथवा तैलप ने राष्ट्रकूट-वंश का अन्त कर दिया और अपने नये राज-वंश की स्थापना की जिसे कल्याणी के परवर्ती चालुक्य-वंश कहते हैं।

**धर्म तथा साहित्य**—राष्ट्रकूट-काल में पौराणिक-धर्म का सबसे अधिक प्रचार था। इस काल में बहुत से मन्दिरों का निर्माण हुआ जिसमें विष्णु तथा शिव की उपासना होती थी। एलूरा की गुफा में खोद कर निर्माण किया हुआ कैलाश भवन नामक शिव-मन्दिर इस काल की अनुपम कृति है। राष्ट्रकूट मुहरों पर या तो विष्णु के वाहन गरुड़ की छाप मिलती है या शिव जी योगावस्था में पाये जाते हैं। इस काल के राजाओं ने यज्ञादि भी किये थे। दन्तिदुर्ग ने हिरण्यगर्भ यज्ञ उज्जयिनी में किया था और तुलादान

## अध्याय ४१

# कल्याणी का परवर्ती चालुक्य-वंश

**कल्याणी के चालुक्य कौन थे ?**—पश्चिमी चालुक्यों के वंश का संस्थापक तैलप द्वितीय था। परन्तु तैलप द्वितीय के पूर्वज कौन थे इस बात का ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो पाया है। एक मत के अनुसार तैलप वातापी के अन्तिम राजा कीर्तिवर्मन द्वितीय के चाचा का वंशज था। कीर्तिवर्मन के उत्तराधिकारियों का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। परंतु इन्हीं में से एक, जिसका नाम जयसिंह था, गुजरात भाग गया था और अनहिलवाड़ा में शरण ली थी। वहाँ के राजा की कन्या के साथ उसके पुत्र मूलराज ने विवाह कर लिया और प्रथम चालुक्य शासक बन गया। मूलराज के उत्तराधिकारियों ने बड़े गौरव के साथ शासन किया। तैलप ने इस वंश की प्रतिष्ठा को बढ़ाई थी। इस विचार के अनुसार कल्याणी के चालुक्य वातापी के चालुक्यों की प्रधान शाखा के ही वंशज थे। परन्तु श्री रामकृष्ण भण्डारकर इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके विचार में कल्याणी के चालुक्य

[illegible]

**तैलप**—राजवंश की स्थापना के पूर्व तैलप सम्भवतः राष्ट्रकूटों का सामन्त था। डा० अल्टेकर के विचार में इस समय वह हैदराबाद राज्य के उत्तरी भाग में कहीं रह रहा था। जिस समय परमार सेनाओं ने राष्ट्रकूट राज्य पर आक्रमण कर मान्यखेत को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था और देश में अशान्ति उत्पन्न कर दी थी उसी समय अवसर पाकर तैलप ने राष्ट्रकूट राजा कर्क द्वितीय पर आक्रमण कर उसे मार डाला और राष्ट्रकूटों के राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इसके बाद तैलप ने लाट अर्थात् दक्षिण गुजरात पर आक्रमण किया और बारप्पा को वहाँ का प्रान्तपति बना दिया। तैलप ने कुन्तल अर्थात् कनाड़ी प्रदेश पर भी अपना अधिकार जमा लिया था। कहा जाता है कि तैलप ने चेदि तथा चोल राज्यों पर भी विजय प्राप्त की थी परन्तु इस कथन में सत्य का बड़ा अभाव है। तैलप का परमार राजा वाक्पति मुञ्ज के साथ बराबर संघर्ष चलता रहा और परमार राजा ने उसे कम से कम छः बार परास्त किया था परन्तु अन्तिम युद्ध में मुञ्ज बन्दी बना लिया गया और उसका सिर कटवा लिया गया। २४ वर्ष तक शासन करने के उपरान्त ९९७ ई० में तैलप का परलोकवास हो गया।

**सत्याश्रय—९९७ से १००८ ई०**—तैलप के बाद उसका पुत्र सत्याश्रय राजसिंहासन पर बैठा। उसे अपनी शक्ति के बनाये रखने में घोर आपत्तियों का सामना करना पड़ा। उसके समय में चोल सम्राट राजराज प्रथम ने उसके राज्य पर आक्रमण कर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। परन्तु सत्याश्रय ने शीघ्र ही अपनी स्थिति सुधार ली और न केवल अपने खोये हुये राज्य को पुनः प्राप्त कर लिया वरन् दक्षिण की ओर उसका विस्तार भी किया।

**विक्रमादित्य पञ्चम**—सत्याश्रय के बाद उसका भतीजा विक्रमादित्य गद्दी पर बैठा। उसके काल में भोज परमार ने वाक्पति मुञ्ज की मृत्यु का बदला लेने के लिये

चालुक्य राज्य पर चढ़ाई कर दी और विक्रमादित्य को परास्त कर दिया। विक्रमादित्य का शासन काल थोड़े ही दिन का था।

**जयसिंह द्वितीय**—विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद उसका पुत्र जयसिंह रा[illegible] हुआ। उसे भी परमार से लोहा लेना पड़ा। भोज दक्षिण में अपनी सत्ता स्थापित क[illegible] चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने अनहिलवाड़ा के राजा भीम प्रथम [illegible] कलचुरी राजा से सन्धि की। परन्तु जयसिंह द्वितीय ने इस सघ को छिन्न-भिन्न [illegible] दिया। कहा जाता है कि जयसिंह ने राजेन्द्र चोल प्रथम पर भी विजय प्राप्त की थी।

**सोमेश्वर प्रथम**—जयसिंह के बाद १०४२ में उसका पुत्र सोमेश्वर प्रथम रा[illegible] हुआ। सोमेश्वर भी अपने पिता की भांति सामरिक प्रवृत्ति का था। उसने मालवार [illegible]

[illegible] ...कारी जयसिंह ने सोमेश्वर प्रथम [illegible] स्वीकार कर ली और भीम [illegible] [illegible] जयसिंह को सिंहासन पर बिठाया [illegible] तापूर्वक लोहा लिया था। सोमेश्व[illegible]

[illegible]

**विक्रमादित्य षष्ठम**—सोमेश्वर द्वितीय बड़ा ही निर्दयी तथा अयोग्य राज[illegible] था। इससे प्रजा में बड़ा असन्तोष फैला। अपने भाई की दुष्टता से दुखी होकर विक्रमादित्य द्वितीय अपने छोटे भाई जयसिंह तथा कुछ साथियों के साथ तुङ्गभद्रा नदी [illegible] कोनकन के राजा जयकेशिन [illegible] विक्रमादित्य ने चोल राजा [illegible] इसके बाद वेंगी के राजा [illegible] य पर आक्रमण किया। इस [illegible] हुई। उसने अपने भाई सोमेश्वर को कैद कर लिया और स्वयम् राजा बन गया। विक्रमादित्य इस वंश का सबसे अधिक शक्तिशाली राजा था। उसने आधी शताब्दी से अधिक बड़े गौरव के साथ शासन किया। विक्रमादित्य शान्तिप्रिय शासक था। परन्तु विवश होकर कभी-कभी उसे विरोधियों से लोहा भी लेना पड़ा था। उसके छोटे भाई जयसिंह ने जो बनवासी का प्रान्तपति था विद्रोह कर दिया। विक्रमादित्य ने इस विद्रोह को शीघ्र शान्त कर दिया। कांची पर आक्रमण करके विक्रमादित्य ने उसे अपने अधिकार में कर लिया। १११० ई० में उसे होयसलों से भी लोहा लेना पड़ा। इसमें भी विक्रमादित्य को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई थी। विक्रमादित्य न केवल एक वीर विजेता था वरन् वह एक सुयोग्य शासक भी था। धर्म तथा साहित्य

में उसका बहुत बड़ा अनुराग था। उसकी राजसभा बड़े बड़े विद्वानों तथा कवियों से विभूषित थी। काश्मीरी कवि विल्हण तथा विज्ञानेश्वर उसकी राजसभा के रत्न थे। विल्हण ने 'विक्रमाङ्कदेवचरित' की रचना कर अपने आश्रयदाता की कीर्ति को अमर बना दिया है और विज्ञानेश्वर ने 'मीताक्षरा' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। विक्रमादित्य वैष्णव धर्म का अनुयायी था परन्तु उसमें उच्चकोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी और अन्य देवताओं के निमित्त भी वह दान दिया करता था। विभिन्न धर्मों के प्रति उसका व्यवहार बड़ा उदार तथा दयापूर्ण था। जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव सभी को वह प्रोत्साहन देता था। कालमुख सन्यासियों का इस युग में प्राधान्य था और पशुपति मत का इन लोगों ने खूब प्रचार किया था। वेदान्तिक विचार-धारा इस काल में बलवती हो गई थी। चालुक्य शैली के बहुत से मन्दिर इस काल में बने थे। शिक्षा की भी इस काल में अभिवृद्धि हुई। बनवासी की राजधानी बलिगामी शिक्षा का बहुत बड़ा केन्द्र था। वहाँ के मठों में सभी धर्मों की शिक्षा दी जाती थी। सुशासन का भी विक्रमादित्य बड़ा ध्यान रखता था। प्रान्तपतियों तथा अधिकारियों पर वह बड़ा कड़ा नियन्त्रण रखता था। अपने सामन्तों के साथ भी उसका व्यवहार बहुत अच्छा था। उसकी प्रजा सुखी तथा धन सम्पन्न थी। वास्तव में वह एक महान् सम्राट् था।

**सोमेश्वर तृतीय**—विक्रमादित्य के बाद उसका पुत्र सोमेश्वर तृतीय राजा हुआ। सोमेश्वर के समय में राज्य का ह्रास आरम्भ हो गया परन्तु उसने अपने राज्य को सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित रक्खा। अपने पिता की भांति वह भी साहित्य तथा विद्यानुरागी था। उसने स्वयं भी 'मानसोल्लास' नामक ग्रंथ की रचना की थी।

**जगदेकमल्ल द्वितीय**—११३८ ई० में सोमेश्वर तृतीय की मृत्यु के बाद उसका [illegible] क्रमण का सफलतापूर्वक सामना [illegible] आक्रमण कर दिया और मालवा [illegible] के राजा कुमारपाल से भी संघर्ष [illegible] परन्तु उन्हें भी उसने परास्त कर दिया था।

**चालुक्य वंश का पतन**—जगदेकमल्ल के बाद तैलप तृतीय राजा हुआ। वह साम्राज्य को छिन्न-भिन्न होने से रोक न सका। उसके कलचुरी मन्त्री विज्जल ने अन्य सामन्तों की सहायता से ११५७ ई० में उसे दक्षिण की ओर खदेड़ दिया और स्वयम् राजा बन गया। परन्तु ११८२ ई० में तैलप के पुत्र सोमेश्वर चतुर्थ ने अपने पिता के राज्य का अधिकांश भाग फिर से प्राप्त कर लिया और ११८६ ई० तक शासन किया। सम्भवतः देवगिरि के यादवों तथा द्वारसमुद्र के होयसलों के आक्रमणों के रोकने में उसकी जीवन लीला समाप्त हुई। इस प्रकार चालुक्य-वंश का अन्त हो गया।

चालुक्य राजा साहित्य तथा कला के प्रेमी थे। इस काल में भवन-निर्माण-कला की भी उन्नति हुई और एक नई शैली का जन्म हुआ जिसे चालुक्य शैली कहते हैं। विज्जल के समय में लिंगायत पन्थ का जन्म हुआ था। यह लोग वेदों को प्रमाण नहीं मानते थे और न वर्ण व्यवस्था को स्वीकार करते थे। गुरु, लिंग तथा जङ्गम अर्थात् धर्म भाइयों के प्रति इनकी अपार श्रद्धा थी। लिंगायत सर्व-साधारण में वीर शैव कहलाते थे। इस सम्प्रदाय का संस्थापक विज्जल का मन्त्री बासव था।

**देवगिरि का यादव वंश**—चालुक्यों के पतन के उपरान्त यादवों का विकास आरम्भ हुआ। यादव लोग अपने को यदु के वंशज मानते हैं जिसके भगवान् श्रीकृष्ण

थे। सुबाहु इस वंश का संस्थापक माना जाता है। उसके एक पुत्र का नाम स्वाप[illegible] था। उसने सेउणा प्रदेश पर, जो नासिक से देवगिरि तक फैला था, अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। इसके बाद २१ अन्य राजाओं ने शासन किया। इनमें भिल्लम के समय में यादवों ने बड़ी ख्याति प्राप्त की। भिल्लम ने देवगिरि को अपनी राजधानी बनाई। ११९० ई० में भिल्लम ने चालुक्य राजा सोमेश्वर चतुर्थ से कृष्णा नदी के उत्त[illegible] का प्रदेश छीन लिया। परन्तु ११९१ ई० में होयसल राजा वीर बल्लाल प्रथम ने उ[illegible] लक्कुंडी के युद्ध में परास्त कर डाला। भिल्लम के बाद उसका पुत्र जैतुगी अथवा जैत्र[illegible] प्रथम राजा हुआ। उसने तिलंग राजा को मार कर उसके भतीजे गणपति को उसके सिंहासन पर बिठाया था।

**सिंहन**—जैतुगी का पुत्र सिंहन इस वंश का सबसे अधिक शक्तिशाली शासक था। उसने १२१० से १२४७ ई० तक शासन किया। १२१५ ई० में उसने वीर भोज को परास्त कर उसके राज्य का कुछ भाग छीन लिया। उसने होयसल राजा वीर बल्लाल द्वितीय को परास्त कर कृष्णा नदी के उस पार तक अपनी सत्ता स्थापित कर ली। सिंहन ने मालव के राजा अर्जुनवर्मन तथा दुस्सीमगढ़ के चेदि सामन्त से भी लोहा लिया था। बघेल राजाओं के समय में कम से कम दो बार उसने गुजरात पर भी आक्रमण किया था। सिंहन न केवल एक वीर विजेता था परन् वह विद्यानुरागी भी था। उसकी राजसभा 'संगीत रत्नाकर' के रचयिता सारंगधर तथा ज्योतिषाचार्य चङ्गदेव से सुशोभित थी। चङ्गदेव ने भास्कराचार्य की 'सिद्धान्त शिरोमणि' तथा अन्य ज्योतिष ग्रन्थों के अध्ययन के लिये एक मठ की स्थापना की थी।

**कृष्ण**—सिंहन के बाद उसका पौत्र कृष्ण राजा हुआ। उसने १२४७ से १२६० ई० [illegible]

**महादेव**—कृष्ण के बाद उसका भाई महादेव राजा हुआ। उसने १२६० से १२७१ ई० तक शासन किया। उसने उत्तरी कोंकण को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया था और कर्णाटक तथा लाट के राजाओं को नतमस्तक किया था। उसने काकतीय रानी रुद्राम्बा को भी आतंकित किया था। महादेव का मन्त्री हेमाद्रि था जिसने 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

**रामचन्द्र**—महादेव के बाद रामचन्द्र राजा हुआ। उसने १२७१ से १३०९ तक शासन किया। रामचन्द्र के समय में अलाउद्दीन खिलजी ने देवगिरि पर आक्रमण कर दिया और एलिचपुर रामचन्द्र से छीन लिया और उसे वार्षिक कर देने पर विवश किया। १३०७ ई० में अलाउद्दीन ने अपने सेनापति मलिक काफूर को देवगिरि पर आक्रमण करने के लिये भेजा। काफूर ने रामचन्द्र को कैद कर दिल्ली भेज दिया परन्तु अलाउद्दीन ने उसे मुक्त कर दिया। १३०९ ई० में रामचन्द्र की मृत्यु हो गई। रामचन्द्र के पुत्र शङ्कर ने दिल्ली को कर भेजना बन्द कर दिया। इससे सुल्तान को बड़ा क्रोध आया और उसने फिर देवगिरि पर आक्रमण करने के लिये काफूर को भेजा। शङ्कर इस युद्ध में परास्त हुआ और मारा गया। इस प्रकार यादव वंश का अन्त हो गया।

**वारंगल का काकतीय वंश**—काकतीय अपने को सूर्य वंशी क्षत्रिय मानते हैं परन्तु अभिलेखों से पता चलता है कि वे शूद्र थे। काकतीय राजा प्रारम्भ में चालुक्यों के अधीनस्थ थे। चालुक्यों के पतन के उपरान्त तेलिंगाना में उन्होंने अपने को शक्ति-

ाली बना लिया। इनकी राजधानी वारङ्गल थी। इस वंश का पहिला प्रभुत्वशाली राजा
मोलराज था। उसका शासन दीर्घकालीन था और उसने पश्चिमी चालुक्यों के साथ युद्ध
किया था। गणपति इस वंश का दूसरा शक्तिशाली राजा था। उसने लगभग ६२ वर्ष
तक बड़ी योग्यता के साथ शासन किया। वह एक वीर योद्धा था और उसने चोल, कलिङ्ग,
कर्णाटक, लाट तथा वलनाड के शासकों से लोहा लिया था। गणपति के कोई पुत्र न था।
अतएव उसकी मृत्यु के बाद उसकी कन्या रुद्राम्बा १२६१ ई० में शासक हुई। लगभग
तीस वर्ष तक उसने बड़ी बुद्धिमानी के साथ शासन किया। इसके बाद उसका पौत्र प्रताप-
रुद्रदेव राजा हुआ। उसके समय में वैद्यनाथ नामक विद्वान् ने 'प्रतापरुद्रीय' नामक ग्रंथ
की रचना की थी। प्रतापरुद्र इस वंश का अन्तिम शक्तिशाली राजा था। उसे मुसलमानों
के साथ लोहा लेना पड़ा था। जिस समय अलाउद्दीन खिलजी का सेनापति मलिक
काफूर दक्षिण भारत की विजय कर रहा था उस समय उसका संघर्ष काकतीय राजा
प्रतापरुद्रदेव के साथ भी हुआ था। काकतीय राजा मुसलमानों के सम्मुख टहर न सका
और विवश होकर उसे उनकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। इस समय से काकतीयों
की शक्ति क्रमशः क्षीण होती गई और अन्त में १४२४-२५ में बहमनी सुल्तान अहमदशाह
ने काकतीय राज्य पर विजय प्राप्त कर इसका अन्त कर दिया।

**कदम्ब-वंश**—कहा जाता है कि कदम्ब राजा ब्राह्मण थे और मानव्य उनका गोत्र

...... तृ लेते थे। कदम्बों

कदम्ब राजाओं के काल में पूर्ण रूप से धार्मिक स्वतन्त्रता तथा ...
प्रजियों में धार्मिक सहिष्णुता थी। इस काल में शैव मत का खूब प्रचार हुआ। जैन-ध
का भी इस काल में विकास हुआ। अभिलेखों में जैन-धर्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों
उल्लेख मिलता है। कुछ अभिलेखों के अनुसार कदम्ब राजा जैन मतावलम्बी थे। पर
कुछ कदम्ब राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ भी किये थे जिससे स्पष्ट है कि वे ब्राह्मण धर्म
अनुयायी थे। प्राचीन कर्णाटक के बौद्ध धर्म के भी कुछ चिह्न उपलब्ध हैं।

गंग वंश—गंग-वंश की उत्पत्ति का रहस्योद्घाटन अभी तक नहीं हो पाया है
कहा जाता है कि वे कण्वायन गोत्र के थे। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे कण्व ऋ
के वंशज थे। इस वंश के राजा अपने को इक्ष्वाकु का वंशज मानते थे। यदि यह ठीक
तो गंग राजा सूर्य-वंशी क्षत्रिय थे। कुछ अनुश्रुतियों के अनुसार गंग वंश का सम्ब
गंगा नदी से था।

दूसरी शताब्दी ई० से गंग वंश के राजा मैसूर तथा कावेरी नदी के बेसिन के उ
भाग में शासन कर रहे थे। इस वंश की एक अन्य शाखा कलिंग में शासन करती थी
यह लोग पूर्वी गंग कहलाते थे। जिस प्रदेश पर पश्चिमी गंगों का राज्य था उसे गंग
वाड़ी कहते थे और कुलुवल अथवा कोलार उनकी पहिली राजधानी थी। बाद में कावे
नदी के तट पर स्थित तलकाड़पुर अथवा तलकाड को इन्होंने अपनी राजधानी बना ली
कहा जाता है कि चौथी शताब्दी में दिदिग तथा माधव ने इस राज वंश की स्थापना
थी। गंग-वंश के प्रारम्भिक राजाओं में दुर्विनीत सबसे अधिक शक्तिशाली था। उस
पल्लवों के साथ सफलतापूर्वक युद्ध किया था। वह साहित्यानुरागी था और कई ग्रन्थों
उसने रचना भी की थी। भारवि रचित 'किरातार्जुनीयम्' की उसने टीका लिखी। उस
पैशाची ग्रन्थ 'बृहत् कथा' का भी संस्कृत में रूपान्तर किया। कन्नड का वह महान् लेख
था। गंग वंश का दूसरा महान् सम्राट श्री पुरुष था। उसके शासन काल में गंग-रा
चरमोत्कर्ष को प्राप्त हो गया था। राष्ट्रकूटों के साथ उसने सफलतापूर्वक युद्ध किया
और पल्लवों को परास्त कर उसने उन्हें नतमस्तक कर दिया था। श्रीपुरुष ने ७२६ से ७
ई० तक शासन किया। आठवीं तथा नवीं शताब्दी में गंग-वंश को घोर आपत्तियों
सामना करना पड़ा। वेंगी के पूर्वी चालुक्य, मान्यखेत के राष्ट्रकूट तथा अन्य पड़ो
राजाओं ने उनके राज्य पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। गंगराजा शिवराज ब
बना लिया गया और राष्ट्रकूट राजा ध्रुवनिरुपम ने उसके राज्य पर अपना अधिक
स्थापित कर लिया। राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तृतीय के शासन काल में शिवमार ने
अपने राज्य के प्राप्त करने का प्रयत्न किया परन्तु उसे सफलता न प्राप्त हुई और गंगवा
राष्ट्रकूटों के प्रान्तपति द्वारा शासित होता रहा। लगभग ८१८ ई० में राजमल्ल गंगों
राजा हुआ। कहा जाता है कि उसने राष्ट्रकूटों से अपने देश को स्वतन्त्र किया था। पर
राष्ट्रकूटों का उत्पात कम नहीं हुआ। कुछ दिनों बाद गंग राजा का संघर्ष चोलों के स
हुआ और १००४ ई० में चोलों ने तलकाड पर अपना अधिकार स्थापित कर लिय
गंग-वंश का पूर्ण रूप से अन्त नहीं हुआ। चोल तथा होयसल राजाओं की अ
सरदार तथा सामन्त बहुत दिनों तक शासन करते रहे। गंग वंश की कलि
ने भी सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक शासन किया।

गंग वंश के राजाओं की प्रवृत्ति जैन धर्म की ओर थी और इस वंश के कई राजा

ने जैन-धर्म को प्रोत्साहन भी दिया था। गंग राजा दुर्विनीत ने जैन आचार्य पूज्यपाद को आश्रय दिया था। इसी प्रकार राजमल्ल का मन्त्री तथा सेनापति चामुण्डराय पक्का जैन था जिसने गोमतेश्वर की मूर्ति का निर्माण ९८३ ई० में श्रावणबेलगोल में कराया था।

**होयसल वंश**—इस वंश के राजा अपने को 'यदुवंशी' बतलाते थे अर्थात् ये चन्द्रवंशी क्षत्रिय थे। इस वंश को होयसल वंश भी कहते हैं। इस वंश का संस्थापक साल था। इस वंश के प्रारम्भिक राजा बेलूर के एक छोटे से भाग पर चोल तथा कल्याण के चालुक्य राजाओं की आधीनता में शासन करते थे। ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से इस वंश का वैभव प्रारम्भ हुआ। इस वंश के राजा विनयादित्य ने चालुक्य राजा की बड़ी सहायता की और अपने वंश के महत्व को बढ़ाया। इस वंश का दूसरा प्रभुत्वशाली राजा [illegible] था। उसने १११ [illegible] से ११४० ई० तक शासन किया। उसने बेलापुर से [illegible]

[illegible]

और मालावार, दक्षिण कनारा तथा गाम्रा के कदम्बों पर भी विजय प्राप्त की थी। कृष्णा नदी की ओर तथा कांची पर भी उसने आक्रमण किये थे। विष्णुवर्धन आरम्भ में जैन था परन्तु बाद में रामानुजाचार्य से प्रभावित होकर वह वैष्णव हो गया था। इस वंश का एक और महत्वशाली राजा वीर बल्लाल था जिसने ११७२ से १२१५ ई० तक शासन किया। उसने महाराजाधिराज की उपाधि ली थी। उसने चालुक्य तथा यादव राजाओं की सेनाओं पर विजय प्राप्त कर ली थी। इसके बाद इस वंश में कोई अधिक शक्तिशाली राजा न हुआ। इन लोगों ने यादव, चोल तथा पाण्ड्य राज्यों से युद्ध कर अपनी शक्ति नष्ट कर दी। अन्त में १३१० ई० में मलिक काफूर ने इस राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और इस वंश का अन्त हो गया। इस वंश के राजा धर्मपरायण थे और बहुत से मन्दिरों का निर्माण करवाया था।

---

## अध्याय ४९

# सुदूर दक्षिण का इतिहास

**दक्षिण का परिचय**—सुदूर दक्षिण का तात्पर्य दक्षिण प्रायद्वीप के उस भाग से है जो कृष्णा नदी के दक्षिण में है। अति प्राचीन काल में यहाँ पूर्व-द्रविड़ लोग निवास करते थे। बाद में द्रविड़ लोग भी आकर इस भूभाग में बस गए। द्रविड़ लोग पूर्व द्रविड़ों से अधिक सभ्य तथा शक्तिशाली थे। इनमें तामीलों का दक्षिण में प्रभाव जम गया और दक्षिण के अधिकांश भाग को तामीलकम कहने लगे। इसके बाद दक्षिण में आर्यों का प्रवेश हुआ। आर्यों ने विजय के उद्देश्य से नहीं वरन् अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का शान्तिपूर्वक प्रचार करने के लिये दक्षिण भारत में प्रवेश किया था। इस प्रवेश के फलस्वरूप सांस्कृतिक सम्पर्क तथा मिश्रण अनिवार्य था। अतएव आर्यों तथा अनार्यों की सभ्यता का सम्मिश्रण आरम्भ हुआ। सभ्यता का यह आदान प्रदान बहुत दिनों तक चलता रहा परन्तु आर्यों ने अनार्यों के जीवन पर केवल आंशिक प्रभाव डाला। अनार्यों की धारणाओं, पारिवारिक संस्थाओं और धार्मिक तथा वैवाहिक अनुष्ठानों में आमूल परिवर्तन न हो सका।

दक्षिण भारत का विभाजन प्रमुखतः तीन राज्यों में किया जाता था। पहिला मलाबार तट का चेर अथवा केरल राज्य था। इसके अन्तर्गत आधुनिक कोचिन तथा ट्रावन्कोर के राज्य थे। दूसरा पाण्ड्य राज्य था। इसके अन्तर्गत आधुनिक मदुरा तथा तिन्नेवेली के जिले आते थे। तीसरा चोलों का राज्य था। यह राज्य पाण्ड्य राज्य के उत्तर में था। इसके अन्तर्गत आधुनिक कोरोमण्डल तट आ जाता था। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से छोटे-छोटे राज्य थे जिनको इन बड़े बड़े राज्यों का सदैव भय लगा रहता था।

[illegible]

गये थे। इन विद्वानों के विचार में दक्षिण के पल्लव उन पहलवानों के समान हैं जो उत्तर-पश्चिम में निवास करते थे। एक विद्वान् के विचार में गौतमीपुत्र शातकर्णि से पराजित होकर यह लोग सुदूर दक्षिण को चले गये थे। परन्तु आजकल यह सिद्धान्त निर्मूल समझा जाता है क्योंकि पार्थियनों के सुदूर दक्षिण में प्रयाण करने का कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं मिलता है और पल्लवों तथा पार्थियनों में नाम की समानता को छोड़ कर और कोई समानता नहीं पाई जाती। पल्लवों की उत्पत्ति के विषय में दूसरा सिद्धान्त यह है कि ये वहीं के मूलनिवासी थे और वहाँ निवास करने वाली कुरुम्ब, कल्लर, मरवर आदि जातियों से सम्बन्धित थे और इन सबको एक में संगठित कर पल्लवों ने एक राजनैतिक शक्ति की स्थापना की। पल्लवों की उत्पत्ति के विषय में तीसरा सिद्धान्त यह है कि इनकी उत्पत्ति चोल-नाग से हुई थी। इस मत के अनुसार प्रथम पल्लव शासक चोल राजा किलिवलवन का पुत्र था और जो सिंहल द्वीप के निकट मणिपल्लवम की नाग राजकुमारी के उदर से उत्पन्न हुआ था। ताण्डमण्डलम का यह पहिला राजा हुआ। नागकुमारी की जन्म भूमि अर्थात् मणिपल्लवम के नाम पर ही इस वंश का नाम पल्लव पड़ा। अतएव इस अनुश्रुति के अनुसार प्रथम पल्लव राजा का पिता चोल-वंश का राजा तथा उसकी माता नाग वंश की राजकुमारी थी। डा० काशी प्रसाद जायसवाल

के विचार में पल्लव न तो विदेशी थे और न द्रविड़ जाति के वरन् ये उत्तरी भारत के उच्च कुल के ब्राह्मण थे जिन्होंने क्षात्र-धर्म स्वीकार कर लिया था और ये वाकाटकों की एक शाखा थे। चूँकि प्रारम्भिक पल्लवों के आज्ञा पत्र प्राकृत में निकलते थे और संस्कृत को वे प्रोत्साहन देते थे अतएव यह सम्भव है कि ये मूलतः उत्तरी भारत के निवासी थे। परन्तु ऐसी अनुश्रुतियों में सत्य का बड़ा अभाव प्रतीत होता है कि वे महाभारत के द्रोणाचार्य तथा अश्वत्थामा से सम्बन्धित थे। परन्तु तलगुण्ड अभिलेख से ऐसा प्रतीत होता है कि पल्लव क्षत्रिय थे। श्री एच० कृष्णशास्त्री का कहना है कि पल्लव उस जाति से उत्पन्न थे जो ब्राह्मणों तथा द्रविड़ों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई थी। शास्त्री जी की इस धारणा का आधार एक अनुश्रुति है जिसके अनुसार इस वंश का संस्थापक अश्वत्थामन नामक एक ब्राह्मण था जिसने एक नाग कन्या से विवाह कर लिया था। इनके स्कन्द शिष्य नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस प्रकार पल्लव ब्राह्मणनाग जाति के प्रतीत होते हैं। डा० कृष्ण स्वामी आयंगर के विचार में संगम साहित्य में पल्लवों को तोन्दैयर कहा गया है। तामील भाषा में तोन्दन का अर्थ होता है दास। अतएव डा० आयंगर ने यह अनुमान लगाया है कि पल्लव लोग नाग सामन्तों के वंशज थे जो सातवाहनों की अधीनता में शासन करते थे। जब पल्लवों ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया तब उनका प्रदेश तोन्दमण्डल कहलाया अर्थात् सातवाहनों के दासों का प्रान्त। पल्लवों की उत्पत्ति के विषय में जिन-जिन मतों का उल्लेख ऊपर किया गया है उनसे यही फल निकाला जा सकता है कि पल्लवों की उत्पत्ति का रहस्योद्घाटन अभी नहीं हो पाया है।

**पल्लव शक्ति का विकास**—जब तीसरी शताब्दी ई० में सातवाहनों की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई उसी समय पल्लवों की शक्ति का विकास आरम्भ हुआ। कुछ विद्वानों के विचार में पल्लव आरम्भ में सातवाहनों के सामन्त थे और उन्हीं की अधीनता में शासन करते थे। सातवाहन साम्राज्य के पतन के समय जब अन्य सामन्तों ने अपने को स्वतन्त्र करना आरम्भ किया उसी समय पल्लवों ने भी अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया और अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। ईसा की तीसरी शताब्दी के प्राकृत में लिखे हुये तीन ताम्र-पत्रों से पता चलता है कि इस वंश का पहिला राजा बप्पादेव था जिसने जंगलों को काट कर तथा सिंचाई की सुविधा कर इस प्रदेश को रहने योग्य बना दिया था। बप्पादेव ने तेलगू आन्ध्र पथ तथा तामिल तोण्डमण्डलम पर अपनी सत्ता स्थापित करली। तेलगू आन्ध्रपथ का प्रधान नगर धान्यकट अर्थात् धरणीकोट था और तामील तोण्डमण्डलम् की राजधानी कांची अर्थात् कांजीवरम थी। बप्पादेव के बाद उसका पुत्र शिवस्कन्दवर्मन राजा हुआ। उसने धर्ममहाराज की उपाधि धारण की थी। उसने अपने राज्य का विस्तार दक्षिण की ओर बढ़ाया था और अश्वमेध, वाजपेय आदि यज्ञों को भी किया था। प्रारम्भिक पल्लव राजाओं में विष्णुगोप उल्लेखनीय है। यह समुद्रगुप्त का समकालीन था और चौथी शताब्दी में कांची में शासन करता था। इन प्रारम्भिक पल्लवों की राजधानी कांची थी और उनके राज्य में कांची तथा उसके चारों ओर का प्रदेश सम्मिलित था जो उत्तर में कृष्णा नदी तक फैला था। उनकी शासन-प्रणाली उत्तर के राज्यों से मिलती जुलती थी और दक्षिण के तामिलों की शासन प्रणाली से बिलकुल भिन्न थी। उनके घोषणा-पत्र प्राकृत में प्रकाशित होते थे।

**संस्कृत घोषणा-पत्रों का काल**—पल्लवों के विकास का दूसरा काल वह था जिसमें उनके घोषणा-पत्र संस्कृत में निकाले जाते थे। इस काल के राजाओं ने चौथी शताब्दी ई० से छठीं शताब्दी ई० के अन्त तक शासन किया था। इस काल के दान-पत्रों से तत्कालीन राजनैतिक दशा पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। अतएव इस युग का पल्लव इतिहास अन्धकार पूर्ण है। अभी तक यह ज्ञात नहीं हो सका है कि प्राकृत तथा

**नरसिंहवर्मन प्रथम**—सिंहविष्णु की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र नरसिंहवर्मन प्रथम सिंहासन पर बैठा। यह पल्लव-वंश का सबसे अधिक शक्तिशाली राजा था। वह सामरिक प्रवृत्ति का शासक था और युद्ध-कला में सिद्धहस्त था। चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय ने उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया था और उसकी सेनायें काँची के निकट पहुँच गई थीं। परन्तु पल्लव राजा नरसिंहवर्मन ने बड़े धैर्य तथा वीरता के साथ अरियों का सामना किया और न केवल चालुक्यों को अपने देश से निकाल बाहर किया वरन् अपने सेनापति की अध्यक्षता में एक विशाल तथा सुसंगठित सेना भेज कर चालुक्यों की

नरसिंह के पास एक प्रबल नौ सेना थी और उसी की सहायता से उसने सिंहलद्वीप पर विजय प्राप्त की थी। एक महान् विजेता होने के कारण नरसिंह ने महामल्ल की उपाधि धारण की थी। अपने पिता की भाँति नरसिंहवर्मन भी एक महान् निर्माता था। उसने त्रिचनापल्ली के जिले तथा पुदुकोट्ट में कई गुहा-मन्दिर बनवाये थे। उसने महामल्लपुरम नामक नगर की भी स्थापना की थी। उसके शासन-काल में चीनी यात्री ह्वेनसांग काँची गया था। उसने लिखा है कि वहाँ की भूमि उपजाऊ थी और वहाँ बहुत अच्छी कृषि होती थी। फल फूल भी वहाँ खूब उत्पन्न होते थे। वहाँ का जलवायु उष्ण है और वहाँ के निवासी बड़े साहसी होते थे। वे ईमानदार तथा सत्यभाषी होते थे और विद्या से उनको बड़ा अनुराग था। नरसिंहवर्मन की मृत्यु के बाद उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसका शासन-काल अल्पकालीन था और उसके समय में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं घटी।

**परमेश्वरवर्मन प्रथम**—महेन्द्रवर्मन द्वितीय के बाद परमेश्वरवर्मन शासक हुआ। उसके शासन-काल में पल्लवों तथा चालुक्यों की प्राचीन शत्रुता फिर आरम्भ हुई। चालुक्य राजा विक्रमादित्य प्रथम ने पल्लव राज्य पर आक्रमण कर काँची पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और कावेरी नदी तक अपना सत्ता स्थापित कर ली, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि परमेश्वरवर्मन ने शीघ्र ही अपनी स्थिति सुधार ली और चालुक्यों को अपने देश से निकाल बाहर किया। परमेश्वर परम शैव था और अपने राज्य में उसने बहुत से शैव मन्दिर बनवाये थे।

**नरसिंहवर्मन द्वितीय**—परमेश्वरवर्मन के बाद उसका पुत्र नरसिंहवर्मन द्वितीय राजा हुआ। उसने ६६० से ७१५ ई० तक शासन किया। उसके शासन-काल में देश में शान्ति रही और सुख तथा समृद्धि की अभिवृद्धि हुई। कैलाशनाथ मन्दिर का निर्माण उसी के शासन-काल में हुआ था। उसने और कई मन्दिरों का निर्माण करवाया था। नरसिंहवर्मन साहित्य प्रेमी तथा साहित्यकारों का आश्रयदाता था। महाकवि दण्डिन सम्भवतः उसके राजकवि थे। नरसिंहवर्मन द्वितीय के बाद परमेश्वरवर्मन द्वितीय राजा हुआ परन्तु उसके विषय में कुछ ज्ञात नहीं है।

**नन्दिवर्मन**—परमेश्वरवर्मन द्वितीय के कोई सन्तान न थी। अतएव उसकी मृत्यु के उपरान्त सिंहासन के लिये घोर संघर्ष आरम्भ हो गया। अन्त में सिंहविष्णु के भाई के वंशज हिरण्यवर्मन का पुत्र नन्दिवर्मन, जो बड़ा लोकप्रिय था, प्रजा द्वारा राजा चुना गया। नन्दिवर्मन के समय में भी चालुक्य-पल्लव संघर्ष चलता रहा। चालुक्य

शाखा के उपदेशों का अध्ययन करते हैं। इससे स्पष्ट है कि बौद्ध-धर्म पल्लव राज्य में पतनोन्मुख नहीं हुआ था और प्रारम्भिक बौद्ध राजाओं से इसे प्रोत्साहन मिला था। जैन-धर्म को भी कुछ पल्लव राजाओं का आश्रय मिला था। ह्वेनसांग ने बहुत से निर्ग्रंथों का उल्लेख किया है। पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन प्रथम आरम्भ में जैन था और जैन-धर्म को [illegible] परन्तु बाद में आचार्य अप्पर से प्रभावित होकर उसने शैव-मत को स्वीक [illegible]

दक्षिण [illegible]

के प्रचा [illegible]

काल में वैष्णव-महात्माओं ने वैष्णव धर्म का भी खूब प्रचार किया। इस प्रकार पल्लवों के समय में दक्षिण भारत में ब्राह्मण-धर्म का उत्तरोत्तर विकास होता गया।

**साहित्य**—पल्लव राजाओं के शासन-काल में साहित्य की भी बड़ी अभिवृद्धि हुई। पल्लव राजाओं का साहित्य से विशेषानुराग था और तामील के स्थान पर वे संस्कृत को ही प्रोत्साहन देते थे। राज्य का आश्रय प्राप्त हो जाने के कारण संस्कृत की बड़ी अभिवृद्धि हुई। थोड़े से अभिलेख को छोड़ कर पल्लव राजाओं के आरम्भ के सभी अभिलेख संस्कृत में हैं। बाद में जब तामील का प्रयोग होने लगा तब भी उसका प्रशस्ति-भाग [illegible]

[illegible]

[illegible]

कदम्ब वंश की नींव डाली थी, वेदाध्ययन के लिये यहाँ आया था। मयूरशर्मन चौथी शताब्दी के मध्य में कांची आया था। उन दिनों वेदाध्ययन का कार्य देवालयों में होता था जो धनी नागरिकों से सहायता पाते थे। पल्लव राजाओं की राजसभा बड़े-बड़े विद्वानों से अलंकृत रहती थी। पल्लव राजा सिंहविष्णु ने कवि सम्राट् भारवि को अपनी राज-सभा में आमन्त्रित किया था। अलंकार के रचयिता दण्डिन ने पल्लव राजा नरसिंहवर्मन द्वितीय की राजसभा को अलंकृत किया था प्रसिद्ध विद्वान् मातृदत्त भी इसी काल की विभूति थे। पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन स्वयं एक उच्चकोटि का साहित्यकार था और 'मत्त-विलास प्रहसन' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। कुदिमीयमलाई पहाड़ी चट्टान पर संगीत पर सम्भवतः उसी का एक निबन्ध अङ्कित है। भास की नाटकावलि भी इसी काल की रचना मानी जाती है।

**कला**—पल्लव काल के राजाओं को मन्दिर-निर्माण का बड़ा अनुराग था। इस काल में भिन्न-भिन्न शैलियों के मन्दिरों का निर्माण हुआ था। पहिली शैली महेन्द्रवर्मन प्रथम की थी। उसने चट्टानों को काटकर गुहा मन्दिर बनवाये थे। यह मन्दिर अपनी सादगी से पहचाने जा सकते हैं। इनके बाहर एक प्रांगण होता था और एक आयताकार कमरा होता था जिसमें स्तम्भ लगे होते थे। त्रिचनापल्ली, पल्लवाम तथा मामन्दूर के मन्दिर इसी शैली में बने हुये हैं दूसरी शैली के वे मंदिर हैं जिनका निर्माण नरसिंहवर्मन प्रथम महामल्ल ने करवाया था। इस शैली के मन्दिर तीन कोटि में रक्खे गये हैं। पहिली कोटि में गुहामन्दिर आते हैं। इस कोटि के मन्दिर पदुकोट तथा त्रिचनापल्ली में पाये जाते हैं। ये

पल्लव परम्परा को फिर से जीवित किया और तञ्जौर को या तो पल्लवों से या मुत्तरैयर सामन्तों से छीन कर उस पर अपना अधिकार जमा लिया।

**आदित्य प्रथम**—विजयालय के बाद उसका पुत्र आदित्य प्रथम ८७१ ई० में राजा हुआ। उसने पल्लव राजा अपराजितवर्मन को परास्त कर तोण्डमण्डलम पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। उसने कंगुदेश पर विजय प्राप्त की थी और पश्चिमी गंग की राजधानी तलकाड को छीन लिया था। आदित्य शैव था और उसने बहुत से शिव-मन्दिर बनवाये थे।

**परान्तक प्रथम**—आदित्य के बाद उसका पुत्र परांतक गद्दी पर बैठा। उसने ६०७ से ९५३ ई० तक शासन किया। वह एक वीर योद्धा था और उसने पांड्य राजा राजसिंह को परास्त कर उसके राज्य पर अपना अधिकार कर लिया। राजसिंह ने भाग कर सिंहल द्वीप में शरण ली। परान्तक ने सिंहल पर भी आक्रमण किया, परन्तु उसे सफलता न मिली। बाणों तथा वैदुम्बों पर भी उसने विजय प्राप्त की थी और बाणों के प्रदेश को उसने पश्चिमी गंगों को सौंप दिया। उसने पल्लव शक्ति को समूल नष्ट कर दिया और दक्षिण में नेल्लोर तक अपनी सत्ता स्थापित कर ली। परन्तु परान्तक के शासन-काल के अन्तिम भाग में राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय से उसका घातक संघर्ष हुआ। कृष्ण ने गंग राजा बूतुग की सहायता से परान्तक को परास्त कर कांची तथा तञ्जौर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और सम्भवतः रामेश्वरम तक अपनी सत्ता स्थापित कर ली। राष्ट्रकूट राजा की इस विजय ने चोलों के राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया और उन्हें अपनी स्थिति सँभालने में काफी समय लग गया। परान्तक अपने पिता की भांति परम शैव था और बहुत से मन्दिरों की स्थापना करवाई थी। ९५३ ई० में परान्तक का परलोकवास हो गया। परांतक की मृत्यु के बाद का लगभग तीस वर्ष का इतिहास अन्धकारमय है। इस काल में कई नाम-मात्र के राजा हुये जिनके काल की कोई उल्लेखनीय घटना नहीं है।

**राजराज प्रथम**—सुन्दरचोल के पुत्र राजराज के सिंहासन पर बैठते ही चोल वंश के गौरव को पुनर्जीवन प्राप्त हो गया। राजराज एक महान् विजेता तथा योग्य शासक था। उसने अपने पूर्वजों के अस्त-व्यस्त राज्य को फिर से सुसगठित किया और राज्य का परिवर्धन किया। सबसे पहिले राजराज का संघर्ष चेर राजा से हुआ। राजराज ने चेरों के जहाजी बेड़े को कन्दलूर में नष्ट कर दिया। इस बाद उसने पांड्य राज्य पर आक्रमण कर मदुरा पर अपना अधिकार जमा लिया और पांड्य राजा अमर भुजङ्ग को बन्दी बना लिया। उसने कोल्लम तथा कुर्ग पर भी विजय प्राप्त कर ली। इस समय सिंहल द्वीप में गड़बड़ी फैली हुई थी। राजराज के लिये यह स्वर्ण अवसर था। उसने सिंहल पर आक्रमण कर उसके उत्तरी भाग पर विजय कर उसे अपने राज्य का एक प्रान्त बना दिया। इसके बाद उसने गंगवाड़ी तथा नोलम्बवाड़ी पर विजय प्राप्त की। इससे मैसूर का बहुत बड़ा भाग उसके अधिकार में आ गया। उसके बाद चोल तथा चालुक्य राज्यों में घातक संघर्ष आरम्भ हुआ। चालुक्य राजा तैलप ने सम्भवतः राजराज को परास्त कर दिया था परन्तु तैलप का उत्तराधिकारी सत्याश्रय राजराज द्वारा बुरी तरह परास्त किया गया। राजराज ने रट्टपाद पर अपना अधिकार जमा लिया और चालुक्य राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। परन्तु सत्याश्रय ने शीघ्र ही अपनी स्थिति सुधार ली और खोये हुये भूभाग को फिर से प्राप्त कर लिया। राजराज ने वेंगी के पूर्वी चालुक्यों पर भी आक्रमण किया था। चालुक्य राजा शक्तिवर्मन ने चोलों की प्रगति को रोकने का प्रयत्न किया परन्तु उसका भाई तथा उत्तराधिकारी विमलादित्य चोलों के सामने ठहर न सका और उसने राजराज की अधीनता स्वीकार कर ली। राजराज ने अपनी पुत्री कुण्डवा का विवाह विमलादित्य से कर

हुआ। उसने भी चालुक्यों के साथ युद्ध जारी रक्खा और चालुक्य राजा सोमेश्वर को
तथा तुङ्गभद्रा नदियों के संगम के निकट बुरी तरह परास्त किया। फिर सोमे-
र साहस उससे लड़ने को न हुआ। सोमेश्वर के पुत्र विक्रमादित्य ने वेंगी में वीर
द के मित्र विजयादित्य सप्तम को राज्य से वञ्चित कर दिया था। वीर राजेन्द्र ने
ालुक्य के युद्ध कर विजयादित्य को वेंगी के राजसिंहासन पर बिठाया। पाण्ड्य तथा
राजाओं को भी वीर राजेन्द्र ने नतमस्तक किया और सिंहलद्वीप के राजा विजयबाहु
ोलों के भगाने के सारे प्रयत्न विफल कर दिये। सुमात्रा के राजा श्रीविजय के साथ भी
राजेन्द्र का संघर्ष हुआ था। जब चालुक्य राजा सोमेश्वर द्वितीय राजा हुआ तब
ों तथा चालुक्यों में फिर संघर्ष हुआ। वीर राजेन्द्र का सोमेश्वर द्वितीय के छोटे भाई
मादित्य से भी संघर्ष हुआ परन्तु अन्त में सन्धि हो गई और चोल राजा ने अपनी
ा का विवाह चालुक्य राजकुमार के साथ कर दिया। १०७० ई० में वीर राजेन्द्र की
ु हो गई और उसका पुत्र अधिराजेन्द्र गद्दी पर बैठा, परन्तु उसका शासन-काल
क सिद्ध हुआ और वह मार डाला गया।

—ंगी

ऽ बाद कुलोत्तुङ्ग ने पाण्ड्य, केर
ा रहे थे। मालवा के परमार

कुलोत्तुङ्ग ने कलिंग को भी दो बार जीता था। परन्तु वह ईर
कलों के समुद्र पार के प्रदेशों पर अपना अधिकार बनाये न रख सका और पूर्वी प्रदेश
उसके हाथ से निकल गये। विष्णुवर्धन के नेतृत्व में होयसल भी शक्तिशाली होते जा रहे
थे और गंगवाड़ी अथवा दक्षिण मैसूर को कुलोत्तुङ्ग ने छीन लिया। कुलोत्तुङ्ग एक योग्य
शासक भी था। उसने भूमि की फिर के नाप कराकर कर लगवाये थे। वह परम शैव था
परन्तु बड़ा सहिष्णु था। नेगपटम में उसने बौद्धों को भी दान दिये थे। परन्तु वैष्णव
आचार्य रामानुज के साथ उसका व्यवहार अच्छा न था। अतएव रामानुज को होयसल
राजा बिट्टिग की शरण लेनी पड़ी थी। कुलोत्तुङ्ग के काल में साहित्य की भी उन्नति हुई।
'कलिंगत्तुप्परनी' के रचयिता जयगोन्दन तथा 'सिलप्पधिकारम' के भाष्यकार आदिय-
र्क्कुनार इसके विद्वान् साहित्यकार थे। 'नवेरिवापुराणम' का रचयिता सेविक्कार भी
इसी काल की विभूति था। ११२२ ई० कुलोत्तुङ्ग की मृत्यु हो गई।

**कुलोत्तुङ्ग के उत्तराधिकारी**—कुलोत्तुङ्ग के बाद उसका पुत्र विक्रम चोल
त्याग-समुद्र राजा हुआ जो वेंगी का प्रान्तपति था। वह वैष्णव मत का अनुयायी था
और नये मन्दिरों के बनवाने और पुराने मन्दिरों की मरम्मत कराने में उसने बड़ा उत्साह
प्रकट किया। कहा जाता है कि आचार्य रामानुज उसके समय में मैसूर से चोल राज्य में
लौट आये थे। जैन लेखक भावनन्दी उसी के समय में हुये थे विक्रम चोल ने ११९८ से
११३३ ई० तक शासन किया। इसके बाद चोल-वंश का अधःपतन आरम्भ हुआ। विक्रम
के उत्तराधिकारी कुलोत्तुङ्ग द्वितीय (११३३ ५० ई० ), राजराज द्वितीय (११५०-७२ ई०)
तथा राजाधिराज (१[illegible]९ ई०) बड़े शक्तिहीन राजा थे और साम्राज्य के पतन

को रोक न सके। सीमावर्ती प्रदेश में अनेक प्रतिद्वन्द्वी अपनी सत्ता स्थापित करने के लिये उठ खड़े हुये। द्वारसमुद्र का होयसल-वंश एक शक्तिशाली राज्य पर शासन कर रहा था और उसकी धाक दक्षिण की राजनीति में उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। चोल राज के अधीनस्थ राजा सिंहल, पाण्ड्य तथा केरल चोल सत्ता को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न करने लगे। कुलोत्तुङ्ग तृतीय (११७८-१२१६ ई०) के समय में भी चोल सामन्तों ने उपद्रव जारी रक्खे। सिंहलद्वीप में उसे युद्ध करना पड़ा जिसमें उसने विजय प्राप्त की। पाण्ड्यों के भारी विरोध का भी उसे सामना करना पड़ा और केरल के राजा तथा नेल्लोर के सरदार को भी उसने मार भगाया। परन्तु इन सफलताओं के होते हुये भी वह चोल राज्य के पतन को न रोक सका। कुलोत्तुङ्ग तृतीय के बाद उसका पुत्र राजराज तृतीय शासक हुआ। उसने १२१६ से १२५२ ई० तक शासन किया। उसके राज्य पर पाण्ड्य नरेश मारवर्मन सुन्दर पाण्ड्य प्रथम ने आक्रमण कर दिया और उसकी सेनायें तंजौर पहुँच गईं। विवश होकर राजराज को होयसल राजा की सहायता लेनी पड़ी क्योंकि वह स्वयम् इतना शक्तिहीन हो गया था कि उसमें पाण्ड्य आक्रमण के रोकने की शक्ति न थी। इसके अतिरिक्त सेन्दम गलम् के विद्रोही सामन्त कोप्परुन्जिंग ने अनेक उपाधियाँ धारण कर ली थीं और चोल राजा पर आक्रमण कर उसे बन्दी भी बना लिया था। परन्तु होयसल नरेश ने हस्तक्षेप कर उसे फिर मुक्त करा दिया और उसके राज्य की रक्षा कर दी, परन्तु राजराज तृतीय की मुसीबतों का अन्त न हुआ। अब उसमें तथा उसके उत्तराधिकारी राजेन्द्र तृतीय में घोर संघर्ष आरम्भ हो गया। गृह-युद्ध से सीमान्त राज्यों को अपने राज्य के परिवर्धन का अवसर मिल गया और द्वारसमुद्र के होयसल, वारंगल के काकतीय तथा मदुरा के पाण्ड्य चोल राज्य को छीना झपटी में लग गये। चोल राज्य पर अन्तिम आघात पाण्ड्य राजा जटावर्मन सुन्दर पाण्ड्य का राजेन्द्र तृतीय के शासन-काल में पड़ा। उसने चोल राज्य के बहुत बड़े भाग पर विजय प्राप्त कर ली और सम्भवतः काँची पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लिया और महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। राजेन्द्र तृतीय राज्य के पतन को रोक न सका और १२६७ ई० तक आन्तरिक कलह, सामन्तों के विद्रोह तथा पाण्ड्य के विकास के कारण चोल शक्ति पूर्ण रूप से नष्ट हो गई और उनके राज्य का अन्त हो गया। अब चोलों के स्थान पर पाण्ड्यों के शक्तिशाली राज्य की स्थापना हो गई और थोड़े ही दिनों में वह दक्षिण भारत की एक प्रबल शक्ति हो गई।

**चोल राज्य-संस्था**—चोल राजाओं का शासन अत्यन्त सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित था। शासन व्यवस्था राजतन्त्रात्मक थी और राजा ही शासन का प्रधान होता था। केन्द्रीय शासन की बागडोर स्वयम् राजा के हाथ में होती थी। राजा अपने कर्तव्यों का पालन मन्त्रियों तथा पदाधिकारियों की सहायता से करता था। ओलोईनायगन (प्राइवेट सेक्रेटरी) सदैव राजा के साथ रहता था और राजा की आज्ञाओं को लिख लिया करता था। इसके बाद इन आज्ञाओं पर हस्ताक्षर करा के प्राइवेट मन्त्री उन्हें राज्याधिकारियों के पास भेज दिया करता था। दो पदाधिकारियों तथा पाँच अन्य व्यक्तियों के सामने पहिले यह आज्ञायें पढ़ी जाती थीं। इसके बाद जिनके सम्बन्ध में आज्ञायें होती थी उन्हें सूचित कर दिया जाता था। इन आज्ञाओं को ग्रन्थ-रक्षा गृह में भेजने के पूर्व स्थानीय गवर्नर उनका निरीक्षण कर लेते थे।

**राज्य-विभाजन**—चोल शासन व्यवस्था में सम्पूर्ण राज्यम् अथवा राष्ट्रम् कई मण्डलम् में विभक्त रहता था। प्रत्येक मण्डलम् के शासन के लिये एक प्रान्तपति नियुक्त रहता था। कुछ प्रान्तों (मण्डलम्) का शासन राजकुमारों को दिया जाता था और कुछ में उच्च-वंश के लोग नियुक्त किये जाते थे। विजित राज्यों के प्रान्तों का प्रान्तपति प्रायः विजित राजा तथा उसके वंशज होते थे। यह लोग चोल राजा को कर देते थे और

आवश्यकता पड़ने पर उसकी सहायता करते थे। प्रत्येक मण्डलम् कई कोट्टम अथवा वलनाडु में विभक्त रहता था। प्रत्येक वलनाडु में कई ज़िले होते थे। ज़िले को नाडु कहते थे। प्रत्येक नाडु कुर्रमों—ग्राम अथवा ग्राम समूहों—का होता था। ग्राम शासन की सब से छोटी इकाई होती थी।

समितियाँ—चोलों की शासन व्यवस्था का संचालन समितियों द्वारा होता था। सम्पूर्ण मण्डल अथवा प्रान्त के लोगों की एक समिति होती थी यह समिति भूमि-कर में कमी अथवा क्षमा कर सकती थी। प्रत्येक नाडु अथवा ज़िले के लिये एक अलग समिति होती थी जो नाट्टर कहलाती थी। यह समिति सम्पूर्ण ज़िले से सम्बन्धित प्रश्नों तथा कार्यों पर विचार करने के लिये बैठती थी। नगरों के लिये अलग समितियाँ होती थी जो नगरट्टार कहलाती थी। यह समिति व्यापार की सुव्यवस्था करती थी। इनके अतिरिक्त स्थानीय शासन के लिये श्रेणियाँ, पूग तथा अन्य संस्थायें होती थीं। प्रत्येक व्यवसाय वाले अपने सदस्यों की समितियाँ बना लेते थे। ग्रामों के लिये ग्राम-समितियाँ होती थीं जो ऊर कहलाती थी। यह गाँव निवासियों की साधारण सभाएँ होती थीं। गाँवों की एक और सभा होती थी जिसे महासभा कहते थे। इस सभा के सभी सदस्य ब्राह्मण होते थे। यह सभा ब्राह्मणों के गाँवों की होती थी जिन्हें ब्रह्मदेय कहते थे। ग्राम समितियों के निरीक्षण के लिये एक सरकारी पदाधिकारी होता था जो अधिकारिन कहलाता था।

[illegible]

समितियों द्वारा एकत्रित किया जाता था। भूमि-कर न देने पर भूमि छीन ली जाती थी परन्तु कर वसूल करने में उदारता दिखाई जाती थी। धार्मिक कार्यों के लिये बिना केन्द्रीय सरकार की अनुमति के समिति को भूमि बेचने का अधिकार था। समिति रुपये भी जमा करती थी और दान की भूमि का भी प्रबन्ध करती थी। ग्राम-सभा न्याय का भी काम किया करती थी। मठों के द्वारा संस्कृत तथा तामील दोनों की शिक्षा का प्रबन्ध सभाओं को करना पड़ता था। इस बात का ठीक ठाक पता नहीं लग सका है कि सभा में कितने सदस्य होते थे। सभा की बैठक मन्दिर अथवा सार्वजनिक भवन में हुआ करती थी। यदि भवन की सुविधा नहीं रहती थी तो वृक्षों के नीचे ही बैठक हो जाया करती थी। सार्वजनिक हित के भिन्न भिन्न कार्यों के लिये अलग-अलग समितियाँ होती थीं। इन समितियों के सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते थे। निर्वाचन के लिये गाँव क्षेत्रों में बाँट दिया जाता था जिन्हें कुटुम्ब कहते थे। वोट देने वालों की योग्यता निश्चित रहती थी। गाँवों का हिसाब किताब बड़ा पक्का रहता था और बेईमानी करने वालों को कठोर दण्ड दिया जाता था।

कर के साधन—राज्य की आय का प्रधान साधन भूमि-कर था जो प्रायः उपज का छठाँ भाग हुआ करता था। अकाल पड़ जाने अथवा बाढ़ आने पर कर क्षमा कर दिया जाता था। कर मुद्रा अथवा अन्न किसी भी रूप में दिया जा सकता था। भूमि कर के अतिरिक्त अन्य कर भी राज्य लेता था जैसे चुंगी, सिंचाई कर, कोल्हू कर इत्यादि। इन करों से प्राप्त धन शासन के चलाने, नहर, सड़क तथा मन्दिर आदि के बनवाने में व्यय किया जाता था। कर मुक्त भूमि भी होती थी। समय-समय पर भूमि की नाप की व्यवस्था की जाती थी और भूमि की नाप का ब्यौरा लिख लिया जाता था।

सैनिक संगठन—चोल राजाओं के पास एक बड़ी ही सुशिक्षित तथा सुसंगठित सेना थी। चोलों ने न केवल स्थल-सेना वरन् नौ सेना का भी प्रबन्ध किया था। इसी नौ-सेना की सहायता से उन्होंने मलाया द्वीप समूह तथा हिन्द महासागर के अन्य द्वीपों पर

विजय प्राप्त की थी। चोलों की सेना में कई विभाग थे, जैसे तीरन्दाजों की सेना, रथकों की सेना, अश्वारोहियों की सेना, पैदल सेना, हस्त-सेना आदि। सेना विभिन्न स्थानों में रक्खी जाती थी, जिन्हें कडगम कहते थे। कुछ सेनापति ब्राह्मण थे जो ब्रह्माधिराज कहलाते थे।

सिंचाई—चोल राजाओं ने पल्लवों की भांति सिंचाई की बड़ी अच्छी व्यवस्था की थी। उन्होंने बहुत से कुएं तथा तालाब बनवाये थे और कावेरी तथा अन्य नदियों पर बांध बनवा कर सिंचाई के लिए नहरें बनवाई थीं। राजेन्द्र प्रथम ने अपनी राजधानी के निकट एक कृत्रिम जल कुण्ड बनवाया था जो कोलेरन तथा वेल्लार नदियों के जल से भर जाता था। इस विशाल झील से कृषकों को बड़ा लाभ होता था।

सड़कें—चोलों ने बहुत बड़ी बड़ी सड़कों का भी निर्माण करवाया था जिससे व्यापार तथा आवागमन में बड़ी सुविधा होती थी। सेना के संचालन में भी इन सड़कों से बड़ी सहायता मिलती थी। नदियों को पार करने के लिये पुल बनवाये गये थे।

साहित्य तथा कला—चोलों के काल का तामिल साहित्य के पुनर्जागरण का काल भी कहा जा सकता है। इस काल की साहित्यिक प्रगति का बहुत कुछ श्रेय संस्कृत साहित्य को प्राप्त है पुराणों तथा इतिहासों के अध्ययन, प्रतिमाओं तथा मन्दिरों के भित्ति चित्रों ने दक्षिण की जनता को उत्तर की संस्कृति तथा उनके महाकाव्यों से परिचित करा दिया था। इस काल में काम्बर जैसे कवि तथा चारण हुये थे। कला की भी चोलों के समय में बड़ी उन्नति हुई। इस वंश के राजाओं ने नगरों का निर्माण कराया था और उन्हें सुन्दर प्रासादों तथा देवालयों से अलंकृत कराया था। इन देवालयों का उन युगों में बड़ा महत्व था। इन देवालयों में ग्राम एवं नगर की सभाओं तथा समितियों की बैठकें हुआ करती थीं। इनमें धार्मिक उपदेश हुआ करते थे और जनता की आध्यात्मिक पिपासा शान्त हुआ करती थी। यह देवालय शिक्षा के भी केन्द्र हुआ करते थे और इनमें वेदों, पुराणों, महाकाव्यों, धर्म-शास्त्रों, ज्योतिष व्याकरण आदि का भी अध्ययन हुआ करता था। राजा, महाराजा तथा देश के धनी-मानी लोग इन देवालयों को पर्याप्त धन दान के रूप में दिया करते थे और असहायों तथा दीन दुखियों की इन देवालयों द्वारा सहायता होती थी। उत्सव के अवसरों पर इन देवालयों में संगीत तथा नृत्य भी हुआ करता था जिससे ये आमोद-प्रमोद के साधन बन जाते थे। चोल मन्दिरों में बहुत बड़े-बड़े विभाग बने रहते थे और उनमें बहुत बड़े-बड़े प्रांगण भी हुआ करते थे। राजराज प्रथम का बनवाया हुआ राजराजेश्वर नामक शिव-मन्दिर इस काल की अद्भुत कृति है। तंजौर तथा गंगइकोंड चोलपुरम में अन्य कई सुन्दर-सुन्दर मन्दिर चोल राजाओं ने बनवाये थे। धातु तथा पत्थर की बनी हुई इस काल की मूर्तियां भी श्लाघनीय हैं।

धर्म—यद्यपि चोल राजा स्वयम् शैव थे परन्तु उनमें धार्मिक सहिष्णुता तथा उदारता थी। उदाहरण के लिये यद्यपि राजराज प्रथम स्वयम् शैव था परन्तु उसने विष्णु मन्दिर भी बनवाये थे और उन्हें दान दिया था। बौद्धों के साथ भी वह सहानुभूति प्रदर्शित करता था और नेगपटम में बौद्ध विहारों को उसने दान दिया था। इस प्रकार जैन भी शान्ति पूर्वक अपने धर्म का पालन करते थे। कुलोत्तुंग प्रथम भी शैव मत का अनुयायी था परन्तु उसने भी एक बौद्ध विहार को एक गांव दान में दिया था। परन्तु यह बड़े आश्चर्य की बात है कि वैष्णव आचार्य रामानुज उसके कृपा पात्र न हो सके और उन्हें विवश होकर चोल राज्य छोड़ कर मैसूर के होयसल राजा के राज्य में शरण लेनी पड़ी। परन्तु विक्रम चोल के काल में श्री रामानुजाचार्य को फिर चोल राज्य का आश्रय प्राप्त हो गया और वे मैसूर से तंजौर लौट आये और शान्तिपूर्वक अपने उपदेश देने लगे और अपने

मत का प्रचार करने लगे। वास्तव में इस प्रकार की धार्मिक असहिष्णुता के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं जैसा कि कुलोत्तुङ्ग ने किया था। प्रायः शैव तथा वैष्णव स्वतन्त्रता पूर्वक अपने अपने धर्म का पालन करते थे और मतों का प्रचार करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि चोलों के काल में वैदिक यज्ञ तथा बलिदान का बहुत कम प्रचार था। इस काल में राजाधिराज द्वारा किये गये केवल एक अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि चोल राजा यज्ञ से दान पर अधिक जोर देते थे और ब्राह्मणों तथा देवालयों को बृहत धन दान के रूप में देते थे।

**पांड्य-वंश**—पाण्ड्य कौन थे? आर्य अथवा द्रविड़? यदि वे द्रविड़ थे तो वे दक्षिण के मूल-निवासी रहे होंगे और यदि वे आर्य थे तो उत्तर से दक्षिण की ओर उन्होंने अभियान किया होगा। कुछ अनुश्रुतियों के अनुसार वे कोरकई के उन तीन भाइयों के वंशज थे जिन्होंने पाण्ड्य, चोल तथा चेर राज्यों की नींव डाली थी। परन्तु कुछ अनुश्रुतियों के अनुसार वे उत्तरी भारत के उन पाण्डवों की सन्तान हैं जिनकी कथा का महाभारत में वर्णन है। कुछ अनुश्रुतियों के अनुसार वे चन्द्रवंशी क्षत्रिय थे। इन विभिन्न विचारों से यह अनुमान लगाया जाता है कि पाण्ड्य वास्तव में द्रविड़ और भारत के मूल निवासी थे, परन्तु जब आर्यों का सुदूर दक्षिण में प्रवेश हुआ और उन्होंने अपनी सभ्यता, संस्कृति, धर्म तथा साहित्य का वहाँ पर प्रचार किया तब पाण्ड्यों ने महाकाव्यों में वर्णित पाण्डवों तथा चन्द्र-वंश से अपने को सम्बन्धित कर दिया।

**पांड्यों की भूमि**—पाण्ड्यों का राज्य सुदूर दक्षिण में पूर्वी समुद्र-तट की ओर था। इसके अन्तर्गत आजकल के मदूरा, रमनद तथा तिन्नेवेल्ली के जिले आते थे। मदूरा पाण्ड्यों की राजधानी थी जिसे दक्षिणी मथुरा भी कहा जाता था। कोरकई, जो ताम्रपर्णी नदी के मुहाने पर बसा था, पाण्ड्य-राज्य का प्राचीन काल में एक बहुत बड़ा बन्दरगाह था। परन्तु कुछ दिनों उपरान्त समुद्र तट के परिवर्तन के कारण इसका गौरव नष्ट हो गया और इससे कुछ मील पर कायल नामक एक दूसरा प्रतिष्ठित बन्दरगाह बन गया, जो व्यापार का प्रधान केन्द्र बन गया।

**पांड्यों का इतिहास**—पाण्ड्यों का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। व्याकरणाचार्य कात्यायन ने चौथी शताब्दी ई० पू० में अपने भाष्य में, जो उन्होंने आचार्य पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर लिखा था, पाण्ड्यों का उल्लेख किया है। महर्षि बाल्मीकि ने भी 'रामायण' में पांड्य राजधानी की अभिवृद्धि तथा उसके गौरव का उल्लेख किया है। महावंश के अनुसार सिंहलद्वीप के राजकुमार विजय ने बुद्ध जी के परिनिर्वाण के बाद एक पांड्य राजकुमारी के साथ विवाह किया था। आचार्य कौटिल्य ने अपने 'अर्थ-शास्त्र' में एक विशेष प्रकार की मुक्ता का उल्लेख किया है जिसे पांड्यकवाटक कहते थे और जो पांड्य देश के पांड्यकवाट में मिलती थी। यूनानी राजदूत मेगेस्थनीज ने भी लिखा है कि पांड्य-देश-राष्ट्र का शासन स्त्रियाँ चलाती थीं और छः वर्ष की अवस्था में स्त्रियों के बच्चा पैदा हो जाता था। अशोक के अभिलेखों से पता चलता है कि उसके राज्य की दक्षिणी सीमा पर पांड्यों का स्वतन्त्र राज्य था। खारवेल-काल के हाथीगुम्फा अभिलेख से पता चलता है कि कलिंग के खारवेल राजा ने पांड्य राजा को परास्त कर उससे मोतियाँ, जवाहिरात, हाथी तथा घोड़े प्राप्त किये थे। स्ट्रैबो ने भी लिखा है कि लगभग २० ई० पू० में पांड्यों के राजा ने अपना राजदूत रोमन सम्राट् अगस्टस सीजर के पास भेजा था। टालमी ने भी अपने भूगोल में पांड्यों तथा उनकी राजधानी मोदौरा अर्थात् मदूरा का उल्लेख किया है। इस प्रकार पांड्यों का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है परन्तु इनका छठीं शताब्दी के अन्त तक का इतिहास अन्धकारमय है। संगम साहित्य से भी जो सम्भवतः ईसवी सम्वत् की प्रारम्भिक शताब्दियों के हैं, पांड्य-वंश के इतिहास पर

असन्तुष्ट हो गया और उसने अपने पिता की हत्या कर डाली। सुन्दर तथा वीर पाण्ड्य की प्रतिद्वन्द्विता से मुसलमानों को स्वर्ण-अवसर मिल गया। १३१०-११ ई० में दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति मलिक काफूर ने पाण्ड्य राज्य पर आक्रमण करके मदुरा पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। सुन्दर तथा वीर पाण्ड्य को इससे कुछ लाभ न हुआ और वे अपने वैमनस्य का फल कुछ दिनों तक और भोगते रहे। कुछ वर्ष बाद अलाउद्दीन खिलजी ने एक सेना फिर खुसरू खाँ के नेतृत्व में भेजी। चेर राजा रविवर्मन कुलशेखर तथा वारंगल के काकतियों ने भी इससे पूरा लाभ उठाया और पाण्ड्य राज्य को नष्ट करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार पाण्ड्यों के दूसरे साम्राज्य का अन्त हो गया। मदुरा के मुसलमान शासक ने अपने को दिल्ली से स्वतन्त्र कर लिया। परन्तु यह राज्य केवल १३३५ से १३७८ तक स्वतन्त्र रह सका। १३७८ में विजयनगर के हिन्दू राजा ने इस मुस्लिम राज्य का अन्त कर दिया।

**पाण्ड्य शासन व्यवस्था**—इस युग के अभिलेखों से पता चलता है कि व्यक्तियों तथा उनके समूहों के कर्तव्य भला-भाँति निश्चित थे। फौजदारी के झगड़ों का निर्णय ग्राम समितियाँ ही करती थीं। इनके असमर्थ होने पर ही राजा अथवा उसके कर्मचारी हस्तक्षेप करते थे। चीनी यात्री चेनसॉग ने इस प्रदेश के विषय में लिखा है— "जलवायु अत्यन्त उष्ण है। लोगों का रङ्ग काला होता है और वे दृढ़ तथा प्रचण्ड स्वभाव के होते हैं कुछ सच्चे धर्म का पालन करते हैं अन्य लोग विधर्मी हैं। विद्या का अधिक आदर नहीं करते और व्यापारिक लाभ की अधिक चिन्ता करते हैं। कई सौ देव-मन्दिर हैं और बहुत से निर्ग्रन्थ भी हैं।" इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मण तथा जैन-धर्म उन्नत दशा में थे परन्तु बौद्ध-धर्म पतनोन्मुख हो चला था। अरब व्यापारी मलाबार तट पर बस थे।

**चेर**—चेर अथवा केरल लोग द्रविड़ जाति के थे। यह लोग मूलतः तामील भाषी थे। परन्तु कालांतर में उन्होंने एक नई भाषा का आविष्कार किया जिसे मल[यालम] कहते हैं। इनके राज्य में आधुनिक मलाबार का जिला तथा ट्रावनकोर और कोचीन राज्य सम्मिलित थे। कभी-कभी कोंगु प्रदेश भी इसके अन्तर्गत आ जाता था। करूर चेर राज्य की राजधानी थी। पेरियर नदी पर स्थित मुज़ीरी एक उपयोगी बन्दरगाह था। यहाँ से यवनों, यूनानियों तथा रोम-वालों के साथ विस्तृत व्यापार होता था। रोमन व्यापारियों ने तो यहाँ पर अगस्तस का एक मन्दिर भी बनवाया था। यहूदियों का तो उपनिवेश यहाँ बन गया था और चेर राजा ने उन्हें व्यापारिक अधिकार प्रदान किये थे।

**चेरों का इतिहास**—चेरों के विषय में बहुत कम ज्ञात हो सका है। सबसे पहिला उल्लेख केरल पुत्रों का अशोक के दूसरे शिला-लेख में मिलता है। उन दिनों केरल अशोक के राज्य के सामान्त राज्यों में से एक दक्षिण का स्वतन्त्र राज्य था। अन्य पाण्ड्य तथा चोल थे। टालेमी ने भी केरलों का उल्लेख किया है परन्तु चेरों का राजनैतिक इतिहास अंधकार पूर्ण है। चेरों का पहिला शक्तिशाली राजा सेन्गुत्तुवन था। उसकी सफलताओं का वर्णन 'सिलप्पदिकारम्' नामक तामील ग्रन्थ में मिलता है। वह नेडुंजेलियन पाण्ड्य का समकालीन माना जाता है। सेगुत्तुवन एक वीर योद्धा था और के राज्यों के साथ उसने सफलतापूर्वक युद्ध किया था। समुद्री युद्ध में उसने कदम्बों पर भी विजय प्राप्त की थी। ये सम्भवतः समुद्री डाकू थे और पश्चिमी तट पर अपना अधिकार जमा लिया था। कहा जाता है कि उसने दो बार उत्तरी भारत पर आक्रमण किया था और हिमालय पर्वत तक के प्रदेशों पर अधिकार स्थापित कर लिया था। परन्तु सत्य का सर्वथा अभाव प्रतीत होता है। सेगुत्तुवन के उत्तराधिकारी

तथा पाण्ड्य राज्यों के साथ संघर्ष करना पड़ा था। एक बार उसे बंदी भी हो जाना पड़ा था, परन्तु वह निकल भागा था। इसके बाद का कई शताब्दियों का चेरों का इतिहास अन्धकारपूर्ण है। आठवीं शताब्दी ई० के आरम्भ में फिर प्रकाश मिलता है। इस समय चेर राजा का पल्लव नरेश परमेश्वरवर्मन के साथ संघर्ष हुआ था। इस शताब्दी के अन्तिम भाग में चेरों को पाण्ड्यों ने कोंगुदेश तथा दक्षिण ट्रावङ्कोर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। परन्तु चेरों का चोलों के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार था और इन दोनों राज्यों में वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गया था। चोल राजा परान्तक प्रथम (९०७-५५ ई०) ने चेर राजकुमारी के साथ विवाह किया। परन्तु दसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में चेरों तथा चोलों का सम्बन्ध अच्छा न रहा, क्योंकि चोल राजा राज-राज प्रथम ने चेर राजा को परास्त कर उसके जहाजी बेड़े को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। वास्तव में बारहवीं शताब्दी के आरम्भ तक चोलों का चेरों के ऊपर प्रभुत्व स्थापित रहा। बारहवीं शताब्दी के आरम्भ में जब चोलों का पतन काल था तब वीर केरल ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया। परन्तु तेरहवीं शताब्दी ई० में पाण्ड्यों ने चेरों को अपने अधीन कर लिया। १३१० ई० में जब मलिक काफूर ने पाण्ड्यों को परास्त कर दिया तब चेर राजा रविवर्मन कुलशेखर ने दक्षिण में अपनी धाक जमा ली। रविवर्मन के बाद चेर-वंश का पतन हो गया।

---

# अध्याय ४३

# वृहत्तर-भारत

**भारत की अनुकूल स्थिति**—भौगोलिक दृष्टि-कोण से भारतवर्ष एशिया महाद्वीप का अंग है। अतएव एशिया के देशों के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध होना स्वाभाविक ही है। भारत की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि यह पूर्व तथा पश्चिम में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने में शृंखला का कार्य करता है। हिन्द-महासागर में देश की केन्द्रीय स्थिति होने के कारण यह प्राचीन समय से मध्य देशों के सामुद्रिक मार्ग के बिल्कुल मध्य में पड़ता था। अतएव पूर्व तथा पश्चिम के देशों के साथ अत्यन्त प्राचीन काल से ही जल तथा स्थल दोनों मार्गों से भारत का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया था।

**वृहत्तर भारत का अर्थ**—भारत की अनुकूल भौगोलिक स्थिति के परिणाम-स्वरूप भारतीयों का विदेशों में आवागमन आरम्भ हो गया और बड़े साहस तथा उत्साह के साथ भारतीयों ने विदेशों में उपनिवेशों की स्थापना आरम्भ की और वहाँ पर अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार आरम्भ किया। इन्हीं उपनिवेशों को वृहत्तर भारत नाम से पुकारा जाता है। इन देशों (वृहत्तर भारत) को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। पहिले भाग के अन्तर्गत मध्य एशिया, तिब्बत तथा चीन आयेंगे और दूसरे भाग में हिन्द चीन तथा पूर्वी द्वीप समूह रक्खे जायेंगे। इस दूसरे वर्ग में चम्पा, कम्बुज, मलाया, जावा, बालिया, स्याम, बर्मा आदि आ जाते हैं। सिंहल द्वीप को भी इसी वर्ग में रक्खा जा सकता है।

**वृहत्तर भारत के निर्माता**—अब प्रश्न यह उठता है कि इन उपनिवेशों के संस्थापक कौन थे? जिन लोगों ने विदेशों में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति की ध्वजा फहराई थी उनका लक्ष्य क्या था? वृहत्तर भारत के निर्माताओं को हम तीन वर्गों में रख सकते हैं अर्थात् व्यापारी, उपनिवेशक तथा धर्म प्रचारक। भारत का विदेशों के साथ अत्यन्त प्राचीन काल से ही व्यापारिक सम्बन्ध चल रहा था। भारतवासी पश्चिम में सिकन्दरिया और पूर्व में चीन के समुद्र तक व्यापार के लिये जाया करते थे। उन दिनों लोगों का ऐसा विश्वास था कि बर्मा, मलाया, जावा, सुमात्रा आदि में सोने की खानें थीं अतएव इस प्रदेश को सुवर्ण भूमि तथा सुवर्ण द्वीप के नामों से पुकारा जाता था। अतएव धन प्राप्त करने की कामना से भारतीय व्यापारी इन देशों को जाया करते थे परन्तु अपनी इस व्यापार यात्रा में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के प्रचार में वे कभी नहीं चूकते थे। जब वे वनचर तथा असभ्य जातियों के सम्पर्क में आते थे तब वे उन्हें अपनी सभ्यता तथा संस्कृति से प्रभावित कर दिया करते थे। विदेशों में उपनिवेशों की स्थापना या तो कौण्डिन्य तथा अगस्त्य जैसे ऋषियों तथा मुनियों ने किया था जो विदेशों में अपने आश्रम तथा तपोवन स्थापित कर लिये थे और या तो क्षत्रिय राजकुमारों ने किया था जो विदेशी आक्रमण अथवा अन्य प्रकार की आपत्तियों के कारण देश को छोड़कर विदेशों में चले गये और वहाँ पर अपना राज्य स्थापित कर स्थायी-रूप से निवास करने लगे। भारतीय धर्माचार्यों ने भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति की ध्वजा को विदेशों में फहराई थी। इन धर्म-दूतों ने लोक-कल्याण की कामना तथा धर्म-प्रचार की भावना से प्रेरित

होकर इस श्लाघनीय कार्य को किया था। भारतीय धर्मालोक को लेकर ऋषि तथा बौद्ध-भिक्षु विदेशों की जङ्गली जातियों में जाते थे और घोर आपदाओं का सामना करके उन्हें सभ्य तथा सुसंस्कृत बनाते थे। अशोक की धर्म-विजय की नीति ने विदेशों में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के प्रसार में बड़ा योग दिया। इस प्रकार वृहत्तर भारत के निर्माण में व्यापारियों, उपनिवेशकों तथा धर्म-प्रचारकों का बहुत बड़ा सहयोग था। व्यापारी विदेशों में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का बीज वपन करते थे और उपनिवेश तथा राज्य-संस्थापक उसकी सुरक्षा तथा सम्वर्धन की व्यवस्था करते थे परन्तु चीन तथा मंगोलिया में धर्म दूतों ने केवल अपने आत्म बल से धर्मालोक को विकीर्ण किया था। अब इस बात पर विचार किया जायगा कि भारत अत्यन्त प्राचीन काल से किन किन देशों के सम्पर्क में आया और कहाँ-कहाँ पर भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार हुआ।

**प्रागैतिहासिक काल**—सर्व प्रथम हम प्रागैतिहासिक काल पर एक विहङ्गम दृष्टि डालेंगे और इस बात का अन्वेषण करेंगे कि इस काल में भारत का किन-किन देशों के साथ व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध था।

**पाषाण युग में सम्पर्क**—अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारत का सम्पर्क विदेशों के साथ रहा है। उत्तर-पाषाण काल के जो अवशेष प्राप्त हुये हैं उनसे यह अनुमान लगाया जाता है कि पश्चिम एशिया, मध्य-एशिया, चीन, हिन्द-चीन तथा पूर्वी द्वीप-समूह के लोगों के साथ भारतीयों का घनिष्ठ सम्बन्ध था। ऐसा प्रतीत होता है, कि पाषाण काल में पूर्वी देशों तथा भारत का सम्पर्क अत्यन्त घनिष्ठ हो गया था और जल तथा स्थल मार्गों से जाकर हिन्द-चीन तथा पूर्वी द्वीप समूह में भारत के लोग बस गये थे।

**सिन्धु घाटी की सभ्यता के युग में सम्पर्क**—इसके बाद जब सिन्धु की घाटी की सभ्यता गौरवान्वित थी उन दिनों भारत का मध्य एशिया तथा पाश्चात्य देशों के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो में जो अवशेष उपलब्ध हुये हैं उनसे यह अनुमान लगाया गया है कि भारत का बलूचिस्तान, फ़ारस, अरब, मिस्र आदि देशों के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था।

**वैदिक तथा द्रविड़ काल में**—चूँकि बहुत से विद्वानों की यह धारणा है कि आर्य तथा द्रविड़ लोग भारत के आदि वासी नहीं थे वरन् विदेशों से भारत में प्रवेश किया था अतएव यह स्वाभाविक ही है कि अपने मूल-स्थान के प्रदेशों के साथ उनका सम्बन्ध निश्चय ही बहुत दिनों तक चलता रहा होगा।

ने पश्चिमोत्तर भारत (गान्धार) से निकल कर उत्तर की ओर प्रस्थान किया था और मध्य-एशिया के म्लेच्छ राष्ट्रों पर अपना अधिकार स्थापित किया था। इस प्रकार आर्य सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार पश्चिमोत्तर के देशों में हुआ था।

**निष्कर्ष**—मेसोपोटामिया में प्राप्त बोगज़ कोई के उत्कीर्ण लेख से यह स्पष्ट है कि कम से कम ईसा के १४०० वर्ष पूर्व भारतीय आर्य तथा उनका धर्म वहाँ पहुँच गया था।

प्रचार हुआ था। भारतीय औषधियों तथा दशमलव विधि का प्रचार अरबों द्वारा
ही हुआ था।

मध्य एशिया में भारतीय सभ्यता का प्रचार—मध्य एशिया में भारतीय
संस्कृति का और अधिक प्रचार हुआ। धर्मोपदेशकों के अतिरिक्त कुषाणों के राजनैतिक
प्रभाव के कारण भी मध्य-एशिया में बौद्ध धर्म का खूब प्रचार हुआ। कैस्पियन समुद्र से
लेकर चीन की दीवार तक के प्रदेश में बौद्ध-धर्म की एक मात्र सत्ता स्थापित हो गई और
आधुनिक खोतन के आस-पास बहुत बड़ी संख्या में भारतीय लोग बस भी गये। तीसरी
शताब्दी ई० तक खोतन बौद्ध-धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र बन गया था। यहाँ पर इतने अधिक
भारतीय आकर बस गये थे कि यहाँ की राज-भाषा प्राकृत और राज-लिपि खरोष्ठी हो
गई थी और चीन की सीमा तक इसका प्रयोग होता था। सर ऑरेल स्टीन के अनुसंधान
से इस भूभाग में बहुत से बौद्ध-स्तूप, मठों, बौद्ध-मूर्तियों, ब्राह्मण देवताओं तथा भारतीय

[illegible]

अवश्य रहे होंगे। मध्य एशिया के उत्तरी भाग में कूचा बौद्ध-धर्म का केन्द्र था। इस
प्रदेश में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के आलोक के फैलाने का श्रेय कुमारजीव नामक
बौद्ध-भिक्षु को है। इस महापुरुष ने काश्मीर के बौद्ध-भिक्षुओं से शिक्षा प्राप्त की थी।
३८३ई० में चीनियों ने कूचा पर आक्रमण कर दिया और कुमारजीव को पकड़ कर चीन
ले गये। वहाँ पर वह चीन के राजा का कृपा-पात्र बन गया और ३८ संस्कृत ग्रन्थों का
चीनी भाषा में अनुवाद किया। कूचा में बौद्ध धर्म का प्राबल्य था। चौथी शताब्दी ई० में
कूचा में बौद्ध-मन्दिरों की संख्या लगभग दस हजार के थी। सातवीं शताब्दी ई० में
ह्वेनसाँग ने भी बौद्ध धर्म का प्राबल्य मध्य एशिया में देखा था। तेरहवीं शताब्दी का
मुगल नेता चंगेज खाँ बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। इस प्रकार भारतीय सभ्यता तथा
संस्कृति का प्रचार मध्य-एशिया में अत्यन्त प्राचीन काल से हो गया।

चीन में भारतीय सभ्यता का प्रचार—मध्य-एशिया से बौद्ध-धर्म का प्रचार
चीन में हो गया। चीन में बौद्ध-धर्म का संदेश ले जाने का श्रेय कश्यप मातङ्ग तथा धर्म-
रत्न नामक बौद्ध भिक्षुओं को प्रदान किया जाता है। चीन के सम्राट मिगटी (५७-७६ ई०)
ने इनके लिये राजधानी में पो मा सी नामक विहार बनवाया था। अपने देश की सभ्यता
तथा संस्कृति का प्रचार करने के लिये भारतीय धर्म-दूतों ने बौद्ध-धर्म-ग्रंथों का रूपान्तर
करना आरम्भ किया और २१७ ई० तक ३५० ग्रंथों का अनुवाद कर डाला। २६५ ई० तक
चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार धीरे-धीरे हुआ परन्तु तीसरी से छठी शताब्दी ईसवी तक
इसका प्रचार बड़ी द्रुतगति से हुआ। बौद्ध-धर्म तथा भारतीय संस्कृति का चीन पर
बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। अनेकों चीनी महात्माओं ने भयंकर यातनाओं को सहन कर
बौद्ध-ग्रंथों की प्राप्ति तथा बौद्ध-धर्म के अध्ययन के लिये भारत में भ्रमण किया और
अपने साथ सहस्रों बौद्ध-ग्रंथों को ले गये जिनका चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। चीन के
विद्वानों ने न केवल स्वयम् संस्कृत तथा पाली का अध्ययन किया वरन् भारतीय पण्डितों को
भी चीन ले गये जिन्होंने बौद्ध-ग्रंथों के अनुवाद में योग दिया। सैकड़ों भारतीय विद्वान
चीन में बस गये और इस कार्य में लग गये। चीन तथा भारत के इस धार्मिक सम्पर्क
के परिणाम स्वरूप इन दोनों देशों में राजनैतिक तथा व्यवसायिक सम्बन्ध भी स्थापित
हो गया और जल तथा स्थल दोनों-मार्गों से व्यापार होने लगा। इन सम्बन्धों का स्वाभा-
विक परिणाम यह हुआ कि भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का चीन में खूब प्रचार हुआ।

सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। भारत में गंगा नदी के मुहाने से लेकर केप-कमोरिन तक आने के लिये बन्दरगाह बने थे। टॉलेमी के विवरण से पता चलता है कि पलूर से जो गंजाम के निकट ही था, मलाया द्वीप तक सीधा सामुद्रिक मार्ग था। 'जातक' तथा 'कथासरित्सागर' आदि ग्रंथों से पता चलता है कि भारतीय व्यापारी सुवर्ण भूमि को प्रायः जाया करते थे। सुवर्ण-भूमि का तात्पर्य पूर्वीय प्रदेशों से था। ऐसी कथायें उपलब्ध हैं जिनसे पता चलता है कि बहुत से क्षत्रिय राजकुमार अपने राज्य के खो जाने पर अपने भाग्य की परीक्षा करने के लिये सुवर्ण भूमि में गये थे। फलतः इन राजकुमारों ने वहाँ पर अपने राज्य स्थापित किये और भारत की राजनैतिक सत्ता का विस्तार किया। दूसरी शताब्दी ई० से आगे हमें ऐसे राज्यों के नाम मिलते हैं जिनके शासकों के भारतीय नाम थे। इन राज्यों का धर्म, इनके सामाजिक रीति-रिवाज, इनकी भाषा तथा इनकी लिपि सभी भारतीय हैं। इससे स्पष्ट है कि ये राज्य भारत के उपनिवेश थे। दूसरी शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी ई० तक इन उपनिवेशों की स्थापना हुई थी और मलाया द्वीप, कम्बोडिया, अन्नम और सुमात्रा, जावा, बोर्नियो तथा बाली के द्वीपों में ऐसे राज्यों की स्थापना हो गई। इन राज्यों में ब्राह्मण-धर्म का और विशेष कर शैव मत का प्रचार था परन्तु बौद्ध-धर्म से भी यह लोग अनभिज्ञ न थे। इन राज्यों में संस्कृत के अभिलेख प्राप्त हुये हैं जिनसे इनके इतिहास का पता चलता है। लगभग एक सहस्र वर्षों तक भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता का प्राधान्य इन प्रदेशों में रहा।

[illegible]

सिंहासन पर बैठा था। वह चम्पा के प्राचीन राजाओं में सबसे अधिक शक्तिशाली था। अमरावती, विजय तथा पांडुरङ्ग का वह शासक था। वह परम शैव था और भद्रेश्वरस्वामी नामक शिव-मन्दिर का उसने निर्माण कराया था। उसने चारों वेदों का अध्ययन किया था। भद्रवर्मा के बाद उसका पुत्र गंगाराज सिंहासन पर बैठा। गंगाराज तथा उसके वंशजों ने लगभग ७५७-ई० तक चम्पा में राज्य किया। इसके बाद चम्पा में एक नये राजवंश का आरम्भ हुआ जिसका संस्थापक पृथ्वीन्द्रवर्मा था। इस वंश का अन्तिम राजा विक्रान्तवर्मा था। इसके बाद चम्पा में ८७० ई० में भृगुवंश का शासन आरम्भ हुआ। इस वंश का प्रवर्तक इन्द्रवर्मा था। यद्यपि उसका झुकाव बौद्ध-धर्म की ओर था परन्तु शैव धर्म में भी उसका अनुराग था। परमेश्वरवर्मा के समय में अनामियों ने चम्पा पर विजय प्राप्त कर लिया और उसे अपने अधिकार में कर लिया। परन्तु कुछ दिनों बाद विजय नामक नगर के श्रीहरिवर्मा नामक व्यक्ति ने अनामियों को मार भगाया और अपने नये राजवंश की स्थापना की परन्तु अनामियों से निरन्तर संघर्ष चलता रहा। १०५० ई० में जयपरमेश्वरदेव ईश्वरमूर्ति ने अपने एक नये राजवंश की स्थापना की [illegible]

[illegible] के रोकने में तथा देश में शान्ति स्थापित करने में सफलता प्राप्त [illegible]

[illegible] राजा रुद्रवर्म चतुर्थ था। इसके बाद हरिवर्मा के राजवंश [illegible]

[illegible] योग्य शासक था। उसके वंश का अन्तिम राजा हरिवर्मा [illegible]

[illegible] पर बैठा था। ११४५ ई० में जयहरिवर्मदेव राजा हुआ [illegible]

[illegible] मार संघर्ष आरम्भ हुआ। यह संघर्ष बहुत [illegible]

[illegible] होती तो कभी दूसरे की। बारहवीं [illegible]

के अनुसार भारत तथा चीन के राजा मलाया के महाराज का बड़ा आदर-सम्मान करते थे। शैलेन्द्र-वंश के राजा बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के अनुयायी थे और चीन तथा भारत के राजाओं के साथ उनका कूटनीतिक सम्बन्ध था। सम्राट् बालपुत्रदेव ने अपना एक राजदूत बंगाल के राजा देवपाल के पास भेजा था और उससे प्रार्थना की थी कि नालन्दा में उसके द्वारा बनवाये हुये मठों को देवपाल पाँच गाँव दान में दे। देवपाल ने बालपुत्र देव की इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया था। शैलेन्द्र-वंश के राजाओं ने बहुत से स्तूपों, मन्दिरों तथा मूर्त्तियों का निर्माण कराया था। ग्यारहवीं शताब्दी तक शैलेन्द्र राजाओं ने बड़े गौरव के साथ शासन किया था। इस समय भारत के चोल सम्राट् राजेन्द्र चोल प्रथम ने शैलेन्द्र राज्य पर आक्रमण कर दिया। चोल राजा को विजय प्राप्त हुई और उसने शैलेन्द्र राज्य के कुछ भाग पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया परन्तु शैलेन्द्रों ने युद्ध बन्द नहीं किया और चोल सत्ता एक शताब्दी से अधिक न चल सकी। परन्तु शैलेन्द्र वंश अधिक दिनों तक न चल सका और तेरहवीं शताब्दी में ही उसका अन्त हो गया।

**जावा तथा मलक्का में हिन्दू राज्य**—शैलेन्द्र-वंश के पतन के उपरान्त जावा के राजवंश का गौरव बढ़ने लगा। जावा में चौथी शताब्दी ई० में ही हिन्दू राज्य की स्थापना हो चुकी थी। परन्तु शैलेन्द्र-वंश ने जावा पर विजय प्राप्त कर ली थी और उसे अपने अधीन कर लिया था। नवीं शताब्दी ई० में जावा ने फिर अपने को स्वतन्त्र कर लिया। तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में सम्राट् विजय ने एक नये राजवंश की स्थापना की और तिक्त-विल्व को अपनी राजधानी बनाई। इस राजवंश ने पड़ोस को जीतना आरम्भ किया और १३६५ ई० तक मालवा प्रायद्वीप तथा मलाया द्वीप समूह को अपने अधीन कर लिया।

पन्द्रहवीं शताब्दी ई० के आरम्भ में मलक्का में एक हिन्दू सामन्त ने, जो जावा से भाग कर आया था, हिन्दू राज्य की स्थापना की। थोड़े ही दिनों में यह एक शक्तिशाली राज्य बन गया और मलक्का व्यापारिक केन्द्र बन गया। परन्तु इस वंश के दूसरे राजा ने इस्लाम-धर्म को स्वीकार कर लिया। इसका प्रभाव पड़ोस के राज्यों पर भी पड़ा और धीरे-धीरे जावा में भी इस्लाम धर्म का प्रवेश आरम्भ हो गया। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में जावा का हिन्दू राजा गद्दी से उतार दिया गया। तब से जावा में इस्लाम-धर्म [illegible] कर बाली द्वीप में शरण ली जहाँ अब [illegible] मूह में इस्लाम-धर्म का ही प्राबल्य हो [illegible] का खूब प्रचार हुआ। पहिले यहाँ हिन्दू धर्म ने प्रवेश किया था परन्तु कालान्तर में बौद्ध-धर्म का प्राबल्य हो गया। इस समय भी जावा में सहस्रों मन्दिरों के भग्नावशेष उपलब्ध हैं। भारतीय ग्रन्थों की अनेक पाण्डुलिपियाँ भी उपलब्ध हैं। इस द्वीप में 'रामायण' तथा 'महाभारत' के ग्रन्थ अत्यन्त लोक-प्रिय थे।

**बाली तथा बोर्नियो में हिन्दू राज्य**—बाली द्वीप का सबसे बड़ा महत्व यह है कि यद्यपि अन्य द्वीपों में इस्लाम ने भारतीय संस्कृति को नष्ट कर दिया है परन्तु बाली में भारतीय संस्कृति अब भी जीवित है। यद्यपि इस बात का ठीक-ठीक पता नहीं है कि कब और किस प्रकार हिन्दुओं ने बाली में अपना राज्य स्थापित किया था परन्तु इतना तो निश्चित है कि छठीं तथा सातवीं शताब्दी में वहाँ कौण्डिन्य नामक क्षत्रिय राजा राज्य करते थे और बौद्ध धर्म का वहाँ पर प्राबल्य था। दसवीं सदी में उग्रसेन, केसरी आदि भारतीय नामधारी राजाओं ने यहाँ शासन किया था। जावा के निकटस्थ होने के कारण यह प्रायः जावा के अधीन ही था। जब जावा के राजा मुसलमान आक्रमणों से

(६) राज्य विस्तार का परिचय—मुद्राओं के प्रचलन से राज्य-विस्तार का भी परिचय प्राप्त होता है। जिस शासक के मुद्रालय में मुद्रायें तैयार की जाती थी उसके राज्य में उसकी मुद्राओं का अनिवार्य रूप में प्रचलन रहता था। इससे उसके राज्य के विस्तार का बोध हो जाता था परन्तु राज्य-विस्तार के ज्ञान का यह भ्रमात्मक साधन है क्योंकि व्यापारिक कारणों से तथा धार्मिक तीर्थों पर एक राजा की मुद्राओं का दूसरे राजा के राज्य में प्राप्त होना स्वाभाविक था। ऐसी स्थिति में राज्य-विस्तार जानने के लिये मुद्राओं पर निर्भर रहना उचित नहीं है परन्तु इनसे आंशिक सहायता अवश्य मिलती है। शक शासकों की मुद्रायें अधिकतर पश्चिमी भारत में उपलब्ध हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि क्षत्रप वंश का शासन भारत के इसी भाग में था। बंगाल में गुप्त सम्राटों की सोने की मुद्रायें प्रचुरता से प्राप्त हुई हैं जिससे यह अनुमान लगाया गया है कि गुप्त सम्राटों की राज्य-सीमा बंगाल तक विस्तृत थी। तक्षशिला के ढेरों में उपलब्ध मुद्राओं के अध्ययन से यह आभासित होता है कि गान्धार तथा उत्तर पश्चिमी भारत में भारतीय यूनानी तथा शक पह्लव शासकों का शासन था।

(७) वंश विशेष के शासकों की संख्या का बोध—मुद्राओं के अध्ययन से किसी वंश के शासकों की संख्या का भी बोध हो जाता है। प्रायः प्रत्येक राजवंश की मुद्रायें अपनी विशेषता रखती हैं। अतएव यदि कभी किसी राजा की मुद्रा उसी प्रकार की प्राप्त होती है तो उसे उसी राजवंश का मान लिया जाता है।

(८) शासन पद्धति का बोध—शक पह्लव काल में प्रचलित मुद्राओं के अध्ययन से तत्कालीन शासन-पद्धति का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इन मुद्राओं के लेखों से यह प्रकट होता है कि पह्लव राजा अपने गवर्नर के साथ शासन किया करते थे।

(९) धार्मिक भावनाओं का बोध—मुद्राओं के अध्ययन से विभिन्न काल में भारत में प्रचलित धार्मिक मतों का बोध हो जाता है। यह मुद्रायें तत्कालीन धार्मिक सम्प्रदाय तथा राजधर्म की ओर इंगित करती हैं। इन मुद्राओं पर अंकित चिन्हों तथा उन पर उत्कीर्ण लेखों से तत्कालीन प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों के सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य बातों का बोध हो जाता है। मुद्राओं के अध्ययन से यह ज्ञात हुआ है कि उत्तर पश्चिमी भारत तथा दक्षिण पश्चिमी भाग में शैव मत बहुत समय से प्रचलित था। मुद्राओं पर देवताओं की मूर्तियाँ अथवा उनके प्रतीक अंकित मिलते हैं जिनसे धार्मिक मत का बोध हो जाता है। ईसा पूर्व की कई शताब्दियों में प्रचलित मुद्राओं पर शिव के वाहन नन्दि तथा शैव-चिह्न त्रिशूल की आकृतियाँ अंकित मिली हैं जिससे यह अनुमान लगाया गया है कि भारत के उस भाग में शैव मतावलम्बी निवास करते थे। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में अयोध्या, अवन्ति, कौशाम्बी आदि जनपदों की मुद्राओं पर नन्दि की मूर्ति तथा पंचाल मुद्राओं पर साक्षात् शिवलिंग अंकित मिलता है जिससे यह अनुमान लगाया गया है कि उत्तर-प्रदेश के मध्य भाग तथा मालवा प्रान्त में शैव मत का प्रचलन था। ईस्वी सन् की चौथी तथा पाँचवीं शताब्दी में प्रचलित स्वर्ण मुद्राओं पर गरुड़ध्वज अंकित मिलता है। इन मुद्राओं पर 'परमभागवत्' राजाओं की उपाधि लिखी मिलती है जिससे स्पष्ट है कि वैष्णव धर्म ने राज-धर्म का स्थान ग्रहण कर लिया था।

(१०) आर्थिक दशा का परिचय—मुद्राओं से आर्थिक दशा का भी बोध हो जाता है। मुद्राओं की अधिकता से उस काल की व्यापारिक उन्नति का बोध होता है। मौर्य तथा गुप्त काल में बहुत बड़ी संख्या में मुद्राओं का प्रचलन था। यह मुद्रायें राज्य के तत्कालीन वैभव तथा समृद्धि की द्योतक हैं। मुद्राओं की धातु में सम्मिश्रण से इतिहासकारों ने यह मत लगाया है कि या तो उस धातु का अभाव था या विदे

(३) पशु का माध्यम—अर्थ-शास्त्र वेत्ताओं का अनुमान है कि मनुष्य के आर्थिक जीवन की प्रारम्भिक स्थिति वह थी जब वह पशुओं का आखेट किया करता था परन्तु कुछ काल उपरान्त उसने पशुओं की हत्या करने के स्थान पर उपयोगी पशुओं को पालना आरम्भ किया। इस प्रकार पालतू पशुओं का महत्व बढ़ गया और पशु ही विनिमय के साधन बन गये। इतिहासकारों की धारणा है कि भारतवर्ष में जब लोग गाँवों में बस गये और कृषि का कार्य करने लगे तब पशुओं को विनिमय का साधन बना लिया। फलतः गाय, भेड़ तथा बकरियाँ वस्तुओं के बदले में दी जाने लगीं। इस प्रकार एक सामान को दूसरे सामान से सीधे न बदल कर पशुओं के माध्यम द्वारा वस्तुओं का मूल्याङ्कन होने लगा। वैदिक काल में गाय को ही क्रय-विक्रय का माध्यम माना गया था। असभ्य जातियों में मछली, तम्बाकू, नारियल आदि को विनिमय का माध्यम बनाया गया था।

(४) धातुओं का माध्यम—कालान्तर में जब मनुष्य सभ्यता के शिखर पर आगे बढ़ा तब धातुओं को उसने वस्तुओं के क्रय-विक्रय का माध्यम बना लिया। जिस देश में जिस धातु का बाहुल्य था उसी को वहाँ के लोगों ने क्रय-विक्रय का साधन बना लिया। भारत में गाय तथा अनाज के स्थान पर सोना क्रय-विक्रय का माध्यम बन गया। कालान्तर में जब सोने का मूल्य बढ़ गया तब सस्ती धातुओं को वस्तुओं के क्रय-विक्रय का माध्यम बना लिया गया। इस प्रकार सोने के स्थान पर चाँदी और कुछ समय उपरान्त ताँबे का प्रयोग होने लगा। धातु की मुद्रा के प्रयोग से व्यापार तथा विनिमय में बड़ी सुविधा होने लगी। जब प्रारम्भ में धातुओं का व्यवहार विनिमय के माध्यम के रूप में आरम्भ हुआ तब सुवर्ण चूर्ण अथवा आकारहीन धातुपिण्ड का प्रयोग आरम्भ हुआ। धातु के प्रयोग में सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि उसकी शुद्धता की परीक्षा तथा तौल करने में बड़ा समय लगता था। इस असुविधा को दूर करने के लिये धातु को मुद्रा का स्वरूप प्रदान किया गया। इन मुद्राओं की शुद्धता तथा तौल का उत्तरदायित्व एक व्यक्ति पर रख दिया गया। उन पर उस उत्तरदायी अधिकारी के विशेष चिह्न अंकित रहते थे। अब यह अधिकारी ठप्पा द्वारा उन पर शुद्धता के चिह्न लगा देता था। तब ये विनिमय के साधन के योग्य समझे जाते थे धीरे धीरे इनका आकार भी निश्चित कर दिया गया। भारतवर्ष में इस प्रकार की मुद्राओं का प्रचलन ८०० ई० पूर्व से रहा है। धीरे धीरे मुद्राओं की आकृति, चिह्न तथा लेख में उन्नति होती गई और उनमें कला का प्रदर्शन बढ़ता गया।

**मुद्रा निर्माण करने वाली संस्था**—अब प्रश्न यह उठता है कि मुद्रा का निर्माण किसके द्वारा कराया जाता था। भारत में मुद्राओं के प्रचार कराने में राज्य तथा श्रेणी अर्थात् व्यापार मण्डल दोनों की अभिरुचि थी और दोनों ही का इससे कल्याण होता था। व्यापारियों ने इस बात का अनुभव किया था कि व्यापार की सुविधा के लिये शुद्ध धातु तथा [illegible] मुद्राओं का होना आवश्यक है। अतएव [illegible] व्यापार-मण्डल ने मुद्राओं का निर्माण आरम्भ [illegible] उदासीन थे। परन्तु ऐसा प्रतीत होता [illegible] उन्हें शासक का मौखिक आदेश [illegible] में [illegible] शासक का स्थान भी मुद्रा की [illegible] हुआ। फलतः राज्य [illegible] हो गया। कालान्तर [illegible] और मुद्रा का निर्माण [illegible] मौर्य काल से मुद्राओं [illegible]

राज्य के हाथ में आ गई। चन्द्रगुप्त मौर्य ने मुद्रा का एक अलग विभाग बना दिया था और उसका एक अध्यक्ष नियुक्त कर दिया था जो लक्षणाध्यक्ष कहलाता था। लक्षणाध्यक्ष के निरीक्षण तथा नियन्त्रण में सौवीर्णक नामक कर्मचारी टकसालघर का अध्यक्ष नियुक्त किया गया और उसी की देख रेख में मुद्रा का निर्माण होने लगा। इस प्रकार मुद्रा के निर्माण पर राज्य का एकाधिकार स्थापित हो गया। जनता भी धातु के आकार [illegible] जाती,

[illegible]

की ओर उसका ध्यान नहीं गया। इसका प्रचलन अशोक के बाद हुआ। कुषाण वंशी राजाओं ने विदेशी मुद्राओं के अनुकरण पर अपनी मुद्रा-नीति आधारित की थी। इन राजाओं ने स्वर्ण का प्रयोग कर मुद्रा में नव-जीवन का सञ्चार कर दिया। कुषाण राजाओं ने अपनी मुद्राओं पर उपाधि सहित अपना नाम अंकित करवाया। गुप्त सम्राटों ने मुद्राओं से विदेशीपन हटा कर उन्हें भारतीय स्वरूप प्रदान किया। मुद्राओं के प्रचालन का एक मात्र अधिकार राज्य को प्राप्त था। विद्वानों की यह धारणा है कि कम से कम तीसरी शताब्दी ईसवी से मुद्रा के निर्माण तथा प्रचलन का एकाधिकार राज्य को प्राप्त हो गया।

**भारतीय मुद्रा की प्राचीनता**—यहाँ इस बात पर विचार कर लेना आवश्यक है कि क्या भारतीय मुद्रा स्वदेशीय रीति से स्वतः उत्पन्न हुई है अथवा किसी अन्य देश की मुद्रा के अनुकरण के आधार पर इसका निर्माण किया गया था। पहिले इस विषय पर विद्वानों में बड़ा मत-भेद था परन्तु ऐतिहासिक अनुसन्धानों तथा खुदाई से प्राप्त वस्तुओं के आधार पर अब यह निर्विवाद सिद्ध कर दिया गया है कि भारतीय मुद्रा [illegible]

[illegible] हैं। प्रथम प्रमाण तो [illegible] प्रमाण साहित्यिक है। मुद्रा-शास्त्र वेत्ताओं की धारणा है कि वेदों में वर्णित निष्क-नामक स्वर्ण पिण्ड का प्रयोग मुद्रा के रूप में होता था। यदि यह धारणा ठीक है तो भारतीय मुद्रा इतनी प्राचीन है जितने कि वेद। संहिता में शतमान तथा कृष्णाल नामक मुद्राओं का नाम उपलब्ध है। यद्यपि कृष्णाल एक प्रकार की तौल थी परन्तु कालान्तर में यही मुद्रा का नाम रख दिया गया। इसी प्रकार मासक तथा कर्षापण हैं जो पहिले तौल थे मुद्रा के नाम बन गये। यह सत्य है कि वैदिक काल में मुहर वाली मुद्रायें न थीं परन्तु धातु-पिण्ड का प्रयोग मुद्रा के रूप में अवश्य होता था।

ब्राह्मण तथा बौद्ध साहित्य में और अधिक मुद्राओं का नाम मिलता है क्योंकि देश की आर्थिक उन्नति के साथ-साथ विभिन्न प्रकार की मुद्राओं का प्रचलन भी आरम्भ हो गया। जातक ग्रन्थों में निष्क, शतमान, कृष्णाल, सुवर्ण, कर्षापण आदि के नाम मिलते हैं जो मुद्रा के रूप में प्रयुक्त होते थे। जातक ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि निष्क तथा कर्षापण क्रमशः सोने तथा तांबे के सिक्के थे। धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी मुद्राओं का उल्लेख मिलता

का उल्लेख किया है
, पाद, मासक, काकिनं
नई मुद्रा का भी उल्लेख
। टकसालघर की व्यवस्थ
र दी गई थी और मुद्रा का एक अलग विभाग बना दिया गया था। उपरोक्त विवरा
। हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत में मुद्रा का प्रचलन ८०० ई० पू० से आरम्भ
हो गया था।

**पंचमार्क मुद्रायें**—यह मुद्रायें सबसे अधिक प्राचीन हैं। पंचमार्क आङ्ग्ल
भाषा का शब्द है और पंच तथा मार्क इन दो शब्दों से बना है। पंचमार्क उन मुद्राअ
को कहते हैं जिन पर प्राचीन काल में चिह्न अथवा चित्र मात्र बना रहता था। इ
मुद्राओं को 'पुराण' अथवा 'धरण' की संज्ञा दी गई थी। कालान्तर में इन्हें 'कर्षापण
के नाम से पुकारा जाने लगा और ग्रन्थों में उल्लिखित 'पण' शब्द सम्भवतः इसी क
प्रचलित रूप है। पहिले 'कर्षापण' ताम्र के बनते थे परन्तु कालान्तर में वे रजत के ब
बनने लगे। छोटी मुद्राओं को 'मासक' की संज्ञा दी गई थी। पंचमार्क मुद्राओं पर साध
रणतया लेख तथा तिथि उल्लिखित नहीं मिलती। ऐसी स्थिति में यह बतलाना कठि
है कि यह मुद्रायें किस वंश की हैं, कब और कहाँ इनका निर्माण हुआ। चूँकि पंचमा
मुद्रायें सबसे अधिक प्राचीन हैं अतएव इनका प्रयोग १००० ई० पू० से आरम्भ हो ग
या और ३०० ई० पू० अर्थात् सिकन्दर के भारत पर आक्रमण होने के समय तक र
मुद्राओं
चौकोर
बनती थ
कालान्त
निर्माण राज्य के हाथ में चला गया। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में दो प्रकार की मुद्रा
का उल्लेख मिलता है अर्थात् कोष प्रवेश्य जिनका निर्माण राजकीय टकसाल में हो
था तथा व्यवहारिकी जिनका जन-साधारण में तो प्रचलन था परन्तु राजकोष में उन
प्रवेश नहीं हो सकता था। मौर्य काल में टकसालों के निरीक्षण के लिये लक्षणाध्यक्ष नाम

अङ्कित मिलते हैं। पंचमार्क मुद्राओं को कालानुसार विभक्त करने का भी प्रयास कि
गया है। इन मुद्राओं से राज-वंश का भी बोध हो जाता है।

**भारत में विदेशी मुद्रायें**—भारत का विदेशों के साथ अत्यन्त प्राचीन का
से ही सम्बन्ध था। इस व्यापारिक सम्बन्ध के फल-स्वरूप निरन्तर विदेशी मुद्राओं
प्रवेश इस देश में होता रहा। ईरान के राजा दारयवहु ने जिसका शासन काल -२१
४८५ ई० पू० माना जाता है पंजाब के पश्चिम भाग को जीतकर अपने राज्य में मि
लिया। फलतः भारत के इस भाग में ईरानी मुद्रा सिग्लोस का प्रयोग आरम्भ
गया। अतएव भारत में सबसे प्राचीन विदेशी मुद्रा सिग्लास ही मानी जाती है। ईरा
मुद्रा (सिग्लोस) भारतीय रीति से निमित कराई जाने लगी। इन मुद्राओं के अग्रभ
पर राजा के शिर की आकृति बनी रहती थी और पृष्ठ भाग पर ठप्पा लगाये कुछ चि
अङ्कित रहते थे। सिग्लोस तथा पंचमार्क मुद्रा में अन्तर केवल इतना था कि सिग्लो
में खरोष्ठी लिपि में कुछ लिखा रहता था और पंचमार्क मुद्राओं में चिन्हों का प्रयो
किया जाता था।

निर्मित करने में ठप्पे की रीति का प्रयोग किया गया था। आरम्भ में यह मुद्रायें चौकोर होती थीं परन्तु कालान्तर में यह गोलाकार हो गईं। ठप्पे के साथ लेख उत्कीर्ण करने की रीति टी गण राज्य की मुद्राओं पर प्रचलित थी। इन मुद्राओं पर प्राय ब्राह्मी लिपि में ही लेख उपलब्ध है परन्तु औदुम्बर, कुणीन्द तथा यौधेय मुद्राओं पर ब्राह्मी के साथ-साथ खरोष्ठी लिपि का भी प्रयोग है। अधिकतर गण मुद्राओं पर एक ओर लेख और दूसरी ओर आकृति अङ्कित है। इन लेखों की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इन पर गण तथा शासक का नाम, गण के इष्टदेव का नाम अथवा किसी आदर्श वाक्य का उल्लेख उपलब्ध है। गण राज्यों की मुद्राओं पर विभिन्न प्रकार के चिह्न अङ्कित मिलते हैं। कुछ मुद्राओं पर आराध्यदेव शिव अथवा कार्तिकेय की आकृति अङ्कित मिलती

[illegible]

मुख्यतः अङ्कित मिलता है। इस प्रकार प्राकृतिक सांसारिक तथा धार्मिक क्षेत्रों से विभिन्न चिह्नों को लेकर इन मुद्राओं पर अङ्कित किया गया था।

अब जनपद की मुद्राओं पर भी एक विहङ्गम दृष्टि डाल देना आवश्यक है। मौर्य साम्राज्य के पतनोन्मुख हो जाने के समय जो प्रान्त स्वतन्त्र हो गये वे जनपद कहलाये। आगे चल कर समुद्रगुप्त ने इन जनपदों को समाप्त कर दिया। अतएव जनपदों की मुद्राओं का प्रचलन २०० ई० पू० से तीसरी शताब्दी ईसवी अर्थात् ५०० वर्षों तक रहा। अभी तक जनपद की मुद्राओं से किसी वंश के शासन के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं हो सका है। जिस जनपद में मुद्रायें मिली हैं उसी स्थान के नाम से ये विख्यात हैं। इस प्रकार इन्हें अयोध्या (कोशल), पांचाल, कौशाम्बी (वत्स), मथुरा, तक्षशिला अवन्ति तथा एरण की मुद्रायें उपलब्ध हुई हैं। इन मुद्राओं की बनावट तथा लिपि का अवलोकन कर तिथि का अनुमान किया जाता है परन्तु उन राजाओं के नाम के अतिरिक्त इन मुद्राओं से कुछ पता नहीं चलता। उनके शासन काल को निश्चित करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

**सातवाहन राजाओं की मुद्रायें**—सातवाहन राजा दक्षिण भारत में शासन करते थे। इन्हें आन्ध्र राजा भी कहा गया है। इनका शासन-काल चौथी शताब्दी ई० पू० से तीसरी शताब्दी तक व्याप्त था। सातवाहन युग में भारत के वाणिज्य क्षेत्र में बड़ी वृद्धि हुई और विदेशों के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया। कोरोमण्डल तट से समुद्र पार कर भारतवासियों ने सुमात्रा, जावा आदि द्वीपों में प्रवेश किया और वहाँ पर अपने उपनिवेश स्थापित कर उनके साथ व्यापार करना आरम्भ कर दिया। जिस स्थान पर सातवाहन राजाओं ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया वहाँ की प्रचलित मुद्रा के ढंग पर उन्होंने अपनी मुद्रायें तैयार कराईं। यही कारण है कि सातवाहन राज्य के विभिन्न प्रांतों की मुद्रायें विभिन्न प्रकार की हैं। उनमें साम्य का सर्वथा अभाव है। वास्तव में सातवाहन राजाओं की कोई विशिष्ट मुद्रा-नीति न थी। सातवाहन मुद्रायें तीन धातुओं से बनाई जाती थीं। इनमें पोटीन ( मिश्रित चाँदी तथा ताँबा ) और सीसा की प्रधानता थी। इस प्रकार चाँदी, पोटीन तथा सीसा की मुद्राओं का निर्माण सातवाहन राजा कराया करते थे। सातवाहनों के मूल-स्थान महाराष्ट्र में सीसा तथा पोटीन धातुओं की मुद्रायें ई हैं। इनके सम-भाग पर सुमेरु पर्वत तथा बोधि वृक्ष और पृष्ठ भाग पर ए तथा नन्दिपाद के चिह्न अङ्कित हैं और चारों ओर लेख मिलता है। दूसरी ग शैली के नाम से पुकारी जाती है। इसका प्रचलन आन्ध्र देश अर्थात् तथा कृष्णा नदियों के मध्य में स्थित प्रदेश में था। यह मुद्रायें सीसा की बनी

हैं। इनके दो उपविभाग हैं। एक पर सुमेरु पर्वत तथा उज्जैनी का चिन्ह है और दूसरे में हस्ति तथा अश्व की आकृतियां अंकित हैं। तीसरी शैली मध्य-प्रदेश ( सागर जिले ) की है। यह मुद्रायें पोटीन की बनी हैं। इनके अग्रभाग पर हस्ति की मूर्ति तथा पृष्ठ भाग पर उज्जैनी का चिन्ह अंकित मिलता है। चौथी शैली की मुद्रायें मालवा की है। यह मुद्रायें सीसा, पोटीन तथा तांबे की बनी हैं। इनके अग्रभाग पर हस्ति अथवा [illegible] की मूर्ति तथा पृष्ठ भाग पर बोधि वृक्ष एवं उज्जैनी का चिन्ह अंकित है। पांचवी शैली की वे मुद्रायें हैं जो चोलमण्डल के तटीय प्रदेश में उपलब्ध हैं। इन मुद्राओं पर [illegible] की आकृति अंकित है। इनके अतिरिक्त अनन्तपुर, चित्तलदुर्ग तथा [illegible] प्रदेश में आन्ध्र राजाओं के सामन्तों द्वारा मुद्रित सीसे की मुद्रायें उपलब्ध हैं।

सातवाहन मुद्राओं से उस वंश के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। मुद्राओं के और सातवाहन शासकों की सूची बनाई जाती है और इस वंश के [illegible] राजाओं का पता मुद्राओं द्वारा ही लगा है। सातवाहन राजाओं ने अपने सामन्तों को भी मुद्रा चलाने का अधिकार दे दिया था। अतएव इन मुद्राओं से सामन्तों का पता लग जाता है। सातवाहन काल की मुद्राओं की शैली से सातवाहन साम्राज्य [illegible] सीमा विस्तार का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है। सातवाहन साम्राज्य की धन सम्पन्नता पर भी यह मुद्रायें प्रकाश डालती हैं।

**शक-पह्लव तथा कुषाण मुद्रायें**—मौर्य-साम्राज्य के पतनोन्मुख हो जाने [illegible] कारण भारत पर विदेशी आक्रमण आरम्भ हुये और शकों ने उत्तर-पश्चिम के मार्ग [illegible] भारत में प्रवेश किया। शक तथा पह्लव का पृथक् इतिहास नहीं है क्योंकि यह एक ही जाति की दो शाखायें हैं। भारत में, शकों का शासन तीन स्थानों में केन्द्रीभूत हो गया पहिला उत्तरी पश्चिमी भारत में जिसका मुख्य स्थान गान्धार तथा तक्षशिला था दूसरा मथुरा में और तीसरा पश्चिमी भारत के सौराष्ट्र, मालवा तथा गुजरात में जहां चौथी शताब्दी ईसवी तक क्षत्रपों का शासन चलता रहा। शक शासकों की मुद्रायें क्षत्रप तथा महाक्षत्रप के नाम में उपलब्ध हैं। इन मुद्राओं पर शक सम्वत् में तिथियां अंकित उपलब्ध हैं। शक शासकों ने यूनानी मुद्राओं के अनुकरण पर ही अपनी मुद्रायें निर्धारित की थी और उनकी तौल, आकार तथा शैली को अपनाया था। इन मुद्राओं पर प्रारम्भ में यूनानी भाषा में ही लेख अंकित किये जाते थे परन्तु कुछ दिनों उपरान्त यूनानी लेख समाप्त कर दिये गये। जब शक लोग उत्तर-पश्चिम भारत से गुजरात तथा सौराष्ट्र में पहुंचे तब वहाँ की खरोष्ठी लिपि में लेख अंकित होने लगे। पश्चिमी भारत सौराष्ट्र में पहुंचे तब वहाँ की खरोष्ठी लिपि में लेख अंकित होने लगे। पश्चिमी भारत में जनता की लिपि ब्राह्मी को प्रमुख स्थान दिया गया। फलतः खरोष्ठी तथा ब्राह्मी साथ-साथ लिखी जाने लगी। भाषा प्राकृत थी। भारतीय प्रभाव के कारण खरोष्ठी का लोप हो गया और ब्राह्मी ही प्रधान लिपि मान ली गई। रुद्रदमन ने अपनी मुद्राओं पर संस्कृत में लेख अंकित करवाये थे। अतएव उसकी मुद्राओं पर प्राकृत के स्थान पर संस्कृत का प्रयोग मिलता है। शक शासकों की मुद्रायें अधिकतर रजत की ही होती थीं। इन पर केवल सिर का भाग अंकित रहता था। शासकों के दीर्घ घुंघराले केश तथा मूंछ स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। सिर पर [illegible] होती, कान में कुण्डल तथा गले में एक लड़ी की [illegible] पड़ती है जो उनके [illegible] के आकार की परिचायक है। पह्लव राजाओं की मुद्राओं पर यूनानी देवता तथा यूनानी लिपि की प्रधानता है और दूसरी ओर खरोष्ठी लिपि में [illegible] सहित राजा का नाम अंकित है।

जब कुषाण राजाओं ने भारत में अपनी राजसत्ता स्थापित की तब उन लोगों ने भी अपनी मुद्रायें चलाईं। प्रथम कुषाण राजा की मुद्रायें [illegible] यूनानी [illegible] था। परन्तु [illegible] इन मुद्राओं का [illegible] हो गया।

कुषाण राजाओं ने शैव धर्म को स्वीकार कर लिया । फलतः राजा के सिर के स्थान पर शिव के वाहन (नन्दी) की आकृति अंकित रहती है । इन मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर खरोष्ठी लिपि में राजा का नाम और उसकी पदवी भी अंकित है । कुषाण राजाओं की जो रजत मुद्रायें प्राप्त हुई हैं वे मिश्रित धातु की बनी हैं। भारत में स्वर्ण मुद्राओं के चलाने का श्रेय कुषाण राजा कदफिस द्वितीय को ही प्राप्त है। यह स्वर्ण मुद्रायें केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सुगमता के लिये व्यवहृत होती थी। कुषाण वंश का सबसे अधिक प्रभुत्वशाली सम्राट कनिष्क था। उसकी मुद्राओं के अग्रभाग में अग्निकुण्ड में हवन करते हुये ईरानी वेश में राजा की मूर्ति और ईरानी भाषा में उपाधि (शाहानुशाहि) के साथ राजा का नाम अंकित है। इनके पृष्ठ भाग में यूनानी देवता, चन्द्रमा, सूर्य, धनुर्धर शिव की मूर्तियाँ अङ्कित मिली हैं। चूंकि कनिष्क बौद्ध था अतएव भगवान बुद्ध की मूर्ति भी उसकी मुद्राओं पर अङ्कित है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कनिष्क में उच्च-कोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी। कनिष्क के उत्तराधिकारी हुविष्क की स्वर्ण तथा रजत मुद्रायें उपलब्ध हैं। इन मुद्राओं पर भी यूनानी, हिन्दू तथा ईरानी देवी देवताओं की मूर्तियाँ अंकित हैं।

**गुप्त-कालीन मुद्रायें**—गुप्त-काल प्राचीन भारत के इतिहास में स्वर्ण युग कहा जाता है। देश की आर्थिक स्थिति पर ही मुद्रानीति आधारित की जाती है। गुप्त-कालीन मुद्राओं का प्रारम्भ पिछले कुषाण सम्राटों की मुद्राओं के अनुकरण पर किया गया था। परन्तु अविराम इस नीति में परिवर्तन आ गया और मुद्राओं का भारतीयकरण आरम्भ हो गया। समुद्रगुप्त की मुद्रायें गरुड़ध्वजांकित हैं जिनमें राजा भारतीय वेश में आसीन अथवा किसी कार्य में संलग्न हैं। गुप्त सम्राटों ने लक्ष्मी देवी को अपनी मुद्राओं में स्थान दिया। कमल को भी उचित स्थान दिया गया जो भारत का अत्यन्त प्राचीन चिन्ह माना जाता है। विश्व के इतिहास में गुप्त सम्राटों ने ही प्रथम बार अपनी संस्कृत भाषा तथा ब्राह्मी लिपि में मुद्राओं पर छन्द लिखवाये। गुप्त सम्राटों ने विशुद्ध स्वर्ण मुद्रायें निर्मित करवाई थीं। परन्तु स्कन्द गुप्त के शासन काल में मुद्रा की विशुद्धता नष्ट हो गई और मिश्रित धातु की मुद्राओं का निर्माण होने लगा। गुप्त कालीन मुद्रायें विशेष ध्येय तथा विचार को लेकर निर्मित की गई थीं। सर्व प्रथम समुद्रगुप्त ने अपनी मुद्राओं पर गरुड़ध्वज को स्थान दिया जो गुप्त काल का राज-चिन्ह समझा जाता था। दूसरी प्रकार की मुद्राओं में सम्राट् धनुष बाण तथा परशु लिये युद्ध की मुद्रा में अङ्कित है। एक मुद्रा पर व्याघ्र को हनन करता हुआ धनुष बाण समन्वित प्रदर्शित किया गया है। साम्राज्य विजय कर उसने अश्वमेध यज्ञ किया था जो उसकी अश्वमेध मुद्राओं से स्पष्ट है। जिन मुद्राओं में वीणा-वादन करते हुये राजा की मूर्ति अङ्कित है उनसे यह आभासित होता है कि देश में शान्ति तथा सुख था। सारांश यह है कि मुद्रायें युद्ध, यज्ञ, शान्ति तथा सुख अथवा युद्ध विजय तथा शान्तिपूर्ण अवस्था की द्योतक हैं। गुप्त कालीन प्रायः सभी सम्राटों की मुद्रायें विशेष अवसर पर निर्मित की गई थीं। चन्द्रगुप्त प्रथम तथा कुमार देवी की मुद्रायें राजनैतिक रहस्यगर्भित हैं और विवाह के संस्मरण की समझी जाती हैं। कुमारगुप्त की कार्तिकेयाङ्कित मुद्रायें धार्मिक भावना से सम्बन्धित हैं। गुप्त कालीन मुद्रायें अत्यन्त कलात्मक ढङ्ग से बनी हैं। उनकी आकृति बड़ी मनोहर है। इन मुद्राओं में भाव का प्रदर्शन कलात्मक रीति से किया गया है। राज्यलक्ष्मी, सिंह, अश्व, कमल आदि को उनके प्राकृतिक रूप में प्रदर्शित किया गया है। गुप्त कालीन मुद्राओं पर साहित्य का भी प्रभाव पड़ा है। इन मुद्राओं पर गुप्त-सम्राटों ने संस्कृत में जो उन दिनों राष्ट्र भाषा थी न केवल लेख अङ्कित करवाये वरन् छन्द-बद्ध पंक्तियाँ खुदवाईं। इन लेखों में छन्द के अतिरिक्त काव्य के गुण भी हैं।

रहित) कहा जाता था। इन गण-राज्यों के सदस्य सम्भवत विशपति तथा गृहपति हो हुआ करते थे जो अपना अध्यक्ष चुन लिया करते थे। जब अध्यक्ष का पद वंशानुगत हो जाता था तब वह नृपतन्त्रात्मक व्यवस्था का रूप धारण कर लेता था।

मगध के उत्थान का काल – ६०० से ३५० ई० पू० के काल में मगध तथा कोशल के विस्तृत साम्राज्य थे। यद्यपि इस काल की शासन-पद्धति का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है परन्तु इतना तो निश्चित है कि नृप-तन्त्रात्मक पद्धति का प्रचार था और राज्य का प्रधान राजा होता था। यद्यपि ज़िले तथा प्रान्त के शासन का स्थापत्य था परन्तु अभी इसका शैशव काल ही था।

मौर्य काल में —मौर्य-काल साम्राज्य-वाद का युग था। इस काल में एक सुविशाल साम्राज्य की स्थापना हुई। फलत एक अत्यन्त-सुव्यवस्थित तथा सुसगठित शासन व्यवस्था की आयोजना की गई और प्रान्त, ज़िला, नगर तथा ग्राम की शासन व्यवस्था का पूर्ण विकास किया गया। राजा का पद वंश नुगत हो गया और निर्वाचन पद्धति का विलोप सा हो गया। राजा के अधिकारों में भी वृद्धि हो गई और वह सेना, शासन तथा न्याय सभी क्षेत्रों में सर्व-प्रधान बन गया। सारांश यह है कि राज्य की सभी शक्तियाँ उसी में केन्द्रित हो गई थीं। वैदिक काल की समिति के विलुप्त हो जाने के कारण राजा की शक्ति और बढ़ गई। मौर्य-काल की शासन पद्धति की एक बहुत बड़ा विशेषता यह है कि इस युग में मन्त्रि परिषद् का पूर्ण-विकास हुआ। समिति के अस्तित्व के समाप्त हो जाने के कारण मन्त्रि-परिषद् सम्राट के ही प्रति उत्तरदायी होती थी। अब राज्य के कार्यों में बड़ी वृद्धि हो गई। अतएव मन्त्रियों, विभागों तथा सरकारी कर्मचारियों की संख्या में भी बड़ी वृद्धि हो गई और केन्द्रीय तथा प्रान्तीय राजधानियों में शासनालयों की स्थापना हो गई। अब राज्य का कार्य केवल शान्ति तथा सुरक्षा की व्यवस्था तक ही सीमित न रह गया वरन् उसे कृषि तथा उद्योग-धन्धों की उन्नति की समुचित व्यवस्था, सामाजिक सुधार तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये भी व्यवस्था करनी पड़ती थी। अपनी प्रजा की भौतिक तथा नैतिक उन्नति करना राजा का परम धर्म समझा जाता था। विशाल-साम्राज्य की सुरक्षा के लिये विशाल सेना की भी व्यवस्था करनी पड़ी और राज्य की आय का बहुत बड़ा भाग सेना पर व्यय किया जाने लगा। राज्य के व्यय में वृद्धि हो जाने के कारण राज-करों में भी वृद्धि हो गई। गुप्त सम्राटों की साम्राज्यवादी नीति के परिणाम स्वरूप गण-राज्य ध्वस्त हो गये और नृप-तन्त्रात्मक व्यवस्था का सर्वत्र बोलबाला हो गया।

विदेशियों के राजत्व काल में—मौर्य-साम्राज्य के पतन-काल में भारत पर विदेशियों के आक्रमण आरम्भ हो गये और शक, कुषाण, पह्लव आदि जातियों ने भारत के विभिन्न भागों में अपनी राज्य-सत्ता स्थापित की। परन्तु इनकी शासन पद्धति तथा मौर्य-कालीन शासन पद्धति में बहुत कम अन्तर था। पूर्ववत् राजा शासन का अधिष्ठाता बना रहा और उसके अधिकारों में पहिले से भी अधिक वृद्धि हो गई। अब सम्राट् महाराज, राजाधिराज, देवपुत्र आदि उपाधियों से अपने को विभूषित करने लगे और ईश्वर के अंश का राजा में समावेश किया जाने लगा। शक कुषाण राजाओं ने द्वै-राज की भी प्रथा चलाई जिसमें राजा तथा युवराज संयुक्त रूप से शासन करते थे। विदेशियों ने भारत में क्षत्रपीय शासन-व्यवस्था का सूत्रपात किया था। पश्चिमी भारत से पता है

केवल दक्षिण भारत में ही रह गई थी जहाँ पर निर्वाचित ग्राम-सभायें हुआ करती थी।

ऊपर प्राचीन भारत की राज-संस्था का सिंहावलोकन किया गया है। अब इस काल के सिद्धान्तों तथा आदर्शों का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

**राज्य की उत्पत्ति**—राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? इस प्रश्न के उत्तर में भिन्न-भिन्न प्रकार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है अर्थात् (१) व्यक्ति विशेष द्वारा राज्य का सूत्रपात, (२) मात्स्य न्याय (३) सतयुग, (४) सामाजिक समझौता, (५) पितृ समुद्भूत तथा (६) दैवी सिद्धान्त। अब इन सिद्धान्तों का अलग-अलग विश्लेषण करना आवश्यक है।

(१) व्यक्ति विशेष द्वारा सूत्रपात—इस सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा किसी व्यक्ति विशेष को राजा बनाकर राज्य का सूत्र पात करता है। प्राचीन भारत के लोगों की धारणा थी कि सर्वप्रथम परमात्मा ने मनु को भेजकर राज-संस्था का श्रीगणेश किया था।

(२) मात्स्य-न्याय—इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि मानव-जीवन की एक ऐसी अवस्था थी जब वह आपस में संघर्ष तथा विग्रह किया करते थे और सर्वत्र अराजकता का प्रकोप था। इस अवस्था में शक्ति का प्राबल्य था और "जिसकी लाठी उसकी भैंस का" सिद्धान्त सर्वत्र क्रियाशील था। इस कुव्यवस्था को हमारे आचार्यों ने 'मात्स्य न्याय' के नाम से पुकारा है अर्थात् वह अवस्था जिसमें बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं अर्थात् सशक्त अशक्तों का विनाश कर देते हैं। मानव जीवन को सुरक्षित तथा सुखी बनाने के लिये इस मात्स्य न्याय तथा अराजकता को दूर करना आवश्यक था। यह कार्य दण्डनीति की स्थापना करके ही हो सकता था और दण्ड नीति की स्थापना राज्य के सूत्र-पात से ही हो सकती थी। अतएव मात्स्य न्याय तथा अराजकता के दूर करने की ही आवश्यकता के कारण राज्य का सूत्रपात हुआ। मनुस्मृति में लिखा है, "इस अराजक लोक में जहाँ चारों ओर भय ही भय था सबकी रक्षा के लिये परमात्मा ने राजा को उत्पन्न किया। यदि लोक में दण्ड न हो तो सब प्रजा नष्ट हो जाय। पानी की मछलियों के समान अधिक सशक्त अशक्तों को खा जायं।" ऐतरेय ब्राह्मण में भी इस सिद्धान्त की ओर संकेत है जिसमें लिखा है, "देव तथा असुर इस लोक में परस्पर युद्ध करने लगे। असुरों ने इस संघर्ष में देवताओं पर विजय प्राप्त कर ली। देवता कहने लगे अराजकता के कारण ही हम पराजित होते हैं। अतएव हमें किसी को अपना राजा बना लेना चाहिये।" हाब्स का सिद्धान्त इसी के अनुरूप है।

(३) सत युग का सिद्धान्त—इस सिद्धांत के अनुसार मानव-जीवन की प्रारम्भिक अवस्था सुख तथा शान्तिमय थी। इस अवस्था में लोग धर्मानुकूल आचरण करते थे और नैसर्गिक नियमों का पालन करते थे। अतएव न राज्य की आवश्यकता थी और न शासक की। परन्तु धीरे-धीरे कुछ कारणों से मनुष्य का पतन प्रारम्भ हो गया। अतएव कुछ समय उपरान्त लोगों ने अपनी स्वतन्त्र इच्छा से इस परिस्थिति का अन्त कर दिया और राज सत्ता के अनुशासन में रहने के लिये उद्यत हो गये। हमारे प्राचीन धर्म ग्रन्थों से इस सिद्धान्त का अनुमोदन होता है। स्मृतियों में स्वर्ण-युग की ओर संकेत मिलता है। महाभारत के शान्ति पर्व में भी प्रारम्भिक शान्ति तथा सदाचार के साम्राज्य का वर्णन मिलता है। यह सिद्धान्त इङ्गलैण्ड के दार्शनिक लाक के सिद्धान्त के बिल्कुल अनुरूप है।

(४) सामाजिक समझौता—इस सिद्धांत के अनुसार राज्य की उत्पत्ति सामाजिक समझौते से हुई है। इस सिद्धान्त के समर्थक स्वर्ण-युग की कल्पना करते हैं जिसमें

संघात्मक (Federal) तथा समूहात्मक (Composite) राज्यों में भी विभाजित किया जा सकता है। अब इनका अलग-अलग संक्षिप्त वर्णन कर देना आवश्यक है।

जन-राज्य—प्राचीन भारत में बहुत दिनों तक जन-राज्य (Tribal States) की ही प्रथा थी क्योंकि विशपति, जनपति आदि का ओर संकेत हमें विभिन्न स्थानों पर मिलता है। इसके अतिरिक्त यदु, पुरु, अनु तथा द्रुह्यु आदि जनों के उल्लेख भी प्रचुरता से किया गया है। राजसूय यज्ञों में किसी भी स्थान पर राजा को प्रदेश अथवा राष्ट्र का शासक नहीं घोषित किया गया है। अतएव यह निश्चित तथ्य है कि ऋग्वैदिक काल में जन-राज्यों की व्यवस्था थी जिसमें राज्य सम्भवतः आधुनिक जिलों से बड़े नहीं होते थे।

प्रादेशिक राज्य—उत्तर वैदिक काल में प्रादेशिक राज्य की भावना का विकास प्रारम्भ हो गया था। इसका प्रधान कारण सम्भवतः राजाओं की महत्वाकांक्षा तथा विजय-कामना थी। इस व्यवस्था में राजा का विस्तार जन राज्य से कहीं अधिक बढ़ गया। ब्राह्मण वाङ्मय में प्रायः सम्राट् का सागर मेखला पृथ्वी के अधिपति के रूप में वर्णन है जनक जनों के अधिपति के रूप में नहीं। अथर्ववेद में भी प्रादेशिक राज्यों का उल्लेख मिलता है।

नृप-तन्त्र—वैदिक काल में नृप-तन्त्रात्मक व्यवस्था का अधिक प्रचार था। इस [illegible]

अनेक छोटे-बड़े राजा होते थे। सम्भवतः यही राजा वैदिक काल में भोज, स्वराज्य आदि नामों से पुकारे जाते थे।

उच्च तन्त्र—वैदिक ग्रन्थों में यत्र-तत्र राजाओं की समिति का वर्णन मिलता है। इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि वही व्यक्ति राजा बन सकता है जिसके लिये अन्य राजाओं ने सहमति दे दी हो। इस व्यवस्था में सारा अधिकार उच्च-वर्ग अथवा सामन्तों की एक परिषद् के हाथ में रहता था। इसके सभी सदस्य राजा कहे जाते थे। इस अध्यक्ष को भी राजा की ही उपाधि दी जाती थी। इस प्रकार के राज्यों का अस्तित्व छठी शताब्दी ई० पू० तक बना रहा।

प्रजा तन्त्र—विशुद्ध प्रजा तन्त्र का सूत्र-पात वैदिक काल से ही हो गया था। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि हिमालय के निकट उत्तर कुरु तथा उत्तर मद्र आदि जनों में विराट् (राजा रहित) शासन-व्यवस्था प्रचलित थी। इसी से यह लोग विराट् अर्थात् नृपहीन जन कहे जाते थे। सिकन्दर के काल के लेखकों ने भी लिखा है कि इस प्रदेश में प्रजा-तन्त्र राज्य विद्यमान थे।

द्वै राज्य—प्राचीन भारत में द्वै राज्य की भी व्यवस्था थी। इस व्यवस्था में स्पार्टा की भाँति दो राजा शासन करते थे। सिकन्दर के समय में पाटल राज्य (सिन्ध) में पृथक् वंशों के दो राजाओं का संयुक्त शासन था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी द्वै राज्य की ओर संकेत है। इस व्यवस्था की उत्पत्ति किस प्रकार हुई इस बात पर प्रकाश डालते हुए श्री अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने लिखा है, "द्वै राज्य का सूत्रपात शायद इस प्रकार हुआ हो जब दो भाइयों अथवा उत्तराधिकारियों ने राज्य के विभाजन के बजाय सम्पूर्ण राज्य पर संयुक्त शासन करना ही पसन्द किया हो। .....अक्सर आपसी झगड़ा बचाने की नीयत से द्वै राज्य के शासक भाई या सम्बन्धी राज्य का बँटवारा कभी कभी कर लेते थे। विदर्भ में शुङ्गों द्वारा स्थापित द्वै-राज्य में ऐसा ही हुआ था। बँटवारे के बाद भी दोनों शासक महत्वपूर्ण विषय पर संयुक्त विचार परामर्श किया करते होंगे।

जब संयुक्त राज्य के दोनों शासकों में मेल हो रहा था
राज (प्राकृत) कहते थे, जब उन राजाओं में झगड़ा
(संस्कृत) या विरुद्ध रज्ज (प्राकृत) कहते थे।" द्वै-राज...
कलह का प्रकोप रहता था। अतएव अर्थ-शास्त्र में इसकी बड़ी निन्दा की गई है।

**संघ तथा सम्मिलित राज्य**—प्राचीन भारत में संघ तथा सम्मिलित राज्यों की भी व्यवस्था प्रचलित थी। उत्तर-वैदिक काल में कुरु-पांचालों ने मिल कर एक ही राजा के अनुशासन में अपना सम्मिलित राज्य स्थापित कर लिया था। सिकन्दर के आक्रमण का सामना करने के लिये क्षुद्रक तथा मालव राजाओं का एक संघ बन गया था जो लगभग एक शताब्दी तक चलता रहा। यौधेय गण-राज्य भी तीन उप-राज्यों का संघ था। बुद्ध तथा महावीर के समय में लिच्छवियों ने एक बार मल्लों और दूसरी बार विदेहों के साथ संघ बनाया था। संघ राज्यों में केन्द्रीय-सत्ता केवल विदेशी नीति तथा सन्धि-विग्रह पर नियन्त्रण रखती थी। आक्रमण के समय संघ सेना का संचालन एक ही सेना-पति के हाथ में रहता था।

**एकात्मक राज्य**—प्राचीन भारत में प्रायः एकात्मक सरकार की व्यवस्था थी जिसमें राजा ही में राज्य की सारी शक्तियाँ केन्द्रीभूत रहती थीं और वही सभी अधिकारों तथा पदों का स्रोत समझा जाता था। मन्त्रियों तथा राज्य के अन्य पदाधिकारियों को सभी अधिकार प्राप्त होते थे और उसी के आदेशानुसार उन्हें कार्य करना पड़ता था। प्रान्तीय तथा स्थानीय संस्थाओं को भी राजा के ही नियन्त्रण तथा अनुशासन में कार्य करना पड़ता था। ग्राम पंचायत, पौर-जानपद, श्रेणी, निगम आदि को केन्द्रीय सत्ता के अनुशासन में कार्य करना पड़ता था परन्तु राजा इनके कार्यों में तभी हस्तक्षेप करता था जब यह संस्थायें अपनी परम्परा तथा विधान के विरुद्ध कार्य करती थीं।

**राज्य के अवयव (सप्तांग राज्य)**—आधुनिक काल के दार्शनिकों ने राज्य के चार अवयव बतलाये हैं अर्थात् जन-संख्या, निश्चित-भूभाग, सरकार अथवा संगठन तथा राज-सत्ता। परन्तु अर्थ-शास्त्र, मनुस्मृति, कामन्दकीय नीतिसार आदि प्राचीन काल के ग्रन्थों में राज्य के सात अङ्ग अथवा बतलाये गये हैं। इनकी अत्यन्त विशद विवेचना की गई है। राज्य के इन सातों अङ्गों में स्वामी, आमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड तथा मित्र आते हैं। अब इनका अलग-अलग विश्लेषण करना आवश्यक है।

(१) स्वामी—स्वामी का तात्पर्य सर्वोपरि सत्ता प्राप्त शासक से है। राज्य का चाहे जैसा संगठन हो उसमें एक अध्यक्ष का होना नितान्त आवश्यक होता है। स्वामी से तात्पर्य राज्य के इसी अध्यक्ष से है। नृप-तन्त्रात्मक व्यवस्था में राजा इस पद पर आसीन होता है। स्वामी शासन का प्रधान होता है और उसी के नाम से देश का शासन चलता है।

(२) आमात्य—मन्त्री अथवा आमात्य राज्य का एक प्रमुख अङ्ग होता था। आमात्य का कार्य स्वामी को परामर्श देना तथा प्रत्येक कार्य में उसकी सहायता करना होता था। राजा को अपने मन्त्रि-मण्डल की मन्त्रणा द्वारा राज्य का शासन चलाना पड़ता था।

(३) जन पद—इसका तात्पर्य राज्य के भू-विस्तार तथा वहाँ की जनता से था। राज्य के स्वामी को राज्य के अन्तर्गत भूमि तथा वहाँ के निवासियों का भी पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ता था। जनपद में पुरवासी और जनपद सभी का भी समावेश रहता था क्योंकि इनकी परामर्श के बिना राजा कुछ भी नहीं कर सकता था।

(४) दुर्ग—राज्य की रक्षा के लिये किलेबन्दी की बड़ी आवश्यकता होती थी। दुर्ग राज्य की रक्षा का बहुत बड़ा साधन होता था। प्राचीन काल में इन दुर्गों का बहुत बड़ा निर्माण प्रायः पहाड़ियों पर अथवा नदियों के किनारे किया जाता था।

(५) कोष —राज्य के शासन को सुचारु रीति से चलाने के लिये धन की बड़ी आवश्यकता होती है। राज्य विभिन्न प्रकार के करों द्वारा धन सञ्चय करता है। प्राचीन काल में बलि षड्-भाग तथा पण्य दश भाग आदि द्वारा कोष की वृद्धि की जाती थी। देश की रक्षा तथा राज्य के शासन को सुचारु रीति से चलाने के लिये कोष की सदैव आवश्यकता रही है।

(६) दण्ड —दण्ड का तात्पर्य सैनिक शक्ति से है। राज्य की सुरक्षा तथा शान्ति के लिये सेना नितान्त आवश्यक है। अतएव सेना को राज्य का एक अविच्छिन्न अङ्ग माना गया है। वास्तव में सेना के बिना राज्य का अस्तित्व ही कठिन है। प्राचीन काल में रथ, हाथी, घोड़े तथा पैदल सेना के प्रधान अङ्ग होते थे।

(७) मित्र—मित्र का तात्पर्य मित्र राज्यों से है। मित्र राज्यों को राज्य के अङ्ग में गणना करना एक विचित्र बात प्रतीत होती है परन्तु आधुनिक युग में यह बात निर्भ्रान्त सिद्ध हो गई है कि उपर्युक्त मित्रों पर ही राज्य का अस्तित्व निर्भर रहता है। इस विशाल देश में सदैव छोटे-छोटे राज्य रहे हैं। इनकी सुरक्षा तभी हो सकती थी जब इनमें शक्ति-सन्तुलन हो और शक्ति-सन्तुलन की सबसे अच्छी विधि यह थी कि राज्यों को मित्र बनाया जाय।

**राज्य के लक्ष्य (त्रिवर्ग)**—राज्य का निर्माण मनुष्य के कल्याण के लिये होता [illegible]
[illegible]
[illegible]
प्रजा की सर्वाङ्गीण उन्नति करना राज्य का प्रधान लक्ष्य है। प्रजा की सर्वाङ्गीण उन्नति [illegible] तात्पर्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति से है। कहा जाता है कि धर्म, अर्थ तथा [का]म की प्राप्ति कर लेने पर मोक्ष की प्राप्ति अपने आप हो जाती है। अतएव धर्म, अर्थ, [त]था काम का सम्वर्धन राज्य का प्रमुख लक्ष्य बतलाया गया है। धर्म, अर्थ तथा काम को [ह]मारे आचार्यों ने त्रिवर्ग के नाम से पुकारा है। अब इनका अलग-अलग विश्लेषण करना [आ]वश्यक है।

(१) धर्म-सम्वर्धन—धर्म का मानव जीवन में बहुत बड़ा महत्व है। इससे न [के]वल इहलोक की वरन् परलोक की भी सिद्धि होती है। मानव जीवन को उत्कृष्ट बनाने में [ध]र्म बड़ा सहायक सिद्ध होता है। अतएव धर्म का सम्वर्द्धन राज्य का प्रधान लक्ष्य होना [चा]हिए। परन्तु धर्म सम्वर्धन का तात्पर्य किसी सम्प्रदाय अथवा मत विशेष के पक्ष-पात से [न]हीं है। धर्म सम्वर्धन का तात्पर्य यह है कि सदाचार तथा सुनीति के प्रोत्साहन से जनता [मे]ं सच्ची धार्मिक भावना तथा सदाचरण की प्रवृत्ति को उत्पन्न किया जाय। इस उद्देश्य [क]ी पूर्ति के लिये राज्य को भिन्न-भिन्न धर्मों तथा सम्प्रदायों को सहायता तथा प्रोत्साहन देना चाहिये; दीन-दुखियों तथा असहायों के लिये भोजन, वस्त्र, औषधि आदि की व्यवस्था करनी चाहिये और ज्ञान-विज्ञान के संरक्षण तथा प्रोत्साहन देना चाहिये।

(२) अर्थ-सम्वर्धन—मानव जीवन में अर्थ का भी बहुत बड़ा महत्व है। अर्जुन ने अर्थ को धर्म, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति का साधन बतलाया है। बिना अर्थ के यह जीवन ही व्यर्थ है। अर्थ-विहीन मनुष्य इस संसार में कुछ नहीं कर सकता। समाज का सुख तथा शान्ति अर्थ पर ही निर्भर है। अतएव अर्थ-सम्वर्धन भी राज्य का एक महान् लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये राज्य को कृषि, उद्योग तथा वाणिज्य की उन्नति, यातायात साधनों का विकास, सिंचाई का प्रबन्ध, बाँध तथा नहरों की आयोजना और कुओं के खोदने की सुव्यवस्था करनी चाहिये।

(३) काम-संवर्धन—मानव जीवन में काम का भी बहुत बड़ा महत्व है। काम का तात्पर्य है इन्द्रियों को सन्तुष्ट करना। राज्य को ऐसी व्यवस्थायें करनी चाहिये जिससे प्रजा की विभिन्न इन्द्रियों की तुष्टि हो सके। देश में शांति तथा सुव्यवस्था स्थापित करके प्रत्येक नागरिक को बिना विघ्न-बाधा के जीवन-सुख भोगने का अवसर राज्य को देना चाहिये। राज्य को संगीत, नृत्य, चित्रकला, स्थापत्य तथा वास्तु कला को प्रोत्साहन देकर तथा उनका पोषण कर सुरुचि तथा सुसंस्कृति का प्रचार करना चाहिये।

सारांश यह है कि प्रजा की भौतिक, [illegible]िक सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति राज्य का प्रधान लक्ष्य है। त्रिवर्ग का संवर्धन ही राज्य का अन्तिम लक्ष्य है क्योंकि

[illegible]

जब वर्ण-व्यवस्था तथा वर्णाश्रम धर्म का विकास हुआ तब इनकी रक्षा करना राज्य का कर्तव्य हो गया परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि प्राचीन भारत राज्य धर्म निर्देशित (Theocratic) था। राजा धर्म का प्रतिपालक तथा संरक्षक अवश्य था परन्तु वह सभी मतों को समान दृष्टि से देखता था और धार्मिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देता था। वह किसी विशेष मत का प्रचारक नहीं था और न धर्म गुरुओं के संकेत पर नाचता था।

**राज्य के कार्य**—आधुनिक काल में राज्य के कार्यों को दो भागों में विभक्त किया जाता है अर्थात् आवश्यक तथा अनावश्यक। राज्य के आवश्यक कार्यों में देश की बाह्य आक्रमण से रक्षा करना, आंतरिक शांति तथा सुव्यवस्था रखना, न्याय की समुचित व्यवस्था करना आदि आता है। राज्य के अनावश्यक अथवा वैकल्पिक कार्यों में स्वास्थ्य तथा स्वच्छता की सुव्यवस्था, कृषि, व्यापार तथा उद्योग-धन्धों का विकास, यातायात का प्रबन्ध, सामाजिक सुधार आदि आता है। काल की गति के साथ-साथ राज्यों के कार्यों में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है।

प्राचीन भारत के प्रारम्भिक काल में राज्य केवल आवश्यक कार्यों को किया करता था। वैदिक काल में राज्य का कार्य बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करना, आन्तरिक शान्ति तथा सुव्यवस्था रखना और समाज-परम्परा की रक्षा करना होता था। राजा धर्म तथा नीति का संरक्षक होता था और प्रजा को धर्म-पथ पर चलाने में संलग्न रहता था। इस काल में न्याय का कार्य राज्य नहीं करता था। इस कार्य को ग्राम पंचायत ही किया करती थी।

धीरे-धीरे राज्य का कार्य-क्षेत्र विस्तृत होने लगा और वैदिक काल तथा मौर्य-काल के बीच में राज्य के कार्यों में पर्याप्त वृद्धि हो गई परन्तु इसके विकास का क्रम ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है।

अर्थ-शास्त्र तथा महाभारत के अनुसार राज्य के कार्य-क्षेत्र में प्रजा की धार्मिक आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति के सभी कार्य आ जाते हैं। इस प्रकार के राज्य के कार्य क्षेत्र में न, केवल प्रजा का इह-लौकिक वरन् पारलौकिक कल्याण भी आ जाता है। फलतः राज्य को अनिवार्य कार्यों के साथ-साथ वैकल्पिक कार्य भी करने पड़ने लगे। बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा, आन्तरिक शान्ति तथा न्याय की सुव्यवस्था के अतिरिक्त राज्य को जनता की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति की भी पूरी व्यवस्था करनी पड़ती थी। राज्य सभी धार्मिक सम्प्रदायों को अपने-अपने पथ पर चलने की सुविधा प्रदान करता था। सत्य, धर्म तथा सदाचार को राज्य का पूर्ण आश्रय प्राप्त रहता था। राज्य समाज की उन्नति के मार्ग पर ज्ञान का यथाशक्ति प्रयत्न करता था। विद्वानों तथा कलाकारों को राज्य की पूर्ण

रक्षण तथा प्रोत्साहन प्राप्त था और शिक्षा संस्थाओं को हर प्रकार की सहायता देकर ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि में योग दिया जाता था। दीन-दुखियों तथा असहायों की सहायता के लिये राज्य की ओर से धर्मशालाओं, चिकित्सालयों आदि की व्यवस्था की जाती थी। अकाल, बाढ़, टिड्डी-दल, भूकम्प, महामारी आदि आकस्मिक घटनाओं से पीड़ित लोगों की सहायता की पूरी व्यवस्था राज्य को करनी पड़ती थी। देश की प्राकृतिक सम्पत्ति तथा साधनों के विकास के लिये जङ्गलों तथा खानों के विकास की भी पूरी योजना करनी पड़ती थी। कृषि की उन्नति के लिये नहरों तथा बाँध का प्रबन्ध करना पड़ता था। राज्य व्यापार तथा उद्योग-धन्धों को संरक्षण तथा प्रोत्साहन प्रदान करता था और व्यापारियों की लोभ लिप्सा से प्रजा की रक्षा करता था। सामाजिक कुरीतियों पर राज्य की कड़ी दृष्टि रहती थी। फलतः मदिरालयों, द्यूत-गृहों तथा गणिकाओं के निरीक्षण तथा नियंत्रण के लिये राज्य की ओर से कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे। मौर्य तथा गुप्त काल की सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली में राज्य उपरोक्त सभी कार्य करता था। सारांश यह है कि प्राचीन काल में राज्य के कार्य क्षेत्र में प्रजा की सर्वाङ्गीण उन्नति आ जाती थी।

**नृप-तन्त्र**—प्राचीन भारत में यद्यपि अन्य प्रकार की राज संस्थायें भी थीं परन्तु सबसे अधिक प्रचलित प्रथा नृप-तन्त्र की ही थी। अतएव इस व्यवस्था सम्बन्धी भिन्न-भिन्न समस्याओं पर विचार कर लेना आवश्यक है।

**राज-पद की उत्पत्ति**—राजा के पद की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? इस प्रश्न के उत्तर में पाँच विभिन्न सिद्धान्तों का अनुमोदन किया जाता है अर्थात् (१) दैवी सिद्धान्त (२) युद्ध सिद्धान्त, (३) समझौते का सिद्धान्त (४) पितृ प्रधान कुटुम्ब-पद्धति सिद्धान्त तथा (५) निर्वाचन सिद्धान्त। अब इन सिद्धान्तों का अलग अलग विश्लेषण करना आवश्यक है।

**(१) दैवी सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुमोदक डा० नरेन्द्र नाथ ला का कहना [illegible] लोगों का विश्वास था कि [illegible] द्वारा वह अपनी प्रजा को [illegible] स्पष्ट रूप से राजा के देवत्व [illegible] में महान् देवता है और ब्रह्मा ने आठों दिशाओं के दिग्पालों के शरीर का अंश लेकर उसके शरीर का निर्माण किया है। विष्णु पुराण तथा भागवत में इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि राजा के शरीर में अनेक देवता निवास करते हैं। शतपथ ब्राह्मण में तो पूरे क्षत्रिय वर्ग अर्थात् राजन्य को देवत्व प्रदान किया गया है। प्रमथनाथ बनर्जी के विचार में केवल अच्छे राजा को ही देवत्व प्रदान किया जाता था और वह भी देवता नहीं वरन् केवल नर देवता ही समझा जाता था। डा० अनन्त सदाशिव अल्तेकर के विचार में राजा नहीं वरन् राज-पद दैवी होता था। डा० अल्तेकर ने अपनी 'प्राचीन भारतीय शासन पद्धति" नामक पुस्तक में लिखा है कि वैदिक काल में राजा में देवत्व की भावना विद्यमान न थी। उस काल में राजा का पद पूर्णतः लौकिक था। जहाँ कहीं राजा को देवत्व प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है वह राज-दरबारियों की कोरी प्रशस्ति मात्र है। राजा को देवत्व प्रदान करने की भावना का प्राबल्य ब्राह्मण काल में ही हुआ था। बात यह है कि ब्राह्मण अपने को भूसुर मानते थे। अतएव अपने विशेषाधिकारों के संरक्षक राजा को देवत्व प्रदान करना स्वभाविक ही था। वास्तव में ब्राह्मणों ने राजा को देवत्व से विभूषित कर देने का वातावरण ही उत्पन्न कर दिया था। इसके अतिरिक्त अधिकांश ग्रन्थकारों ने राजा तथा देवताओं के विभिन्न कार्यों की समता पर ही बल दिया है और यह नहीं कहा है कि राजा स्वयं देवता है।

एक स्थान पर यह भी कहा गया है कि उसने अपने पराक्रम से महाक्षत्रप के पद को प्राप्त किया था। जहां तक हर्ष के निर्वाचित किये जाने का सम्बन्ध है डा० अलतेकर का कहना है कि हर्ष अपने पैतृक राज्य थानेश्वर के लिये नहीं वरन् कन्नौज के मौखरि राज्य के लिये निर्वाचित किया गया था। अतएव डा० अलतेकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि राजा का पद प्राचीन भारत में आनुवंशिक होता था। इस मत का अनुमोदन प्राचीन ग्रन्थों, शिला-लेखों, ताम्र-पत्रों आदि से प्रचुर मात्रा में होता है।

**राजा के लिये आवश्यक गुण**—राज-पद के ग्रहण करने के लिये केवल राज-कुल में जन्म लेना ही पर्याप्त नहीं था। उसमें निम्न लिखित गुणों का होना भी आवश्यक समझा जाता था :—

(१) **विनय**—मनु, शुक्र, कामन्दक आदि नीति-शास्त्रकारों ने राजा के लिये विनय प्राप्ति पर बहुत बल दिया है।

(२) **नियमबद्धता**—प्राचीन भारत के राजाओं के लिये नियमबद्धता भी एक आवश्यक गुण समझा जाता था। इसका यह तात्पर्य है कि प्राचीन काल में राजा को बड़ी कड़ाई के साथ सब नियमों का पालन करना पड़ता था।

(३) **इन्द्रिय-दमन**—राजा के लिये इन्द्रिय-दमन भी एक आवश्यक गुण समझा जाता था। परन्तु इन्द्रिय-दमन का तात्पर्य यह नहीं था कि लौकिक सुखों से वह विमुख रहे। इसका तात्पर्य केवल यही था कि राजा में अत्यधिक विलासिता न होनी चाहिये।

(४) **वृद्ध सेवा**—राजा के लिये यह आवश्यक समझा जाता था कि वह वृद्धों की सेवा तथा उनका आदर करे और उनके परामर्श से राज-काज को चलावे।

(५) **विद्या-प्राप्ति**—प्राचीन काल में राजा के लिये यह नितान्त आवश्यक समझा जाता था कि वह विद्या-व्यसनी हो और विद्या की प्राप्ति में संलग्न रहे। प्रत्येक राजा के लिये यह आवश्यक होता था कि वह त्रयी (वेद), आन्वीक्षिकी (दर्शन), वार्ता (अर्थ-शास्त्र), दण्डनीति (राजनीति) आदि का विशेष रूप से अध्ययन करे।

(६) **धर्म-परायणता**—राजा को धर्म परायण भी होना पड़ता था। परन्तु धर्म परायणता का तात्पर्य धर्मान्धता अथवा धार्मिक कट्टरता नहीं था। राजा बड़ा सहिष्णु होता था और सभी मतों को संरक्षण तथा प्रोत्साहन प्रदान करता था।

(७) **कलाओं का ज्ञान**—लेखन कला (राजकीय पत्रादि लिखने की कला), रूप (मुद्राओं की कला), गणना (हिसाब-किताब रखने की योग्यता), व्यवहार (न्यायादि करने की योग्यता तथा न्याय के नियम आदि) तथा विधि (राजनियम) आदि का भी ज्ञान राजा को प्राप्त करना पड़ता था।

(८) **अन्य गुण**—सुसगति, सुनृतवाक्, सुपरिवारयुक्ता आदि अन्य गुण भी राजा को प्राप्त करने पड़ते थे।

**राजा के कर्तव्य**—राजा का सबसे बड़ा कर्तव्य यह होता था कि वह आन्तरिक शान्ति रक्खे और बाह्य आक्रमणों से जनता की रक्षा करे। राजा नियम तथा व्यवस्था, परम्परा एवं रूढ़ियों का संरक्षक भी समझा जाता था। न्याय करना भी राजा का परम धर्म समझा जाता था। गम्भीर अभियोगों पर तो राजा स्वयं विचार किया करता था परन्तु छोटे-छोटे मामलों का निर्णय देहात में ग्राम पंचायतें कर लिया करती थीं। धर्म की रक्षा करना भी राजा का कर्तव्य होता था। वैदिक काल से ही राजा धर्म का रक्षक, पोषक तथा संवर्धक समझा जाता था। विधि-नियमों का पालन राजा का परम धर्म समझा

निजी सम्पत्ति नहीं है वरन् वह प्रजा की धरोहर है और राजा उसे सार्वजनिक हित में ही लगा सकता है। यदि राजा प्रजा की इस सम्पत्ति का दुरुपयोग करता अथवा अपने निजी काम में लगाता तो वह नर्क का भागी समझा जाता था।

(६) प्रजा का प्रभाव—ऊपर जितने नियन्त्रण बतलाये गये हैं वे सब नैतिक नियन्त्रण हैं जो राजा को स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश बनने से सर्वथा रोक नहीं सकते थे। अतएव प्राचीन भारत के शास्त्रकारों ने कहा है कि जनता अत्याचारी राजा को चेतावनी दे कि यदि वह प्रजा के हित में शासन नहीं करता तो प्रजा किसी अन्य सुशासित राज्य में चली जायगी। हमारे शास्त्रकारों को यह विश्वास था कि इससे राजा अत्यन्त भयभीत हो जायगा क्योंकि यदि प्रजा ने ऐसा किया तो राज्य के कर में बड़ी कमी हो जायगी। परन्तु यदि प्रजा की इस धमकी से भी राजा सन्मार्ग पर नहीं आता था तब प्रजा उसे गद्दी से उतार कर उसके कुल के किसी अन्य व्यक्ति को सिंहासन पर बिठा सकती थी। इतना ही नहीं, यदि राजा के सुधारने का कोई अन्य उपाय न रह जाय तो महाभारत में प्रजा को अत्याचारी राजा के बध कर देने की भी आज्ञा दी गई है। राजा वेण का बध ऋषियों ने देवत्व की दुहाई देने पर भी कर दिया था। प्राचीन काल में जब लोक-सेनायें हुआ करती थीं और सामन्तों की प्रथा थी तब राजा को पदच्युत करना कोई दुष्कर कार्य नहीं होता था।

(७) समिति का प्रभाव—अति प्राचीन वैदिक काल में जब राज्य का विस्तार [illegible]

[illegible] पर राजा की इच्छा पर ही निर्भर रहता था अतएव स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश राजा को ठीक मार्ग पर लाना प्रायः उनकी शक्ति के बाहर हो जाता था।

(८) पुरोहित का प्रभाव—प्राचीन भारत में पुरोहितों का बड़ा आदर-सम्मान होता था। न केवल समाज में वरन् राजनीति में भी वह सर्वोत्कृष्ट स्थान रखता था। वह राजा का प्रधान मन्त्री होता था और न केवल शासन के कार्यों में वरन् रणक्षेत्र में भी राजा को उसकी सहायता की आवश्यकता पड़ती थी। पुरोहित का समाज तथा राजनीति में इतना अधिक प्रभाव रहता था कि स्वेच्छाचारी प्रकृति का राजा भी उसके परामर्श की सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकता था।

(१०) स्थानीय संस्थायें—प्राचीन भारत में ग्राम, नगर तथा प्रादेशिक पंचायतों और सभाओं को शासन के व्यापक अधिकार प्राप्त थे। इन संस्थाओं में जनता का पूरा हाथ रहता था और इन्हीं के माध्यम से राजा प्रजा के सम्पर्क में आता था। राजा चाहे जितने कर लगा देता परन्तु वसूल केवल उतने ही हो सकते थे जिन्हें ग्राम सभायें वसूल [illegible]

[illegible] अतएव इन संस्थाओं के प्रति उनकी अगाध भक्ति होती थी। इस प्रकार प्रचलित विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था राजा की निरंकुशता पर बहुत बड़ा नियन्त्रण रखती थी।

गण-राज्य अथवा प्रजा-तन्त्र—कुछ विद्वानों की धारणा है कि प्राचीन भारत में केवल एक ही प्रकार की राज-संस्था थी और वह नृप-तंत्रात्मक व्यवस्था थी। इन विद्वानों

के विचार में जिन्हें प्रजातन्त्र राज्य समझा जाता है वे वास्तव में जन-राज्य अथवा जाति-राज्य थे परन्तु अब यह धारणा निर्मूल सिद्ध कर दी गई है। अब विद्वानों ने इस तथ्य को सिद्ध कर दिया है कि गण का अर्थ एक विशेष प्रकार की राज्य व्यवस्था है जो नृप-तन्त्र से बिलकुल भिन्न होती है। गण राज्य से वास्तव में ऐसी राज-सत्था का बोध होता है [illegible] के स्थान पर गण अथवा अनेक व्यक्तियों [illegible]

[illegible]

[illegible] शुद्ध प्रजा तन्त्र बतलाया है। जो विद्वान् इन गण-राज्यों को प्रजा-तन्त्र अथवा [illegible] नहीं मानते वह यह तर्क उपस्थित करते हैं कि इस शासन व्यवस्था में सारे अधिकार साधारण जनता के हाथ में न होकर एक छोटे से उच्च-वर्ग के लोगों के हाथ में होते थे। परन्तु जो विद्वान् इन्हें प्रजा तन्त्र अथवा लोक तन्त्र मानते हैं उनका कहना है कि प्राचीन काल में प्रजा-तन्त्र का यह अर्थ नहीं होता था कि शासन की बागडोर सामान्य जनता के हाथ में हो वरन् लोक तन्त्र का केवल यही तात्पय होता था कि शासनाधिकार राज-तन्त्र की भांति एक व्यक्ति के हाथ में न होकर एक समूह, गण अथवा परिषद् के हाथ में हो। इस प्रकार प्राचीन काल में सामन्त-तन्त्र, उच्च-जन तन्त्र तथा प्रजा तन्त्र सभी की गणना लोक तन्त्र के अन्तर्गत की जाती थी। अतएव प्राचीन भारत के गण-राज्यों को शुद्ध प्रजा-तन्त्र कहना सर्वथा उचित है। प्राचीन भारत के गण-राज्यों में राजनैतिक शक्ति प्राय. क्षत्रियों के ही हाथ में होती थी। अतएव इन्हें प्राचीन ग्रन्थों तथा लेखों में गण-राज्य के नाम से पुकारा गया है। प्राचीन भारत में वृक, दामणि, पार्श्व, अर्जुनायन, यौधेय, मद्र, मालव, क्षुद्रक, अन्धक-विष्णि, भग्ग, कोलिय, मोरिय, मल्ल, लिच्छवि, विदेह, आदि गण-राज्य विद्यमान् थे।

गण-राज्यों की शासन व्यवस्था — जैसा पहिले बतलाया जा चुका है गण राज्य में शासन-सूत्र किसी एक व्यक्ति के हाथ में नहीं रहता था वरन् राज्य का शासन चलाने के लिये एक केन्द्रीय समिति होती थी। इस समिति के सदस्य उच्च वर्ग के लोग होते थे। इन लोगों को राजा और इनके पुत्रों को उपराजा की उपाधि प्राप्त रहती थी। समिति की बैठक के लिये एक सथागार अर्थात् सभा-भवन होता था। इसी में समिति के सदस्य एकत्रित होकर राज्य की विभिन्न समस्याओं पर विचार किया करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि सन्धि-विग्रह आदि महत्वपूर्ण विषयों पर निर्णय देने का अधिकार उच्च-वर्गीय राजाओं को ही होता था जन-साधारण को नहीं। बड़े-बड़े गण-राज्य विस्तृत होने के कारण अनेक प्रान्तों में विभक्त रहते थे जिनके शासक सम्भवतः उच्च-वर्ग से ही चुने जाते थे। [illegible] होता था। स्थानीय विषयों में इन्हें [illegible]

[illegible]

केन्द्रीय समिति के सदस्यों का पद आनुवंशिक होता था। शासन का सर्वाधिकार [illegible] में निहित होता था। यह समिति न केवल मन्त्रि मण्डल के सदस्यों को [illegible] निर्वाचन करती थी। पर-राष्ट्र नीति पर समिति का पूरा नियन्त्रण [illegible] सन्धि विग्रह का निर्णय यही संस्था करती थी। समिति की सबसे बड़ी दुर्बलता [illegible] यह थी कि इसमें दलबन्दी का प्रकोप रहता था।

गण-राज्यों के दैनिक शासन को चलाने के लिये एक मन्त्रि-परिषद् होती थी। इ
परिषद् के सदस्यों की संख्या राज्य के आकार पर निर्भर रहती थी। सम्भवत: मन्त्रि
परिषद् के सदस्यों को केन्द्रीय समिति के ही सदस्य नियुक्त करते थे। ऐसा प्रतीत हो
है कि मन्त्री कुछ प्रतिष्ठित कुलों में से ही चुने जाते थे। कालान्तर में मन्त्रियों का
पद वंशानुगत हो गया।

प्रत्येक गण का एक नेता होता था। उसमें बुद्धि, पौरुष, साहस, उत्साह, अनुभ
शास्त्र एवं गण-परम्परा का ज्ञान आदि गुण वांछनीय होते थे। गणाध्यक्ष ही मन्त्रि मं
का प्रधान तथा समिति का अध्यक्ष हुआ करता था। शासन के कार्यों का निरीक्षण कर
तथा गण की एकता बनाये रखना उसका प्रधान कार्य होता था। शासन के विभि
विभाग विभिन्न मन्त्रियों को सौंप दिये जाते थे जिनकी अधीनता में बहुत से कर्मचा
कार्य करते थे।

गण-तन्त्रों के विनाश का कारण—डा० काशी प्रसाद जायसवाल ने गुप्त-सम्रा
की साम्राज्यवादी नीति को गण राज्यों के विनाश का कारण बतलाया है परन्तु ड
अलतेकर इस मत से सहमत नहीं हैं। आपके विचार में आनुवंशिक प्रथा के कारण
गण-राज्यों का पतन हुआ। सम्भवतः राजा के देवत्व तथा राज-तन्त्र सरकार की प्रब
विदेशी नीति से भी लोग नृप-तन्त्र की ओर अधिक आकृष्ट हुये हैं।

**सभा तथा समिति**—वैदिक काल में 'सभा' तथा 'समिति' का बहुत म

दुहितायें कहा गया है। 'सभा' त
न-भिन्न प्रकार से की है। लुडविग
र्ग के लोग सम्मिलित रहते थे
मतानुसार 'सभा' ग्राम-संस्था थी
'समिति' पूरे 'जन' की केन्द्रीय परिषद् थी। हिलेब्रांड के विचार में 'सभा' तथा 'समिति
एक ही थी। 'समिति' एकत्रित व्यक्तियों को कहते थे और 'सभा' उस स्थान को क
थे जहाँ यह लोग एकत्रित होते थे। डा० अलतेकर के विचार में हर ग्राम में जनता
सभा होती थी और राजधानी में सम्पूर्ण राज्य की केन्द्रीय लोक सभा होती थी जिस
नाम 'समिति' था। 'सभा' की विवेचना करते हुये प्रो० अलतेकर ने लिखा है, "सभ
मुख्यतः गाँव की सामाजिक गोष्ठी ही थी परन्तु आवश्यकता पड़ने पर ग्राम व्यवस्था
सम्बन्ध रखने वाले छोटे-मोटे मामलों पर भी इसी में विचार कर लिया जाता थ
आपसी झगड़े निपटाना और गाँव की रक्षा का प्रबन्ध करना ही मुख्य विषय थे, पुर
मेधयज्ञ के वर्णन से पता चलता है कि सभा तथा सभासदों का न्याय-दान से घनि
सम्बन्ध था। सम्भव है कि कुछ राज्यों या प्रदेशों में 'सभा' का सम्बन्ध राजा से था
यह सामाजिक गोष्ठी नहीं वरन् राजनीतिक संस्था रही हो।"

ऋग्वेद के एक मन्त्र में 'समिति' का उल्लेख सामाजिक अथवा विद्वान-मण्डली
रूप में किया गया जान पड़ता है परन्तु वास्तव में यह एक राजनैतिक संस्था थी
इसका स्वरूप केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा का सा था। इस संस्था का राज्य में ब
बड़ा प्रभाव था। राज्य में केन्द्रीय शासन तथा सेना पर समिति का बहुत बड़ा प्रभ
रहता था। 'समिति' के सदस्य समाज के प्रतिष्ठित तथा धनी व्यक्ति होते थे और ग्रा

हुआ करते थे
ही प्रभाव रहता
र घातक सिद्ध हो
था। यद्यपि वैदिक काल में 'समिति' का इतना ज्यादा प्रभाव था परन्तु संहिता

पद मन्त्रियों के पद से न्यूनतर होता था। परन्तु गम्भीर स्थिति के उत्पन्न हो जाने पर वे भी मन्त्रियों की भाँति परामर्श के लिये बुलाये जाते थे।

मन्त्रियों का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता था। नई नीति को निश्चित करना, उसे सफलतापूर्वक कार्यान्वित करना, राज्य के आय-व्यय के सम्बन्ध में नीति निर्धारित करना या उसका निरीक्षण करना, राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था करना या पर-राष्ट्र नीति को निश्चित करना आदि सभी कार्य मन्त्रियों के अधिकार के अन्तर्गत थे।

मन्त्रि-परिषद् का कार्य विभिन्न विभागों में विभाजित था। आठवीं शताब्दी ईसवी में आचार्य शुक्र ने इस प्रकार के दस विभागों तथा मन्त्रियों का उल्लेख किया है जिनका संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

(१) पुरोहित—वैदिक काल में पुरोहित को मन्त्रि-परिषद् में सर्वोत्कृष्ट स्थान प्राप्त था और वह सम्राट् का प्रधान परामर्शदाता होता था। वास्तव में वह राजा का गुरु समझा जाता था और राजा पर उसका बहुत बड़ा नियन्त्रण रहता था। शत्रु के अनिष्टकारी अनुष्ठानों का प्रतिकार करना, राष्ट्र का अभ्युदय करना, राज सेना के घोड़ों तथा हाथियों को मन्त्र द्वारा पवित्र करना, युद्ध में राजा के साथ जाकर मन्त्रों तथा स्तुतियों द्वारा देवताओं को प्रसन्न करके विजय-प्राप्ति का प्रयत्न करना आदि वैदिक काल में पुरोहित के प्रधान कर्तव्य होते थे। वह शास्त्र, शास्त्र और विशेषकर नीति-शास्त्र में पारंगत होता था। जब बौद्ध तथा जैन दर्शन के विकास के फल स्वरूप यज्ञों का प्रचार कम हो गया तब पुरोहित का भी प्रभाव कम हो गया। गुप्त काल के बाद के लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग में वह मन्त्रियों की सूची से अलग कर दिया गया था। यद्यपि पुरोहित मन्त्रि-परिषद् का सदस्य नहीं रह गया था परन्तु राजा पर उसका नैतिक प्रभाव कम नहीं हुआ।

(२) प्रतिनिधि—पुरोहित के बाद प्रतिनिधि का नाम आता है। उसका कार्य राजा की अनुपस्थिति में उसके नाम से राज-काज को चलाना होता था। प्रायः युवराज ही वयस्क हो जाने पर इस पद पर नियुक्त किया जाता था। परन्तु कुछ विद्वान् प्रतिनिधि की गणना मन्त्रि-परिषद् में नहीं करते।

(३) प्रधान—मन्त्रि-परिषद् का सबसे महत्वपूर्ण सदस्य प्रधान अथवा प्रधानमंत्री होता था। शुक्राचार्य के विचार में वह सब दर्शी होता था और शासन के प्रत्येक अंग पर उसकी दृष्टि रहती थी।

[illegible] स्थान था। वह युद्ध-मन्त्री होता [illegible] पुकारा गया है। मौर्य-काल में वह [illegible] के नाम से, काश्मीर में 'कम्पन' के नाम से और यादव राज्य में 'महाप्रचण्ड दण्डनायक' के नाम से पुकारा गया है। सचिव को रणनीति का पण्डित तथा सैन्य-संगठन में दक्ष होना पड़ता था। सेना के सब विभागों की समुचित व्यवस्था करना और राज्य के सब दुर्गों में आवश्यकतानुसार सेना रखना सचिव का प्रधान कार्य होता था।

[illegible]

(६) प्राड्विवाक—न्याय विभाग 'प्राड्विवाक' की अध्यक्षता में काम करता था।

के लिये की गई थी परन्तु उत्तर भारत में भी गुप्त-सम्राटों तथा पाल राजाओं ने नौ सेना की सुव्यवस्था की थी।

**न्याय-व्यवस्था**—न्याय राज्य का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है और इसके बिना राज्य का अस्तित्व सम्भव नहीं रहता। प्राचीन भारत में न्याय का एक अलग विभाग होता था और राजा स्वयं सर्वोच्च न्यायाधीश का पद ग्रहण करता था। उसके समक्ष उपस्थित किये गये अभियोग अथवा अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपील पर उसे विचार करना पड़ता था। परन्तु कार्य की अधिकता हो जाने पर वह अप कार्यों को प्राड्विवाक अर्थात् प्रधान न्यायाधीश को हस्तांतरित कर देता था। राज्य की नीति न्याय व्यवस्था के विकेन्द्रीकरण की थी और ग्राम तथा नगर पंचायतों की समुचित व्यवस्था की गई थी। पंचायतों को दीवानी के मुकदमों के निर्णय करने का अधिकार प्राप्त होता था। कोई भी मार्थी आरम्भ में सीधे सरकारी न्यायालय में अभियोग उपस्थित नहीं कर पाता था। अतएव सरकारी न्यायालयों का कार्य भार अत्यन्त हलका होता था। सरका

[illegible]

पर नियुक्त किये जाते थे। फौजदारी के छोटे छोटे मुकदमों का निर्णय पंचायतों में ही जाया करता था परन्तु बड़े-बड़े अभियोगों का निर्णय सरकारी न्यायालयों में ही हु करता था। फौजदारी के न्यायालयों के अध्यक्ष सम्भवतः 'दण्डाध्यक्ष' के नाम से पुक जाते थे। साधारणतः जुर्माने का ही दण्ड दिया जाता था और कारागार का दण्ड बहु कम दिया जाता था। जुर्माना वसूल करने वालों को 'दशापराधिक' कहा जाता था। अ राधों को रोकने के लिये पुलिस का समुचित व्यवस्था रहती थी। इस विभाग के प्रमु कर्मचारी 'चोरोद्धरणिक' ( चोर पकड़ने वाले ), तथा 'दण्डपाशिक' ( चोरों को पकड़ का फन्दा रखने वाले) होते थे। प्राचीन भारत में चोरियाँ बहुत कम हुआ करती थीं केवल बड़े ही निर्भीक तथा उद्दण्ड व्यक्ति पशु तथा सम्पत्ति के अपहरण का दुस्साह करते थे। गाँवों की सुरक्षा के लिये गाँवों का मुखिया पूर्ण-रूप से उत्तरदायी होता थ मुखिया की सहायता के लिये गाँवों में स्वयं-सेवक होते थे। यदि स्थानीय कर्मचारी चो तथा डकैती के दमन करने में असमर्थ हो जाते थे तो राजकीय दण्डपाशिक तथा सैनि दल अपराधियों को पकड़ने तथा उपद्रव को शान्त करने के लिये भेजा जाता था। चो अथवा डकैती से अपहृत धन की क्षति-पूर्ति अन्ततोगत्वा सरकार को ही करनी पड़ थी। यदि ग्राम वाले यह न सिद्ध कर पाते थे कि चोर गाँव से भाग गये हैं तो उस वालों को ही क्षतिपूर्ति करनी पड़ती थी। यदि यह सिद्ध कर लिया जाता था कि चोरों किसी अन्य गाँव में शरण ली है तो उस गाँव वालों को क्षति पूर्ति करनी पड़ती थी। य चोर निर्जन अथवा वन्य-प्रदेश में जा छिपते थे तो 'विवीताध्यक्ष' तथा 'अरण्याध्यक्ष' उन्हें पकड़ना पड़ता था और क्षति पूर्ति करनी पड़ती थी।

**प्रान्तीय शासन**—प्रान्तीय शासन व्यवस्था केवल बड़े-बड़े राज्यों में जाती है। प्राचीन भारत में विशाल साम्राज्य की स्थापना मौर्य काल के महाराजाओं ही साम्राज्यवादी सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने की थी। अतएव प्रान्तीय शासन का गणेश भी सम्भवतः यहीं से होता है। प्रान्तीय शासन का भार प्राय. राज-कर राजकुमारों को ही सौंपा जाता था। राजकुमारों के अभाव में प्रान्त का शासन के सशक्त तथा अनुभवी पदाधिकारियों को सौंपा जाता था। यह पदाधिकारी प्र

विश्रुत सेनानायक होते थे। प्रान्तीय शासकों के अधिकार अत्यंत व्यापक होते थे। प्रांत में पूर्ण-रूप से शांति तथा सुव्यवस्था रखना और निकटस्थ राज्यों के आक्रमणों से प्रांत की रक्षा [illegible]

[illegible]

की साधारण नीति का अनुसरण करना पड़ता था जिसका बोध इन्हें समय समय पर राजा द्वारा अथवा विशेष सं'वाद-वाहकों द्वारा करा दिया जाता था। परन्तु आवागमन के साधनों के अभाव के कारण प्रांतीय शासकों को प्रचुर कार्य-स्वतन्त्रता प्राप्त रहती थी और वे सन्धि विग्रह भी प्रायः स्वेच्छाचारी निर्णय से ही किया करते थे। प्रत्येक प्रान्त की अपनी अलग सेना भी हुआ करती थी जो आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय सरकार के आदेश से अन्य प्रान्तों में भेजी जा सकती थी। प्रान्तीय शासकों को अपने प्रान्त में न केवल शान्ति [illegible]

[illegible]

एकत्रित किये जाते थे और प्रांतीय व्यय निकालने के उपरांत शेष केन्द्रीय सरकार के पास भेज दिया जाता था। सम्भवतः प्रादेशिक शासक प्रान्तीय शासकों के ही नियन्त्रण तथा निरीक्षण में कार्य किया करते थे।

**प्रादेशिक शासन**—प्रांतीय शासन के नीचे प्रादेशिक शासक होता था। इसके अन्तर्गत दो तीन जिले आते थे। गुप्त-काल में इसे 'भुक्ति' कहते थे। विभिन्न राज्यों में यह 'मण्डल', 'राष्ट्र', 'देश' आदि नामों से पुकारा गया है। मौर्य काल में सम्भवतः प्रादेशिक शासन का प्रधान 'रज्जुक' होता था जिसे दीवानी, फौजदारी तथा माल सम्बन्धी अधिकार प्राप्त होते थे परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में प्रादेशिक शासक के अधिकारों में कमी हो गई थी। प्रादेशिक शासक अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर पूरा नियन्त्रण रखता था और अपने कार्य में असावधानी करने अथवा राजद्रोह का प्रयत्न करने पर वह उन्हें तुरन्त कैद करवा कर राजधानी में उचित दण्ड देने के लिये भेज सकता था। प्रादेशिक शासक के नियन्त्रण में एक छोटी सेना भी रहती थी जो युद्ध के [illegible] प्रादेशिक शासक को [illegible] अधिकार प्राप्त होता [illegible]

[illegible] नीचे विषय अथवा जिले का शासन होता था। इसके अन्तर्गत एक सहस्त्र से दो सहस्त्र तक गाँव आते थे। विषय का प्रधान मौर्य काल में 'विषपति' अथवा 'विषयाध्यक्ष' कहलाता था। विषयपति का प्रमुख कार्य जिले में शांति तथा सुव्यवस्था रखना, मालगुजारी तथा अन्य करों को वसूल करना होता था। शांति तथा सुव्यवस्था रखने के लिये विषयपति के पास एक छोटी सेना भी होती थी। विषयपति की अध्यक्षता में बहुत से कर्मचारी कार्य करते थे। प्रत्येक विषय के लिये एक परिषद् होती थी जिसमें १० सदस्य होते थे। यह सदस्य भिन्न भिन्न वर्गों [illegible] से लिये जाते थे। परिषद् के अधिकांश सदस्य व्यवसायी हुआ करते थे। [illegible] विषय-परिषद् भी हुआ करती थी।

[illegible] तहसील का शासन—विषय अथवा जिले से छोटी शासन की

हुआ करती थी। ग्राम-सभा अथवा पञ्चायत को ग्राम-प्रबन्ध के लिये पूर्ण-रूप में उत्तरदायी होना पड़ता था। केन्द्रीय सरकार को केवल साधारण निरीक्षण तथा नियन्त्रण का अधिकार था।

आय-व्यय—प्राचीन भारत में कोष राज्य का एक अविच्छिन्न अङ्ग समझा जाता

[illegible]

थी। यद्यपि पहिले भूमि-कर अनाज के ही रूप में दिया जाता था परन्तु कालान्तर में नकद रुपया भी दिया जाने लगा। भूमि-कर निश्चित समय पर न दिये जाने पर भूमि बेच भी दी जाती थी। कृषि के अतिरिक्त वाणिज्य तथा व्यापार भी राज्य की आय का महत्त्वपूर्ण साधन होता था। व्यापारियों को नगर अथवा गाँव में आने वाली वस्तुओं पर चुंगी देनी पड़ती थी। यह कर भी पैसा अथवा पदार्थों के रूप में लिया जाता था। चुंगी के अतिरिक्त नदी के पार जाने वाले यात्री, माल, पशु तथा गाड़ियों पर नाव-कर भी लगता था। व्यापारियों को चुंगी के अतिरिक्त और भी बहुत से कर देने पड़ते थे। विभिन्न उद्योग-धन्धों के कराने वालों यथा नाई, धोबी, बढ़ई, कुम्हार

[illegible]

था। युद्ध काल में प्रतिद्वन्द्वी राज्यों में यातायात बन्द हो जाया करता था। प्राचीन भारत में विदेशों में दूत भेजने की भी व्यवस्था थी। यह दूत तीन श्रेणी के होते थे अर्थात् 'निसृष्टार्थ', 'परिमितार्थ' तथा 'शासनहार'। 'निसृष्टार्थ' उस दूत को कहते थे जिसे अपने राज्य के सभी विवाद-ग्रस्त प्रश्नों के निर्णय का अधिकार होता था। 'परिमितार्थ' दूत वह होता था जो अपने राज्य द्वारा दिये गये निर्देश के बाहर नहीं जा सकता था और 'शासनहार' दूत केवल अपने राज्य द्वारा दिये गये सन्देश को दे सकता था और उसका उत्तर ला सकता था। दूत एक प्रकार से भेदिया का कार्य करता था। आजकल की भांति प्राचीन काल में भी दूत अवध्य समझा जाता था। युद्ध छिड़ जाने पर भी दूत तथा उसके साथी अवध्य समझे जाते थे। परन्तु अनुचित आचरण करने पर उसे विरूप कर अथवा कोड़े से दाग कर निकाला जा सकता था। पर-राष्ट्रों के भेदों को जानने लिये गुप्त चरों का भी प्रयोग किया जाता था। यह गुप्त-चर छात्रों, सन्यासियों, व्यापारियों आदि के वेश में कार्य किया करते थे। वेश्यायें तथा नर्तकियाँ भी इस कार्य में बड़ी सहायता पहुँचाया करती थीं।

---

(१२) बारह प्रकार के पुत्र—हमारे धर्माचार्यों ने १२ प्रकार के पुत्रों का वर्णन किया है। इनके विषय में आगे बतलाया जायगा।

(१३) स्त्रियों का आदर-पूर्ण स्थान—प्राचीन भारत में स्त्रियों को बड़ा सम्मान-पूर्ण स्थान प्राप्त था। इसका विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा।

(१४) अस्पृश्यता—हिन्दू समाज का सबसे बड़ा कलंक अस्पृश्यता है। इसका विश्लेषण आगे किया जायगा।

(१५) उदारता तथा प्रगतिशीलता—प्राचीन भारतीय समाज की व्यवस्था बड़ी उदार थी और उसमें बड़ी प्रगतिशीलता थी।

अब प्राचीन भारतीय समाज की उपरोक्त विशेषताओं का विस्तृत विश्लेषण किया जायगा।

(१) वर्ण-व्यवस्था—वर्ण का शाब्दिक अर्थ होता है रंग। अतएव अत्यन्त प्राचीन काल में वर्ण-व्यवस्था का आधार रंग-भेद था। इस काल के भारतीय रंग के आधार पर दो भागों में विभक्त किये जा सकते थे अर्थात् गौर-वर्ण के तथा श्याम-वर्ण के। गौर-वर्ण के लोगों ने अपने को आर्य और श्याम वर्ण वालों को अनार्य अथवा दस्यु कहना आरम्भ किया। इस प्रकार भारतीय समाज आर्यों तथा अनार्यों इन दो वर्णों में विभक्त हो गया। परन्तु समाज का यह विभाजन अवैज्ञानिक था क्योंकि वर्ण अथवा रंग पर जलवायु तथा संसर्ग का प्रभाव पड़ता है। फलतः कालान्तर में वह वर्ण-व्यवस्था जिसका मूलाधार रङ्ग था समाप्त हो गई। परन्तु यह एक नये रूप में प्रतिष्ठित हुई जिसका मूलाधार कर्म था। महाभारत में वर्ण व्यवस्था का मूलाधार कर्म ही माना गया है। पुरुष सूक्त में समाज को पुरुष का रूपक दे दिया गया है और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को क्रम से उस समाज रूपी पुरुष का मुँह, हाथ, जंघा तथा चरण माना है। वर्ण का यह विभाजन वैज्ञानिक था क्योंकि इसका आधार 'अर्थ शास्त्र' का कार्य-विभाजन सिद्धान्त था। जिस प्रकार शरीर के कार्य को सुव्यवस्थित तथा सुचारु रीति से चलाने के लिये मस्तिष्क, भुजा, जंघा तथा चरण के निश्चित कार्यों का सम्पादन तथा उनमें समन्वय एवं सहयोग आवश्यक है उसी प्रकार समाज को भी सुव्यवस्थित तथा सुसङ्गठित रखने के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र का अपने-अपने निश्चित कार्यों का करना आवश्यक है और उनमें सहयोग तथा समन्वय की आवश्यकता है क्योंकि एक के बिना दूसरा जीवित नहीं रह सकता और न अपनी उन्नति कर सकता है। जब कर्म वर्ण-व्यवस्था का आधार था तब इसमें जटिलता का सर्वथा अभाव था और अन्तर्जातीय

वर्ण-व्यवस्था का आधार कर्म अथवा व्यवसाय

व्यापकता तथा ग्रहण-शीलता रही है और

सकती है। वास्तव में इस व्यवस्था से व्यक्ति तथा समाज दोनों का उचित तथा पूर्वान्त विकास हो सकता है। अब इन चारों आश्रमों का संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य—यह जीवन की प्रारम्भिक अवस्था थी। यह विद्याध्ययन का काल होता था। इसका आरम्भ उपनयन संस्कार के बाद होता था। इस विद्याध्ययन के काल में ब्रह्मचारी को अपने गुरु के आश्रम में निवास करना पड़ता था और वहाँ पर अत्यन्त सरल, पवित्र तथा सदाचरण का जीवन व्यतीत करना पड़ता था और एकाग्र मन से ज्ञानार्जन में संलग्न रहना पड़ता था। इस अवस्था में ब्रह्मचारी अपने धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करके अपने को ऋषि ऋण से मुक्त करता था। अपनी परम्परा तथा संस्कृति का उसे समुचित ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था। इससे सभ्यता तथा संस्कृति की निरन्तरता अवश्यम्भावी हो जाती थी।

गृहस्थ—लगभग १२ वर्ष के अध्ययन तथा ज्ञानार्जन के उपरान्त ब्रह्मचारी का समावर्तन (घर लौटना) होता था। अब वह अपना विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। इस अवस्था में वह सन्तान उत्पन्न करके पितृ-ऋण से उन्मुक्त होता था। द्रव्योपार्जन कर तथा अर्थ संचय में संलग्न रह कर समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा करता था। इस अवस्था में वह अपनी विभिन्न इन्द्रियों को संतुष्ट करता था जिससे विरक्ति के लिये मार्ग स्वच्छ हो जाता। गृहस्थ को त्यागी, समाज-सेवक तथा इन्द्रिय-निग्रही बनना पड़ता था। अतिथि सत्कार उसका प्रमुख कर्तव्य होता था।

वानप्रस्थ – गृहस्थ आश्रम में तब तक रहना पड़ता था जब तक बाल श्वेत-वर्ण न हो जायँ और मुख पर झुर्रियाँ न पड़ जायँ। इसके बाद वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करना पड़ता था। अर्थ तथा काम की इच्छा को पूर्ण करने के उपरान्त गृह को त्याग कर वनों अथवा पर्वतों की शरण में जाकर आश्रम में अपनी स्त्री के साथ सादा जीवन व्यतीत करना, भिक्षाटन करना तथा वेदों और उपनिषदों का अध्ययन करना वानप्रस्थाश्रमी का कर्तव्य होता था। यज्ञ करके इस अवस्था में वह अपने को देव ऋण से मुक्त करता था। इस अवस्था में ब्रह्मचर्यावस्था के प्राप्त सैद्धान्तिक ज्ञान का क्रियात्मक रूप में अनुभव करना पड़ता था। यह स्वाध्ययन तथा आत्म चिन्तन का काल होता था और अपने अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान का दान वह समाज को करता था। इस प्रकार समाज के ज्ञान वृद्धि में वह योग देता था। जिस समाज ने उसे शिक्षा दीक्षा दी थी उसे नूतन ज्ञान प्रदान कर वह समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करता था।

सन्यास—वानप्रस्थाश्रम के उपरान्त संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होना पड़ता था। इस अवस्था में एकाकी जीवन व्यतीत करना पड़ता था और परिव्राजक का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। इस अवस्था में मोक्ष की प्राप्ति का प्रयास किया जाता था। यह आत्म साक्षात्कार की अवस्था होती थी। परन्तु समाज सेवा का भी कार्य करना पड़ता था और घूम-घूम कर सत्य सिद्धान्त का प्रचार तथा समाज की त्रुटियों को दूर करना पड़ता था।

वर्णाश्रम का महत्व—वर्णाश्रम व्यवस्था पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर हमें इसकी उपयोगिता तथा महत्व का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। (१) यह व्यवस्था व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिये कल्याणकारी थी क्योंकि इससे दोनों के विकास तथा सम्वर्धन में योग मिलता था। (२) इस व्यवस्था से धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति सुलभ हो जाती थी। (३) यह व्यवस्था पारस्परिक संघर्ष को न्यूनतम मात्रा में कर देती थी (४) इस व्यवस्था ने भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के संरक्षण तथा सम्वर्द्धन में बड़ा योग दिया। (५) व्यक्ति तथा समाज के विकास में बिना किसी प्रकार का गतिरोध किये इससे जीवन का स्थायित्व प्राप्त हुआ था।

(१६) अन्त्येष्टि—यह मनुष्य का अन्तिम संस्कार है। देहावसान हो जाने पर शव को जला कर यह संस्कार किया जाता है।

**(४) तीन ऋण**—हमारे धर्माचार्यों ने तीन प्रकार के ऋणों का उल्लेख किया है अर्थात् पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण तथा देव-ऋण। इन ऋणों से मुक्ति पाना प्रत्येक मनुष्य का परम धर्म होता था।

(१) पितृ ऋण—सन्तान की उत्पत्ति करके तथा उसे शिक्षित एवं योग्य बना कर इस ऋण से मुक्ति मिल सकती थी।

(२) ऋषि ऋण—इस ऋण का सम्बन्ध समाज से होता था। यह ऋण स्वाध्ययन द्वारा चुकाया जा सकता था। गृहस्थ न केवल स्वाध्ययन से ज्ञान की वृद्धि करता था वरन् उसे गुरुकुलों की सहायता भी करनी पड़ती थी।

(३) देव-ऋण—इस ऋण का सम्बन्ध भी समाज से ही होता था और यज्ञादि करके इस ऋण से मनुष्य मुक्त होता था।

**(५) पञ्च महायज्ञ**—मनु जी ने पाँच महायज्ञों का उल्लेख किया है अर्थात् ब्रह्म यज्ञ, पितृ-यज्ञ, भूत यज्ञ तथा नृ यज्ञ।

(१) ब्रह्म यज्ञ—इस यज्ञ का तात्पर्य यह था कि वेदों के अध्ययन-अध्यापन द्वारा सदैव ज्ञानार्जन में संलग्न रहना चाहिये। इससे व्यक्ति तथा समाज दोनों का कल्याण होता है।

(२) पितृ यज्ञ—साधारणतया इस यज्ञ का यह तात्पर्य है कि तर्पण आदि द्वारा मृत-पितरों को सन्तुष्ट करना चाहिये परन्तु इसका यह भी तात्पर्य लगाया जाता है कि ऐसे कर्म करने चाहिये जिससे परिवार के वयोवृद्ध तथा ज्ञान-वृद्ध सदस्यों को सन्तोष हो।

(३) देव-यज्ञ—स्मृतिकारों ने हवन को देव-यज्ञ के नाम से पुकारा है। हवन से वायु शुद्ध हो जाती है। अतएव दैनिक जीवन में इसका बहुत बड़ा महत्व है।

(४) भूत-यज्ञ—स्मृतिकारों ने इसे बलिवैश्वदेव के नाम से भी पुकारा है। बलि का यह तात्पर्य है कि जो कुछ भोजन बना हो उसमें से थोड़ा सा लेकर पाकशाला की अग्नि में डाल देना चाहिये और इसके बाद दाल, भात, रोटी, शाक आदि लेकर ६ भाग भूमि पर रख कर कुत्ते, बिल्ली, कौवे आदि को दे देना चाहिये। इस यज्ञ का यह तात्पर्य है कि जो निराधार हैं उनकी सहायता करनी चाहिये।

(५) नृ-यज्ञ—इसे अतिथि-यज्ञ भी कहते हैं। इस यज्ञ द्वारा अतिथियों की यथाविधि सेवा की जाती थी। अतिथि वही कहा जाता था जो पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, धार्मिक तथा जितेन्द्रिय हो।

**(६) यम-नियम**—पारिवारिक जीवन में यम तथा नियम के पालन पर भी पर बल दिया जाता था क्योंकि इनका पालन पारिवारिक तथा वैयक्तिक कल्याण के लिये नितान्त आवश्यक समझा जाता था। हमारे महर्षियों ने निम्न लिखित यम तथा नियम का उल्लेख किया है :—

यम—(१) ब्रह्मचर्य, (२) दया, (३) क्षमा, (४) ध्यान, (५) सत्य, (६) नम्रता, (७) अहिंसा, (८) चोरी का त्याग, (९) मधुर स्वभाव तथा (१०) इन्द्रिय दमन।

नियम—(१) स्नान, (२) मौन, (३) उपवास, (४) यज्ञ, (५) स्वाध्याय, (६) इन्द्रिय-निग्रह, (७) गुरु-सेवा, (८) शौच, (९) अक्रोध तथा (१०) अप्रमाद

राक्षस तथा पैशाच। ब्राह्म विवाह में कन्या को सुन्दर वस्त्र पहिना कर और उसकी पूजा करके किसी अ तिथीव्रवान् वर को अपने घर बुलाकर कन्या का विवाह कर दिया जाता था। दैव विवाह में वस्त्राभूषण से मसज्जित कन्या को जिस समय यज्ञ क्रिया जा रहा है और ऋत्विक अपना कार्य करता हो उस समय ऋत्विक को दे दिया जाता था। आर्ष-विवाह में वर से एक या दो बैल लेकर यथा विधि कन्या दान किया जाता था। प्राजापत्य विवाह में "दोनों एक साथ धर्माचरण करो" इन वचनों को कह करके पूजा करके कन्या-दान किया जाता था। आसुर विवाह में सम्बन्धियों को यथा-शक्ति धन देकर अपनी स्वतन्त्र इच्छा से कन्या प्राप्त की जाती थी। गान्धर्व विवाह में कन्या तथा वर की अपनी अपनी स्वतन्त्र इच्छा से संसग होता था। राक्षस विवाह उसे कहते हैं जिसमें मार पीट तथा अङ्ग भङ्ग करके रोती हुई कन्या को बलात् घर से भगा ले जाया जाय। प्रसुप्त अथवा प्रमत्त कन्या से एकान्त में मैथुन निमित्त जो विवाह किया जाता है उसे पैशाच विवाह कहते हैं। विवाहों की इस बहु रूपता से भी प्राचीन भारत की सामाजिक उदारता का हमें परिचय मिलता है। विवाह के कुछ निश्चित नियम थे जिनका पालन करना सबके लिये आवश्यक होता था। परन्तु इन नियमों के उल्लंघन हो जाने पर भी लोग समाज से बहिष्कृत नहीं होते थे।

**(११) नियोग**—प्राचीन भारत में नियोग की प्रथा थी। इस प्रथा के अनुसार पति के मर जाने, विदेश चले जाने, नपुंसक अथवा रोगग्रस्त होने पर निस्सन्तान स्त्री को यह अधिकार होता था कि वह किसी धर्मनिष्ठ विद्वान् तथा योग्य व्यक्ति से संसर्ग कर सन्तान प्राप्त करे। इस प्रकार जो पुत्र उत्पन्न होते थे वे 'क्षेत्रज' कहलाते थे। पारिवारिक जीवन की शृंखला को बनाये रखने तथा नैसर्गिक जनन-शक्ति के विकास के लिये नियोग की प्रथा नितान्त आवश्यक समझी जाती थी।

**(१२) बारह प्रकार के पुत्र**—हमारे स्मृतिकारों ने बारह प्रकार के पुत्रों का उल्लेख किया है अर्थात् औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम गूढ़ोत्पन्न, अपविद्ध, कानीन, सहोढ, क्रीतक, पौनर्भव, स्वयंदत्त तथा शौद्र। अपनी स्त्री से अपने संसर्ग द्वारा उत्पन्न किया हुआ पुत्र औरस कहलाता था। मृत, नपुंसक, रोगी आदि की पत्नी से नियोग [illegible] पुत्र को माता-पिता [illegible] पुत्र कहलाता था। [illegible] पुत्र कहलाता है। [illegible] 'गूढ़ोत्पन्न' कहलाता था और उसी का पुत्र कहलाता था जिसकी पत्नी से उत्पन्न होता था। माता पिता अथवा उनमें से किसी एक के द्वारा परित्यक्त पुत्र स्वीकार कर लेने पर वह 'अपविद्ध' पुत्र कहलाता था। पिता के घर कन्या छिपकर जो पुत्र उत्पन्न करती थी वह 'कानीन' पुत्र कहलाता था। जान अथवा अनजान में जिस गर्भिणी स्त्री का विवाह हो जाता था उस [illegible] कहलाता था। जिसे पुत्र बनाने की इच्छा से माता पिता से [illegible] कहलाता था। परित्यक्ता अथवा विधवा स्त्री [illegible] को उत्पन्न करती थी वह 'पौनर्भव' पुत्र [illegible] अकारण माता-पिता द्वारा त्यागा हुआ बालक [illegible] पुत्र कहलाता था। यदि ब्राह्मण शूद्रा स्त्री से [illegible] अथवा 'शौद्र' कहलाता था। इन विभिन्न पुत्रों [illegible] हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन काल का [illegible]

[illegible] का समाज पितृ-

में असमर्थ हो गई त्यों त्यों स्त्रियों की स्थिति भी बिगड़ती गई ...
घर तक ही सीमित रह गया। ...
कही जाती थीं। यद्यपि अब स्त्रि...
प्रतिभा के उदाहरण अब भी उ...
के साथ श्लाघनीय वाद विवाद करती थी और अशोक की पुत्री संघमित्रा ...
का प्रचार करने के लिये सिंहल द्वीप गई थी और वहाँ पर भिक्षुणियों का एक सङ्घ बनाया था। इस काल में राजनैतिक क्षेत्र में भी स्त्रियों ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्त ने अपने पुत्रों की अल्पायु में उनकी संरक्षिका के रूप में शासन किया था। हर्ष की बहिन राज्य-श्री उच्च-कोटि की विदुषी थी और दार्शनिक वाद-विवादों में बड़ी रुचि रखती थी। सारांश यह है कि अनेक असुविधाओं के होते हुये भी प्राचीन भारत में स्त्रियों को सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। प्राचीन भारत में माता के रूप में स्त्री का बड़ा ही ऊँचा स्थान था। उसका बड़ा ही आदर होता था और उसकी आज्ञा का पालन करना परम धर्म समझा जाता था। वास्तव में माता का पिता से कहीं अधिक आदर होता था। पुत्र का जितना पतन माता की उपेक्षा अथवा अपमान करने के कारण हो सकता था उतना अन्य किसी अपराध के कारण नहीं। वास्तव में माता को देवत्व प्रदान किया गया था क्योंकि हमारे आचार्यों ने कहा है कि "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" अर्थात् माता तथा मातृ-भूमि स्वर्ग से भी बढ़कर हैं।

## अध्याय ४७

# प्राचीन भारत का आर्थिक जीवन

**आर्थिक जीवन का महत्व**—कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि प्राचीन
त आध्यात्मिकता को जीवन का सर्वस्व समझता था और लौकिक तथा व्यवहारिक
न की ओर से वह सर्वथा उदासीन रहता था क्योंकि उसका सिद्धान्त था कि संसार
मय है और परम सुख की प्राप्ति परलोक में ही हो सकती है। अतएव सांसारिक
माया में न पड़कर परलोक के सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये परन्तु यह धारणा
ूल, तथा निराधार प्रतीत होती है। वास्तव में मानव-जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति
चीन काल की भारतीय संस्कृति की मूलाधार थी। वर्ग चतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम
र मोक्ष जिसका विधिवत् विश्लेषण पहिले किया जा चुका है। इसी वर्ग-चतुष्टय का
लन सबका कर्तव्य होता था। धर्म, अर्थ तथा काम में पूर्ण सामञ्जस्य तथा समन्वय
ापित करना पड़ता था। इन तीनों में किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी
न्यथा जीवन एकांगी हो जाता और व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो सकता था।
न तीनों में समन्वय स्थापित करके और तीनों की प्राप्ति करने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो
कती थी। अतएव मोक्ष ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य था और धर्म, अर्थ तथा काम
सकी प्राप्ति के साधन मात्र थे। धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति के लिये वर्णाश्रम
ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास) की व्यवस्था की गई थी। सारांश यह है कि
ारिद्रता अथवा आर्थिक विपन्नता किसी भी समय में प्राचीन भारत के जीवन का लक्ष्य
हीं था। परन्तु धन को ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं समझा जाता था वरन् यह
ाधन मात्र था। आर्थिक जीवन का गृहस्थ जीवन से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। द्रव्यो-
पार्जन गृहस्थ जीवन का प्रधान लक्ष्य होता था। समाज तथा व्यक्तियों के आर्थिक विकास
का पूरा उत्तरदायित्व गृहस्थों पर ही रहता था परन्तु अर्थ का संचय धर्म द्वारा किया
जाता था, अधर्म द्वारा नहीं। इसके अतिरिक्त अर्थ का सञ्चय समाज के कल्याण के लिये
किया जाता था वैयक्तिक भोग विलास के लिये नहीं। सारांश यह है कि हमारे संचय में
त्याग निहित था और लोक-कल्याण को हम सर्वोपरि रखते थे। आर्थिक जीवन को सुचारु
रीति से संचालित करने के लिये ही वर्ण-व्यवस्था की गई थी और समाज के आर्थिक
विकास का पूरा भार वैश्यों के ऊपर छोड़ दिया गया था जो भिन्न-भिन्न व्यवसायों
द्वारा समाज को धन-सम्पन्न बनाये रखने का प्रयत्न करते थे। अब प्राचीन भारत के
भिन्न-भिन्न व्यवसायों का संक्षिप्त ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

**कृषि**—अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारत कृषि प्रधान देश रहा है। अतएव प्राचीन
भारत के लोगों की जीविका का मुख्य साधन कृषि था। मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की
खुदाइयों से भी यही पता लगा है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता के युग में भी भारतीयों का
प्रधान व्यवसाय कृषि ही थी। वैदिक काल में भी भारतीयों की जीविका का प्रधान साधन
कृषि ही थी और कृषि-कर्म को अत्यन्त पवित्र माना जाता था। महाभारत काल में कृषि
को राजकीय संरक्षण प्राप्त था। राज्य की ओर से सिंचाई के लिये जलाशयों का प्रबन्ध
किया जाता था। कृषि की उन्नति को राजा अपना परम धर्म समझता था। जातकों

सामूहिक कृषि करने का उल्लेख मिलता है। सबके खेत साथ-साथ जोते जाते थे और सभी लोग मिलकर सिंचाई के लिये सोते तथा नाले बनाते थे। गाँव भर के खेतों की सुरक्षा के लिये एक ही बाड़ा होता था। खेतों पर गाँवों का सामूहिक अधिकार होता था और कोई खेत बेचा नहीं जा सकता था। मौर्य-कालीन सम्राट् भी कृषि की ओर विशेष रूप से ध्यान देते थे और सिंचाई की राज्य की ओर से बड़ी सुन्दर व्यवस्था की गई थी। किसानों को अन्य प्रकार की भी सहायता दी जाती थी। भूमि कृषि करने वालों की सम्पत्ति समझी जाती थी और उनसे छीनी नहीं जा सकती थी। मौर्य-काल के बाद भी कृषि ही लोगों की जीविका का प्रधान साधन था और राज्य की ओर से किसानों को हर प्रकार की सहायता तथा संरक्षण प्रदान किया जाता था।

**पशु पालन**—कृषि-प्रधान देश में पशु-पालन का व्यवसाय स्वाभाविक ही होता है। अतएव प्राचीन काल में पशु पालन भारतीयों का दूसरा प्रमुख व्यवसाय था और पशुओं की संख्या से ही लोगों की धन-सम्पन्नता का अंकन किया जाता था। पशुओं में गाय का सबसे अधिक महत्व था उसे बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता था। सिन्धु घाटी की सभ्यता के युग में ही भारतीयों को पशु पालन का बड़ा चाव था और यहाँ से पशु विदेशों को भी भेजे जाते थे। वैदिक काल में भी भारतीयों को पशु-पालन का बड़ा चाव था वैदिक ऋषियों ने "अघन्याः हि गोः" कहा है अर्थात् गाय को मारना नहीं चाहिये। उपनिषद् काल में आश्रमवासियों के यहाँ गायों के झुण्ड हुआ करते थे जिन्हें [illegible]

[illegible] के पशुओं के अलग-अलग समूह होते थे। मौर्य काल में पशु-पालन महत्वपूर्ण विज्ञान समझा जाता था और राजकुमारों को भी इस विज्ञान का अध्ययन करना पड़ता था। राज्य की ओर से गाय, बैल, घोड़े तथा हाथियों के निरीक्षण के लिये क्रम से गो-अध्यक्ष, [illegible] अध्यक्ष के निरीक्षण में [illegible] रहते थे। पशुओं की [illegible] जनता भी गाय, भेड़, [illegible] इन पशुओं से न केवल [illegible] ग, अस्थि आदि सभी अङ्ग-प्रत्यंग से लाभ उठाया जाता था। अतएव प्राचीन भारत में पशु-पालन राज्य तथा जनता दोनों की आय का बहुत बड़ा साधन था।

**उद्यान**—प्राचीन भारत में उद्यान लगाना भी लोगों का एक व्यवसाय था। सिन्धु घाटी के लोगों को उद्यानों में फल-फूल उगाने का बड़ा चाव था क्योंकि यहाँ की खुदाइयों से खजूर के बीज, नाबू, नारियल तथा अनार के चित्र मिले हैं। वैदिक काल के आर्य को भी फलों के खाने का बड़ा चाव था। इन्हें वनों से पर्याप्त मात्रा में मधुर फल प्राप्त हो जाया करते थे। मुनियों के आश्रमों में कन्द, मूल, फल-फूल का बाहुल्य रहता था। महाकाव्यों में आश्रमों के ऐसे उपवनों का विशद वर्णन है। पुराणों में भी पुण्य के लिये उपवनों के लगवाने का आदेश दिया गया है। आश्रमों के अतिरिक्त नगरों तथा ग्रामों के निकट भी उपवन लगवाये जाते थे। मौर्य तथा गुप्त-कालीन राजाओं को भी उपवन लगवाने का बड़ा चाव था। इन उपवनों में मोर, हंस तथा अन्य पक्षी पाले जाते थे। गुप्त काल में तो प्रायः प्रत्येक घर के पास एक उपवन होता था। कालिदास ने अपनी रचनाओं में उपवनों का सुन्दर वर्णन किया है। मौर्य तथा गुप्त कालीन सम्राटों ने

सड़कों के किनारे वृक्षों के लगवाने की व्यवस्था की थी। उद्यान-शास्त्र का प्रामाणिक विवरण हमें वराह मिहिर के वृहद् संहिता नामक ग्रन्थ के वृक्षायुर्वेद के अध्याय में मिलता है। ह्वेनसांग ने भी अपने यात्रा विवरण में इस बात का उल्लेख किया है कि भारतीयों को उपवन लगाने का बड़ा चाव था। सारांश यह है कि प्राचीन भारतीयों के आर्थिक जीवन पर उपवनों तथा उद्यानों का भी बहुत बड़ा प्रभाव था।

**व्यापार**—अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारतीयों का आन्तरिक तथा वैदेशिक व्यापार अत्यन्त उन्नत दशा में था। हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो की खुदाइयों से यह पता

ऋग्वेद में "नाव. समुद्रिता" अर्थात् समुद्र में चलने वाली नावों का उल्लेख मिलता है जिससे स्पष्ट है कि भारतीयों का विदेशों के साथ व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा होगा। ऋग्वेद में पणियों का भी उल्लेख किया गया है जो बड़े ही धन-लोलुप तथा कन्जूस होते थे, जो व्यापार करते थे और जिनका पश्चिमी एशिया के फिनीशियन्स के साथ बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध था। बौद्ध जातकों से भी हमें ज्ञात होता है कि भारत का आन्तरिक तथा वैदेशिक व्यापार उन्नत दशा में था। उत्तर भारत

उत्तर पश्चिम के देशों के साथ भारत का घनिष्ट व्यापारिक सम्बन्ध था। भड़ौच

से स चालित करने के लिये राजमार्ग की भव्य व्यवस्था सरकार द्वारा की जाती थी और उनकी सुरक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व सरकार के ऊपर रहता था।

**अन्य उद्योग-धन्धे**—प्राचीन भारत में दस्तकारी का काम भी उन्नत दशा में था ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर कताई तथा बुनाई का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त रथ बनाने के लिये विभिन्न धातुओं को गलाने आभूषण बनाने, अस्त्र-शस्त्र बनाने गृह-निर्माण, पोत आदि के बनाने तथा अन्य प्रकार के भी उद्योग धन्धों का उल्लेख मिलता है। रथकार, तक्षा, कौलाल, कर्मकार, मणिकार, धनुष्कार, रज्जुसर्ज, मृगयु हस्तिप, अश्वप गोपाल, अजपाल, सुराकार आदि का उल्लेख यजुर्वेद में भी मिलता है। बौद्ध-काल में भी दस्तकारी तथा विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धों की आश्चर्यजनक उन्नति हुई थी। मौर्य काल में भी जुलाहे, बढ़ई, लोहार, सोनार, राजगीर, आदि का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य ने भिन्न-भिन्न व्यवसायों तथा उद्योग-धन्धों के संगठन की विधि तथा कर-नीति का वर्णन किया है। उसने उद्योग धन्धों को दो भागों में विभक्त किया है अर्थात् राज्य द्वारा संचालित एवं नियंत्रित तथा गैर सरकारी। प्रथम कोटि में लवण, खनिज, मादक द्रव्य आदि आते थे और द्वितीय श्रेणी में अन्य प्रकार के उद्योग-धन्धे आते उद्योग-धन्धों को राज्य की सहायता तथा संरक्षण प्राप्त था। गुप्त काल

प्राचीन-भारत के इतिहास में स्वर्ण-युग कहलाता है विभिन्न प्रकार के उद्योग धन्
अभूतपूर्व उन्नति हुई और देश धन धान्य पूर्ण था। हर्ष के काल में देश वैभव प
और भारतीय कला-कौशल उन्नत दशा में था।

**उद्योग-धन्धों का संगठन**—जो लोग विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धों व
व्यापारों में लगे थे उन्होंने अपने को संगठित भी कर लिया था और विभिन्न प्रक
संघों का निर्माण कर लिया था इन संघों को पूग, श्रेणी, निगम आदि नामों से पु
गया है। इन संघों का निर्माण उस समय आरम्भ हुआ जब व्यवसाय आनुवांश
गया और उद्योग-धन्धों का स्थानीयकरण प्रारम्भ हुआ। प्राचीन प्राचीन काल में
आवागमन के साधनों का नितान्त अभाव था और यात्रा अत्यन्त भयोत्पादक
थी तब यह नितान्त आवश्यक समझा जाता था कि व्यापारी लोग जिन्हें प्रायः
भयावह वन-प्रदेशों से जाना पड़ता था संगठित होकर अपनी काफिला बना कर
करें। जातकों में हमें कम से कम १८ प्रकार के संघों का उल्लेख मिलता है जिनका प्र
जेट्ठक कहलाता था। कालान्तर में इन "श्रेणियों" में आश्चर्यजनक आर्थिक तथा
नैतिक शक्ति आ गई, राज्य को भी इन 'श्रेणियों' के महत्व को स्वीकार करना पड़ा
इनके स्वत्वों तथा विशेषाधिकारों का अनुमोदन करना पड़ा। 'श्रेणी' के प्रधान का र
दरबार में आदर पूर्ण स्थान था। "श्रेणी" की एक सभा तथा प्रधान और कुछ पदा
धिकारियों को मिला कर कार्यकारिणी होती थी। इस अनुशासन तथा न्याय सम्ब
निश्चित अधिकार प्राप्त थे। 'श्रेणी' सदस्यों पर नियन्त्रण रखती थी और इसके सद
द्वारा उत्पादित वस्तुओं के गुणावगुण के लिये उत्तरदायी समझी जाती थी। श्र
सदस्य तथा सर्व-साधारण का रुपया भी जमा करती थी और ब्याज पर ऋण भी दे
थीं इनकी अपनी सम्पत्ति हुआ करती थी और यह धार्मिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं
दान दिया करती थीं। कुछ 'श्रेणियों' की तो अपनी निजी सेनायें हुआ करती थीं
इस प्रकार इनमें आर्थिक तथा सामरिक दोनों प्रकार की शक्ति निहित थी। इस प्रक
प्राचीन भारत में "श्रेणियाँ" को विभिन्न प्रकार के कार्य करने पड़ते थे और जनता
आर्थिक जीवन में इनका बहुत बड़ा महत्व था। राज्य तथा समाज को इनसे आर्थि
सहायता मिलती थी। व्यवसायिक कार्य कौशल की वृद्धि में इनसे बड़ा योग मिलता था
यह अपने सदस्यों तथा समाज की आर्थिक उन्नति में बड़ी सहायता पहुँचाती थीं। अतएव
राज्य भी इनके कार्यों में बहुत कम हस्तक्षेप करता था। राज्य हस्तक्षेप तभी करता थ
जब इनके कार्य समाज के लिये अहितकर होते थे अथवा इनमें कोई पारस्परिक झगड़ा
खड़ा हो जाता था।

**विनिमय के साधन**—अधिकांश विद्वानों की यही धारणा है कि वैदिक काल में
वस्तु-विनिमय की व्यवस्था थी जो अब भी गाँवों में पाई जाती है। इस व्यवस्था में एक
वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु दे दी जाती थी। मुद्रा का प्रयोग कदाचित जातकों के समय से
आरम्भ हुआ है। बौद्ध ग्रन्थों में "कहापण" का निरन्तर उल्लेख मिलता है जो वर्गाकार
की ताम्र मुद्रा थी। परन्तु मुद्रा के साथ साथ वस्तु-विनिमय की भी व्यवस्था चलती रही।
श्रावस्ती के एक धनाढ्य व्यापारी ने "कहापण" देकर बुद्ध जी के लिये विहार खरीदा था।
इससे यही अनुमान लगाया जाता है कि विनिमय का प्रधान साधन मुद्रा ही थी।
"कहापण" के अतिरिक्त "निक्ख", "मासक", "अद्धमासक", "काकणिक", "काल-
कहापण", "सुवण्ण" तथा "सुवण्णमासक" आदि अन्य मुद्रायें थीं।

**उपसंहार**—उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में
हिन्दुओं का आर्थिक जीवन बड़ा ही संयत तथा सुव्यवस्थित था। कृषि, पशु-पालन,

# अध्याय ४८

# प्राचीन भारत में शिक्षा

**शिक्षा का महत्व**—प्राचीन भारत में शिक्षा को बहुत बड़ा महत्व दिया था। मनुष्य के सर्वाङ्गीण विकास, राष्ट्रीय संस्कृति के संरक्षण तथा जातीय उत्थ लिये शिक्षा नितान्त आवश्यक समझी जाती थी। फलतः जीवन में सर्व प्रथम शिक्षा को ही प्रदान किया गया था। सम्पूर्ण जीवन के लिये जिन चार आश्रम व्यवस्था की गई थी उनमें सर्व प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम था जो विद्याध्ययन के लिये नि किया गया था। इससे यह सिद्ध होता है कि सांसारिक जीवन में प्रवेश करने के पू बौद्धिक विकास आवश्यक समझा जाता था। यही कारण था कि पितृ-ऋण तथ ऋण के साथ साथ ऋषि-ऋण की कल्पना की गई थी जिससे केवल विद्याभ्यास ही मुक्ति मिल सकती थी। प्राचीन भारत में शिक्षा का इतना बड़ा महत्व था कि स्न का राजा से भी अधिक आदर होता था। शिक्षा के भार को उठाने वाले ब्राह्म समाज ने सर्व श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया था और राज्य तथा समाज दोनों से उन्हें प्रकार की सुविधायें तथा सहायता प्राप्त होती थी। यही कारण था कि प्राचीन भार अनेक शिक्षा-केन्द्रों का प्रादुर्भाव हुआ था जिनमें सहस्रों विद्यार्थी ज्ञानार्जन करते केवल मौखिक शिक्षा द्वारा ही सैकड़ों वर्षों तक भारतीय आचार्यों ने अपने वाङ्मय सुरक्षित रक्खा था और उसका परिवर्धन किया था। हमारे प्राचीन काल के आचार्य अपने अनवरत प्रयास तथा प्रतिभा के बल से दर्शन, न्याय, गणित, ज्योतिष, वै रसायन आदि शास्त्रों में ऐसे मौलिक ग्रन्थों की रचना की थी जिन पर हमारा देश भी गर्व करता है। शिक्षा की निम्नलिखित उपयोगिता है:—

**ज्योति का साधन**—वैदिक काल से ही शिक्षा को ज्योति एवं प्रकाश का सा माना जाता था। एक मनीषी ने लिखा है, "ज्ञान तृतीयं मनुजस्य नेत्र" अर्थात् ज्ञ मनुष्य का तृतीय नेत्र है जो उसका पथ-प्रदर्शन करता है और उसे व्यावहारिक कौ प्रदान करता है। महाभारत के अनुसार "नास्ति विद्यासम चक्षुर्नास्ति सत्यसम तप अर्थात् विद्या के समान न कोई नेत्र है और सत्य के समान न कोई तप", विद्या न के इह-लोक में मनुष्य का पथ-प्रदर्शन करती है वरन् यह परमार्थ की ओर भी अग्र करती है क्योंकि "सा विद्या या मुक्तये" अर्थात् विद्या वही है जो मुक्ति दिलाये। भौति दृष्टि-कोण से विद्या सर्वाङ्गीण विकास तथा सौख्य का साधन है। यह अन्धकार से प्रक में लाती है और संशय तथा भ्रम का विनाश करती है। शिक्षा से बुद्धि, शक्ति त कौशल का विकास होता है क्योंकि "बुद्धिर्यस्य बलं तस्य" अर्थात् जिसके बुद्धि है उ के बल भी है। विद्या की उपयोगिता की प्रशंसा करते हुये एक मनीषी ने लिखा है 'मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते कान्तेव चाभि रमयत्यपनीय खेदम्। लक्ष्मी तनो वितनोति च दिक्षु कीर्तिं किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या।" अर्थात् विद्या मात की भाँति रक्षा करती है, पिता की भाँति हित में लगाती है और पत्नी की भाँति शोक क दूर कर आनन्द एवं सुख देती है। यह धन देती है और दिशाओं में कीर्ति को फैलाती है। कल्पलता की भाँति विद्या क्या क्या नहीं करती है। "विद्या बन्धुजनो विदेश गमने" अर्थात् विदेश जाने पर विद्या बन्धुजन का कार्य करती है। "विद्या ददाति विनय ... पात्रताम्, पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्।" अर्थात् विद्या

विनय देती है, विनय से पात्रता आती है, पात्रता से धन मिलता है और धन ही से धर्म होता है तथा सुख मिलता है। इस प्रकार विद्या भौतिक तथा आध्यात्मिक सुखों का साधन है और इससे दोनों लोकों का कल्याण होता है।

विकास का साधन—विद्या से जो ज्योति प्राप्त होती है उससे सर्वाङ्गीण विकास का मार्ग परिष्कृत हो जाता है। बुद्धि के कारण ही तो मनुष्य पशुओं से उत्तर माना जाता है। भर्तृहरि ने नीतिशतक में लिखा है "विद्या विहीनः पशुः" अर्थात् बिना विद्या के मनुष्य पशु के समान है। अतएव बिना शिक्षा के यह जीवन ही व्यर्थ है। उचित शिक्षा के बिना ब्राह्मण भी शूद्र ही रहता है क्योंकि "जन्मना जायते शूद्र संस्कारात् द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रियो उच्यते।" अर्थात् जन्म से शूद्र होता है, संस्कार से द्विज कहा जाता है, विद्या से विप्रत्व को प्राप्त होता है और तीनों से श्रोत्रिय कहलाता है। इस प्रकार प्राचीन काल में हमारे मनीषियों की यह धारणा थी कि विद्या मनुष्य का विकास कर उसे पूर्णता प्रदान करती है।

*विभिन्न गुणों का विकास*—शिक्षा से जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन आता है। इससे मनुष्य में स्वच्छता तथा आचार व्यवहार की शिष्टता आ जाती है जिससे समाज में आदरणीय स्थान प्राप्त होता है। शिक्षा व्यापक दृष्टिकोण प्रदान कर अन्य लोगों के दृष्टिकोण को समझने की क्षमता प्रदान करती है। इससे बुद्धि की कुशाग्रता प्राप्त होती है, बोधगम्यता की अभिवृद्धि होती है और विवेचनात्मक प्रतिभा का विकास होता है। शिक्षा से न केवल बौद्धिक बल की अभिवृद्धि होती है वरन् इससे नैतिक बल का भी *विकास होता है और सांसारिक प्रलोभनों से आत्म-रक्षा होती है। शिक्षा से शारीरिक* विकास में भी योग मिलता है। प्राचीन काल में प्राणायाम तथा सूर्य नमस्कार शिक्षा का अभिन्न अंग माना जाता था। इन आचारों का स्वास्थ्य पर अत्यन्त लाभदायक प्रभाव पड़ता था। शिक्षा जीविका की समस्या को सुलझाती है। सारांश यह है कि शिक्षा मानव-जीवन के सर्वाङ्गीण विकास में सहायक सिद्ध होती है। अतएव इसका मानव जीवन में बहुत बड़ा महत्व है।

**प्राचीन शिक्षा की विशेषतायें**—प्राचीन काल की शिक्षा पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर इसमें निम्नलिखित विशेषतायें परिलक्षित होती हैं:—

(१) गुरु गृह में अध्ययन—प्राचीन शिक्षा की सर्वप्रथम विशेषता यह थी कि गुरु-गृह ही विद्यालय होता था। उपनयन के उपरान्त विद्यार्थी अपने गुरु के आश्रम में प्रवेश करता था और विद्यार्थी जीवन पर्यन्त वहीं निवास करता था। गुरु ही उसका संरक्षक होता था और उसके भोजन तथा वस्त्र की पूर्ण व्यवस्था करता था।

(२) सदाचार के आधार पर गुरुकुल में प्रवेश—प्राचीन शिक्षा की दूसरी विशेषता यह थी कि गुरु गृह में विद्यार्थियों का प्रवेश केवल नैतिक बल तथा सदाचार के आधार पर होता था। संदिग्ध आचरण वाले विद्यार्थियों के लिये गुरु-कुल में कोई स्थान न था।

(३) ब्रह्मचर्य जीवन अनिवार्य—प्राचीन शिक्षा की तीसरी विशेषता यह थी कि ब्रह्मचर्य का जीवन अनिवार्य होता था। विद्यार्थी को अपने सम्पूर्ण विद्यार्थी जीवन में अविवाहित रहना पड़ता था। यद्यपि विवाहित युवक भी विद्याध्ययन कर सकते थे परन्तु गुरु के आश्रम में रहना निषिद्ध था।

(४) गुरु-सेवा—प्राचीन शिक्षा की चौथी विशेषता गुरु-सेवा थी। गुरु की सेवा करना विद्यार्थी का परम कर्तव्य समझा जाता था। गुरु के गृह कार्य का भार प्रायः विद्यार्थी पर ही रहता था। वह मनसा वाचा कर्मणा से गुरु भक्त होता था और उसकी

[illegible]

[illegible]

[illegible]

**शिक्षा सिद्धान्त**—प्राचीन भारत के शिक्षा सिद्धान्त किसी ग्रन्थ में [illegible] उल्लिखित नहीं हैं। परन्तु विद्वानों ने प्राचीन काल के शिक्षा साहित्य का [illegible] करके निम्नलिखित सिद्धान्त संकलित किये हैं :—

(१) **पूर्ण एवं पारंगत**—प्राचीन काल में शिक्षा का लक्ष्य विद्यार्थियों में ज्ञान [illegible] अर्जित [illegible] करना था [illegible] के [illegible] करने तथा जटिल समस्याओं के सुलझाने की क्षमता उत्पन्न का ज्ञान। अतएव [illegible] पर बल दिया जाता था कि शिक्षा पूर्ण हो और शिक्षार्थी अपने विषय में पारंगत [illegible] फलतः विभिन्न विषयों में विभिन्न विद्यार्थियों को पाण्डित्य प्रदान करने का लक्ष्य [illegible] जाता था। पुस्तकों के अभाव के कारण स्मरण शक्ति के परिवर्द्धन का तथा कंठस्थ [illegible] का प्रयत्न किया जाता था। विद्यार्थी को विषय-पारंगत बनाने के लिये प्रत्येक विद्यार्थी [illegible] व्यक्तिगत ध्यान दिया जाता था। व्यावसायिक शिक्षा में पूर्ण कौशल प्रदान करने [illegible] लिये अभ्यास पर बड़ा बल दिया जाता था।

(२) **सर्व व्यापकता**—प्राचीन काल में शिक्षा को समाज के सम्वर्द्धन का सा[illegible] समझा जाता था। अतएव इस बात पर बल दिया जाता था कि शिक्षा के पात्र स[illegible] व्यक्तियों को शिक्षा प्राप्त होनी चाहिये। जो व्यक्ति शिक्षा के अधिकारी होते थे वे निर[illegible] ही अपनी रुचि तथा योग्यता के अनुसार शिक्षित किये जाते थे। इसी लक्ष्य की पू[illegible] लिये उपनयन संस्कार स्त्री-पुरुष सभी के लिये अनिवार्य कर दिया गया था। ऋषियों [illegible] ऋण से मुक्त होने का एक मात्र साधन शिक्षा प्राप्त करना था। इससे हम इसी निष्क[illegible] पर पहुँचते हैं कि शिक्षा का रूप अत्यन्त व्यापक था।

(३) **विनय तथा परिश्रम पर बल**—प्राचीन काल में शिक्षा का तीसरा सिद्धान्त यह था कि वाह्याभ्यान्तर अनुशासन एवं विनय तथा परिश्रमशीलता का होना आवश्यक समझा जाता था। फलतः नैतिक अथवा मानसिक दुर्बलता वाले व्यक्ति के लिये प्राचीन शिक्षा विधान में कोई स्थान न था। विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता था। विद्यार्थी जीवन एक प्रकार का तपस्या का काल था और उसमें सुख के लिये कोई स्थान न था क्योंकि "सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्।"

(४) **विवाह का निषेध**—प्राचीन भारत में शिक्षा का एक यह भी सिद्धान्त था कि शिक्षा काल में विद्यार्थी को अविवाहित रहना चाहिये और ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। विद्यार्थी में मानसिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार की पवित्रता वांछनीय थी।

(५) **उचित समय पर विद्यारम्भ**—प्राचीन काल में उचित समय पर शिक्षा के

प्रारम्भ करने का विधान था। अतएव पाँच छः वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार करके शिक्षा आरम्भ कर दी जाती थी। बाल्यकाल में मस्तिष्क लचीला तथा ग्रहणशील रहता है। अतएव शिक्षा का कार्य सुलभ हो जाता है। इसी से हमारे आचार्यों ने कहा था, "माता शत्रुः पिता वैरी बालो यन्न पाठित।"

(६) शिक्षा वैयक्तिक—प्राचीन काल में सामूहिक शिक्षा का अधिक प्रचार न था। अतएव प्रत्येक विद्यार्थी पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान दिया जाता था। फलतः विद्यार्थी के सम्पूर्ण अन्तर्हित गुणों के विकास की सम्भावना रहती थी।

(७) मनोवैज्ञानिक शिक्षा—प्राचीन काल की शिक्षा मनोविज्ञान के सिद्धान्त पर आधारित थी। विद्यार्थी को शारीरिक दण्ड देना पाप समझा जाता था। आपस्तम्ब, मनु, गौतम, विष्णु आदि सभी आचार्यों ने शारीरिक दण्ड का निषेध किया है। यदि साधारण दण्ड का आदेश भी दिया गया है तो उसे अन्तिम उपाय बतलाया गया है।

(८) स्वभाव के निर्माण का महत्त्व—प्राचीन काल की शिक्षा की एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि विद्यार्थियों में अच्छी-अच्छी आदतों के डालने का प्रयत्न किया जाता था। चूँकि विद्यार्थी अपने गुरु के सीधे सम्पर्क में रहता था अतएव उसमें अच्छी आदतों का बीजारोपण करना गुरु के लिये सुलभ होता था। अच्छी आदतों के फलस्वरूप विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के विकास में बड़ी सहायता मिलती थी।

(९) विद्यार्थी का सहयोग—प्राचीन शिक्षा पद्धति में विद्यार्थी के सहयोग को बहुत बड़ा महत्व दिया गया था। विद्यार्थी का जिज्ञासु होना और ज्ञानार्जन में प्रयत्नशील होना नितान्त आवश्यक समझा जाता था।

(१०) सहवास तथा अनुकरणशीलता का महत्त्व—प्राचीन शिक्षा शास्त्रियों ने इस बात का अनुभव किया था कि विद्यार्थी के चरित्र के निर्माण तथा उसकी योग्यता के विकास में सहवास तथा अनुकरणशीलता का बहुत बड़ा महत्व है। मन्द बुद्धि का विद्यार्थी भी कुशाग्र बुद्धि के विद्यार्थी के सम्पर्क में रह कर उन्नति कर सकता है।

(११) अध्ययन की निरन्तरता—प्राचीन काल में अध्ययन की निरन्तरता पर भी बड़ा बल दिया जाता था। प्रत्येक स्नातक का यह कर्तव्य था कि वह प्रतिदिन कुछ न कुछ अध्ययन करे जिससे जो कुछ उसने शिक्षालय में अर्जन किया है उसका विस्मरण न हो जाय।

(१२) जीवनोपयोगिता—प्राचीन काल की शिक्षा कोरी पुस्तकीय शिक्षा ही नहीं होती थी वरन् वह व्यवहारिक तथा प्रयोगात्मक भी होती थी। वह भावी जीवन के लिये उपयोगी सिद्ध होती थी।

**शिक्षारम्भ**—ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि प्राचीन भारत में सम्पूर्ण समाज को शिक्षित बनाने के लिये ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था की गई थी। ब्रह्मचर्य का शाब्दिक अर्थ होता है वेद का अध्ययन अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारम्भ वेदाध्ययन के प्रारम्भ से होता था। ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता था। उपनयन का शाब्दिक अर्थ होता है समीप जाना। इस संस्कार द्वारा बालक गुरु के समीप जाकर विद्याध्ययन के लिये उसका शिष्य बनता था। उपनयन संस्कार के उपरान्त ब्रह्मचारी गुरु से विद्याध्ययन करता था।

**शिक्षा का ध्येय**—प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति का पूर्णरूप से विश्लेषण करने के पूर्व ही शिक्षा के ध्येय पर विचार कर लेना आवश्यक है। तत्कालीन शिक्षा के छः प्रधान लक्ष्य बतलाये जाते हैं अर्थात् चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक

एवं सामाजिक कर्तव्यों का बोध तथा प्राचीन संस्कृति का संरक्षण। अब इनका अलग-अलग वर्णन करना उचित होगा।

(१) चरित्र-निर्माण—मानव जीवन में चरित्र का बहुत बड़ा महत्व है। चरित्र पर ही उसका उत्थान तथा पतन निर्भर रहता है। चरित्र के नष्ट हो जाने पर उसका सर्वस्व विनष्ट समझा जाता है। अतएव प्राचीन भारत में चरित्र निर्माण शिक्षा का प्रधान लक्ष्य निर्धारित किया गया था। आचार्य का अर्थ ही होता है आचार का निर्माता। अतएव ब्रह्मचारी का चरित्र निर्माण आचार्य का प्रधान कर्तव्य होता था। चरित्र को उन्नत बनाने के लिये ही ब्रह्मचर्यावस्था में संयम, सादगी तथा सच्चरित्रता पर बल दिया जाता था। विदेशी यात्रियों ने इन ब्रह्मचारियों के चरित्र की मुक्त-कण्ठ से जो प्रशंसा की है उससे यह सिद्ध हो जाता है कि चरित्र-निर्माण के लक्ष्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हो चुकी थी।

(२) व्यक्तित्व का विकास—शिक्षा का दूसरा लक्ष्य ब्रह्मचारी के व्यक्तित्व का विकास होता था। गुरु के यहाँ ब्रह्मचारी को अपने मानसिक तथा शारीरिक विकास के लिये पूर्ण अवसर प्राप्त होता था। गुरु का यह कर्तव्य होता था कि वह अपने शिष्य में आत्म सम्मान, आत्म विश्वास तथा आत्म-संयम की भावना उत्पन्न करे। उसे इस बात का ज्ञान कराया जाता था कि वह अपनी जाति तथा सभ्यता का संरक्षक है और उसकी जाति का उत्थान उसके कार्यों पर ही निर्भर है। ब्रह्मचारी में उत्तरदायित्व तथा कर्तव्य-पालन की भावना को जागृत किया जाता था। अतएव व्यक्तित्व का उत्तरोत्तर विकास होता जाता था।

(३) नागरिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का बोध—शिक्षा का तीसरा ध्येय नागरिक एवम् सामाजिक कर्तव्यों का बोध कराना था। ब्रह्मचारी को इस बात का ध्यान दिलाया जाता था कि समाज का उसके ऊपर ऋण है जिससे वह सन्तानोत्पादन तथा उचित शिक्षा द्वारा ही उऋण हो सकता है। उसे यह शिक्षा दी जाती थी कि अपने उपार्जित धन को उसे निजी भोग-विलास में नहीं वरन् लोक-हित में लगाना है।

(४) प्राचीन संस्कृति का संरक्षण—प्राचीन भारत में शिक्षा का चौथा लक्ष्य था प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति का संरक्षण। इस लक्ष्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। यह प्राचीन काल के आचार्यों तथा ब्रह्मचारियों के ही प्रयास का फल है कि हमारा वैदिक काल का सम्पूर्ण वाङ्मय सुरक्षित रहा है। गुरु-शिष्य परम्परा ने हमारी संस्कृति की निरन्तरता को अक्षुण्ण बना दिया है।

(५) पवित्रता तथा धार्मिकता का समावेश—प्राचीन काल में भारतीयों के जीवन में धर्म का बहुत बड़ा महत्व था और शिक्षक प्रायः ब्राह्मण ही हुआ करते थे। अतएव शिक्षा का सर्व-प्रथम लक्ष्य विद्यार्थियों में पवित्रता तथा धार्मिकता की भावना को उत्पन्न करना था।

(६) सामाजिक कौशल तथा सुख की अभिवृद्धि—समाज में कार्य क्षमता तथा कुशलता उत्पन्न करना और समाज का पार्थिव जीवन सुखी बनाना भी शिक्षा का एक प्रधान लक्ष्य था। शिक्षा द्वारा न केवल बौद्धिक तथा सांस्कृतिक विकास का प्रयत्न किया जाता था वरन् व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा भी दी जाती थी।

निष्कर्ष—हमारी प्राचीन शिक्षा पद्धति ऐसी थी जिसमें जीवन की ओर विद्यार्थी [illegible] और उसमें किसी भी प्रकार की संकीर्णता का समावेश [illegible] [illegible]क, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक सभी प्रकार [illegible] विद्वता के प्रति उसके हृदय में श्रद्धा तथा आदर की [illegible] में यह बतलाया जाता था कि कुटुम्ब, समाज,

पूर्वजों तथा परम्परागत संस्कृति के प्रति हमारे क्या कर्तव्य हैं और हमें उनका किस प्रकार पालन करना चाहिये। यद्यपि इस पद्धति में धार्मिक शिक्षा की प्रधानता थी परन्तु अन्य आवश्यक शास्त्रों की भी उपेक्षा नहीं की जाती थी। प्राचीन शिक्षा पद्धति का लक्ष्य न केवल सामाजिक वरन् सभ्य तथा संस्कृत प्राणी बनाना था। सारांश यह है कि व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास प्राचीन शिक्षा का प्रधान लक्ष्य था।

**गुरुकुल पद्धति**—प्राचीन भारत में शिक्षा के प्रसार के लिये गुरुकुल पद्धति प्रचलित था। विद्यार्थी शिक्षा काल में अपने गुरु के यहाँ रहते थे। इसी से उन्हें अन्तेवासी कहा गया है। विद्यार्थियों का अपने गुरु के आश्रम में निवास करना कई कारणों से वांछनीय समझा जाता था। सर्व-प्रथम तो गुरु के वैयक्तिक निरीक्षण तथा नियन्त्रण में शिक्षा का कार्य सुचारु तथा सफल रूप में हो जाता था। दूसरे राजपुत्रों में अहङ्कार नहीं आने पाता था, उनमें आत्म-ज्ञान आ जाता था और संसार का अनुभव प्राप्त हो जाता था। गुरुकुलों में उच्च-कोटि की शिक्षा प्रदान की जाती थी। अतएव जो विद्यार्थी इनमें प्रविष्ट होते थे उनकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही समाप्त हो जाया करती थी और वे प्राय १६ वर्ष की अवस्था प्राप्त हो जाने पर गुरु-कुल में प्रवेश करते थे। गुरु का आश्रम प्राय उसी गाँव अथवा नगर में स्थित रहता था जहाँ वे निवास करते थे। परन्तु कभी-कभी गाँवों तथा नगरों की भीड़ भाड़ तथा शोर गुल से मुक्त रहने के लिये यह आश्रम निकटवर्ती जंगलों में कर दिये जाते थे जिससे शान्ति तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के वातावरण में सुन्दर रूप में शिक्षा का कार्य हो सके।

**आचार्य के कर्तव्य**—प्रत्येक आचार्य से यह आशा की जाती थी कि उसमें उच्च कोटि का नैतिक बल, आचरण की सभ्यता, मानसिक प्रतिभा तथा आध्यात्मिकता होगी। आचार्य का यह परम धर्म होता था कि वह सत्य की विधिवत् विवेचना अपने शिष्यों में करे जैसा कि उसने स्वयम् देखा तथा अनुभव किया है और अपने विद्यार्थियों से कुछ न छिपाये। आचार्य को चाहिये कि वह बड़ी ही बुद्धिमत्ता तथा कौशल के साथ अपने शिष्यों को पढ़ाये।

**ब्रह्मचारी के कर्तव्य**—विद्याध्ययन काल में ब्रह्मचारी को अनेक नियमों का पालन करना पड़ता था। ब्रह्मचारी को अपने सामने सरल जीवन तथा उच्च-विचार का आदर्श रखना पड़ता था अतएव उसका भोजन सादा होता था। मांस-मदिरा का सेवन सर्वथा वर्जित था। ब्रह्मचारी के वस्त्र भी अत्यन्त सादे होते थे और उपानह तथा पर्यङ्क का प्रयोग वर्जित था। उसे प्रातः काल सूर्योदय से पूर्व उठना पड़ता था और बड़ी ही तन्मयता, विनम्रता, शुद्धता तथा आत्म-नियन्त्रण के साथ अध्ययन में संलग्न हो जाना पड़ता था। काग-चेष्टा, बकुल ध्यान, श्वान-निद्रा, स्वल्प-आहार तथा गृह-त्याग यह विद्यार्थी के पाँच लक्षण बतलाये गये हैं। कहीं-कहीं इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि ब्रह्मचारी की जीवन वृत्ति भिक्षा हो। भिक्षा के नियम का उद्देश्य ब्रह्मचारी को नम्र बनाना तथा इस बात का ज्ञान प्राप्त कराना था कि वह समाज की सहायता से शिक्षा प्राप्त कर रहा है और समाज का उसके ऊपर ऋण हो रहा है जिसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर उसे चुकाना होगा। भिक्षा-पद्धति से एक यह भी लाभ होता था कि धनी निर्धन सभी शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। भिक्षाटन केवल निर्धन विद्यार्थियों को ही करना पड़ता था। भिक्षा-पद्धति से समाज को भी कर्तव्य की चेतावनी मिल जाती थी। ब्रह्मचारी को भिक्षा देना प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य होता था परन्तु ब्रह्मचारी अपनी आवश्यकता से अधिक भिक्षा नहीं ले सकता था।

**गुरु तथा शिष्य का सम्बन्ध**—प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति की एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि गुरु तथा शिष्य में [illegible] था। शिष्य अपने

गुरु के घर में उसके परिवार के सदस्य की भाँति रहता था। गुरु अपने पुत्र की भाँति उसे रखता था और उसका पालन-पोषण करता था। गुरु अपने शिष्य के न केवल अध्ययन की वरन् उसके भोजन, वस्त्र, औषधि आदि की भी सुव्यवस्था किया करता था। शिष्य के रुग्ण हो जाने पर गुरु उनकी परिचर्या भी किया करते। शिष्य भी अपने गुरु को देव-तुल्य मानता था और देवता की ही भाँति उसकी प्रतिष्ठा तथा आराधना किया करता था। शिष्य का आदर्श यह था कि वह पुत्र, दास तथा प्रार्थी की भाँति अपने गुरु की सेवा करे। इस सेवा के अतिरिक्त शिक्षा के समाप्त हो जाने पर शिष्य को गुरु-दक्षिणा भी देनी पड़ती थी।

शिक्षा-काल—प्राचीन काल में शिक्षा का कार्य वर्षा ऋतु के आरम्भ हो जाने पर सावन के महीने में "श्रावणी" अनुष्ठान के उपरान्त आरम्भ होता था और पौष अथवा माघ के महीने में "उत्सर्जन" अनुष्ठान करके समाप्त किया जाता था। प्रारम्भ में अध्ययन की वार्षिक अवधि केवल ६ महीने की होती थी परन्तु ज्यों-ज्यों पाठ्य विषयों में वृद्धि होती

पाठ्य-क्रम—प्रारम्भिक वैदिक काल में मुख्य पाठ्य विषय वेद-मन्त्र, इतिहास, पुराण तथा वीर पुरुषों की प्रशस्तियाँ होती थीं। उत्तर-वैदिक तथा ब्राह्मण काल में ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी पाठ्य-क्रम में रख लिया गया था। उपनिषद् तथा सूत्र-युग मे वेदांग के अतिरिक्त इतिहास, पुराण, गणित, ज्योतिष, खगोल-विद्या, सर्प-विद्या दैव खनिज विद्या, तर्क शास्त्र, मल्ल-विद्या, भूत-विद्या, राजनीति, नीति-शास्त्र आदि व अध्ययन होने लगा। जातकों से पता चलता है कि क्षत्रिय तथा ब्राह्मण युवक तीनों तथा अठारह शिल्पों का अध्ययन करते थे। अतएव यह स्पष्ट है कि व्यवसायिक की उपेक्षा नहीं की जाती थी। उत्तरोत्तर वेदों की लोक-प्रियता घटती गई और अन्य योगी शास्त्रों का अध्ययन बढ़ने लगा।

पाठ्य-विधि तथा परीक्षायें—प्राचीन काल में बहुत दिनों तक लेखन-का अधिक प्रचार न था। लेखन-कला के प्रचार हो जाने पर भी मुद्रण कला के प्र चार न होने के कारण ग्रन्थों का सर्वथा अभाव था। अतएव प्राचीन काल की शि पद्धति मौखिक होती थी। गुरु-मुख से पाठ को श्रवण करके विद्यार्थी उसको पुनरा करते थे और उसे कण्ठाग्र करने का प्रयत्न करते थे। इस पद्धति में स्मरण शक्ति, कण्ठस्थ करने की क्षमता बड़ी सहायक सिद्ध होती थी। परन्तु यह कोरी रटन्त विद्या थी। आचार्य पहिले विषय का विश्लेषण तथा सम्यक् बोध करा देते थे और फिर कण्ठस्थ कराने का प्रयत्न करते थे। गुरु प्रत्येक विद्यार्थी को अलग-अलग पढ़ाते थे, उ पाठ सुनते थे और उसकी भूलों को ठीक करते थे। अतएव गुरु अपने प्रत्येक विद्यार्थी वैयक्तिक ध्यान दे सकता था। परन्तु ऐसी पद्धति में प्रत्येक गुरु के पास १५-२० अधिक विद्यार्थी अध्ययन नहीं कर पाते थे। गुरु को सयाने विद्यार्थियों से भी अध्यापन कार्य में सहायता मिलती थी और गुरु की अनुपस्थिति में उसके अभाव की पूर्ति सया विद्यार्थी ही करते थे। शिक्षा प्रश्नोत्तर तथा वार्तालाप की पद्धति से दी जाती थी। प्र एव विद्यार्थी के विचार, विश्लेषण तथा मनन शक्ति का पूर्ण विकास होता था और उस तार्किक बन जाने की सम्भावना रहती थी। इस पद्धति में बाकपटुता आदि सभी शक्तियों का विकास होता था। इस अवस्था में परीक्षा के न था। प्रतिदिन गुरु नया पाठ आरम्भ करने

लिये हो पिछले पाठ की मौखिक परीक्षा ले लिया करता था और पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हो जाने पर ही नया पाठ आरम्भ करता था। इस दैनिक परीक्षा का वार्षिक परीक्षा से कहीं अधिक महत्व समझा जाता था। अतएव वार्षिक परीक्षा की कोई व्यवस्था न थी। शिक्षा के समाप्त हो जाने पर समावर्तन से पूर्व शिष्यों को विद्वत परिषद् में उपस्थित किया जाता था जहाँ उनसे कुछ प्रश्न पूछ लिये जाते थे।

**शिक्षा केन्द्र**—यद्यपि अत्यन्त प्राचीनतम काल में 'गुरुकुलों' में ही शिक्षा प्रदान की जाती थी परन्तु जो आचार्य अपनी उत्कट विद्वता तथा पवित्रता के लिये सुविख्यात थे उनके पास दूर-दूर से आकर विद्यार्थी एकत्रित होने लगे। फलतः ऐसे "गुरुकुल" कालान्तर में बड़े-बड़े विश्व-विद्यालयों में परिवर्तित हो गये। अब प्राचीन भारत के प्रमुख विश्व-विद्यालयों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

**तक्षशिला**—यह प्राचीन भारत का सबसे अधिक प्राचीन तथा विश्रुत शिक्षा-केन्द्र था। यह नगर पश्चिमोत्तर में स्थित है। सातवीं शताब्दी ई० पू० तक में यह एक प्रसिद्ध विद्यापीठ था जहाँ दूर-दूर से विद्यार्थी ज्ञानार्जन के लिये आया करते थे। तक्षशिला आधुनिक काल के विश्व-विद्यालयों की भाँति न था। उसके शिक्षक न तो किसी केन्द्रीय शक्ति के नियन्त्रण में थे और न वहाँ का कोई पाठ्य क्रम तथा शिक्षा-काल ही निश्चित था। न उसमें परीक्षाओं की व्यवस्था थी और न उपाधियाँ दी जाती थीं। यह केवल एक सुप्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र था जहाँ विश्रुत धुरन्धर विद्वान् रहा करते थे। इनका न किसी कालेज से सम्बन्ध रहता था और न यह वेतन भोगी होते थे। इनके पाण्डित्य से आकृष्ट होकर दूर-दूर से जिज्ञासु ज्ञानार्जन के लिये इनके पास आया करते थे। तक्षशिला साहित्यिक तथा उपयोगी दोनों प्रकार की शिक्षाओं का केन्द्र था। यहाँ पर तीनों वेदों तथा १८ शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी। शिल्प-शिक्षा में वैद्यक तथा धनुर्विद्या प्रमुख थे। विद्यार्थी प्रायः १५-१६ वर्ष की आयु में यहाँ आते थे और ५ से ८ वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करके वापस लौट जाते थे।

**नालन्दा**—प्राचीन काल में शिक्षा का दूसरा सुविख्यात केन्द्र नालन्दा का विश्वविद्यालय था जो पटना के दक्षिण पश्चिम में ४० मील की दूरी पर स्थित था। इसका उत्थान पाँचवीं शताब्दी के मध्य में उदार गुप्त सम्राटों की दानशीलता के कारण हुआ था। शक्रादित्य अर्थात् कुमार गुप्त प्रथम ने एक विहार बनवा कर नालन्दा की नींव डाली थी। सम्राटों के संरक्षण में नालन्दा की उत्तरोत्तर उन्नति होती गई और कालान्तर में यह एक अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा तथा संस्कृति का केन्द्र हो गया। न केवल भारत के कोने-कोने से वरन् मध्य-एशिया, चीन, कोरिया, जावा आदि देशों से भी जिज्ञासु शिक्षा प्राप्त करने के लिये यहाँ आने लगे। विद्यार्थियों के निवास करने के लिये विहार बने थे। नालन्दा महायान बौद्ध विश्वविद्यालय था। अतएव इसके सभी विद्यार्थी बौद्ध भिक्षु होते थे चूंकि इन विश्वविद्यालय में प्रवेश करने वालों की संख्या अत्यधिक हो जाया करती थी अतएव प्रवेश के नियम बड़े कड़े थे। धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभाकरमित्र, शीलभद्र, धर्मकीर्ति, पद्म सम्भव, आदि इस विश्वविद्यालय के विश्रुत अध्यापक थे। शिक्षकों तथा विद्यार्थियों को मिलाकर इनकी संख्या १०,००० थी जिनमें अध्यापकों की संख्या १,५०० थी। विश्व-विद्यालय का प्रबन्ध पदाधिकारियों की एक शृङ्खला द्वारा होता था। विश्वविद्यालय का प्रधान कुलपति कहलाता था। कुलपति के नीचे पीठस्थ होता था। विश्वविद्यालय के पास एक अत्यन्त विशाल पुस्तकालय था जो 'धर्मगञ्ज' कहलाता था। यह पुस्तकालय तीन भवनों में स्थित था जो रत्नसागर, रत्नोदधि तथा रत्नरञ्जक कहलाते थे। नालन्दा को सम्राट तथा जनता दोनों से व्यापक सहायता प्राप्त थी। इस विश्वविद्यालय

गया था। साहित्य, दर्शन, व्याकरण कला आदि सभी विषयों को प्रोत्साहन मिलता था और यहाँ से भारतीय धर्मोपदेशक विदेशों में जाकर भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार करते थे। यह विश्रुत विश्वविद्यालय तेरहवीं शताब्दी में विदेशियों के आक्रमण द्वारा नष्ट कर दिया गया।

वल्लभी—यह विश्वविद्यालय काठियावाड़ में आधुनिक वला नामक स्थान पर स्थित था। इसका उत्कर्ष काल सातवीं शताब्दी माना गया है। इसमें नालन्दा के ही स्तर की शिक्षा दी जाती थी। यहाँ पर विद्वान् उच्च शिक्षा को पूर्ण करने के लिये जाया करते थे। सौराष्ट्र के मैत्रक राजाओं का आश्रय इस विश्व-विद्यालय को प्राप्त था। इसमें प्रधानतः थेरवाद बौद्ध सम्प्रदाय की शिक्षा दी जाती थी। इस विश्वविद्यालय के पास भी बहुत बड़ा पुस्तकालय था।

बनारस—हिन्दुओं का महत्वपूर्ण तीर्थ स्थान होने के कारण बनारस संस्कृत पण्डितों का बहुत बड़ा केन्द्र था। तक्षशिला के बाद ही इसका विकास हुआ था। यहाँ पर ब्राह्मण-शिक्षा का प्राबल्य था।

विक्रमशिला—यह विश्वविद्यालय उत्तरी मगध में स्थित था। इसकी स्थापना बंगाल के पाल-वंश के राजा धर्मपाल ने की थी। चार शताब्दियों तक यह पूर्वी भारत का प्रमुख शिक्षा-केन्द्र बना रहा। तिब्बत के साथ इसका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था और तिब्बत से आने वाले विद्यार्थियों के लिये यहाँ पर एक विशेष धर्मशाला की व्यवस्था की गई थी। यहाँ से आचार्य लोग तिब्बत जाया करते थे और तिब्बती ग्रन्थों का संस्कृत में अनुवाद किया करते थे। विक्रमशिला एक अत्यन्त सुसंगठित तथा व्यवस्थित विश्व-विद्यालय था और इसमें व्याकरण, दर्शन, न्याय, तन्त्र आदि की शिक्षा दी जाती थी।

ओदान्तपुरी—इस विश्वविद्यालय की स्थापना आठवीं शताब्दी के मध्य में पाल-वंश के राजा गोपल ने की थी। पाल राजाओं के आश्रय तथा संरक्षण में इसकी अभिवृद्धि हुई थी। यह विश्वविद्यालय पाटलिपुत्र के निकट स्थित था और इसके विद्यार्थियों की संख्या लगभग एक सहस्र के था। इसमें तान्त्रिक विद्या का विशेष रूप से अध्ययन किया जाता था।

मिथिला—अत्यन्त प्राचीन काल से मिथिला (विदेह) ब्राह्मणीय शिक्षा का केन्द्र रहा है। राजा जनक के काल में यहाँ धार्मिक शास्त्रार्थ हुआ करते थे और देश के विभिन्न भागों से आकर जिज्ञासु विद्वान् इन शास्त्रार्थों में भाग लिया करते थे। बौद्ध युग में भी मिथिला ने इस परम्परा का निर्वाह किया और विश्रुत विद्वानों तथा पण्डितों को जन्म दिया। इसके उपरान्त भी मिथिला शिक्षा का केन्द्र बना रहा। साहित्य तथा कला के साथ-साथ वैज्ञानिक विषयों का भी अध्ययन कराया जाता था।

निष्कर्ष—प्राचीन विश्व-विद्यालयों ने भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के संरक्षण परिवर्धन तथा प्रचार में बड़ा योग दिया था। साहित्य, दर्शन तथा कला की इन शिक्षा-लयों में [illegible] उन्नति हुई थी। यह विश्वविद्यालय अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के केन्द्र बन गये थे जब कि विभिन्न देशों के विद्यार्थी यहाँ शिक्षा प्राप्त करने के लिये आया करते थे। इन विश्व-विद्यालयों के भारतीय प्रचारक विदेशों में जाकर भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार किया करते थे और इस प्रकार भारत का विदेशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करते थे। इस प्रकार [illegible] इन विश्व-विद्यालयों ने भारत के गौरव को बढ़ा [illegible] का अनुपम [illegible] किया था।

व्यावसायिक शिक्षा—प्राचीन भारत में बौद्धिक तथा धार्मिक शिक्षा के अतिरिक्त

वसायिक शिक्षा की भी व्यवस्था की गई थी। प्राचीन भारत में अधिकांश व्यवसाय र्गों, पूग, निगम आदि में संगठित हो गये थे और व्यवसाय आनुवंशिक हो गये थे। इस कार पिता ही अपने पुत्र का शिक्षक होता था और कौशल वंशानुगत हो जाता था। भी-कभी कुशल कलाकारों के यहाँ लोग शिक्षा प्राप्त करने आया करते थे और उस ला में सिद्ध हस्त हो जाने पर स्वतन्त्र रूप से अपनी जीविका में संलग्न हो जाया करते

ाचीन काल से ही आयुर्वेदिक पर्याप्त विकास हो चुका था। चिकित्सा शास्त्र के अध्ययन के की विशेषज्ञता पर बल दिया ाता था। चीर-फाड़ के कार्य में विद्यार्थियों को सिद्ध हस्त बनाने का प्रयत्न किया जाता ा। कभी-कभी चिकित्सा की शैक्षण संस्थाओं से औषधालय सम्बन्धित कर दिये जाते । जिससे विद्यार्थियों को व्यावहारिक शिक्षा दी जा सके। चिकित्सा के आदर्श बड़े ऊंचे क्खे गये थे और लोक-सेवा के भाव विद्यार्थियों में जागृत करने का प्रयत्न किया जाता ा। न केवल मनुष्यों वरन् पशु चिकित्सा की भी शिक्षा अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में दी जाती थी। सालिहोत्र को इसका जन्मदाता माना जाता है। पाण्डव बन्धु नकुल तथा सहदेव पशु-चिकित्सा में अत्यन्त प्रवीण थे। पशु-चिकित्सा की शिक्षा भी वैयक्तिक ीति से दी जाती थी। सम्भवतः इसके लिये कालेज नहीं होते थे।

(२) सैनिक शिक्षा—प्राचीन भारत में सैनिक शिक्षा की भी व्यवस्था थी। इसे धनुर्वेद की संज्ञा दी गई थी। सैनिक शिक्षा प्रायः क्षत्रियों को ही दी जाती थी क्योंकि क्षत्रिय ही शासन चलाते थे और देश की सुरक्षा तथा आन्तरिक शान्ति एवं सुव्यवस्था का भार उन्हीं पर रहता था। ब्राह्मण भी सैनिक शिक्षा के अधिकारी थे परन्तु शूद्रों को इससे वंचित रक्खा गया था। सैनिक शिक्षा की व्यवस्था राजा की ओर से तथा व्यक्तिगत रूप में भी की जाती थी। प्रत्येक गाँव में शिक्षण शिविर होते थे जहाँ ग्रामीणों का शिक्षा दी जाती थी। इसके अतिरिक्त कुछ निश्चित केन्द्र भी होते थे जहाँ सैनिक शिक्षा दी जाती थी।

(३) व्यापार की शिक्षा—व्यापार वैश्यों का मुख्य व्यवसाय था। अतएव इन्हें व्यापार की शिक्षा प्राप्त करना पड़ता था। विभिन्न वस्तुओं के गुणों का ज्ञान प्राप्त करना नितान्त आवश्यक समझा जाता था। इन्हें उन स्थानों से भी अवगत होना पड़ता था जहाँ पर विभिन्न प्रकार का वस्तुओं का उत्पादन होता था। उन मार्गों का भी ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था जिन के द्वारा वस्तुयें लाई जा सकती थीं। विभिन्न स्थानों के लोगों की आवश्यकताओं से भी अवगत रहना पड़ता था। मेलों तथा तीर्थ स्थानों का भी ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था क्योंकि इससे व्यापार में बड़ी सहायता मिलती थी। विभिन्न देशों तथा प्रान्तों में वस्तुओं के सापेक्षित मूल्य का भी ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य समझा जाता था। व्यवसायिक शिक्षा प्रायः कुटुम्ब में ही वृद्ध-जनों द्वारा दी जाती थी क्योंकि व्यवसाय आनुवंशिक हो गया था। जाति-प्रथा ने व्यवसायिक शिक्षा में बड़ा योग दिया।

(४) ललित तथा हस्त-कला की शिक्षा—अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारत में ललित कला तथा हस्त कला की शिक्षा की सुव्यवस्था रही है। नृत्य, संगीत, चित्र कला वास्तु कला, शिल्प-कला, काष्ठ-कला तथा विभिन्न धातुओं से नाना-प्रकार की वस्तुओं के बनाने की शिक्षा दी जाती थी। वैदिक काल में हस्त-कला तथा कृषि विज्ञान को बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता था। उपर्युक्त कलाओं की शिक्षा वैश्यों तथा शूद्रों

थी किन्तु विद्यार्थी किसी ऐसे व्यक्ति के शिष्य बन जाते थे जो इन कलाओं में दक्ष होता था। इन कलाओं का ज्ञान भी आनुवंशिक हो गया था। अतएव इनकी शिक्षा कुटुम्ब में ही मिलती थी।

**प्राचीन शिक्षा की सफलता तथा विफलता**—ऊपर प्राचीन शिक्षा पद्धति का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। आलोचनात्मक दृष्टि से देखने पर इसकी सफलतायें तथा विफलतायें स्पष्ट हो जाती हैं। इसकी सफलता बड़ा उच्च कोटि की थी। यद्यपि इस काल में धर्म तथा दर्शन के अध्ययन पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था परन्तु गणित, ज्योतिष, व्याकरण, काव्य, राजनीति आदि के भी अध्ययन की व्यवस्था करके

का श्रेय इसी को प्राप्त है परन्तु प्राचीन शिक्षा पद्धति में कुछ दुर्बलतायें भी थीं। ब्राह्मण शिक्षा-पद्धति में जाति भेद के कारण शिक्षा में संकीर्णता आ गई थी और शूद्र शिक्षा प्राप्त करने से वंचित कर दिये गये थे। जैसे जैसे जाति के बन्धन जटिल होते गये थे वैसे सम्भवतः वैश्य भी धार्मिकता तथा बौद्धिक शिक्षा से वंचित हो गये। इस प्रकार शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों तक ही सीमित रह गया। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय देश के अल्प संख्यक वर्ग थे जो उच्च-शिक्षा प्राप्त करने का एकाधिकार रखते थे। फलतः देश की साधारण जनता अज्ञानता के अन्धकार में पड़ी रह गई। केवल बौद्ध तथा जैन मठों में ही जाति-भेद न था और सर्वसाधारण को, जो प्रतिभा तथा मनोवृत्ति रखते थे, शिक्षा प्राप्त हो सकती थी। बौद्ध भिक्षुओं ने ही गाँवों में सर्व-साधारण की प्रारम्भिक शिक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया था। स्मृतियों के अनुसार ब्राह्मण ही शिक्षक होता था परन्तु सभी आगन्तुकों को शिक्षा देने की आज्ञा उसे नहीं प्राप्त होती थी। प्राचीन शिक्षा पद्धति का एक बहुत बड़ा दोष यह था कि चूँकि ब्राह्मण तथा बौद्ध दोनों ही शिक्षा-व्यवस्थाओं में धार्मिक तथा दार्शनिक शिक्षायें दी जाती थीं अतएव औद्योगिक शिक्षा को बड़ी क्षति उठानी पड़ी और ऐसी शिक्षा हेय समझी जाने लगी। प्राचीन शिक्षा प्रणाली का एक बहुत बड़ा दोष यह भी था कि इसमें रूढ़िवादिता थी और विचार-स्वतन्त्रता के लिये बहुत कम स्थान रहता था। धर्म-प्रभावित शिक्षा का एकांगी हो जाना स्वाभाविक होता है। यद्यपि वैदिक काल में स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था परन्तु कालान्तर में वे भी वैश्यों तथा शूद्रों की भाँति इस अधिकार से वंचित होती गईं और कालान्तर में अज्ञानता तथा निरक्षरता के वशीभूत हो गईं। प्राचीन शिक्षा-पद्धति में संस्कृत के अध्ययन की प्रधानता को मान लिया गया था। अतएव प्राकृत को बड़ी क्षति उठानी पड़ी।

*निष्कर्ष—ऊपर प्राचीन शिक्षा पद्धति के गुण-दोष का विवेचना किया गया है। अनेक दोषों के होते हुये भी इस शिक्षा के आदर्श बड़े ही ऊँचे थे और इसकी सफलता सराहनीय थी। गुरु तथा शिष्य के सम्बन्ध का उच्च-आदर्श, विद्यार्थियों का सदाचरण तथा ब्रह्मचर्य और अध्ययनशीलता आज दुर्लभ है। धर्म तथा संस्कृति का संरक्षण, धारण, परिवर्धन तथा प्रसार इस शिक्षा पद्धति की सराहनीय सफलता थी। आज कल की विषम परिस्थितियों में भी प्राचीन शिक्षा-पद्धति के अनेक आदर्श अनुकरणीय हैं जिनसे देश तथा जाति का कल्याण हो सकता है।*

# प्राचीन भारत की संस्कृति तथा कला

संस्कृति के दो रूप हैं। एक आत्मगत और दूसरा समाजगत—आत्मगत संस्कृ
के वैचारिक, धार्मिक, आध्यात्मिक विकास के साधन, साहित्य, कला, शि
, दर्शन आदि आते हैं। समाजगत साधनों में समाज व्यवस्था के आधार
चार, आर्थिक तथा राजनैतिक समाज व्यवस्था आदि आते हैं। इन पर एक एक
अलग विचार अधिक उपयुक्त होगा।

**साहित्य**—भारतीय साहित्य परम्परा भिन्न प्रकार की है। पश्चिम में साहित्य
भव तथा विकास केवल ऐहिक और लौकिक रूप में मिलता है; जब कि भार
हित्य का प्रथम उद्गार प्राणिमात्र के प्रति सहानुभूति तथा क्रौंचवध से वाल्मीक
दि अनुष्टुप करना और आध्यात्मिक प्रेरणा से अनुप्राणित है। योरोप में प्राचीन यून
हित्य में इसी कारण से शोकान्त नाटकों का अधिक बोलबाला है। वह साहित्य
क है। प्रेम और परिणय के परिणाम वहाँ सदा के लिए शान्त हो जाने में और
महामत्ता के आग बुझ जाने में होती है जब कि भारतीय साहित्य में विलापव
त थोड़ी हैं। पुराणोत्तरकाल में मेघदूत या उत्तराम जैसी रचनायें छोड़ दें तो
रा प्राचीन साहित्य आशावाद से भरा हुआ है। उसमें स्त्री और पुरुष के मिलन

[illegible]

र नदी विश्वामित्र संवाद, पुरुरवा उर्वशी संवाद, दमयन्ती संवाद आदि। बा
थर्ववेद में कुछ गद्य भी प्रयुक्त हुआ है। ब्राह्मण में तो कर्म-काण्ड की मीमांसा
रन्तु आरण्यक उपनिषद् में ब्रह्मज्ञान का निचोड़ है। कहा गया है कि वेद वे
जिनका दूध उपनिषद् है और जिसका मक्खन गीता है। दो सौ उपनिषद् प्रा
जनमें से अठारह ही प्राचीन माने जाते हैं। संहिता में श्रुति कहलाती हैं क्योंकि मान्य
ह है कि यह पौरुषेय वेद भगवान् से सुने गये हैं। उन पर की टीकायें स्मृति कहल
। ब्राह्मण ग्रन्थ ब्राह्मणों द्वारा रचे गए हैं जब कि आरण्यक उपनिषद् क्षत्रिय और
णों द्वारा भी। गार्गी, वाचक्नवी, मैत्री, आत्रेयी, जबाला आदि स्त्रियाँ भी
वाद विवाद में भाग लेती हैं। वेदांग, उपवेद और सूत्रों में ज्योतिष, धर्मशा
याकरण आयुर्वेद, धनुर्विद्या, शिल्पशास्त्र और विभिन्न विधियों की पद्धतियाँ
। पाणिनि का सूत्र और पतञ्जलि का महाभाष्य और योग सूत्र, यास्क का नि
आदि इसी प्राचीन संस्कृति साहित्य का भाग है। जिन वेदों में गीत गाने वाले पुरुष

है उसके कारण
समाधान सांख्यों
को नियतवाद
धि, प्राणायाम
आचार विधियों
में खो जाती है।

न्याय वैशेषिक हेतु और कारण की मीमांसा में पर्याप्त सूक्ष्मता से आगे बढ़े परन्तु तर्क जाल में वे उलझ गए और इस जगत् और उसमें के दुख के कारणों का वे भी समाधान न दे सके। कर्मवाद में उन्हें अपना सन्तोष खोजना पड़ा। बौद्ध दार्शनिकों ने इस दुर्बलता को पकड़ा और ईश्वरत्व का खंडन किया जिसका और करारा जवाब बादरायण के ब्रह्म सूत्रों के टीकाकार श्री शङ्कर ने दिया। आध्यात्मिक चिन्तन में ब्रह्म सूत्रों की यह मीमांसा और उस पर शङ्कर रामानुज के भाष्य भारतीय दर्शन की एक अमूल्य निधि हैं। यद्यपि शङ्कर को भी अपने आध्यात्मवाद में माया उत्पत्ति बताना कठिन हो गया और लीला आदि शब्दों का सहारा उन्हें लेना पड़ा फिर भी वेदान्त की इस उच्चता तक बाद के दार्शनिक न पहुँच सके। धर्म का इतिहास इससे भिन्न बहुत दुःख पूर्ण रहा क्योंकि उसमें उसके प्रचारकों की अन्धता भी आ गई और उसके कारण रक्तपात भी हुआ। विदेशियों के धर्म को आत्मसात न कर सकने के कारण कट्टरता भी बढ़ी, फिर भी
अपनी मानवतावादी साधना को
धर्मों का साहित्य समृद्धीत हुआ
होती गई। कबीर, दादू, नानक,
आलवार सन्त तथा बंगाल के
चाउल दास और महाराष्ट्र के वारकरि साधुओं ने धर्मान्धता पाखण्ड का बड़े शब्दों में विरोध किया। कर्म काण्ड की जड़ता का दम्भ स्फोट किया और धर्म के सच्चे, पर हितकारी रूप, को अविच्छिन्न प्रवाहित रक्खा।

भारत में धर्म और दर्शन ताने से बाने की तरह एक दूसरे से जुड़े हुये हैं। धर्म जहाँ एक ओर आदि मानव की भय, कौतूहल, शासन आदि वृत्तियों पर आधारित भावना मन्य ही है वहाँ दूसरी ओर उसमें बड़े-बड़े ऊँचे और अच्छे आदर्श पुरुषों को तथा हुतात्मा (शहीद) को निर्माण किया है। दर्शन जब कि केवल विद्वान वर्ग तक सीमित रहता है, लोक धर्म लोकाचार में बहुत भाग लेता रहा। हमारे यहाँ एक दोष जो धर्म में उत्पन्न हो गया वह यह था कि धर्म व्यक्तिगत वस्तु न रह कर समाज के गठन का अङ्ग और नीति और सदाचार का निर्णायक बन गया। परिणाम यह हुआ कि वर्ण-भेद ही धर्म का आधार बन गया। गाँधी को वर्तमान युग में जो हरिजनों के मन्दिर प्रवेश के लिये आंदोलन अनशन करके चलाना पड़ा तथा राजनीति में परिगणित जातियों को तथा दलितों के अल्प-संख्यक मतगणना की जो समस्या निर्मित हुई, उसका मूल कारण यही धार्मिक कट्टरता थी। इसी कट्टरता ने गाँधी जी की हत्या जैसे निर्मम घृणित कार्य को घटित किया और दर्शन को केवल संकुचित आचार मान्यताओं की रूढ़िवादिता से नष्ट कर दिया।

जहाँ रवीन्द्र की गीतांजलि में लिखा है कि ...
को उस स्वर्ग में
राशि न फैली
हमारे दर्शन के
भान लेने का
... वस्तु नहीं परन्तु केवल विश्वास आध्यात्मिक उन्नति में साधक है। विचार या मनन करने का काम हमारे लिए कोई दूसरा नहीं कर सकता। सत्य का देखा किसी से भी नहीं ...

भक्त की अपेक्षा शाश्वत सत्य का अनुरागी होना ही ठीक है। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र विचार करता है वहाँ संघर्ष अनिवार्य है। संघर्षों में भारत भी प्राचीन समय से अभी तक स[illegible] है। एक समस्या दूसरे का सुझाव और दूसरे का सुझाव तीसरे के लिए पहेली [illegible] का विकास हुआ है, और मानवता को ज[illegible] [illegible]ते भार[illegible] कर [illegible] रहे हैं। आज भा[illegible]

[illegible] [illegible]लित कलाओं में सर्व श्रेष्ठ काव्य कला का उल्लेख [illegible] है।

सं[illegible] [illegible] भारत का विकास बहुत मह[illegible] [illegible] बतलाते हैं कि सिन्धु नदी की सभ्यता कितनी विकसित थी। यह [illegible] [illegible]राने मिट्टी के चमकदार बर्तन—काँसे, ताँबे और चाँदी की मूर्तियाँ; हाथी दाँत और विभिन्न रत्नों से जटित खिलौने, औजार आयुध दर्शाते हैं कि उस समय सभ्यता का विकास कितना हो चुका था। उसके पश्चात पाये गए कई उन खण्डहरों में नालन्दा, राजगृह, सारनाथ, साँची आदि स्थानों में बौध, विहार, स्तूप-मूर्तियाँ आदि हैं, जिनसे प्राचीन शिल्प कला और वास्तु कला का परिचय मिलता है। गोमतेश्वर से बाहुबली और ग्वालियर के किले में उत्कीर्ण विशाल जैन मूर्तियों से लगाकर बहुत सूक्ष्म छोटी-छोटी मृण मूर्तियों का प्राचीन मूर्ति-कला के सुन्दर प्रमाण मिलते हैं। इसमें अधिकांश देवताओं, राजाओं तथा मन्दिर और महलों के लिए आवश्यक अलंकरण योग्य अप्सराओं या हंस माला और कमल आदि की बेलों के उत्कीर्ण स्तम्भ, रेलिंग आदि प्राप्त हुए हैं। इस शिल्प की विशेषता न केवल उसके सुकोमल अंकन में है, जो कि यूनानी शिल्प में भी मिल जाता है, परन्तु उसकी भव्य कल्पना और रम्य रचना में है। जैसे कि सारनाथ में प्राप्त होने वाला अशोक स्तम्भ और बुद्ध की मूर्ति या मथुरा संग्रहालय की कनिष्क की मूर्ति आदि इस बात के प्रमाण हैं कि विराट का समन्वय सूक्ष्म का जैसा भारतीय शिल्पकारों ने किया है, शायद ही अन्यत्र कहीं मिलता हो। गुप्त काल मौर्य-काल के विकसन के पश्चात् यह कला बहुत कुछ कम होती गई। विदेशी आक्रमकों ने मूर्ति-भंजन आरम्भ कर दिया था और फिर अमरावती और इलोरा की कैलास जैसी रचनायें इस देश में बन सकीं।

स्थापत्य—भितरगाँव और काँचीवरम् के मन्दिर, उनके आमलक शिखर, बौद्धों के विहार और गुफाओं में उत्कीर्ण, संघाराम आदि प्राचीन स्थापत्य के ऐसे नमूने हैं जिन्हें हम कभी नहीं भुला सकते।

मुस्लिम आक्रमणों ने यद्यपि मूर्ति-कला को उनके धार्मिक अन्धविश्वास के कारण प्रोत्साहन नहीं दिया तथापि स्थापत्य की भी प्रगति में बहुत बड़ा योग दान किया। पठान और मुगल काल के जो बड़े-बड़े महल और मसजिदें, किले और दरवाजे, मीनार और बुर्ज आदि उपलब्ध हैं वे इसके साक्षी हैं। गोलकुण्डा के महल, मांडवगढ़ के रूपमती के महल, फतहपुर सीकरी का बुलन्द दरवाजा, आगरे का ताज महल, देहली में किला आदि कई उदाहरण सारे देश भर में फैले हुए हैं। भारतीय कला का जोर यहाँ अलंकरण और सूक्ष्म पर था—निराकारोपासक मुसलमानों के स्थापत्य का महत्व उसकी विराट और सादा रचना, विशाल गुम्बद और ऊँची मीनारें आकाशगामी कमानें तथा [illegible] शक्ति से आप्लावित सुन्दर शिल्प नियोजना में निहित है। अंग्रेजों के आने के बाद उनकी व्यापि वृत्ति के कारण शिल्प और स्थापत्य दोनों ही कलाओं का सर्वाधिक [illegible] और रेलिंग से बनकर आये कमरे और भवन के बनाने [illegible] ह्रास हु[illegible]

पार्टीटेस्ट के मस्तिष्कों से निर्मित गृह निर्माण के लिए आवश्यक सामग्री भी विदेशों
माने लगी और बजाय संगमरमर और सङ्ग मूसा के सीमेण्ट और कंकरीट में और उससे
भद्दे टीन के लहरदार चद्दरों ने सारे देश को असुन्दर बना दिया। मशीनवाली सभ्यता
उद्घात से प्राचीन शिल्प का सौकुमार्य टूटकर बिखर गया। सौन्दर्य का स्थान उपयो-
ा ने ले लिया।

चित्रकला के क्षेत्र में यद्यपि बहुत प्राचीन प्रमाण नहीं मिलते फिर भी अजन्ता और
ा के गुहा मण्डल और उनमें अङ्कित भित्त चित्र इस बात के साक्षी हैं कि रेखा और
में अपनी प्रतिभा का परिचय तत्कालीन कलाकारों ने कितनी विविधिता और सूक्ष्मता
साथ दिया है न केवल उनकी रङ्गयोजना बहुत सुन्दर और रसानुकूल है वरन् विविध
ार के आकार अङ्कित करने में उनकी तूलिका का परिचय स्पष्ट होता है। मध्य युग
ाग-रागनियों के जो चित्र राजस्थानी पहाड़ियों और कांगड़ा शैलियों में मिलते हैं उन
फारसी नक्शाशों (मुस्विरों) का प्रभाव स्पष्ट है। फिर भी प्राकृतिक दृश्यों की पृष्ठ
मि पर जैसी बारीक कलायें इन छोटे-छोटे चित्रों में मिलती हैं उसकी तुलना अन्यत्र
ना कठिन है। चित्रकला की यह परम्परा आधुनिक काल तक जीवित है। बंगाल
कलाशाला ने प्राचीन अजन्ता आदि के भित्त चित्रों की शैली का पुनर्विकसन किया
ा देहातों में प्रचलित घरों पर अङ्कित किये जाने वाले चित्र छपाई और काठ खुदाई
ु भास्कर ही तथा अन्य प्रकार की चित्र कला की पद्धतियों को पुनर्जीवित किया और
नेन्द्र ठाकुर, नन्दलाल बसु, असित कुमार हलधर, देवी प्रसाद चौधरी, जामिनीराय
दि इसी देशर परम्परा के आधुनिक उपहार हैं। पश्चिमी चित्रकला का भी प्रभाव
ारे चित्रकारों पर पड़े बिना न रहा और बम्बई, गुजरात तथा पञ्जाब के चित्रकारों पर
का व्यापक प्रभाव पड़ा। कुछ लोगों ने उसे ज्यों का त्यों अनुकरण रूप में ग्रहण किया,

पनी रक्षा कर सकी। यद्यपि इसने अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की क्षमता दर्शित की परन्तु इसने कभी भी अपने मूल आदर्शों को नहीं त्यागा।

(६) सहिष्णुता—भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता इसकी उदारता तथा सहिष्णुता है। इसकी आधार-शिला दृष्टिकोण की व्यापकता रही है। हमारे ऋषियों ने जो हमारी संस्कृति के जन्मदाता तथा परिपोषक थे हमारे दृष्टिकोण को संकीर्ण न होने दिया। उनका उपदेश था कि "एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" अर्थात् ईश्वर एक है उसे लोग [illegible] ही इस देश में सदैव [illegible]-स्वरूप ही इस देश में [illegible] का प्रतिपादन होता रहा। हमारे मनीषियों ने विश्व-बन्धुत्व की भावना से प्रेरित होकर ही कहा था, "अयं निजः परोवेत्ति गणना लघुचेतसाम् उदार चरितानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम्" अर्थात् यह मेरा है, यह दूसरे का है, ऐसा विचार तुच्छ लोग करते हैं। उदार चरित्र वालों के लिये [illegible] "सर्वं खल्विदम् ब्रह्म" तथा 'ब्रह्ममयम् जगत्" की पूत विचार-धारा के निर्मल स्रोत में भारतीय जनता को अवगाहित करा कर सहिष्णुता का स्वच्छ वातावरण प्रस्तुत कर दिया था। इस पवित्र भूमि में धर्म के नाम पर अत्याचार तथा रक्तपात नहीं हुआ। सभी को सदैव विचार स्वतन्त्रता रही है और यही कारण है कि हिन्दू धर्म की इतनी शाखायें तथा प्रशाखायें विद्यमान् हैं। यद्यपि भारतीयों ने अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार विदेशों में भी किया था परन्तु तलवार के बल से नहीं वरन् प्रेम तथा सद्भावना के बल से।

(७) ग्रहणशीलता—भारतीय संस्कृति की एक अन्य विशेषता इसकी ग्रहणशीलता [illegible] क्षमता थी। यही कारण था [illegible] में प्रवेश किया उन सबका [illegible] भारतीयों ने निःसंकोच ग्रहण [illegible] का सिद्धान्त ग्रहण तथा [illegible] इसमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष को प्राप्त करना जीवन का लक्ष्य बतलाया गया था। धर्म, अर्थ, तथा काम में पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित करने का आदेश दिया गया [illegible] प्रकार शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक तीनों प्रकार के विकास पर पूरा बल दिया जाता [illegible] बौद्धिक तथा शारीरिक विकास के लिये ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थाश्रम और आध्यात्मिक विकास [illegible] वानप्रस्थ तथा सन्यासाश्रम की व्यवस्था की गई थी। सारांश यह है कि व्यक्ति तथा समाज के सर्वांगीण विकास की समुचित व्यवस्था प्राचीन भारत में की गई थी।

(८) संचरणशीलता—भारतीय संस्कृति की एक यह भी विशेषता है कि यह बड़ी [illegible]

(१०) प्रचार की भावना—प्राचीन काल के भारतीयों में अपनी संस्कृति के विदेशों में प्रचार करने का अदम्य उत्साह था। इसी से भारतीय संस्कृति का एशिया के अधिकांश भाग में प्रचार हो सका था और भारत को जगद्गुरु की उपाधि प्राप्त हुई थी। सबसे बड़ी श्लाघनीय बात तो यह है कि इस कार्य का सम्पादन प्रेम तथा सद्भावना द्वारा किया गया था।

उपसंहार—अपनी अद्भुत विशेषताओं के कारण प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास होता गया और गुप्त काल तक उसने चूड़ान्त उन्नति प्राप्त [illegible] तथा अस्तित्व को सुरक्षित रक्खा परन्तु उसे अग्रणी का स्थान न प्राप्त रहा। अब स्वतन्त्र भारत के अनुकूल वातावरण में उसके उत्थान का पुनः प्रयास किया जा रहा है। इस कार्य में बड़ी सतर्कता तथा सावधानी की आवश्यकता है। हमें अपनी प्राचीन उदारता सहिष्णुता, ग्रहणशीलता आदि का आलिंगन करना होगा और संकीर्ण एवं अनुदार भावों को त्यागना पड़ेगा। हमें मिथ्याभिमान तथा अन्ध-विश्वासों के बन्धन से अपने को मुक्त करना पड़ेगा। अस्पृश्यता जैसे कलङ्कों को धोना और स्त्रियों के उत्थान की पूरी व्यवस्था करनी होगी। चरित्र-निर्माण तथा कर्म-योग की ओर विशेष रूप से ध्यान देना होगा। अध्यात्मवाद तथा प्रकृतिवाद में पूर्ण सामंजस्य स्थापित करना होगा या यों कह सकते हैं कि धर्म, अर्थ तथा काम में फिर सामजस्य स्थापित करने की आवश्यकता है और विज्ञान के नये चमत्कारों से लाभ उठाकर देश के मस्तक को उन्नत करना है।

## अध्याय ५०

# प्राचीन भारत के स्मारक चिह्न

प्राचीन भारत बड़ा ही सभ्य तथा समृद्धिशाली देश था। भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के उपरान्त मनुष्य अपनी मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रयत्न करता है। मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति कलाओं द्वारा होती है कलायें आध्यात्मिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति करती हैं। प्राचीन भारत का दृष्टिकोण प्रधानतः मानसिक तथा आध्यात्मिक था। अतएव इस युग में कलाओं की बड़ी उन्नति हुई। भारतीय शिल्पियों ने शिल्प कला की बड़ी उन्नति की। अनेक मन्दिरों, भवनों, स्तम्भों तथा स्तूपों का निर्माण हुआ। इनमें से अधिकांश लुप्त-प्राय हो गये परन्तु कुछ स्मारक चिन्ह अब भी विद्यमान हैं। इन्हीं का संक्षिप्त विवरण इस अध्याय में किया जायगा।

**अनैतिहासिक युग**—इस युग के कला-कौशल को प्रकट करने वाले जो स्मारक चिन्ह उपलब्ध हो सके हैं उनसे यह निश्चित होता है कि उस समय की कारीगरी दो प्रकार की थी। पहिली को हम पाषाण युग के उपकरणों की श्रेणी में, तथा दूसरी को मोहनजोदड़ो तथा कुछ अन्य स्थानों से प्राप्त मुद्राओं, इमारतों, प्रतिमाओं एवं तांबे व काँसे के हथियारों आदि की श्रेणी में रख सकते हैं। मोहनजोदड़ो की सर्वोत्कृष्ट कला मुद्राओं की नक्काशी तथा बैल, भैंस व जंगली साँड इत्यादि जानवरों के चित्रित करने में प्रस्फुटित हुई है। इन सब को देखकर यही कहना पड़ता है कि यह कुछ दिशाओं में 'हेलेनिक' कला की टक्कर की है। इन्हें देखकर कोई एकाएक यह अनुमान नहीं लगा सकता कि ये पूर्व ऐतिहासिक युग की हैं।

**मौर्य-काल (कला का प्रारम्भिक युग)**—मोहेनजोदड़ो व हड़प्पा के अव-शेषों को २७०० ई० पू० का अनुमान किया है। उसके पश्चात् के लगभग २००० वर्षों का हमें ऐसा कोई अवशेष नहीं मिलता जिस पर कोई विचार निर्धारित किया जा सके। ऐतिहासिक युग के कुछ अवशेष मिलते हैं जो अनुमानतः ५०० ई०पू० के हैं। उच्च कारी-गरी के स्मारक चिन्ह पहले पहल मौर्य-वंशीय प्रतापी सम्राट् अशोक के समय के उपलब्ध हैं। उनसे भारतीय कला की प्रवृत्ति का भली भाँति अनुसन्धान किया जा सकता है।

अशोक-कालीन कला का सुन्दरतम नमूना ठोस पत्थर के स्तम्भों के निर्माण में है जिन पर उसकी आज्ञायें खुदी हुई हैं। प्रत्येक स्तम्भ पत्थर के टुकड़े के सतीरों का बना है जिसके मस्तक पर पत्थर का दूसरा टुकड़ा स्थित है। उस पर बड़ी ही सुन्दर कारीगरी की गई है। मस्तक के चारों ओर एक या अधिक जानवर बने हुये हैं। यह मस्तक एक चौकोर पत्थर के टुकड़े पर आधारित रहता है, उस पर प्रतिमायें बनी हुई हैं। पत्थर के

(१०) प्रचार की भावना—प्राचीन काल के भारतीयों में अप
में प्रचार करने का अदम्य उत्साह था। इसी से भारतीय संस्कृति
कांश भाग में प्रचार हो सका था और भारत को जगद्गुरु की उ
सबसे बड़ी श्लाघनीय बात तो यह है कि इस कार्य का सम्पादन
द्वारा किया गया था।

उपसंहार—अपनी अद्भुत विशेषताओं के कारण प्राचीन

[illegible]

सहिष्णुता, महणशीलता आदि का आलिंगन करना होगा और
भावों को त्यागना पड़ेगा। हमें *मिथ्याभिमान तथा अन्ध-विश्वासों*
को मुक्त करना पड़ेगा। अस्पृश्यता जैसे कलङ्कों को धोना और
पूरी व्यवस्था करनी होगी। चरित्र-निर्माण तथा कर्म-योग की ओर
देना होगा। अध्यात्मवाद तथा प्रकृतिवाद में पूर्ण सामंजस्य स्था
यों कह सकते हैं कि धर्म, अर्थ तथा काम में फिर सामजस्य
आवश्यकता है और विज्ञान के नये चमत्कारों से लाभ उठाकर देश
करना है।

---

दोनों में एक महान् अन्तर है। गन्धार शैली में शारीरिक अवयवों तथा शारीरिक सौन्दर्य पर विशेष ध्यान दिया गया है और मथुरा की मूर्ति में आध्यात्मिक प्रगटीकरण था। इसको हम पश्चिमी व पूर्वीय कला का मूलतः अन्तर भी कह सकते हैं। मथुरा व गन्धार दोनों प्रकार की कला का विकास कौषिपन शासन में ही हुआ। कुशन राजाओं की मूर्तियाँ इस युग की कला की जीती जागती उदाहरण हैं।

इसके कुछ समयोपरान्त कृष्णा नदी की घाटी, अमरावती और नागार्जुनीकुण्डा इत्यादि स्थानों में स्तूपों का निर्माण हुआ, जिनमें संगमरमर का प्रयोग किया गया है। यदि ये स्तूप अच्छी दशा में होते तो निस्सन्देह यह भारतीय कला के विकास के भव्य उदाहरण होते। किन्तु ये नष्ट हो चुके हैं और इनके कुछ अवशिष्ट खण्ड ही उपलब्ध हो सके हैं। उत्तरी भारत की प्रतिमाओं से यहाँ की प्रतिमायें भिन्न हैं। यहाँ सामूहिक तथा एकाकी रेखा चित्रों के रूप में आकृतियाँ खोदी गई हैं। इन सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस समय प्रतिमा-निर्माण कला के भिन्न-भिन्न रूप विकसित हो रहे थे।

प्रतिमा निर्माण कला की अपेक्षा भवन-निर्माण-कला अब भी हीन कोटि की थी। फिर भी सुन्दर मन्दिरों, विहारों आदि का निर्माण हो रहा था। पेशावर का 'कनिष्क टावर' एशिया में प्रसिद्ध है कितनी ही चैत्य गुफाओं का भी निर्माण हुआ। इनमें नासिक, भाजा, बेडसा, कारली आदि की चैत्य गुफायें विशेष वर्णनीय हैं। कारली की चैत्य गुफा सामने की दीवार पर बनी प्रतिमाओं तथा हाल के अन्दर के स्तम्भों की पन्क्तियों के कारण अपूर्व सौन्दर्यमयी हो गई है।

इन चैत्य गुफाओं के अन्तर्गत जो स्तम्भ हैं उनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी स्तम्भ उस समय में निर्मित हुए जो स्वतन्त्र रूप में केवल स्तम्भ ही है, जैसे बेसनगर का स्तम्भ जो यूनानी सार्वभौम हलियोडोरस द्वारा गरुड़ध्वज के रूप में बनवाया गया था। किन्तु वे स्तम्भ किसी भाँति भी अशोक कालीन स्तम्भों की कोटि में नहीं रक्खे जा सकते। निस्सन्देह इस दिशा में कला का ह्रास हुआ।

**गुप्त काल (३२० ई०—६०० ई०)**—गुप्तकाल में भारत की वास्तु, शिल्प व चित्रण आदि कलायें उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी थीं। शताब्दियों की चेष्टा के पश्चात् कला ने वह रूप ग्रहण कर लिया जो आज भी भारतीय कला का माथ ऊँचा किये है। उस समय की कला केवल भारतीयों के लिये ही अनुकरणीय नहीं थी वरन् भारतीय उपनिवेशों में भी उसका अनुकरण किया गया। मलाया, [illegible], जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया आदि स्थानों की प्रतिमाओं में गुप्तकालीन-कला का प्रभाव साफ दृष्टिगोचर होता है।

गुप्त कालीन कला की सबसे बड़ी देन है बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्मावलम्बियों के देवताओं की मूर्ति प्रतिष्ठा। मूर्तियों की रचना सौन्दर्य, उनकी भाव भंगी आदि विलक्षण गुण भारत की शिल्प कला में इनसे पहले कभी नहीं मिलते। इस समय की [illegible]

[illegible]

...म्भ जो इसी समय द्वारा
...ड जग नहीं लगा है। एक
...नाना दुष्कर था। चित्रण
...फा की दीवारों पर चित्रित
...है। इनमें अधिकांश नष्ट
...ष्ट हो चुके हैं। साइगिरिया नामक स्थान के चित्र भी अजन्ता के चित्रों के ही समान हैं
...और अपेक्षाकृत रक्षित अवस्था में हैं।

शिल्प कला की तुलना में गुप्त-काल की वास्तु कला उतनी उन्नत नहीं ...। देवगढ़ के मन्दिर की ही भाँति साँची का मन्दिर भी बहुत छोटा है। इस समय के मन्दिरों के अवशेष और भी अन्य स्थानों में पाये गये हैं उनकी दीवारों में शिल्प का काम बहुत बारीकी से किया गया है। निस्सन्देह इस युग में कुछ बड़े मन्दिरों का निर्माण भी हुआ पर वे अब नितान्त भग्नावस्था में हैं। ऊँचे ऊँचे शिखर-युक्त मन्दिरों का निर्माण अभी तक प्रारम्भ नहीं हुआ था। फिर भी उसके चिन्ह कहीं-कहीं प्रस्फुटित हो चुके थे। गुप्त नरेशों के भिन्न-भिन्न प्रकार के सिक्कों में भी भारतीय कला-कौशल का परम उत्कर्ष प्रत्यक्ष होती है।

**मध्यकाल (६०० ई०—१२०० ई०)**—गुप्त-काल के बाद छः शताब्दियों

# परिशिष्ट

**ऋग्वेद का काल**—ऋग्वेद की तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मत-भेद
[illegible]
[illegible] है। सब प्रथम कठिनाई तो यह है
अत्यन्त प्राचीन काल में अर्थात् लाखों वर्ष पूर्व अथवा २५००० ई० पू० सम्भवत:
यता का कोई रूप ही न था और मनुष्य को उस अग्नि तक का ज्ञान न था जिसे
वेद में देवताओं का पुरोहित माना गया है। दूसरी कठिनाई यह है कि ऋग्वेद को
षा की दृष्टि से भी अत्यन्त प्राचीन अथवा अत्यन्त निकट काल में नहीं रख सकते।
यन्त प्राचीन काल तथा आज की भाषाओं में जो अन्तर होना चाहिये वह ऋग्वेद
ा पश्चात् कालीन उपनिषद् अथवा काव्य की भाषाओं में नहीं मिलता। २५००० ई०
में तो पता नहीं मनुष्य बोलता भी था अथवा नहीं। यदि ऋग्वेद की भाषा को २५०००
पू० मान भी लिया जाय तो ब्राह्मणों, उपनिषदों तथा काव्यों की भाषा तक पहुँचने पर
का रूप इतना परिवर्तन हो जाना चाहिये था कि मनुष्य की कल्पना में भी वह न
सके। यदि ऋग्वेद का काल २५००० ई० पू० के लगभग रक्खें तो इसका तात्पर्य
[illegible] तिलक-काल [illegible]

प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में कितनी शताब्दियों का अन्तर पड़ा होगा। उपनिषद् काल का निर्धारण सर राधाकृष्णन् ने ११०० ई० पू० और प्रो० रानाडे ने लगभग १२०० ई० पू० रक्खा है। ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना वेदों की व्याख्या करने के लिये की गई थी। वेदों के अर्थ के लोप होने में अनेक शताब्दियाँ व्यतीत हो गई होंगी। ब्राह्मण-ग्रन्थों का रचना काल लगभग १६०० ई० पू० माना गया है। यदि अथर्ववेद के प्राचीन स्तरों का रचना काल प्रारम्भिक ब्राह्मण काल से केवल चार सौ वर्ष पूर्व मान लें तो अथर्ववेद के प्राचीन भागों का रचना लगभग २००० ई० पू० की होती है। यह ध्यान देने की बात है कि अथर्ववेद की गणना बहुत दिनों तक वेदों में नहीं होती थी। इसी से वेद त्रयी कहलाते थे। अतएव अथर्ववेद तथा त्रयी के मध्य में पर्याप्त अन्तर रहा होगा। फलतः ऋग्वेद का काल ३००० ई० पू० रखना अनुचित न होगा।

(६) [illegible] ईरानी आर्यों की धर्म पुस्तक [illegible] आरण्यक; उपनिषद्, वेदाङ्ग, [illegible] इनको ध्यान में रखते हुये ऋग्वेद का काल न तो कल्पनातीत पूर्व में और न सन्निकट परवर्ती काल में ही रखना चाहिये। अतएव उस मध्य में ही लगभग ३००० ई० पू० के रखना उचित होगा।

(७) ऋग्वेद किसी व्यक्ति विशेष की रचना नहीं है वरन् वह संकलित संहिता है और इसके स्तर भिन्न-भिन्न समय में निर्मित हुये हैं। ये स्तर इतनी बड़ी संहिता में लगभग पन्द्रह शताब्दियों में निर्मित हुये होंगे और चूँकि इस संहिता का सम्पादन १४५० ई० पू० के लगभग व्यास ने किया अतएव ऋग्वेद के स्तरों का निर्माण तब तक समाप्त हो चुका रहा होगा। फलतः यदि ऋग्वेद के प्रारम्भिक मन्त्रों का रचना काल पन्द्रह शताब्दी पूर्व अर्थात् लगभग ३००० ई० पू० मान लें तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी।

(८) हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो और मध्य-पूर्व एशिया की पुरातत्व सम्बन्धी खुदाई से प्राप्त सामग्री से भी ऋग्वेद के काल के निश्चित करने में बड़ी सहायता मिलती है। सिन्धु-घाटी की सभ्यता सर्व-सम्मति से द्रविड़ सभ्यता मान ली गई है। इस सभ्यता का प्रसार काल लगभग ३२५० ई० पू० और २७५० ई० पू० के मध्य रक्खा गया है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि ३००० ई० पू० के लगभग आर्यों ने भारत में प्रवेश करके दो तीन सौ वर्षों के अनवरत संघर्ष के उपरान्त २७०० ई० पू० के लगभग द्रविड़ों की इस उत्कृष्ट नागरिक सभ्यता का विनष्ट कर दिया। इस प्रकार ऋग्वेद का काल ३००० ई० पू० के निकट ही निश्चित हो जाता है।

सुमेर की सभ्यता जिसके अवशेष दक्षिण ईरान में प्राप्त हुये हैं द्रविड़ सभ्यता से बहुत कुछ मिलती जुलती है। सुमेर सभ्यता से असुरों का संघर्ष लगभग ३००० ई० पू० में आरम्भ हुआ और धीरे-धीरे असुरों ने उस सभ्यता का विनाश कर उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इसी समय आर्यों ने सिन्ध की घाटी में मोहनजोदड़ो सभ्यता का विनाश किया था। सम्भवतः असुर भी बाद में आने वाले आर्यों के ही एक दल रहे हों क्योंकि पौराणिक कथा के अनुसार देव तथा असुर एक ही पिता के पुत्र थे। कश्यप के दो पत्नियाँ थीं दिति तथा अदिति। दिति से दैत्य तथा अदिति से आदित्य अर्थात् देवता उत्पन्न हुये। इस प्रकार ऋग्वेद का रचना काल ३००० ई० पू० के निकट ही निकलता है।

**महाभारत की तिथि**—महाभारत की युद्ध घटना की तिथि पर विद्वानों में बड़ा मत भेद है। कुछ विद्वानों ने इसे ३१०२ ई० पू० में निर्धारित किया है, कुछ नवीं शताब्दी ई० पू० और कुछ ने १४०० ई० पू० के लगभग आँका है।

महाभारत की तिथि जिन प्रमाणों से ३१०२ ई० पू० के लगभग आंकी गई है उनका आधार ज्योतिष सम्बन्धी अनुश्रुत है। महाभारत में कई स्थानों पर यह उल्लिखित मिलता है कि कलयुग का प्रारम्भ इस युद्ध के अवसर पर हुआ अथवा युधिष्ठिर के सिंहासनारूढ़ होने अथवा श्रीकृष्ण के निधन के उपरान्त। इसी आधार पर कुछ विद्वानों ने महाभारत युद्ध का काल ३००० ई० पू० अङ्कित किया है। यहाँ पर यह जान लेना आवश्यक है कि सब प्रथम ज्योतिविद्याचार्य वराहमिहिर ने कलियुग के आरम्भ की तिथि ३१०१ ई० पू० मानी थी। इस धारणा में एक बहुत बड़ा दोष यह है कि वराहमिहिर के पूर्व ज्योतिर्विदों में कलियुग की इस प्रारम्भिक तिथि के सम्बन्ध में कोई अनुश्रुति नहीं है। क्या कारण है कि भारतीय ज्योतिविदों की अनुश्रुति में वराहमिहिर के पहिले एक बार भी कहीं इस तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। इस तिथि को स्वीकार करने में दूसरी कठिनाई यह होती है कि वराहमिहिर पाँचवीं शती अर्थात् गुप्त-काल की विभूति थे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि महाभारत युद्ध के समय अथवा कलियुग की तिथि की गणना प्रथम बार ३५०० वर्ष उपरान्त हुई और गणक घटना से सहस्राब्दियों बाद हुआ था। इसके अतिरिक्त वराहमिहिर यह कल्पना करते हैं कि महाभारत का युद्ध अवश्य किसी ऐसे काल में हुआ होगा, जब ग्रहों तथा नक्षत्रों की दशा अमुक रही होगी अन्यथा एस प्रलयङ्कर संहार का परिघटन सम्भव नहीं। वराहमिहिर की यह कल्पना कि महाभारत की युद्ध-घटना किसी ग्रह-दशा-विशेष के फलस्वरूप हुई होगी अत्यन्त दोषयुक्त तथा भ्रम-मूलक है। अतएव महाभारत की तिथि ३१०१ अमान्य है। एक बात और ध्यान देने की यह है कि पुराण एक स्वर से परीक्षित तथा नन्द के राज्यारोहण में केवल एक सहस्र वर्षों का अन्तर बतलाते हैं। फलतः यह युद्ध लगभग १४०० ई० पू० के सन्निकट होना चाहिये क्योंकि नन्द का काल सभी प्रमाणों से चौथी शती ई० पू० निश्चित तथा सर्वमान्य हो गया है। पुराणों के इस प्रमाण की उपेक्षा करके ३१०१ ई० पू० महाभारत के युद्ध को मानना सर्वथा असंगत है। पुराण हमारी ऐतिहासिक अनुश्रुतियों के आकर तथा रक्षक हैं। अतएव उनकी उपेक्षा करना उचित नहीं।

साहित्य की गुरु वंशावली का आधार लेकर श्री राय चौधरी ने महाभारत का काल ई० पू० नवीं शती के मध्य में निर्धारित किया है। इस तिथि के समर्थन में निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये गये हैं :—

(१) गौतम बुद्ध के समकालीन व्यक्तियों में आश्वलायन तथा शांखायन गृह्य सूत्रों के रचयिता थे। अतएव उनका समय प्रायः ५५० ई० पू० हुआ।

(२) गृह्य-सूत्र के रचयिता शांखायन तथा शांखायन-आरण्यक के रचयिता गुणाख्य शांखायन सम्भवतः एक ही व्यक्ति हैं। यह गुणाख्य शांखायन कहोल कौषीतकि का शिष्य था। अतएव इसका काल भी लगभग ५०० ई० पू० के निश्चित होता है।

(३) यदि यह मान भी लिया जाय कि यह दोनों ग्रन्थकार एक ही व्यक्ति न थे। फिर भी कम से कम गुणाख्य तो निश्चय ही छठीं शती ई० पू० के पहिले का नहीं हो सकता क्योंकि उसने अपने आरण्यक में पौष्करसादि आदि का उल्लेख किया है जो बुद्ध जी के समकालीन थे।

इसमें सन्देह नहीं कि उपरोक्त तर्क बड़े ही गम्भीर तथा सारगर्भित हैं परन्तु उपरोक्त प्रमाणों में ये कुछ संदिग्ध एवं विवादग्रस्त हैं। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि आरण्यक तथा गृह्य-सूत्र के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं। इसे प्रमाणित करना एक दुष्कर कार्य है। एक का रचयिता गुणाख्य और दूसरे का सुयज्ञ है। इसके अतिरिक्त बुद्ध के समकालीन लौहित्य, पौष्कर आदि का आरण्यक में आये उन्हीं नामों के व्यक्तियों के साथ एकीकरण करना उचित नहीं है क्योंकि ये नाम व्यक्तिवाचक नहीं वरन् उपाधि-वाचक अथवा कुलवाचक हैं और यह सम्भव है कि ऐसे व्यक्तियों ने इन नामों का प्रयोग किया हो जो एक दूसरे से शताब्दियों दूर हैं। अतएव नवीं शती ई० पू० के मध्य में महाभारत के युद्ध को निर्धारित करने के लिये अन्य अधिक प्रबल प्रमाणों की आवश्यकता है।

पार्जिटर के मतानुसार महाभारत-युद्ध दसवीं शती ई० पू० में हुआ था। पार्जिटर महोदय ने जनमेजय द्वितीय के प्रपौत्र अधिसीम कृष्ण तथा राजा नन्द के राज्यारोहण के बीच आने वाले राजाओं की संख्या पर अपना मत आधारित किया है। पार्जिटर का कहना है कि इन दो घटनाओं के बीच छब्बीस राज्य कालों का अन्तर है। यदि प्रत्येक राज्य काल की अवधि लगभग १८ वर्ष मान लें तो अधिसीम कृष्ण का काल लगभग ८५[illegible] ई० पू० में और पाण्डवों का एक शताब्दी इसके पूर्व निश्चित होता है। पार्जिटर का यह सिद्धान्त भी त्रुटिपूर्ण है क्योंकि स्वयम् पौराणिक सामग्री स्पष्ट तथा शुद्ध नहीं है।

[illegible] कर सके। पुराणों का कथन [illegible] बीच १०५० वर्षों का अन्तर [illegible] यह कई पुराणों में मिलती है और इसके विरोध में किसी ऐतिहासिक सिद्धान्त को क्षति नहीं पहुँचती है। अतएव इस अनुश्रुति के मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

वैदिक साहित्य में सुरक्षित गुरु शिष्य वंशावली से महाभारत युद्ध का १४०० ई० पू० में होना प्रमाणित हो जाता है। इसका समर्थन पौराणिक अनुश्रुति से भी हो जाता है। गुरु परम्पराओं में आये नामों पर सन्देह करना ठीक नहीं है क्योंकि उनमें से अनेक नाम अनेक बार ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों तथा सूत्र ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्त में जो तालिका दी हुई है उसमें ६० गुरुओं के नाम हैं। इनमें से प्रथम दो नाम देवताओं के हैं और शेष ५८ मानव गुरुओं के हैं। प्रथम मानव गुरु का नाम तुरकावषेय है। इस प्रकार वह बृहदारण्यक उपनिषद् काल से ५७ या कम से कम ५० पीढ़ी पहले है। यह उपनिषद् प्रायः भाष्यादिकालीन माना जाता है। अतएव वह ६५० ई० पू० के उपरान्त का कदापि नहीं हो सकता। गुरु शिष्य परम्परा की एक पीढ़ी लगभग २० वर्षों से अधिक की ठहरती है। अतएव तुरकावषेय ६५० ई० पू० से लगभग ८०० वर्ष पहले हुये होंगे अर्थात् उनका समय लगभग चौदहवीं ई० पू० का मध्य काल रहा होगा। कई साधनों से यह प्रमाणित है कि तुरकावषेय अर्जुन के पौत्र जनमेजय के पुरोहितों में से एक थे। इस प्रकार यदि जनमेजय तथा तुरकावषेय का काल चौदहवीं शती ई० पू० का मध्य काल निर्धारित होता है तो महाभारत युद्ध की तिथि लगभग १४०० ई० पू० के निश्चित हो जाती है। पौराणिक अनुश्रुति भी जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है ठीक इसी तिथि के अनुकूल है। इस तिथि का अनुमोदन एक और प्रकार से भी हो जाता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जनमेजय का एक अन्य पुरोहित इन्द्रोत, शौनक था। इस इन्द्रोत शौनक का पुत्र, जनमेजय के प्रपौत्र के, यहाँ पुरोहित था। इन

दोनों पुरोहित के नाम गुरु-वंश ब्राह्मण तथा जैमिनि उपनिषद् ब्राह्मण में दी हुई
तालिकाओं में अङ्कित है। इन दोनों ही ग्रन्थों ने उन्हें अपने से ४०-४१ पीढ़ी पूर्व
है। स्वयम् इनका काल ५५० ई० पू० के बाद का नहीं हो सकता। इससे यही नि
निकलता है कि जनमेजय द्वितीय का काल लगभग १३५० ई० पू० के था और महाभ
का समय १४०० ई० पू० के समीप था।

**कनिष्क की तिथि**—कनिष्क की शासन तिथि के सम्बन्ध में इतिहास
में बड़ा मत-भेद रहा है। ५८ ई० पू० से लेकर २७८ ई० तक लोगों ने अपने-अपने अनु
लगाये हैं। फ्लीट महोदय के विचार में कनिष्क ५८ ई० पू० के विक्रम सम्वत् का चल
वाला था। इसके विपरीत डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने कनिष्क की तिथि २४८ ई
मानी है और सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने २७८ इसवी माना है। मार्शल
मतानुसार कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि १२५ इसवी है। प्रो० रैप्सन तथा
राय चौधरी के विचार में कनिष्क ७८ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ था। अब यही
सर्वमान्य होता जा रहा है क्योंकि यदि कनिष्क के शासन का आरम्भ दूसरा श
ईसवी में रक्खा जाय तो रुद्रदामन का स्वतन्त्र राज-सत्ता के लिये जिसने १३०-१५०
में शासन किया आधार नहीं प्राप्त होता। विद्वानों की धारणा है कि कनिष्क ७८ ईस
में आरम्भ होने वाले शक सवत का जन्मदाता था। पश्चिमी भारत के शक कुषा
निरन्तर इस सम्वत का प्रयोग किया था। इसी से यह शक सम्वत कहलाता था
तो निभ्रन्त बात है कि कनिष्क ने एक शाका चलाया था। जो विद्वान् दूसरी शता
आरम्भ में कनिष्क की शासन तिथि निर्धारित करते हैं वे किसी ऐसे सम्वत् को न
बतला पाते जो शक सवत् की भांति दीर्घ काल तक चलता रहा हो। अतएव
निर्विवाद सा हो गया है कि कनिष्क ७८ इसवी के आस-पास ही सिंहासन पर बैठा था।

**कालिदास का काल**—कालिदास जी किस काल की विभूति थे इस प्रश्न प
विद्वानों में बड़ा मत भेद रहा है। कुछ विद्वानों ने कालिदास को शुंगकालीन बतलाय
है। इस धारणा का आधार कवि का नाटक "मालविकाग्निमित्र" है। इस ग्रन्थ में शुं
वंश के प्रतिष्ठाता सेनापति पुष्यमित्र के पुत्र और उसके साम्राज्य की दक्षिणी सीमा
शासक अग्निमित्र का वर्णन है। पुष्यमित्र का शासन काल ई० पू० १४८ तक समाप्त
चुका था। चूंकि कालिदास ने पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र के रनिवास का वर्णन किया
अतएव कालिदास ई० पू० १४८ से पहिले नहीं रक्खे जा सकते।

उपरोक्त मत के स्वीकार करने में दो प्रधान कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है
पहिली कठिनाई तो यह है कि यदि कालिदास का काल दूसरी शती ई० पू० मान लिया
जाय तो उन्हें महर्षि पतञ्जलि का समकालीन मानना पड़ेगा जो असम्भव है क्योंकि पत
ञ्जलि ने जिन योग सूत्रों का सूत्रपात किया था उनका पूर्ण ज्ञान कालिदास को था यह
उनके ग्रन्थों से सिद्ध हो जाता है। पतञ्जलि से कालिदास तक सूत्रों का एक परम्परा सी
बन गई होगी। इस परम्परा के बनने में पर्याप्त समय लग गया होगा सम्भवतः शता-
ब्दियाँ व्यतीत हो गई होंगी। यह निर्विवाद सत्य है कि महर्षि पतञ्जलि पुष्यमित्र शुंग
के समकालीन थे क्योंकि उन्होंने उस राजा का अश्वमेध यज्ञ कराया था। दूसरी शती
इसवी कालिदास का काल स्वीकार करने में दूसरी कठिनाई यह है कि यदि कालिदास अग्निमित्र
कालिदास को किसी विक्रमादित्य का समकालीन होना चाहिये परन्तु शुंग-वंश के किसी
राजा ने अपने को इस उपाधि से विभूषित नहीं किया था।

विद्वानों के विचार में कालिदास का काल पहली १० पृ० था। इस मत के
कहना है कि ५७ ई० पू० में विक्रम सम्वत् विक्रमादित्य नामक किसी

ज्ञा द्वारा चलाया गया था जो कालिदास का संरक्षक भी था। इस मत के विरोध में
हा जा सकता है कि ई० पू० प्रथम शती में विक्रमादित्य नामक कोई ऐसा ऐश्वर्य-
राजा नहीं हुआ जिसने शकों को निष्कासित करके शकारि की उपाधि ली हो और
ने संवत् का सूत्रपात किया हो। कुछ विद्वानों को तो इस बात पर भी सन्देह है कि
सम्वत् ई० पू० पहिली शती में चलाया गया था। प्रथम शती ई० पू० वाले
न्त के समर्थकों में चिन्तामणि विनायक वैद्य तथा क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय
ाम अग्रगण्य है। सी वी० वैद्य के मत का खण्डन के० जी० शंकर ने बड़ी
ता के साथ किया है। प्रो० चट्टोपाध्याय ने अपने मत के समर्थन में यह तर्क
त किया है कि अश्वघोष की कृतियों तथा कालिदास के वक्तव्यों में पर्याप्त साम्य
अतएव इनमें से किसी एक ने दूसरे का अनुकरण अवश्य किया होगा। कालिदास
अश्वघोष पर प्रभाव बताते हुये प्रो० चट्टोपाध्याय ने लिखा है कि चूंकि अश्वघोष ईसा
पहिली सदी में हुये थे अतएव कालिदास ई० पू० प्रथम शती में हुये होंगे। प्रो० चट्टो-
ाय के इस मत का खण्डन करते हुये डा० भगवत शरण उपाध्याय ने कालिदास के
पू० प्रथम शती में होने के विरोध में कई तर्क उपस्थित किये हैं। उनका पहिला तर्क
है कि "अपने ग्रन्थों के लम्बे प्रसार में कहीं भी कालिदास शकों का उल्लेख नहीं
हैं। यदि वे ई० पू० प्रथम शती में हुये होते तो 'गार्गीसंहिता' के युगपुराण वाले स्कन्ध
फलत. उस शक आक्रमण का उल्लेख अवश्य करते जो मगध पर ई० पू० २५ के
लग हुआ था।" उपाध्याय जी का दूसरा तर्क यह है कि "कालिदास के ग्रन्थों से
देश में पूर्ण शान्ति और समृद्धि का पता चलता है वह प्रथम शती ई० पू० की
राजनैतिक अशान्ति में कभी सम्भव न था।" अपने मत के समर्थन में उपाध्याय जी ने
सरा यह तर्क उपस्थित किया है कि "उस कवि ( कालिदास ) के ग्रन्थों में पौराणिक
दर्भों की अनन्त संख्या सुरक्षित है जो पुराणों के संहिता रूप में स्थित किये जाने
बाद ही सम्भव था और इन पुराणों के अधिकतर संस्करण गुप्त काल में ही संकलित
हैं। ई० पू० प्रथम शती में कालिदास के ग्रन्थों वाला उनका रूप अभी नहीं बन पाया
।" उपाध्याय जी ने अपने मत के पक्ष में चौथा तर्क यह उपस्थित किया है कि
देवी-देवताओं की अनन्त मूर्तियों और उनके मन्दिरों का जो अथक वर्णन कालिदास
अपने ग्रन्थों में किया है वे मूर्तियाँ प्रथम शती ई० पू० की न होकर गुप्तकालीन ही
सकती हैं। प्रतिमा पूजन तो निस्सन्देह बहुत पूर्व काल में ही चल पड़ा था, परन्तु
हिन्दू देवी-देवताओं की प्रतिमाओं का अनन्त संख्या में निर्माण कुषाण काल के पश्चात्
सम्भव हो सका। इसका प्रधान कारण यह था कि मूर्तियों की संख्या का यह परिमाण
बौद्धों के महायान-सम्प्रदाय के प्रवर्तन के बाद ही सम्भव हो सका। महायान एक भक्ति-
मार्ग था जिसका प्रवर्तन सम्भवतः नागार्जुन ने कुषाणराज कनिष्क के समय में किया।
इसी कारण नागार्जुन के पहिले की यानी ईसा की पहिली सदी के पहिले की हिन्दू
मूर्तियाँ भारत भर में एकाध ही उपलब्ध है। गुप्तकाल के पूर्व प्राय: यक्ष-देवताओं की
प्रतिमाओं की ही पूजा होती थी। यही कारण इस बात का भी है कि अश्वघोष के ग्रन्थों
में देव मूर्तियों का इतना प्रचुर वर्णन नहीं मिलता जितना कालिदास के ग्रन्थों में। इससे
ही कालिदास की अश्वघोष से उत्तर कालीनता सिद्ध होती है और हमें यह ज्ञात है कि
अश्वघोष ईसवी सन् प्रथम शती का था।

उपरोक्त तर्कों द्वारा डा० भगवतशरण ने इस बात के सिद्ध करने का भगीरथ प्रयास किया है कि कालिदास का काल ईसवी पूर्व प्रथम शती नहीं था।

कतिपय विद्वानों ने कालिदास का काल ईसा की छठीं शती बतलाया है। महा-
महोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री, डा० देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर तथा होर्न्ले इस मत के
प्रमुख समर्थक हैं। इन विद्वानों की धारणा के अनुसार कालिदास सम्राट यशोधर्मन के

समकालीन हो जाते हैं। डा० ए० बी० कीथ तथा बी० सी० मजूमदार ने इस मत का सफलतापूर्वक पूर्ण रूप से खण्डन कर दिया है। इस सम्बन्ध में डा० भगवत शरण ने लिखा है, "होर्नले और पाठक द्वारा प्रस्तुत 'कुंकुम' वाला प्रमाण भी सर्वथा खण्डित हो जाता है जब हम 'रघुवंश' के चौथे सर्ग में 'सिन्धु' के स्थान में 'वक्षु' का पाठ स्वीकार कर लेते हैं। हूणों ने ४२५ ई० में वक्षुनद पार कर लिया था और वे उसकी घाटी में बस चुके थे। तभी वे ईरान के राजा बहरामगोर के हाथ पराजित हुये थे और उनके और फारस के बीच की सीमा वक्षु नदी निर्धारित कर दी गई थी। इससे पहिले ३५० ई० में ही हूणों ने फारस पर आक्रमण किया था जब शापूर महान् ने उन्हें भगा दिया था। इस कारण इसकी बिल्कुल ही आवश्यकता नहीं कि कालिदास को इसलिये छठीं सदी में घसीटा जाय जिससे हूणों को भारत पर आक्रमण करने और काश्मीर में बसने का अवकाश मिल जाय। तब वे ठीक वहीं बसे थे जहाँ कालिदास के रघु और मेहरौली लौह-स्तम्भ के 'चन्द्र' ने उन्हें पराजित किया था। चूँकि मन्दसोर लेख के कवि वत्सभट्टि ने कालिदास की नकल की है, कालिदास को कम से कम ४७२ ई० से पूर्व तो रखना ही होगा क्योंकि यह लेख इसी सन् में खोदा गया था।"

डा० भगवतशरण जी ने आगे लिखा है, "कालिदास ने कुमारगुप्त के शासन काल में होने वाले हूणों और पुष्यमित्रों के आक्रमणों का उल्लेख नहीं किया है इस कारण श्री मनमोहन चक्रवर्ती की पाँचवीं सदी ईसवी के अन्त वाली तिथि भी छोड़ देनी होगी। इस प्रकार कालिदास का समय खिंच कर ४०० के आस-पास ही रह जाता है और चूँकि इस कवि ने अनेक प्रसंगों में वात्स्यायन के भावों का अनुकरण किया है वे वात्स्यायन के बाद ही रक्खे जा सकते हैं। वात्स्यायन का काल सामान्यतया तीसरी सदी ईसवी में माना जाता है। इस कारण हमारा कवि उसके बाद का ही ठहरता है, लगभग ४०० ई० का। इस निष्कर्ष से भण्डारकर, कीथ और स्मिथ सहमत हैं।"

कालिदास की गुप्तकालीनता के पक्ष में निम्न-लिखित तर्क उपस्थित किये जाते हैं:—

(१) गुप्तकालीन अभिलेखों तथा कालिदास की भाषा और भावों में आश्चर्यजनक साम्य है जिसे प्रासंगिक नहीं कहा जा सकता। कालिदास के ग्रन्थों में गुप्तकालीन सामाजिक, धार्मिक तथा ललित-कला सम्बन्धी समानतायें अनन्त हैं।

(२) कालिदास के ग्रन्थों के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि वह राजनैतिक शान्ति तथा व्यापक वैभव का युग था। कालिदास का यह विभूति द्योतक एवं शान्ति प्रद काल गुप्त-कालीन व्यवस्था से मेल खाता है।

(३) गुप्तकालीन अभिलेख तथा फाह्यान के वर्णनों से यह आभासित होता है कि गुप्तकाल धार्मिक सहिष्णुता का युग था। कालिदास के ग्रन्थों से भी इसका समर्थन होता है।

(४) वे पौराणिक कथायें तथा जन विश्वास जिनका कालिदास में प्राचुर्य है उनका अभिवृद्धि संवर्धन गुप्तकाल में ही हुआ था।

(५) हिन्दू देव प्रतिमाओं का प्राचुर्य गुप्त-काल तथा कालिदास के ग्रन्थों में समान रूप से पाया जाता है। प्राग्गुप्तकाल में यक्षों तथा बोधिसत्वों की ही प्रतिमाओं का प्राचुर्य था।

(६) काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने कालिदास-कृत "कुन्तलेश्वरदौत्य" नामक नाटक की चर्चा की है। इससे ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य ने कालिदास को अपना दूत बनाकर

नल (दक्षिण महाराष्ट्र) के राजा के पास भेजा था 'भारतचरित' के अनुसार
मातृगुप्त ने 'सेतुबन्ध' नामक प्राकृत काव्य की रचना की थी। इसकी 'रामसेतुप्रदीप'
नामक टीका से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सेतुबन्ध' का रचियता प्रवरसेन था जो
वाकाटक वंश का शासक था और जिसके काव्य को विक्रमादित्य ने कालिदास द्वारा
शुद्ध कराया था। यह प्रवरसेन चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता
और उसके दामाद वाकाटक राजा रुद्रसेन का पुत्र और कुन्तल का राजा था। इस
प्रकार प्रवरसेन, कालिदास तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य समकालीन हुये।

(७) ऊपर इस बात की ओर संकेत किया गया है कि कालिदास वात्स्यायन के
पश्चात् हुये होंगे क्योंकि कालिदास ने वात्स्यायन के शृङ्गारिक वर्णनों का अनुकरण
किया है। वात्स्यायन का काल ईसा की तीसरी सदी निर्धारित किया गया है। अतएव
कालिदास का काल उसके उपरान्त ही होना चाहिये।

(८) ख्याति परम्परा के अनुसार कालिदास को किसी विक्रमादित्य का समकालीन
होना चाहिये परन्तु ईसा की तीसरी सदी के उपरान्त तथा स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य

नामक के पास) शिला-लेख का चन्द्रवर्मन का माना है। इस मत को भी विद्वानों ने मान्य बतलाया है क्योंकि इसके लिये कोई आधार नहीं है। सुसुनिया शिला-लेख का चन्द्रवर्मन सम्भवतः समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ लेख का चन्द्रवर्मन है जिसे समुद्रगुप्त ने अन्य राजाओं के साथ पराजित किया था। डा० राय चौधरी ने भी एक मत उपस्थित किया है जो निराधार तथा सर्वथा अमान्य है। एक नया मत कोरी कल्पना के आधार पर उद्भूत हुआ है जिसके अनुसार मेहरौली स्तम्भ-लेख का 'चन्द्र' प्रतापी चन्द्रगुप्त मौर्य है और स्तम्भ का निर्माण कराने वाला चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य है जिसे उसने अपने पूर्वज नायक के गौरवार्थ स्थापित किया था। इस मत के स्वीकार करने में एक बहुत बड़ी आपत्ति यह भी पड़ती है कि प्रशस्ति का नायक निस्सन्देह वैष्णव था परन्तु चन्द्रगुप्त मौर्य के विशेष वैष्णव होने के कोई प्रमाण नहीं है। चाणक्य के शिष्य के रूप में ही चन्द्रगुप्त मौर्य की विशेष ख्याति है वैष्णव के रूप में नहीं। जैन अनुश्रुति के अनुसार तो वह जैन मतावलम्बी था। विन्सेण्ट स्मिथ, दाण्डेकर, दानेश चन्द्र सरकार तथा अन्य कतिपय विद्वानों ने 'चन्द्र' को निश्चित रूप से चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य [illegible] है। इस मत के समर्थन [illegible]

[illegible] में भी व्यवहृत हुआ है।

(२) चन्द्रगुप्त द्वितीय ने एक दिग्विजय भी की थी जिसका ज्ञान हमें उदयगिरि के गुहा-लेख २ से होता है। मेहरौली के स्तम्भ-लेख में सम्भवतः इसी दिग्विजय की ओर इङ्गित किया गया है।

(३) चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसा कि मेहरौली के स्तम्भ लेख में अङ्कित है एक साम्राज्य का अधिपति भी था।

(४) दिल्ली का प्रदेश उसके साम्राज्य का एक अंग था। इससे उसके साम्राज्य की उत्तरी-पश्चिमी सीमा सिन्धु के निकट तक थी।

(५) *जैसा कि मेहरौली के स्तम्भ-लेख में उत्कीर्ण है चन्द्रगुप्त द्वितीय एक वैष्णव भी था।*

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि लेख में यह लिखा है कि उसने सिन्धु के *सप्तमुखों को पार किया और वाह्लीक (बलख) पर विजय पाई थी। यहाँ पर सिन्धु के* सप्तमुखों का तात्पर्य निस्सन्देह पंजाब की नदियों से है। वाह्लीक को भण्डारकर ने विपाशा (व्यास) के किनारे स्थित बतलाया है और विष्णुपद गिरि को उसी के आस-पास प्रस्थापित किया है। उन्हें महोदय के कथनानुसार वाह्लीक ( बॅक्ट्रियन ) शब्द का प्रयोग भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में निवास करने वाली कुछ अर्द्ध-विदेशी जातियों के लिये बहुत दिनों से होता चला आ रहा था। अभिलेख में व्यवहृत वाह्लीक शब्द से यह आवश्यक नहीं है कि ठीक बैक्ट्रिया के ही निवासियों का बोध हो प्रत्युत वाह्लीक शब्द से उन अर्द्ध-विदेशी जातियों में से भी किसी का बोध हो सकता है जो पंजाब के किसी भाग में निवास करती हों। महाभारत के आदि पर्व से हमें बोध होता है कि मद्र देश के नरेश शल्य की जिसकी राजधानी शाकल ( स्यालकोट ) थी वाह्लीकाधिपति तथा उनकी भगिनी माद्री को वाह्लीकी के नाम से पुकारा गया है। मद्र देश चिनाब तथा व्यास के मध्य का प्रदेश था। इन नदियों के मध्य में निवास करने वाली जातियों के सम्बन्ध में यह अनुमान लगाया जाता है कि वे दक्षिण में सिन्धु की ओर जाकर बस गईं। सिन्धु का यही वह प्रदेश था जहाँ चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उन्हें परास्त किया था और जिसके लिये उसे सिन्धु का सप्त मुख पार करना पड़ा था। हो सकता है कि

स्तम्भ इसी विष्णुपद की पहाड़ी पर निर्मित करवाया गया हो जैसा कि अभिलेख
ज्ञात होता है और बाद में दिल्ली के किसी शक्तिशाली शासक ने उसे स्थानान्तरि
करा दिया हो। स्मिथ महोदय का यही अनुमान है। डा० सरकार की यह धारणा
कि "स्तम्भ सम्भवतः चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने जीवन के अवसान काल में गड़वा
था और उस पर अपने पिता का निधन होते ही कुमारगुप्त प्रथम ने लेख उत्कीर्ण क
दिया।" इस प्रकार मेहरौली स्तम्भ-लेख के "चन्द्र" का चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादि
होना अत्यधिक सम्भाव्य है। यदि चन्द्र तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय का समीकरण मा
लिया जाय तो इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं। पहिला तो यह कि बंगाल ने चन्द्रगु
के विरुद्ध विद्रोह किया था परन्तु उसने उसका दमन कर दिया और दूसरा यह कि
चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में शकों तथा कुषाणों की अवशिष्ट शक्ति
का विनाश किया था जिसमें उसके पिता समुद्रगुप्त को केवल आंशिक सफलता प्राप्त
हुई थी।

---

# परीक्षा के लिये कुछ उपयोगी प्रश्न

(१) प्राचीन भारत के इतिहास के जानने के प्रमुख साधनों का उल्लेख कीजिये।

(२) सिन्धु-घाटी की सभ्यता का विश्लेषण कीजिये अथवा मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा के काल की भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का वर्णन कीजिये अथवा भारत की प्राचीनतम सभ्यता का परिचय दीजिये।

(३) आर्य कौन थे? उनके आदि देश के सम्बन्ध में कौन-कौन से सिद्धान्त प्रचलित हैं और किस सिद्धान्त को आप सबसे अधिक तर्क पूर्ण समझते हैं?

(४) ऋग्वेदिक काल में भारत की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक दशा कैसी थी? उत्तर-वैदिक काल में कौन-कौन से परिवर्तन आ गये थे?

(५) सिन्धु-घाटी की सभ्यता तथा वैदिक सभ्यता की तुलनात्मक विवेचना कीजिये।

(६) महाकाव्यों के काल में भारत की राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दशा कैसी थी?

(७) महाकाव्यों तथा वैदिक काल की सभ्यता की तुलनात्मक विवेचना कीजिये।

(८) धर्मशास्त्रों के आधार पर भारत के सांस्कृतिक जीवन का उल्लेख कीजिये।

(९) उपनिषदों तथा सूत्रों के काल में भारत की राजनैतिक सामाजिक तथा धार्मिक दशा कैसी थी?

(१०) द्रविड़ कौन थे? इनकी सभ्यता तथा संस्कृति की विवेचना कीजिये।

(११) छठीं शताब्दी ईसवी पूर्व क्रान्ति का युग क्यों माना जाता है?

(१२) जैन धर्म के सिद्धान्तों का वर्णन कीजिये और बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों से उनकी तुलना कीजिये।

(१३) महात्मा गौतम बुद्ध के चरित्र तथा उनकी शिक्षाओं का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

(१४) बौद्ध-धर्म के उत्थान तथा पतन का कारण बतलाइये।

(१५) बौद्ध-कालीन भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति की विवेचना कीजिये अथवा छठीं शताब्दी ई० पू० में भारत की राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दशा कैसी थी?

(१६) भागवत तथा शैव धर्मों का संक्षिप्त परिचय दीजिये और इनके साम्यता की विवेचना कीजिए।

(१७) जाति-प्रथा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? इसके गुणों तथा दोषों की विवेचना कीजिये।

(१८) मौर्य शासन काल तक मगध-साम्राज्य के विकास का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

(१९) सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत की राजनैतिक दशा कैसी थी? इस आक्रमण का भारत पर क्या प्रभाव पड़ा?

(२०) मौर्य कौन थे? इस काल के इतिहास जानने के कौन-कौन साधन हैं?

(२१) चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन चरित्र तथा विजयों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

स्तम्भ इसी विष्णुपद की पहाड़ी पर निर्मित कराया गया हो जैसा कि ज्ञात होता है और बाद में दिल्ली के किसी शक्तिशाली शासक ने उसे करा दिया हो। स्मिथ महोदय का यही अनुमान है। डा० सरकार की कि "स्तम्भ सम्भवतः चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने जीवन के वर्तमान काल में था और उस पर अपने पिता का निधन होते ही कुमारगुप्त प्रथम ने दिया।" इस प्रकार मेहरौली स्तम्भ-लेख के "चन्द्र" का चन्द्रगुप्त द्वितीय होना अत्यधिक सम्भाव्य है। यदि चन्द्र तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय को किया जाय तो इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं। पहिला तो यह कि के विरुद्ध विद्रोह किया था परन्तु उसने उसका दमन कर दिया और चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में शकों तथा कुषाणों की का विनाश किया था जिसमें उसके पिता समुद्रगुप्त को केवल आंशिक हुई थी।

---

(४७) सिद्ध कीजिये कि हर्ष शासक तथा विजेता के रूप में महान् था। परन्तु शान्ति कालीन युग के निर्माता के रूप में 'महत्तर' था।

(४८) सातवीं शताब्दी ईसवीं की भारतीय राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दशा का वर्णन कीजिये।

(४९) ह्वेनसांग का संक्षिप्त परिचय देते हुए बतलाइये कि अपनी यात्रा-विवरण में उसने भारत की तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दशा पर क्या प्रकाश डाला है।

(५०) वातापी के चालुक्यों का संक्षिप्त परिचय देते हुए पुलकेशिन द्वितीय के कार्यों का मूल्यांकन कीजिये।

(५१) काँची के पल्लव कौन थे? उनकी शासन-प्रणाली तथा कला का वर्णन कीजिए।

(५२) चोल राजाओं की राज संस्था, कला तथा धर्म का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

(५३) राजपूतों की उत्पत्ति के विषय में कौन-कौन से सिद्धान्त प्रचलित हैं? आप किस विचार-धारा से सहमत हैं?

(५४) राजपूत काल का भारतीय इतिहास में क्या महत्व है? तत्कालीन राज संस्था तथा संस्कृति का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

(५५) प्रतिहार कौन थे? उनकी साम्राज्य स्थापना तथा मिहिर भोज का वर्णन कीजिए।

(५६) मालवा के परमारों का संक्षिप्त परिचय देते हुए भोज परमार की कला एवं साहित्य प्रियता का उल्लेख कीजिए।

(५७) अजमेर तथा दिल्ली के चौहानों का संक्षिप्त परिचय देते हुए प्राचीन भारत के इतिहास में उनका स्थान निर्धारित कीजिए।

(५८) वृहत्तर भारत का क्या तात्पर्य है? भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार विदेशों में किस प्रकार हुआ था? भारतीय उपनिवेशों के विनाश के क्या कारण थे?

(५९) प्राचीन भारत की राज संस्था पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

(६०) प्राचीन भारत में राज्य के कौन-कौन से लक्ष्य निर्धारित किए गए थे? इनमें कहाँ तक सफलता प्राप्त की गई थी?

(६१) सिद्ध कीजिए कि प्राचीन राज संस्था स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश नहीं थी।

(६२) प्राचीन भारत की सभा तथा समिति का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

(६३) प्राचीन भारत की न्याय-व्यवस्था का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

(६ ) प्राचीन काल के भारतीय समाज की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए और सिद्ध कीजिए कि यह समाज बड़ा ही उदार तथा प्रगतिशील था।

(६५) प्राचीन भारत में स्त्रियों तथा शूद्रों की कैसी दशा थी?

(६६) प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति की व्याख्या कीजिए और उसकी सफलता तथा विफलता की समीक्षा कीजिए।

(६७) प्राचीन भारत की कला पर एक निबन्ध लिखिये।

---

(२२) चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन-प्रणाली का संक्षिप्त परिचय दीजिये। इस सम्बन्ध में हमारे ज्ञान के कौन-कौन से साधन हैं?

(२३) अशोक का व्यक्तिगत धर्म क्या था? उसकी धार्मिक नीति का परिचय दीजिये। उसने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए कौन-कौन से उपाय किये?

(२४) अशोक का काल प्राचीन भारत के इतिहास में स्वर्ण युग क्यों कहलाता है?

(२५) अशोक का इतिहास में क्या स्थान है? उसे 'महान्' की उपाधि क्यों दी जाती है?

(२६) अशोक के अभिलेखों का संक्षिप्त परिचय दीजिए। इनका क्या महत्व है? इनसे अशोक के चरित्र तथा शासन प्रबन्ध पर क्या प्रकाश पड़ता है?

(२७) अशोक के साम्राज्य की सीमा निश्चित कीजिए।

(२८) मौर्य-साम्राज्य के पतन के क्या कारण थे? इसके लिये अशोक कहाँ तक उत्तरदायी था?

(२९) मौर्य कालीन सभ्यता तथा संस्कृति की विवेचना कीजिए।

(३०) शुङ्ग कौन थे? पुष्यमित्र शुङ्ग के चरित्र तथा कार्यों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

(३१) बाख्त्री यवनों की भारतीय विजय का उल्लेख कीजिए। इस विजय का भारत पर क्या प्रभाव पड़ा?

(३२) सातवाहन वंश का संक्षिप्त परिचय दीजिए और दक्षिण भारत की तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दशा का परिचय दीजिए।

(३३) शक कौन थे? उनकी भारतीय विजय तथा पतन का उल्लेख कीजिए।

(३४) कुषाण कौन थे? इस वंश का सर्वश्रेष्ठ शासक कौन माना जाता है और क्यों?

(३५) कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि निश्चित करते हुए उसकी विजय तथा चरित्र का उल्लेख कीजिये।

(३६) गुप्त कौन थे? इस काल के इतिहास जानने के कौन-कौन से साधन हैं?

(३७) समुद्रगुप्त के चरित्र तथा विजयों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

(३८) समुद्रगुप्त को भारत का नैपोलियन क्यों माना जाता है? क्या आप इस विचार से सहमत हैं?

(३९) समुद्रगुप्त की चन्द्रगुप्त मौर्य तथा अशोक से तुलना कीजिए।

(४०) साहित्य के विकास के आधार पर चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के कार्यों का मूल्यांकन कीजिए।

(४१) फाह्यान का संक्षिप्त परिचय दीजिए। उसने भारत की तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दशा के सम्बन्ध में क्या लिखा है?

(४२) गुप्तकालीन शासन प्रबन्ध का वर्णन कीजिए।

(४३) गुप्तकालीन [illegible], समाज तथा संस्कृति का [illegible] वर्णन कीजिए।

(४४) गुप्त काल प्राचीन भारत के इतिहास में 'स्वर्ण युग' क्यों माना जाता है?

(४५) हूण कौन थे? उनके भारतीय [illegible] का [illegible] देते हुए उनके आक्रमण का [illegible] कीजिए।

(४६) हर्षवर्धन की विजयों का वर्णन करते हुए उसकी [illegible] वर्णन कीजिए।

(४७) सिद्ध कीजिये कि हर्ष शासक तथा विजेता के रूप में महान् था। परन्तु शान्ति कालीन युग के निर्माता के रूप में 'महत्तर' था।

(४८) सातवीं शताब्दी ईसवी की भारतीय राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दशा का वर्णन कीजिये।

(४९) ह्वेनसांग का संक्षिप्त परिचय देते हुए बतलाइये कि अपने यात्रा-विवरण में उसने भारत की तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दशा पर क्या प्रकाश डाला है।

(५०) वातापी के चालुक्यों का संक्षिप्त परिचय देते हुए पुलकेशिन द्वितीय के कार्यों का मूल्यांकन कीजिये।

(५१) कांची के पल्लव कौन थे? उनकी शासन प्रणाली तथा कला का वर्णन कीजिए।

(५२) चोल राजाओं की राज संस्था, कला तथा धर्म का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

(५३) राजपूतों की उत्पत्ति के विषय में कौन-कौन से सिद्धान्त प्रचलित हैं? आप किस विचार-धारा से सहमत हैं?

(५४) राजपूत काल का भारतीय इतिहास में क्या महत्व है? तत्कालीन राज संस्था तथा संस्कृति का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

(५५) प्रतीहार कौन थे? उनकी साम्राज्य स्थापना तथा मिहिर भोज का वर्णन कीजिए।

(५६) मालवा के परमारों का संक्षिप्त परिचय देते हुए भोज परमार की कला एवं साहित्य सेवा का उल्लेख कीजिए।

(५७) अजमेर तथा दिल्ली के चौहानों का संक्षिप्त परिचय देते हुए प्राचीन भारत के इतिहास में उनका स्थान निर्धारित कीजिए।

(५८) बृहत्तर भारत का क्या तात्पर्य है? भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार विदेशों में किस प्रकार हुआ था? भारतीय उपनिवेशों के विनाश के क्या कारण थे?

(५९) प्राचीन भारत की राज संस्था पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

(६०) प्राचीन भारत में राज्य के कौन-कौन से लक्ष्य निर्धारित किए गए थे? इनमें कहाँ तक सफलता प्राप्त की गई थी?

(६१) सिद्ध कीजिए कि प्राचीन राज संस्था स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश नहीं थी।

(६२) प्राचीन भारत की सभा तथा समिति का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

(६३) प्राचीन भारत की न्याय-व्यवस्था का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

[illegible] वर्णन कीजिए और [illegible]

(६५) [illegible]

(६६) प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति की व्याख्या कीजिए और उसकी सफलता तथा विफलता की समीक्षा कीजिए।

(६७) प्राचीन भारत की कला पर एक निबन्ध लिखिये।

## कुछ उपयोगी ग्रन्थ

1. Piggot, S: *Prehistoric India.*
2. Turner: *The Great Cultural Traditions.*
3. Marshall, Sir John: *Mohanjodaro and the Indus lization vols I, II & III.*
4. Mackay, *Early Indus Civilizations.*
5. Majumdar and others: *The Vedic Age.*
6. Rhys Davis, T. W.: *Budhist India,*
7. Ray Chaudhari, H. C.: *Political History of An India.*
8. Rapson E.: *Cambridge History of India Vol. I.*
9. Smith Vincent: *Early History of India.*
10. Nilakanta Shastri, K. A. and others: *Age of the Na and Mauryas.*
11. Mookerjee, R. K.: *Chandragupta Maurya and Times.*
12. Majumdar and others: *The age of Imperial Unity*
13. Bhandarkar, D. R.: *Asoka.*
14. Mookherji, R. K.: *Asoka.*
15. Gokhale B. G.: *Buddhism and Asoka.*
16. Majumdar and Altekar: *New History of the In People Vol. VI.*
17. Giles, H.: *Travels of Fahien.*
18. Bannerjee, R. D.: *The Imperial Guptas.*
19. Nilakanta Shastri, Y. N.: *History of Ancient Indi*
20. Dandekar, R. N.: *A History of the Guptas.*
21. Saletore, R. N.: *Life in the Gupta Age.*
22. Fleet, J. F.: *Inscriptions of the Gupta Dynasty.*
(22) Mookerji, R. K.: *Harsa.*
23. Beal, S.: *Buddhist Records of the Western World f the Chinese of Hiuen sang*
24. Altekar A. S.: *The Rastrakutas and their Times.*

51. Radha Krishnan, S. : *History of Indian Philosoph vol. I & II.*

52. Bhandarkar, R. G. *Vaisnavism and Saivism Sect.*

53. Macnicoll. N : *Indian Theism.*

54. Keith, A. B. : *A History of Sanskrit Literature.*

55. Winternitz, M, : *History of Indian Literature vols. I & II.*

56. Coomaraswami, A K. : *History of Indian aud I nesian Art.*

57 Rawlinson & others, : *Indian Art.*

58. *Brown, P : Indian Painting.*

59. Majumdar, R. C. : *Hindu Colonies in the Far East*

60. Quaritch Wales, H. G. : *The Making of Great India.*

61. Nilakanta Shastri, K. A. : *South Indian Influence the Far East,*

62. The Classical Age.

63 The Age of Imperial Kanauj.

64. Nilkanta Shastri, K. A. : *A History of South Ind*

---

इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण का अध्यापकों तथा विद्यार्थियों ने जैसा स्वागत किया
उसे इस द्वितीय संशोधित तथा परिवर्धित संस्करण की रचना में लेखक को
साहस मिला है। इस संस्करण में The Vedic Age, the Age of Imperial
Unity, Age of the Nandas and Mauryas ed by K. A. Nilakanta
Sastri, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति (डा० अल्तेकर), भारतीय संस्कृति (शिवदत्त
ज्ञानी), भारत की प्राचीन संस्कृति (डा० राम जी उपाध्याय) आदि ग्रन्थों से अधिक
अधिक तथ्यों के समाहित करने का प्रयास किया गया है। इस संस्करण में सात नये
अध्यायों का समावेश किया गया है। अतएव ग्रन्थ का आकार पहिले से कहीं अधिक
विस्तृत हो गया है। यद्यपि विभिन्न कालों की राजव्यवस्था, सभ्यता तथा संस्कृति का
विवेचन यथा स्थान कर दिया गया है परन्तु विद्यार्थियों की सुविधा के लिये पुस्तक के
अन्त में प्राचीन भारत की राजव्यवस्था, सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन, शिक्षा